आचार्यश्री उमास्वामी विरचित

मोक्षशास्त्र

अर्थात्

तत्त्वार्थसूत्र

(सटीक)

टीका संग्राहक :
रामजी माणेकचन्द दोशी, एडवोकेट

हिन्दी अनुवाद :
पण्डित परमेष्ठीदास, न्यायतीर्थ
ललितपुर (उ. प्र.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण :

ISBN No. :

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

अर्पण

कल्याणमूर्तिश्रीसदगुरुदेवको

जिन्होंने इस पामर पर अपार उपकार किया है। जो स्वयं मोक्षमार्ग में विचर रहे हैं और अपनी दिव्य श्रुतधारा द्वारा भरतभूमि के जीवों को सतत्‌रूप से मोक्षमार्ग दर्शा रहे हैं जिनकी पवित्र वाणी में मोक्षमार्ग के मूलरूप कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन का माहात्म्य निरन्तर बरस रहा है और जिनकी परम कृपा से यह ग्रन्थ तैयार हुआ है—ऐसे कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझानेवाले कल्याणमूर्ति श्री सद्‌गुरुदेव को यह ग्रन्थ अत्यन्त भक्तिभाव से अर्पण करता हूँ.....

दासानुदास

रामजी

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

आभार और अभिनन्दन

(सोनगढ़ ट्रस्ट से प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र की प्रथमावृत्ति से)

इस ग्रन्थ को तैयार करनेवाले माननीय मुरब्बी श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी (एडवोकेट) इस संस्था के प्रमुख हैं। सद्धर्म की प्रभावना के लिए उनकी बहुत उच्च भावना है और इसके लिए वे सतत्रूप से परिश्रम ले रहे हैं।

संवत् १९९९ में पूज्य गुरुदेवश्री का चातुर्मास राजकोट था उस समय 'सनातन जैन ब्रह्मचर्याश्रम' के विद्यार्थियों को मोक्षशास्त्र सिखाया जाता था, उस समय आपश्री को ऐसी सद्भावना जागृत हुई कि इस शास्त्र के वास्तविक अन्तर रहस्य को यदि गुजराती भाषा में प्रसिद्ध किया जाये तो सर्व जिज्ञासु सरलता से उसका लाभ भी ले सकें और उनकी इस सद्भावना के फलरूप ही आज यह विस्तृत ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ है।

यह विस्तृत ग्रन्थ तैयार करने के लिये उन्होंने बहुत लम्बे समय तक एकधारा अत्यन्त परिश्रम किया है और अपने विशाल शास्त्राभ्यास का उसमें दोहन किया है। जब इस टीका का कार्य चलता था तब तो लगभग हमेशा प्रभात में चार बजे से पहले भी उठकर वे लिखने बैठ जाते थे और अभी भी बहुत बार ऐसा देखने में आता है। ऐसे सद्कार्यों में उन्हें कभी थकान नहीं लगती। उनकी उम्र ६५ वर्ष लगभग होने पर भी उनकी कार्यशक्ति बहुत अजब है! संवत् २००२ के मागसर शुक्ल दसवीं से उन्होंने नयी वकालात बन्द करके निवृत्ति ली है और तब से वे लगभग पूरे समय सोनगढ़ में ही रहते हैं। उनमें सूक्ष्म न्यायों को झेलने की शक्ति, विशाल बुद्धि, उदारता और इस संस्था के प्रति उनकी तीव्र वृत्ति इत्यादि की प्रशंसा पूज्य गुरुदेवश्री के मुख से भी मुमुक्षुओं ने अनेक बार सुनी है।

आपश्री ने इससे पहले 'मोक्ष की क्रिया' नामक पुस्तक लिखी है। वह मुमुक्षुओं में बहुत प्रिय हुई है, उसकी दूसरी आवृत्ति परिवर्धन-परिवर्तनसहित 'धर्म की क्रिया' इस नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस संस्था की ओर से प्रगट होनेवाला कोई भी लेखन आप के द्वारा पढ़ लेने के बाद ही प्रकाशित किया जाता है।

तदुपरान्त अन्तिम छह वर्ष से प्रसिद्ध होनेवाले आत्मधर्म मासिक के आप सम्पादक हैं।

आत्मधर्म को सरल और सुन्दर बनाकर सद्धर्म प्रचार करने के लिये आपश्री ने जो परिश्रम किया है, उसके परिणाम से आज आत्मधर्म का विस्तृत प्रचार हुआ है और उसके द्वारा हजारों मुमुक्षु तत्त्वज्ञान का लाभ प्राप्त करते हैं। जैन पत्रों में आत्मधर्म का स्थान सर्वोच्च स्थान पर है।

आपश्री ने अनेक प्रकार से इस संस्था की बहुत-बहुत सेवा की है, आप इस संस्था के एक आधार हैं, आपसे यह संस्था गौरववन्त है। ऐसे प्रमुख मिले हैं वह मुमुक्षुओं का भी महाभाग्य है। इस ग्रन्थ द्वारा तो आपने गुजराती जैन साहित्य में एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ को उभारकर बड़ी कमी की पूर्ति की है और इस प्रकार आपने समग्र जैन समाज की सेवा की है।

आप जैन शासन की जो सेवा कर रहे हैं, उसके बदले इस संस्था के ट्रस्टी तथा समस्त मुमुक्षु आपका अत्यन्त आभार मानते हैं और बहुमानपूर्वक अभिनन्दन करते हैं।

वीर संवत् २४७५
आषाढ़ शुक्ल २
सोनगढ़

सर्व ट्रस्टियों की ओर से
(ट्रस्टी)
प्रेमचन्द मगनलाल

जैन शास्त्र की कथन पद्धति समझकर सच्ची श्रद्धा करने की विधि

निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना, तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। श्री समयसार कलश १७३ में भी यही कहा है कि जिससे समस्त हिंसादि वह अहिंसादि में अद्यवसाय है, वह समस्त छोड़ना, ऐसा जिनदेव ने कहा है। इसलिए मैं (आचार्यदेव) ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह समस्त ही छुड़ाया है; तो सत्पुरुष एक निश्चय को ही भले प्रकार से निश्चयरूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते? (भावार्थ) यहाँ व्यवहार का त्याग कराया है, इसलिए निश्चय को अंगीकार करके निज महिमारूप प्रवर्तनयुक्त है। तथा अष्टप्राभृत में मोक्षप्राभृत की ३१वीं गाथा में कहा है कि जो व्यवहार में सोते हैं, वे योगी अपने कार्य में जागते हैं तथा जो व्यवहार में जागते हैं वे अपने कार्य में सोते हैं, इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, व उनके भावों को, व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। **इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना तथा निश्चयनय उन्हें ही यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में मिलाता नहीं है इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है इसलिए उसका श्रद्धान करना।**

प्रश्न—जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण?

उत्तर—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे 'ऐसा है नहीं परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' ऐसा जानना और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसा भी है और ऐसा भी है' ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना कहा नहीं है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अध्याय)

प्रस्तावना

(१) शास्त्र के कर्ता और उसकी टीकाएँ -

१. इस मोक्षशास्त्र के कर्ता, भगवान श्री उमास्वामी आचार्य हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के वे मुख्य शिष्य थे। 'श्री उमास्वाति' के नाम से वे पहिचाने जाते हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् वे आचार्य पद पर विराजमान हुए थे। वे विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी में हो गये हैं।

२. जैन समाज में यह शास्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी एक विशेषता यह है कि जैन आगमों में संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम इसी शास्त्र की रचना हुई है। इस शास्त्र पर श्री पूज्यपाद स्वामी, श्री अकलंकस्वामी और श्री विद्यानन्दिस्वामी जैसे समर्थ आचार्यदेवों ने विस्तृत टीका की रचना की है। श्री सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, अर्थप्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसी शास्त्र की टीकाएँ हैं। बालक से लेकर महापण्डितों तक के लिये यह शास्त्र उपयोगी है। इस शास्त्र की रचना अत्यन्त आकर्षक है। अत्यल्प शब्दों में प्रत्येक सूत्र की रचना हैं और वे सूत्र सरलता से याद रखे जा सकते हैं। अनेक जैन, उन सूत्रों को मुखाग्र करते हैं। जैन पाठशालाओं की पाठ्य-पुस्तकों में यह एक मुख्य है। हिन्दी में इस शास्त्र की कई आवृत्तियाँ छप गयी हैं।

(२) शास्त्र के नाम की सार्थकता -

३. इस शास्त्र में आचार्य भगवान ने प्रयोजनभूत तत्त्वों का वर्णन बड़ी खूबी से भर दिया है। पथभ्रान्त संसारी जीवों को आचार्यदेव ने मोक्ष का मार्ग दर्शाया है; प्रारम्भ में ही 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है' - ऐसा बतलाकर निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया है। इस प्रकार मोक्षमार्ग का प्ररूपण होने से यह शास्त्र 'मोक्षशास्त्र' नाम से पहिचाना जाता है और जीव-अजीवादि सात तत्त्वों का वर्णन होने से 'तत्त्वार्थसूत्र' नाम से भी प्रसिद्ध है।

(३) शास्त्र के विषय -

४. यह शास्त्र कुल १० अध्यायों में विभक्त है और उनमें कुल ३५७ सूत्र हैं। **प्रथम अध्याय** में ३३ सूत्र हैं; उनमें पहले ही सूत्र में निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तीनों की एकता को मोक्षमार्गरूप से बतलाकर, फिर निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञान का विवेचन किया है। **दूसरे अध्याय** में ५३ सूत्र हैं; उसमें जीवतत्त्व का वर्णन है। जीव के पाँच असाधारण भाव, जीव का लक्षण तथा इन्द्रिय, योनि, जन्म, शरीरादि के साथ के सम्बन्ध का विवेचन किया है। **तीसरे अध्याय**

में ३९ तथा **चौथे अध्याय** में ४२ सूत्र हैं। इन दोनों अध्यायों में संसारी जीवों को रहने के स्थानरूप अधो, मध्य और ऊर्ध्व – इन तीन लोकों का वर्णन है और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव – इन चार गतियों का विवेचन है। **पाँचवें अध्याय** में ४२ सूत्र हैं और उसमें अजीवतत्त्व का वर्णन है; इसलिए पुदगलादि अजीवद्रव्यों का वर्णन किया है। तदुपरान्त द्रव्य, गुण, पर्याय के लक्षण का वर्णन बहुत संक्षेप में विशिष्ट रीति से किया है – यह इस अध्याय की मुख्य विशेषता है। **छठवें अध्याय** में २७ तथा **सातवें अध्याय** में ३९ सूत्र हैं, इन दोनों अध्यायों में आस्रवतत्त्व का वर्णन है। छठवें अध्याय में प्रथम, आस्रव के स्वरूप का वर्णन करके, फिर आठों कर्मों के आस्रव के कारण बतलाये हैं। सातवें अध्याय में शुभास्रव का वर्णन है, उसमें बारह व्रतों का वर्णन करके उसका आस्रव के कारण में समावेश किया है। इस अध्याय में श्रावकाचार के वर्णन का समावेश हो जाता है। **आठवें अध्याय** में २६ सूत्र हैं और उसमें बन्धतत्त्व का वर्णन है। बन्ध के कारणों का तथा उसके भेदों का और स्थिति का वर्णन किया है। **नववें अध्याय** में ४७ सूत्र हैं और उसमें संवर तथा निर्जरा इन दो तत्त्वों का बहुत सुन्दर विवेचन है तथा निर्ग्रन्थ मुनियों का स्वरूप भी बतलाया है; इसलिए इस अध्याय में निश्चयसम्यक्चारित्र के वर्णन का समावेश हो जाता है। पहले अध्याय में निश्चयसम्यग्दर्शन तथा निश्चयसम्यग्ज्ञान का वर्णन किया था और इस नववें अध्याय में निश्चयसम्यक्चारित्र का (संवर, निर्जरा का) वर्णन किया; इस प्रकार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग का वर्णन पूर्ण होने पर अन्त में **दसवें अध्याय** में नव सूत्रों द्वारा मोक्षतत्त्व का वर्णन करके श्री आचार्यदेव ने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

५. संक्षेप में देखने से इस शास्त्र में निश्चयसम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग; प्रमाण–नय–निक्षेप; जीव–अजीवादि सात तत्त्व; ऊर्ध्व–मध्य–अधो यह तीन लोक; चार गतियाँ; छह द्रव्य और द्रव्य–गुण–पर्याय, इन सबका स्वरूप आ जाता है। इस प्रकार आचार्य भगवान ने इस शास्त्र में तत्त्वज्ञान का भण्डार बड़ी खूबी से भर दिया है।

(४) तत्त्वार्थों की यथार्थ श्रद्धा करने के लिये कुछ विषयों पर प्रकाश

६– अध्याय १ सूत्र १, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र के सम्बन्ध में श्री नियमसार शास्त्र गाथा २ की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है कि 'सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्रः' ऐसा वचन होने से मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है। इससे यह सूत्र, शुद्धरत्नत्रय, अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग की व्याख्या करता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने से, इस सूत्र का कोई विरुद्ध अर्थ करे तो वह अर्थ मान्य करनेयोग्य नहीं है।

इस शास्त्र में पृष्ठ ६ पैरा नं० ४ में उसके अनुसार अर्थ करने में आया है, उस ओर जिज्ञासुओं का ध्यान खींचने आता है।

७- सूत्र २ 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' यहाँ 'सम्यग्दर्शन' शब्द दिया है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और वही प्रथम सूत्र के साथ सुसङ्गत अर्थ है। कहीं शास्त्र में सात तत्त्वों को भेदरूप दिखाना हो तो वहाँ भी 'तत्त्वार्थश्रद्धा' ऐसे शब्द आते हैं; वहाँ 'व्यवहारसम्यग्दर्शन' - ऐसा उसका अर्थ करना चाहिए।

इस सूत्र में तो तत्त्वार्थश्रद्धान शब्द, सात तत्त्वों को अभेदरूप दिखाने के लिये है; इसलिए सूत्र 'निश्चयसम्यग्दर्शन' की व्याख्या करता है।

इस सूत्र में 'निश्चयसम्यग्दर्शन' की व्याख्या की है। उसके कारण इस शास्त्र में पृष्ठ ७ से १७ में स्पष्टतया दिखाये हैं; वह जिज्ञासुओं को सावधानीपूर्वक पढ़ने का अनुरोध किया जाता है।

८- **प्रश्न** - वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है और जैन-शास्त्र अनेकान्त विद्या का प्रतिपादन करते हैं, तो सूत्र १ में कथित निश्चयमोक्षमार्ग, अर्थात् शुद्धरत्नत्रय और सूत्र २ में कथित निश्चयसम्यग्दर्शन को अनेकान्त किस भाँति घटित होता है ?

उत्तर - (१) निश्चयमोक्षमार्ग, वही खरा (सच्चा) मोक्षमार्ग है और व्यवहारमोक्षमार्ग, सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है तथा निश्चयसम्यग्दर्शन ही सच्चा सम्यग्दर्शन है; व्यवहारसम्यग्दर्शन, सच्चा सम्यग्दर्शन नहीं है। और -

(२) वह स्वाश्रय से ही प्रगट हो सकता है; पराश्रय से कभी भी प्रगट नहीं हो सकता - ऐसा अनेकान्त है।

(३) मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है, अर्थात् उसे पर की अपेक्षा नहीं है, किन्तु तीनों काल स्व की अपेक्षा से ही वह प्रगट हो सकता है, वह अनेकान्त है।

(४) इसलिए उसके प्रगट होने में आंशिक स्वाश्रय और आंशिक पराश्रयपना है (अर्थात् वह निमित्त, व्यवहार, भेद आदि के आश्रय से है) - ऐसा मानना, वह सच्चा अनेकान्त नहीं है, परन्तु वह मिथ्या-एकान्त है; इस प्रकार नि:सन्देह निश्चित करना ही अनेकान्त-विद्या है।

(५) सच्चा मोक्षमार्ग स्वाश्रय से भी हो और पराश्रय से भी हो - ऐसा माना जाये तो उसमें निश्चय और व्यवहार का स्वरूप (जो परस्पर विरुद्धता लक्षणसहित है, वह न रहकर) एकमेक हो जाए - निश्चय और व्यवहार दोनों का लोप हो जाए, अत: ऐसा कभी होता नहीं।

९- अध्याय १, सूत्र ७-८ में निश्चयसम्यग्दर्शनादि प्रगट करने के अमुख्य उपाय दिखाये हैं; वे उपाय अमुख्य, अर्थात् भेद और निमित्तमात्र हैं। यदि उनके आश्रय से अंशमात्र भी निश्चय धर्म प्रगट हो सके—ऐसा माना जाए तो वे उपाय अमुख्य न रहकर, मुख्य (निश्चय) हो जाएँ -

ऐसा समझना। अमुख्य, अर्थात् गौण; और गौण (उपाय) को हेय-छोड़ने योग्य कहा है।

(देखो, प्रवचनसार गाथा ५३ की टीका)

जिस जीव ने स्वसन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट किया हो, उसे निमित्त - जो अमुख्य उपाय हैं, वह कैसे-कैसे होते हैं, वह सूत्र में दिखाया है। निमित्त परपदार्थ है, उसे जीव प्राप्त कर सके, ला सके, ग्रहण कर सके - ऐसा भी नहीं है। 'उपादान निश्चय जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय' (बनारसीदासजी) इस बारे में मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ ४५६ में कहा है कि 'तातैं जो पुरुषार्थकरि मोक्ष का उपाय करै है, **ताकै सर्व कारण मिले हैं, अर वाकै अवश्य मोक्ष की प्राप्ति हो है** - ऐसा निश्चय करना।'

श्री प्रवचनसार गाथा १६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य भी कहते हैं कि—

'निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्म - स्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य-साधन) ढूँढने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ) परतन्त्र होते हैं।'

१०- इस शास्त्र के पृष्ठ ६ में नियमसार का आधार देकर 'निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र' परम निरपेक्ष है - ऐसा दिखाया है, इससे उसका एक अङ्ग जो 'निश्चयसम्यग्दर्शन' है, वह भी परम निरपेक्ष है, अर्थात् स्वात्मा के आश्रय से ही और पर से निरपेक्ष ही होता है - ऐसा समझना। ('ही' शब्द वस्तुस्थिति की मर्यादारूप सच्चा नियम बताने के लिये है)

(५) निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के स्वरूप में कैसा निर्णय करना चाहिए?

(११) 'निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है, वीतरागभावनि के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपनो* है, तातैं व्रतादिक कौं मोक्षमार्ग कहे, सो कहनेमात्र ही हैं -'

(मोक्षमार्गप्रकाशक, (देहली) पृष्ठ ३७२)

धर्म-परिणत जीव को, वीतरागभाव के साथ जो शुभभावरूप रत्नत्रय (दर्शन-ज्ञान-चारित्र) होते हैं, उसे व्यवहारनय द्वारा उपचार से व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है; यद्यपि वह रागभाव होने से बन्धमार्ग ही हैं - ऐसा निर्णय करना चाहिए।

१२- व्यवहारमोक्षमार्ग वास्तव में बाधक होने पर भी, उसका निमित्तपना बताने के लिए उसे व्यवहारनय से साधक कहा है, उस कथन से कितने ही ऐसा मानते हैं कि निश्चयमोक्षमार्ग से व्यवहारमोक्षमार्ग विपरीत (विरुद्ध) नहीं है, किन्तु दोनों हितकारी हैं - तो उनकी यह समझ (मान्यता) झूठ है। इस सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ ३६५ -६६ में कहा है कि -

मोक्षमार्ग दोय नाहीं। मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहाँ साँचा मोक्षमार्ग को

** नैमित्तिक-निमित्तपना*

मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चयमोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नाहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है, वा सहचारी है, ताकौं उपचारकरि मोक्षमार्ग कहिए, सो व्यवहारमोक्षमार्ग है; जातैं निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। **सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार,** तातैं निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। **एक निश्चयमोक्षमार्ग है, एक व्यवहारमोक्षमार्ग है - ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि, निश्चय-व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय माने है, सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध लिये है।** जातैं समयसार विषैं ऐसा कहा है -

'व्यवहारोऽभूयत्थो भूयत्थो दु सुद्धणओ' याका अर्थ - व्यवहार अभूतार्थ है। सत्यस्वरूप को न निरूपे है, किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरुपे है, बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है, सो भूतार्थ है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, तैसा निरूपै है, ऐसे इन दोऊनिका (दोनों नय का) स्वरूप तो विरुद्धता लिये है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६६)*

प्रवचनसार गाथा २७३-७४ में तथा टीका में भी कहा है कि **'मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व शुद्ध ही है'** और वही चारों अनुयोगों का सार है।

१३- निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तो विरुद्ध है ही, परन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप तथा फल परस्पर विरुद्ध है; इसलिए ऐसा निर्णय करने के लिये कुछ आधार निम्नोक्त दिये जाते हैं-

१- श्री नियमसारजी (गुजराती अनुवादित) पृष्ठ सं. १४९ निश्चयप्रतिक्रमण अधिकार की गाथा ७७ से ८१ की भूमिका,

२- नियमसार, गाथा ९१ पृष्ठ १७३ कलश नं. १२२,

३- नियमसार, गाथा ९२ पृष्ठ १७५ टीका

४- नियमसार, गाथा १०९ पृष्ठ २१५ कलश - १५५ नीचे की टीका,

५- नियमसार, गाथा १२१ पृष्ठ २४४ टीका,

६- नियमसार, गाथा १२३ पृष्ठ २४९ टीका,

७- नियमसार, गाथा १२८ पृष्ठ १५९-१६० टीका तथा फुटनोट,

८- नियमसार, गाथा १४१ पृष्ठ २८२ गाथा, १४१ की भूमिका,

प्रवचनसारजी (पाटनी ग्रन्थमाला) में देखो -

९- गाथा ११ टीका पृष्ठ सं. १२-१३

१०- गाथा ४-५ टीका पृष्ठ सं. ७

११- गाथा १३ की भूमिका तथा टीका पत्र, १४-१५

१२- गाथा ७८ टीका पृष्ठ ८८-८९

१३- गाथा ९२ टीका पृष्ठ १०४-५

१४- गाथा १५९ तथा टीका पृष्ठ २०३ (तथा इस गाथा के नीचे पण्डित श्री हेमराजजी की टीका पृष्ठ २२०) (यह पुस्तक हिन्दी में श्री रायचन्द्र ग्रन्थमाला की देखना)

१५- गाथा २४९ तथा टीका, पृष्ठ ३०४ (तथा उस गाथा नीचे पण्डित हेमराजजी की टीका, (हिन्दी पुस्तक-रायचन्द्र ग्रन्थमाला की)

१६- गाथा २४५ तथा टीका, पृष्ठ ३०१,

१७- गाथा १५६ तथा टीका, पृष्ठ २०१

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत समयसारजी कलशों के ऊपर श्री राजमल्लजी टीका (सूरत से प्रकाशित) पुण्य-पाप अधिकार कलश ४, पृष्ठ १०३-४,

कलश ५ पृष्ठ १०४-५

कलश ६ पृष्ठ १०६ (इसमें धर्मी के शुभभावों को बन्ध-मार्ग कहा है)

कलश ८ पृष्ठ १०८

कलश ९ पृष्ठ १०९

कलश ११ पृष्ठ ११२-१३ (यह सभी कलश श्री समयसार पुण्य-पाप अधिकार में है, वहाँ से भी पढ़ लेना)

योगीन्द्रदेवकृत योगसार, दोहा नं. ७१ में (पुण्य को भी निश्चय से पाप कहा है)

योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा नं. ३२, ३३, ३४, ३७

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत मोक्षपाहुड़ गाथा ३१

समाधिशतक गाथा १९

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २२०

पञ्चास्तिकाय गाथा १६५, १६६-६७-६८-६९

पण्डित बनारसीदासकृत नाटक समयसार में पुण्य-पाप अधिकार

कलश १२ पृष्ठ १३१-३२

कलश ७ पृष्ठ १२६-२७

कलश ८ पृष्ठ १२७-२८

समयसारजी शास्त्र (मूल गाथा टीका) गाथा ६९, ७०, ७१, ७२, ७४, ९२, गाथा ३८ तथा टीका, गाथा २१०, २१४, २७६-२७७-२९७ गाथा टीका पढ़ना।

१४५ से १५१, १८१ से १८३ पृष्ठ २९५ (परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से)

३०६-७, (शुभभाव व्यवहारचारित्र, निश्चय से विषकुम्भ) २९७ गाथा में श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी स्पष्ट खुलासा है।

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली सस्ती ग्रन्थमाला) पृष्ठ, नं. ४, ३२७-२८-३२-३३-३४-३७-४०-४१-४२-४३-४४, ३६०-६१, ३६५ से ३७१ (३७१-३७५-४६-७७ पृष्ठ में विशेष बात है) ३७२, ३७३-७५-७६-७७-९७, ४०७-८, ४५७, ४७१-४२

व्यवहारनय के स्वरूप की मर्यादा

१४- समयसार, गाथा ८ की टीका में कहा है कि 'व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिए व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है परन्तु वह व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।' फिर गाथा ११ की टीका में कहा कि व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिए वह अविद्यमान, असत्य, अर्थ को, अभूत अर्थ को प्रगट करता है, शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है; बाद में कहा है कि इसलिए जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं; इसलिए कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालों का व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं हैं।

गाथा ११ के भावार्थ में श्री पण्डित जयचन्दजी ने कहा है कि—

प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं और जिनवाणी में व्यवहारनय का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; **किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है, वह कहीं-कहीं पाया जाता है; इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर, उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है, इसे जाने बिना जब तक जीव, व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।' ऐसा आशय समझना चाहिए॥११॥**

१५- कोई ऐसा मानते हैं कि प्रथम, व्यवहारनय प्रगट हो और बाद में व्यवहारनय के आश्रय से निश्चयनय प्रगट होता है अथवा प्रथम, व्यवहारधर्म करते-करते निश्चयधर्म प्रगट होता है, तो वह मान्यता योग्य नहीं है, कारण कि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है।

(देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, (देहली), पृष्ठ ३६६)

(१) निश्चयसम्यग्ज्ञान के बिना जीव ने अनन्त बार-मुनिव्रत पालन किये, परन्तु उस

मुनिव्रत के पालन को निमित्तकारण नहीं कहा गया, कारण कि सत्यार्थ कार्य प्रगट हुए बिना साधक (निमित्त) किसको कहना?

प्रश्न – ''जो द्रव्यलिङ्गी मुनि, मोक्ष के अर्थी गृहस्थपनों छोड़ि तपश्चरणादि करैं हैं, तहाँ पुरुषार्थ तौ किया, कार्य सिद्ध न भया, **तातैं पुरुषार्थ किये तौ कछू सिद्धि नाहीं।**

ताका समाधान – अन्यथा पुरुषार्थकरि फल चाहे, तो कैसे सिद्धि होय? **तपश्चरणादिक व्यवहार-साधन विषैं अनुरागी होय प्रवर्त्तैं, ताका फल, शास्त्र विषैं तो शुभबन्ध कहा है, अर यहु तिससैं मोक्ष चाहै है, तो कैसे सिद्धि होय! अतः यह तौं भ्रम है।'**

(मोक्षमार्गप्रकाशक, (देहली) पृष्ठ ४५६ देखो)

(२) मिथ्यादृष्टि की दशा में किसी भी जीव को कभी भी 'सम्यक्श्रुतज्ञान' हो सकता नहीं; जिसको 'सम्यक्श्रुतज्ञान' प्रगट हुआ है, उसे ही 'नय' होते हैं, कारण कि 'नय' ज्ञान, वह सम्यक्श्रुतज्ञान का अंश है, **अंशी बिना अंश कैसा?** 'सम्यक्श्रुतज्ञान' (भावश्रुतज्ञान) होते ही दोनों नय एक साथ होते हैं, प्रथम और पीछे – ऐसा नहीं है; इस प्रकार सच्चे जैनधर्मी मानते हैं।

(३) वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसी समय सम्यक्श्रुतज्ञान प्रगट होता है, सम्यक्श्रुतज्ञान में दोनों नय अंशों का सद्भाव एक साथ है; आगे पीछे नय होते नहीं। निजात्मा के आश्रय से जब भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ, तब अपना ज्ञायकस्वभाव तथा उत्पन्न हुई जो शुद्धदशा, उसे आत्मा के साथ अभेद मानना, वह निश्चयनय का विषय है और जो अपनी पर्याय में अशुद्धता तथा अल्पता शेष है, वह व्यवहारनय का विषय है। इस प्रकार दोनों नय एक ही साथ जीव को होते हैं; इसलिए प्रथम व्यवहारनय अथवा व्यवहारधर्म और बाद में निश्चयधर्म – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं हैं।

१६- प्रश्न – निश्चयनय और व्यवहारनय समकक्ष हैं – ऐसा मानना ठीक हैं?

उत्तर – नहीं, दोनों नय को समकक्षी माननेवाले एक सम्प्रदाय* है। वे दोनों को समकक्षी

*** उस सम्प्रदाय की व्यवहारनय के सम्बन्ध में क्या श्रद्धा है? देखो – (१) श्री मेघविजयजी गणी कृत युक्तिप्रबोध नाटक (वह गणीजी कविवर श्री बनारसीदास के समकालीन थे) उनने व्यवहारनय के आलम्बन द्वारा आत्महित होना बताकर श्री समयसार नाटक तथा दिगम्बर जैनमत के सिद्धान्तों का खण्डन किया है तथा (२) जो प्रायः १६वीं शती में हुये – अब भी उनके सम्प्रदाय में बहुत मान्य हैं। उन श्री यशोवियजजी उपाध्यायकृत गुर्जर साहित्य-संग्रह में पृष्ठ नं० २०७, २१९, २२२, ५८४, ८५ में दिगम्बर जैनधर्म के विशेष सिद्धान्तों का उग्र (सख्त) भाषा द्वारा खण्डन किया है, वे बड़े ग्रन्थकार थे – विद्वान थे। उनने दिगम्बर आचार्यों का यह मत बतलाया है कि –**

(१) निश्चयनय होने पर ही व्यवहारनय हो सकता है – व्यवहारनय प्रथम नहीं हो सकता।

(२) प्रथम व्यवहारनय तथा व्यवहारधर्म और पीछे निश्चयनय और निश्चयधर्म – ऐसा नहीं है।

(३) निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों समकक्ष नहीं है – परस्पर विरुद्ध हैं, उनके विषय और फल में विपरीतता है।

(४) निमित्त का प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसा दिगम्बर आचार्यों का मत है। इन मूल बातों का उस सम्प्रदाय ने उग्र जोरों से खण्डन किया है – इसलिए जिज्ञासुओं से प्रार्थना है कि उसमें कौन मत सच्चा है, उसका निर्णय सच्ची श्रद्धा के लिये करें – जो बहुत प्रयोजनभूत है – जरूरी बात है।

और दोनों के आश्रय से धर्म होता है – ऐसा निरूपण करते हैं, परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो स्पष्टरूप से कहते हैं कि भूतार्थ के (निश्चय के) आश्रय से ही हमेशा धर्म होता है, पराश्रय से (व्यवहार से) कभी अंशमात्र भी सच्चा धर्म (हित) नहीं होता। हाँ, दोनों नयों का तथा उनके विषयों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। गुणस्थान-अनुसार जैसे-जैसे भेद आते हैं, वह जानना प्रयोजनवान है, परन्तु दोनों समान हैं – समकक्ष हैं—ऐसा कभी नहीं है, कारण कि दोनों नयों के विषय में और फल में परस्पर विरोध है, इसलिए व्यवहारनय के आश्रय से कभी भी धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और टिकना होता ही नहीं – ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना चाहिए। समयसारजी में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत ११वीं गाथा को सच्चा जैनधर्म का प्राण कहा है, इसलिए उस गाथा और टीका का मनन करना चाहिए। गाथा निम्नोक्त है—

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है;
भूतार्थ के आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होत है॥ *(काव्य में)*

१७- **प्रश्न** – व्यवहारमोक्षमार्ग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है, वहाँ क्या प्रयोजन है ?

समाधान – (१) सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धात्मद्रव्य के आलम्बन द्वारा अपनी शुद्धता बढ़ाकर जैसे-जैसे शुद्धता द्वारा गुणस्थान में आगे बढ़ेगा, तैसे-तैसे अशुद्धता (शुभाशुभ का) अभाव होता जायेगा और क्रमशः शुभभाव का अभाव करके शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करेगा – ऐसा दिखाने के लिये व्यवहारमोक्षमार्ग को परम्परा (निमित्त) कारण कहा गया है। यह निमित्त दिखाने के प्रयोजन से व्यवहारनय का कथन है।

(२) शुभभाव ज्ञानी को भी आस्रव (बन्ध के कारण) होने से वे निश्चयनय से परम्परा भी मोक्ष का कारण नहीं हो सकते। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ५९ में कहा है कि **कर्मों का आस्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा भी निर्वाण प्राप्त हो नहीं सकता है; इसलिए संसार-भ्रमण के कारणरूप आस्रव को निंद्य जानो॥५९॥**

(३) पञ्चास्तिकाय, गाथा १६७ में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि 'श्री अरहन्तादि में भी राग छोड़ने योग्य है' पीछे गाथा १६८ में कहा है कि **धर्मी जीव का राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ का परम्परा कारण है।**

(४) इस विषय में स्पष्टीकरण श्री नियमसार गाथा ६० (गुजराती अनुवाद) पृष्ठ ११७ फुटनोट नं. ३ में कहा है कि ''शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत, शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु है – ऐसा गिन करके यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष के परम्परा हेतु कहा है। वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि को मुनि के योग्य शुद्धपरिणति ही (शुद्धात्मद्रव्य का आलम्बन करती होने से) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग का हेतु होती है; और वह शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु होता है;

इस प्रकार इस शुद्धपरिणति में स्थित को मोक्ष के परम्परा हेतु कहने में आता है, परन्तु जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ रहा हुआ शुभोपयोग में मोक्ष के परम्परा हेतुपने का आरोप भी नहीं कर सकते, कारण कि जहाँ मोक्ष का यथार्थ हेतु प्रगट हुआ ही नहीं - विद्यमान ही नहीं, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका करना?''

(५) और पञ्चास्तिकाय, गाथा १५९ (गुज० अनु०) पृष्ठ २३३-३४ में फुटनोट नं०४ में कहा है कि 'जिनभगवान के उपदेश में दो नयों द्वारा निरूपण होता है। वहाँ, निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ / उपचरित निरूपण किया जाता है।'

प्रश्न - सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिए, अभूतार्थ / उपचरित निरूपण किसलिए किया जाता है?

उत्तर - जिसे सिंह का यथार्थ स्वरूप सीधा समझ में नहीं आता हो, उसे सिंह के स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा, अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के निरूपण द्वारा सिंह के यथार्थ स्वरूप की समझ की ओर ले जाया जाता है; उसी प्रकार जिसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप सीधा समझ में न आता हो, उसे वस्तुस्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ की ओर ले जाते हैं। **और लम्बे कथन के बदले में संक्षिप्त कथन करने के लिये भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है।** यहाँ इतना लक्ष्य में रखने योग्य है कि जो पुरुष, बिल्ली के निरूपण को ही सिंह का निरूपण मानकर, बिल्ली को ही सिंह समझ ले, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है; उसी प्रकार जो पुरुष, उपचरित निरूपण को ही सत्यार्थ निरूपण मानकर वस्तुस्वरूप को मिथ्यारीति से समझ बैठे, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है।

[यहाँ एक उदाहरण लिया जाता है -

साध्य-साधन सम्बन्धी सत्यार्थ निरूपण इस प्रकार है कि 'छठवें गुणस्थान में वर्तती हुई आंशिक शुद्धि, सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्धपरिणति का साधन है।' अब, छठवें गुणस्थान में कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है, इस बात को भी साथ ही साथ समझना हो तो, विस्तार से ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धि के सद्भाव में, उसके साथ-साथ महाव्रतादि के शुभविकल्प हठरहित, सहजरूप से प्रवर्तन हों, वह छठवें गुणस्थान के योग्य शुद्धि, सातवें गुणस्थान के योग्य निर्विकल्प शुद्धपरिणति का साधन है।' ऐसे लम्बे कथन के बदले में, ऐसा कहा जाये कि 'छठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान महाव्रतादि के शुभविकल्प, सातवें गुणस्थान, योग्य निर्विकल्प शुद्धपरिणति का साधन है,' - तो यह उपचरित निरूपण है। ऐसे उपचरित निरूपण में से ऐसा अर्थ निकालना चाहिए - 'महाव्रतादि के शुभविकल्प (साधन) नहीं किन्तु उनके द्वारा जिस छठवें

गुणस्थान-योग्य शुद्धि को बताना था, वह शुद्धि वास्तव में सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्धपरिणति का साधन है।']

(६) परम्परा कारण का अर्थ निमित्तकारण है। व्यवहारमोक्षमार्ग को निश्चयमोक्षमार्ग के लिये भिन्न साधन-साध्यरूप से कहा है, उनका अर्थ भी निमित्तमात्र है। जो निमित्त का ज्ञान न किया जाय तो प्रमाणज्ञान होता नहीं, इसलिए जहाँ-जहाँ उसे साधक, साधन, कारण, उपाय, मार्ग, सहकारी कारण, बहिरङ्ग हेतु कहा है; वे सभी उस-उस भूमिका के सम्बन्ध में जाननेयोग्य निमित्तकारण कैसा होता है, उसका यथार्थ ज्ञान कराने के लिये है।

जो गुणस्थान अनुसार यथायोग्य साधकभाव, बाधकभाव और निमित्तों को यथार्थतया न जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। कारण कि उस सम्बन्ध में सच्चे ज्ञान के अभाव में अज्ञानी ऐसा कहता है कि भावलिङ्गी मुनिदशा नग्न दिगम्बर ही हो, ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है तो उनकी यह बात मिथ्या ही है, कारण कि भावलिङ्गी मुनि को उस भूमिका में तीन जाति के कषाय चतुष्टय का अभाव और सर्व सावद्ययोग का त्यागसहित २८ मूलगुणों का पालन होता है; इसलिए उसे वस्त्र का सम्बन्धवाला राग अथवा उस प्रकार का शरीर का राग कभी भी होता ही नहीं – ऐसा निरपवाद नियम है। **वस्त्र रखकर अपने को जैनमुनि माननेवाले को शास्त्र में निगोदगामी कहा है।** इस प्रकार गुणस्थानानुसार उपादान-निमित्त दोनों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। साधक जीव का ज्ञान ऐसा ही होता है, जो उस भेद को जानता सन्ता प्रगट होता है। समयसार शास्त्र में गाथा १२ में मात्र, इस हेतु से व्यवहारनय को जानने के लिये प्रयोजनवानपना बताया है।

स्व० श्री दीपचन्दजी कृत ज्ञानदर्पण पृष्ठ २९-३० में कहा है कि

याही जगमाहीं ज्ञेय भाव कौ लखैया ज्ञान,
ताकौ धरि ध्यान आन काहे पर हेरै है।
पर के संयोग तैं अनादि दुःख पाए अब,
देखि तू सँभारि जो अखंड निधि तेरै है।
वाणी भगवान की कौ सकल निचौर यहै,
समैसार आप पुण्यपाप नाहिं नेरै है।
यातैं यह ग्रन्थ शिव पंथ को सधैया महा,
अरथ विचारि गुरुदेव यौं परेरै है ॥८५॥
व्रत तप शील सञ्जमादि उपवास किया,
द्रव्य भावरूप दोउ बन्ध को करतु हैं।

करम जनित तातैं करम को हेतु महा,
बन्ध ही कौ करे मोक्षपंथ कौं हरतु हैं।
आप जैसी होइ ताकौं आपकै समान करै,
बन्ध ही कौ मूल यातैं बंधकौं भरतु हैं।
याकौं परम्परा अति मानि करतूति करैं,
केई महा मूढ़ भवसिंधुमैं परतु हैं॥८६॥

कारण समान काज सब ही बखानतु है,
यातैं परक्रियामाहिं पर की धरणि है।
याहि तै अनादि द्रव्य क्रिया तौ अनेक करी,
कछु नाहिं सिद्धि भई ज्ञान की परणि है।
करम को वंस जामैं ज्ञान कौ न अंश कोउ,
बढ़ै भववास मोक्षपंथ की हरणि है।
यातै परक्रिया उपादेय तौ न कही जाय,
तातै सदाकाल एक बन्ध की ठरणि है॥८७॥

पराधीन बाधायुत बन्ध की करैया महा,
सदा बिनासीक जाकौ ऐसों ही सुभाव है।
बन्ध, उदै, रस, फल जीमैं चार्यों एक रूप,
शुभ व अशुभ क्रिया एक ही लखाव है।
करम की चेतना में कैसैं मोक्षपंथ सधै,
मानें तेई मूढ़ हीए जिनके विभाव है।
जैसो बीज होय ताकौ तैसो फल लगै जहाँ,
यह जग मांहि जिन आगम कहाव है॥८८॥

शुभोपयोग के सम्बन्ध में सम्यग्दृष्टि की कैसी श्रद्धा है

१८- श्री प्रवचनसार, गाथा ११ में तथा टीका में धर्म-परिणत जीव के शुभोपयोग को शुद्धोपयोग से विरोधी शक्तिसहित होने से स्व-कार्य (चारित्र का कार्य) करने के लिये असमर्थ कहा है, हेय कहा है। इससे ऐसा सिद्ध होता है - **ज्ञानी (धर्मी) के शुभभाव में भी किञ्चित् भी शुद्धि का अंश नहीं है,** कारण कि वह वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग नहीं है, बन्धमार्ग ही है; ऐसी बात होने पर भी, जहाँ ज्ञानी के (धर्मी के) शुभभाव को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है, वह उपचार से कहा है।

प्रश्न - किस अपेक्षा से वह उपचार किया है?

उत्तर - व्यवहारचारित्र के साथ निश्चयचारित्र हो तो वह (शुभभाव) निमित्तमात्र है, उतना ज्ञान कराने की अपेक्षा वह उपचार किया है - ऐसा समझना।

प्रश्न - उपचार भी कुछ हेतु से किया जाता है, तो यहाँ वह हेतु क्या है?

उत्तर - निश्चयचारित्र के धारक जीव को छठवाँ गुणस्थान का वैसा ही शुभराग होता है परन्तु ऐसे व्यवहार से विरुद्ध प्रकार का राग कभी भी होता ही नहीं, कारण कि उस भूमिका में तीन प्रकार की कषायशक्ति के अभावसहित महामन्द प्रशस्तराग होता है, उसे महामुनि नहीं छूटता जानकर उसका त्याग करते नहीं, भावलिङ्गी मुनियों को कदाचित् मन्दराग के उदय से व्यवहारचारित्र का भाव होता है, परन्तु उस शुभभाव को भी हेय जानकर दूर करना चाहते हैं और उस-उस काल में ऐसा ही राग होना सम्भव है - ऐसा राग बलजोरी से (अपनी स्वसन्मुखता की कमजोरी से) आये बिना रहता नहीं किन्तु मुनि उसे दूर से अतिक्रान्त कर जाते हैं। इस हेतु से यह उपचार किया है - ऐसा समझना। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के दृढ़ श्रद्धा होती है।

इस सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३७६-७७ में कहा है कि -

''**बहुरि नीचली दशाविषैं केई जीवनिकै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइए है। तातैं उपचारकरि व्रतादिक शुभोपयोगकौं मोक्षमार्ग कहा है। वस्तु विचारतैं शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। जातैं बन्धकौ कारण सोई मोक्ष का घातक है - ऐसा श्रद्धान करना।**'' बहुरि शुद्धोपयोग हीकौं उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोगकौं हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै, तहाँ अशुभोपयोगकौं छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्त्तना। जातैं शुभोपयोगतै अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है।

बहुरि शुद्धोपयोग होय, तब तो परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहै है। तहाँ तौं किछू परद्रव्य का प्रयोजन ही नाहीं। बहुरि शुभोपयोग होय, तहाँ बाह्य-व्रतादिक की प्रवृत्ति होय, अर अशुद्धोपयोग होय, तहाँ बाह्य अव्रतादिक की प्रवृत्ति होय। जातैं अशुद्धोपयोग कै अर परद्रव्य की प्रवृत्ति कै निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाइए है। बहुरि पहले अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग होइ, पीछैं शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग होइ, ऐसी क्रम परिपाटी है। परन्तु कोई ऐसैं मानै कि शुभोपयोग है, सो शुद्धोपयोग कौं कारण है; जैसे अशुभ छूटकर शुभोपयोग हो है, तैसै शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। जो ऐसैं ही कार्य-कारणपना हो तौ शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै। (तो ऐसा नहीं है) द्रव्यलिङ्गी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है, शुद्धोपयोग होता ही नाहीं तातैं **परमार्थ तैं इनकै कारण-कार्यपना है नाहीं।** जैसे अल्परोग, निरोध होने का कारण नहीं, और भला नहीं, **तैसे शुभोपयोग भी रोग समान है भला नहीं है।** *(मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ ३७५ से ७७)*

सभी सम्यग्दृष्टियों को ऐसा श्रद्धान होता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वे व्यवहारधर्म को मिथ्यात्व समझते हों, और ऐसा भी नहीं है कि उसे सच्चा मोक्षमार्ग समझते हों।

१९- प्रश्न - शास्त्र में प्रथम तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग और ४-५-६ गुणस्थान में अकेला शुभोपयोग कहा है, वह तारतम्यता की अपेक्षा से है या मुख्यता की अपेक्षा से है?

उत्तर - वह कथन तारतम्यता अपेक्षा नहीं है परन्तु मुख्यता की अपेक्षा से कहा है (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४०१ देखो) इस सम्बन्ध में विस्तार से देखना हो तो प्रवचनसार (रायचन्द्र ग्रन्थमाला) अध्याय ३, गाथा ४८ श्री जयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ ३४२ में देखो।

२०- प्रश्न - शास्त्र में कई जगह, शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मों का क्षय होता है -ऐसा कथन है, अब शुभ तो औदयिकभाव है, बन्ध का कारण है, ऐसा होने पर भी शुभभाव से कर्मों का क्षय बताने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - (१) शुभपरिणाम-रागभाव (मलिनभाव) होने से वे किसी भी जीव के हों - सम्यक्दृष्टि के हों या मिथ्यादृष्टि के हों, किन्तु वे मोहयुक्त उदयभाव होने से सम्यग्दृष्टि का शुभभाव भी बन्ध का ही कारण है; संवर-निर्जरा का कारण नहीं है और यह बात सत्य ही है, जिसे इस शास्त्र में पृष्ठ ४५७ से ४६२ में अनेक शास्त्र के प्रमाण द्वारा दिखाया है।

(२) शास्त्र के कोई भी कथन का अर्थ करना हो तो प्रथम यह निर्णय करना चाहिए कि **वह किस नय का कथन है?** ऐसा विचार करने पर सम्यग्दृष्टि के शुभभावों से कर्मों का क्षय होता है - वह कथन **व्यवहारनय का है,** इसलिए उसका ऐसा अर्थ होता है कि **वह ऐसा नहीं है परन्तु निमित्त बताने की अपेक्षा से यह उपचार किया है,** अर्थात् वास्तव में वह शुभ तो कर्म-बन्ध का ही कारण है परन्तु सम्यग्दृष्टि के नीचे की भूमिका में -४ से १० गुणस्थान तक शुद्धपरिणाम के साथ उस भूमिका के योग्य शुभभाव निमित्तरूप होते हैं, उसका ज्ञान कराना, इस उपचार का प्रयोजन है - ऐसा समझना।

(३) एक ही साथ शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मों का क्षय जहाँ पर कहा हो, **वहाँ उपादान और निमित्त दोनों उस-उस गुणस्थान के समय होते हैं** और इस प्रकार के ही होते हैं, **विरुद्ध नहीं - ऐसा बताकर, उसमें जीव के शुद्धभाव तो उपादानकारण हैं और शुभ भाव, निमित्तकारण है** - ऐसे इन दो कारणों का ज्ञान कराया है, उसमें **निमित्तकारण, अभूतार्थ कारण है** - वास्तव में कारण नहीं है; इसलिए शुभपरिणाम से कर्मों का क्षय कहना, उपचार कथन है - ऐसा समझना।

(४) श्री प्रवचनसार (पाटनी ग्रन्थमाला), गाथा २४५ की टीका पृष्ठ ३०१ में ज्ञानी के शुभोपयोगरूप व्यवहार को 'आस्रव ही' कहा है, अत: उनसे संवर लेशमात्र भी नहीं है।

श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा १६८ में भी कहा है कि 'उससे आस्रव का निरोध नहीं हो सकता', तथा गाथा १६६ में भी कहा है कि 'व्यवहारमोक्षमार्ग, वह सूक्ष्म परसमय है और वह बन्ध का हेतु होने से उसका मोक्षमार्गपना निरस्त किया गया है। गाथा १५७ तथा उसकी टीका में शुभाशुभ, परचारित्र है, बन्धमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है' – ऐसा कहा है।

(५) इस सम्बन्ध में खास लक्ष्य में रखने योग्य बात यह है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्र की गाथा १११ का अर्थ बहुत समय से कितेक द्वारा असङ्गत करने में आ रहा है, उसकी स्पष्टता के लिये देखो, इस शास्त्र के पृष्ठ नं० ४६१।

उपरोक्त सब कथन का अभिप्राय समझकर ऐसी श्रद्धा करना चाहिए कि धर्मी जीव प्रथम से ही शुभराग का भी निषेध करते हैं। अत: धर्म-परिणत जीव का शुभोपयोग भी हेय है, त्याज्य है, निषेध्य है, कारण कि वह बन्ध का ही कारण है। जो प्रथम से ही ऐसी श्रद्धा नहीं करता, उसे आस्रव और बन्धतत्त्व की सत्यश्रद्धा नहीं हो सकती और ऐसे जीव, आस्रव को संवररूप मानते हैं, शुभभाव को हितकर मानते हैं, इसलिए वे सभी झूठी श्रद्धावाले हैं। इस विषय में विशेष समझने के लिये देखो, इस शास्त्र के पृष्ठ ४५७ से ४६२।

व्यवहारमोक्षमार्ग से लाभ नहीं है - ऐसी श्रद्धा करने योग्य है

२१- कितेक लोग ऐसा मान रहे हैं कि शुभोपयोग से अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से आत्मा को वास्तव में लाभ होता है, तो वह बात मिथ्या है, कारण कि वे सब व्यवहारमोक्षमार्ग को वास्तव में बहिरङ्ग निमित्तकारण नहीं मानते, परन्तु उपादानकारण मानते हैं। ***देखो, श्री रायचन्द्र ग्रन्थमाला के पञ्चास्तिकाय, गाथा ८६ में जयसेनाचार्य की टीका।***

वहाँ धर्मास्तिकाय का निमित्तकारणपना कैसे है? यह बात सिद्ध करने में कहा है कि ''शुद्धात्म स्वरूपे या स्थितिस्तस्य निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन कारणं, व्यवहारेण पुनरर्हत्सिद्धादि परमेष्ठि गुणस्मरणं च यथा, तथा जीव पुद्गलानां निश्चयेन स्वकीय स्वरूपमेव स्थितेरूपादान कारणं, व्यवहारेण पुनरधर्मद्रव्यं चेति सूत्रार्थ:। अर्थ - अथवा **जैसे शुद्धात्मस्वरूप में ठहरने का कारण निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है** तथा व्यवहारनय से अर्हन्त, सिद्धादि पञ्च परमेष्ठियों का गुणों का स्मरण है, तैसे जीव-पुद्गलों के ठहरने में निश्चयनय से उनका ही स्वभाव, उपादानकारण है; व्यवहारनय से अधर्मद्रव्य - यह सूत्र का अर्थ है।''

इस कथन से सिद्ध होता है कि धर्मपरिणत जीव को शुभोपयोग निमित्तपना और गतिपूर्वक स्थिर होनेवाले को अधर्मास्तिकाय निमित्तपना समान है और इस कथन से यह बात जानी जाती है कि निमित्त से वास्तव में लाभ (हित) माननेवाले निमित्त को उपादान ही मानते हैं, व्यवहार को

निश्चय ही मानते हैं, अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग में वास्तव में लाभ मानते हैं; इसलिए वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३७८ में भी ऐसा कहा है, कि ''यहु जीव निश्चयाभास को मानैं-जानैं है **परन्तु व्यवहार साधनकौं भला जानैं है, ...व्रतादिरूप शुभोपयोग** प्रवर्तै है, तातैं अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त पद कौं पावै हैं परन्तु संसार का ही भोक्ता रहै है।''

केवलज्ञान, क्रमबद्ध-क्रमवर्ती

२२- केवलज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताएँ चल रही हैं, अत: उसका सच्चा स्वरूप क्या है, वह इस शास्त्र में पृष्ठ १६६ से १७७ तक दिया गया है। उस मूल बात की ओर आपका ध्यान खींचने में आता है।

(१) केवली भगवान् आत्मज्ञ हैं, परज्ञ नहीं है—ऐसी भी एक झूठी मान्यता चल रही है, परन्तु श्री प्रवचनसार, गाथा १३ से ५४ तक टीकासहित उनका स्पष्ट समाधान किया है, उनमें गाथा ४८ में कहा है कि ''जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्यायसहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है'' बाद में विस्तार से टीका करके अन्त में कहा है कि ''इस प्रकार फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने को (आत्मा को) नहीं जानता।'' प्रवचनसार गाथा ४९ (पाटनी ग्रन्थमाला) में भी बहुत स्पष्ट कहा है, गाथा पर टीका के साथ जो कलश दिया है। वह खास सूक्ष्मता से पढ़ने योग्य है।

शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान है; इसलिए केवलज्ञान प्रगट करने के लिये शुद्धोपयोग अधिकार शुरु करते हुए आचार्यदेव ने प्रवचनसार, गाथा १३ की भूमिका में कहा है कि ''इस प्रकार यह (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) **समस्त शुभोपयोगवृत्ति को अपास्त कर,** (हेय मानकर, तिरस्कार करके, दूर करके) शुद्धोपयोगवृत्ति को आत्मसात् (अपनेरूप) करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं। उसमें (पहले) शुद्धोपयोग के फल की आत्मा के प्रोत्साहन के लिये प्रशंसा करते हैं'' कारण कि शुद्धोपयोग का ही फल केवलज्ञान है।

उस केवलज्ञान के सम्बन्ध में विस्तार से स्पष्ट आधार द्वारा समझने के लिये देखो, इस शास्त्र के पृष्ठ संख्या १६६ से १७७ तक।

(२) प्रवचनसार, गाथा ४७ की टीका में सर्वज्ञ के ज्ञानस्वभाव का वर्णन करते-करते कहा है कि ''अतिविस्तार से बस हो, जिसका अनिवारित फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को जानता है'' इससे ही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञेयों का सम्पूर्ण स्वरूप प्रत्येक समय में केवलज्ञान के प्रति सुनिश्चित होने से अनादि-अनन्त क्रमबद्ध-क्रमवर्ती पर्यायें केवलज्ञानी के ज्ञान में स्पष्ट प्रतिभासित हैं और वे सुनिश्चित होने से सब द्रव्यों की सब पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, उलटी-सीधी, अगम्य या अनिश्चित होती ही नहीं।

(३) पर्याय को क्रमवर्ती भी कहने में आता है, उसका अर्थ श्री पञ्चास्तिकाय की गाथा १८ की टीका में ऐसा किया है कि ''**क्योंकि वे (पर्यायें) क्रमवर्ती होने से उनका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है।**'' बाद में गाथा २१ की टीका में कहा है कि जब जीवद्रव्य को गौणता से तथा पर्याय की मुख्यता से विवक्षित होता है, तब वह **(१) उपजता है, (२) विनष्ट होता है, (३) जिसका स्वकाल बीत गया है, ऐसे सत् (विद्यमान) पर्याय समूह को विनष्ट करता है, और (४) जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है (आ पहुँचा है) ऐसे असत् को (अविद्यमान पर्याय समूह को) उत्पन्न करता है।**

(४) पञ्चाध्यायी भाग १ गाथा १६७-६८ में कहा है कि ''क्रम धातु है जो पादविक्षेप अर्थ में प्रसिद्ध है'' गमन में पैर दायां-बायां क्रमसर ही चलते हैं। उलटे क्रम से नहीं चलते। इस प्रकार द्रव्यों की पर्याय भी क्रमबद्ध होती है, जो अपने-अपने अवसर में प्रगट होती हैं, उसमें कोई समय पहिले की पीछे और पीछेवाली पहिले ऐसे उल्टी-सीधी नहीं होती। अत: प्रत्येक पर्याय अपने स्व-समय में ही क्रमानुसार प्रगट होती रहती है।

(५) पर्याय को क्रमभावी भी कहने में आता है, श्री प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायशास्त्र में (३ परोक्ष परिशिष्ट सूत्र ३ गाथा १७-१८ की टीका में) कहा है कि 'पूर्वोत्तर चारिणो: कृतिकाशकटोदयादि -स्वरूपयो: कार्यकारणयो: श्चाग्नि धुमादिस्वरूपयो: इति।' उन नक्षत्रों के दृष्टान्त से भी सिद्ध होता है कि जैसे नक्षत्रों के गमन का क्रमभावीपना कभी भी निश्चित क्रम को छोड़कर उलटा नहीं होता। वैसे ही, द्रव्यों की प्रत्येक पर्यायों का उत्पाद-व्ययरूप प्रवाह का क्रम अपने निश्चित क्रम को छोड़कर कभी भी उलटा-सीधा नहीं होता, परन्तु स्वसमय में उत्पाद होता रहता है।

(६) केवली-सर्वज्ञ का ज्ञान के प्रति सर्वज्ञेयों-सर्वद्रव्यों की त्रिकालवर्ती सर्वपर्यायें ज्ञेयपना तो निश्चित ही हैं और क्रमबद्ध हैं। उसकी सिद्धि करने के लिये प्रवचनसार, गाथा ९९ की टीका में बहुत स्पष्ट कथन है। विशेष देखो, पाटनी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार गाथा-

गाथा	१०	पृष्ठ	१२	टीका और भावार्थ	
''	२३	''	२७-२९	''	''
''	३७	''	४४	''	''
''	३८	''	४५	''	''
''	३९	''	४६	''	''
''	४१	''	४८	''	''
''	४८-४९	''	५५ से ५९	''	''

''	५१	''	५९	''	''
''	९९	''	१२४-२६	''	''
''	११३	''	१४७-४८	''	''
''	२००	''	२४३	''	''

(७) श्री समयसारजी शास्त्र की टीका में कलशों की श्री राजमलजी कृत टीका (सूरत से प्रकाशित) में पृष्ठ १० कहा है कि ताकौ व्योरौ - '**यह जीव इतना फल वीत्या मोक्ष जासै इसी न्योधु (नोंध) केवलज्ञान माहे छै।**'

(८) अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी भी भविष्य की पर्यायों को, निश्चितरूप से स्पष्ट जानते ही हैं और नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र तथा ताराओं की गति, उदय-अस्त, ग्रहणकाल आदि को निश्चितरूप से अल्पज्ञ जीव भी जान सकते हैं, तो सर्वज्ञ, वीतराग पूर्णज्ञानी होने से सर्वद्रव्यों की सर्व पर्यायों को निश्चितरूप से (उसके क्रम में नियत) कैसे नहीं जान सकता? - अवश्य जानता ही है।

(९) इस कथन का प्रयोजन, स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप के ज्ञान द्वारा केवलज्ञानस्वभावी अपनी आत्मा का जो पूर्णस्वरूप है, उसका निश्चय करके, सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का वास्तविक श्रद्धान करना और मिथ्याश्रद्धा छोड़ना चाहिए। क्रमबद्ध के सच्चे श्रद्धान में कर्तापने और पर्याय के आश्रय से छूटकर अपने त्रैकालिक ज्ञातास्वभाव की दृष्टि और आश्रय होता है, उसमें स्वसन्मुख ज्ञातापने का सच्चा पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म उन पाँचों का समूह एक ही साथ होता है, यह नियम है। ऐसा अनेकान्त वस्तु का स्वभाव है, ऐसा श्रद्धान करना, कारण कि उसकी श्रद्धा किये बिना सच्ची मध्यस्थता नहीं आ सकती।

२३- तत्त्वज्ञानी स्व० श्री पण्डित बनारसीदासजी ने 'परमार्थ वचनिका' में ज्ञानी-अज्ञानी का भेद समझने के लिये कहा है कि -

(१) अब मूढ़ तथा ज्ञानी जीव को विशेषणों और भी सुनो - ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधि जानै; मूढ़, मोक्षमार्ग न साधि जानै, काहे-यातैं सुनो-मूड़ जीव **आगमपद्धति को**[१] व्यवहार कहै; अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहै, तातैं आगम अङ्ग एकान्तपनौ साधिकै मोक्षमार्ग दिखावै, **अध्यात्म अङ्ग को**[२] व्यवहार से (भी) न जानै, यह मूढ़दृष्टि को स्वभाव वाही याही भाँति सूझै काहेतैं? -

१. आगम पद्धति -दो प्रकार से है - (१) भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्धि परिणतिरूप अर्थात् दया, दान, पूजा, अनुकम्पा, अव्रत तथा अणुव्रत-महाव्रत, मुनि के २८ मूलगुणों का पालनादि शुभभावोंरूप जीव के मलिन परिणाम। (२) द्रव्यरूप पुद्गलपरिणाम।

२. अन्तरदृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति को साधना, सो अध्यात्म-अङ्ग का व्यवहार है।

यातैं जू-आगम अङ्ग बाह्य-क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, ताकौ स्वरूप साधिवो सुगम। ता (वे) बाह्यक्रिया करतौ संतौ आपकूं मूढ़ जीव मोक्ष को अधिकारी मानै, (परन्तु) अन्तरगर्भित अध्यात्मरूप क्रिया सौ अन्तरदृष्टि ग्राह्य है, सो क्रिया मूढ़ जीव न जानै। अन्तरदृष्टि के अभाव सौं अन्तरक्रिया दृष्टिगोचर आवे नाहीं, तातैं मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधिवे को असमर्थ है।

(२) अथ सम्यग्दृष्टि को विचार सुनौ -

सम्यग्दृष्टि कहा (कौन) सो सुनो - संशय, विमोह, विभ्रम, ए तीन भाव जामैं नाहीं, सौ सम्यग्दृष्टि। संशय, विमोह, विभ्रम कहा - ताको स्वरूप, दृष्टान्त करि दिखायतु है, सो सुनो - जैसैं च्यार पुरुष काहु एकास्थान विषै ठाढ़े। तिन्ह चारि हूँ के आगे एक सीप को खण्ड किन्हीं और पुरुषनै आनि दिखायो। प्रत्येक तैं प्रश्न कीनौ कि यह कहा है ? सीप है कै रूपौ है, प्रथम ही एक पुरुष संशैवालो बोल्यो - कछु सुध नाहीं परत, किधौं सीप है किधौं रूपौ है, मोरी दिष्टिविषै याकौ निरधार होत नाहि नै। भी दूजो पुरुष विमोहवालो बोल्यो कि कछू मोहि यह सुधि नाहीं कि तुम सीप कौन सौं कहतु है, रूपो कौनसौं कहतु है, मेरी दृष्टि विषै कछु आवतु नाहीं; तातै हम नांहिनै जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहे बोलै नाहीं, गहलरूप सौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रमवालो बोल्यो कि यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान रूपौ है, याको सीप कौन कहै ? मेरी दृष्टिविषै तौ रूपौ सूझतु है, तातै सर्वथा प्रकार यह रूपो है, सो तीनों पुरुष तौ वा सीप को स्वरूप जान्यौ नाहीं। ताते तीनों मिथ्यावादी। अब चौथौ पुरुष बोल्यो कि यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान सीप को खण्ड है, यामें कहा धोखो, सीप सीप सीप, निरधार सीप, याको जु कोई और वस्तु कहै सौ प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रामक अथवा अंध। तैसें सम्यग्दृष्टि कौ स्वपरस्वरूपविषै न संसे है, न विमोह, न विभ्रम, यथार्थदृष्टि है, तातैं सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरदृष्टि करि मोक्षपद्धति साधि जानै। **बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप[१] मानै; सो निमित्त नानारूप है, एकरूप नाहीं, अन्तरदृष्टि के प्रमान मोक्षमार्ग साधै,** सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरन की कनिका जागै, मोक्षमार्ग साँचौ। **मोक्षमार्ग को साविधौ यहै व्यवहार, शुद्धद्रव्य[३] अक्रियारूप**

१. व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्य को कहनेवाला होने से जितने अलग-अलग, एक-एक, भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं, ऐसा वह विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है, परन्तु उपादेयरूप से प्रयोजनवान नहीं है, ऐसी समझ पूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव अपने चारित्रगुण की पर्याय में आंशिक शुद्धता के साथ जो शुभअंश है, उसे बाह्यभाव और बाह्य निमित्तरूप से जानते हैं। शास्त्र में कहीं पर उस शुभ को शुद्ध पर्याय का व्यवहारनय से साधक कहा हो तो उसका अर्थ वह बाह्य निमित्तमात्र है - हेय है, ऐसा मानता है। अतः वह आश्रय करनेयोग्य या हितकर न मानकर बाधक ही है, ऐसा मानता है।

२. पाटनी ग्रन्थमाला श्री प्रवचनसार गाथा ९४ में 'अविचलित चेतनामात्र आत्मव्यवहार है' - ऐसा टीका में पृष्ठ १११-१२ में कहा है, उसे यहाँ 'मोक्षमार्ग साधिवो उसे व्यवहार' ऐसा निरूपण किया।

३. त्रैकालिक एकरूप रहनेवाला जो आत्मा का ध्रुव ज्ञायकभाव है। वह भूतार्थ निश्चयनय का विषय होने से उसे 'शुद्धद्रव्य अक्रियारूप' कहा गया है; उसे परमपारिणामिक भाव भी कहने में आता है और वह नित्य सामान्य द्रव्यरूप होने से निष्क्रिय है तथा क्रिया पर्याय है इससे व्यवहारनय का विषय है।

सो निश्चै। ऐसैं व्यवहार कौ स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानै, मूढ़जीव न जानै न मानै। मूढ़ जीव, बन्धपद्धति को साधिकारि मोक्ष कहै, **सो बात ज्ञाता मानै नाहीं। काहेतैं, यातैं जु बन्ध के साधते बन्ध सधै, मोक्ष साधै नाहीं।** ज्ञाता कदाचित् बन्ध-पद्धति विचारै, तब जानै कि या पद्धतिसौं[१] मेरो द्रव्य अनादि को बन्धरूप चाल्यो आयो है - अब या पद्धतिसों[२] मोह तोरिवो है या पद्धति को राग पूर्व की ज्यों हे नर काहे करौ?।

छिनमात्र भी बन्ध पद्धतिविषै मगन होय नाहीं सो ज्ञाता अपनो स्वरूप विचारै, अनुभवै, ध्यावै, गावै, श्रवन करै, नवधा-भक्ति, तप क्रिया अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होइकरि करै। यह ज्ञाता को आचार, याही को नाम मिश्रव्यवहार।

(४) अब हेय ज्ञेय उपादेयरूप ज्ञाता की चाल ताको विचार लिख्यते -

हेय-त्यागरूप तौ अपने द्रव्य की अशुद्धता, ज्ञेय-विचाररूप अन्य षट्द्रव्य को स्वरूप, उपादेय-आचरनरूप अपने द्रव्य की शुद्धता, ताकौ व्योरौ-गुणस्थानक प्रमान हेय ज्ञेय उपादेयरूप शक्ति ज्ञाता की होय। ज्यों-ज्यों ज्ञाता की हेय ज्ञेय उपादेयरूप वर्धमान होय, त्यों-त्यों गुणस्थान की बढ़वारी कही है, गुणस्थानक प्रवान ज्ञान, गुणस्थानक प्रवान क्रिया। तामैं विशेष इतनौ जु एक गुणस्थानकवर्ती अनेक जीव होहिं तौ अनेकरूप को ज्ञान कहिए, अनेकरूप की क्रिया कहिए। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रवान करि एकता मिलै नाहीं। एक-एक जीव द्रव्य विषैं अन्य अन्यरूप औदयिकभाव होंहि तिन औदयिकभाव अनुसारी ज्ञान की अन्य अन्यता जाननी। परन्तु विशेष इतनो जु कोऊ जाति को ज्ञान ऐसो न होइ जु परसत्तावलम्बकशीली होइकरि मोक्षमार्ग साक्षात् कहे, काहे तैं अवस्था प्रवान (कारण कि अवस्था के प्रमान में) परसत्तावलम्बक है ने ज्ञान को परसत्तावलम्बी परमार्थता न कहे, जो ज्ञान हो सो स्वसत्तावलम्बनशीली होय ताके नाऊ ज्ञान। ता ज्ञान (उस ज्ञान) को सहकारभूत, निमित्तरूप नाना प्रकार के औदयिकभाव होंहि तीन्ह औदयिकभावों को ज्ञाता तमासगीर, न कर्त्ता न भोक्ता, न अवलम्बी, तातैं कोऊ यों कहै कि या भाँति के औदयिकभाव होहि सर्वथा, तौ फलानों गुणस्थानक कहिए सो झूठो। तिनि द्रव्य कौ स्वरूप सर्वथा प्रकार जान्यौ नाहीं। काहे तैं-यातैं जु और गुणस्थानक की कौन बात चलावै, केवलिके भी औदयिक भावनि की नानात्वता (अनेक प्रकारता) जाननी। केवली के भी औदयिकभाव एक से होय नाहीं। काहू केवलि कों दण्ड कपाटरूप क्रिया उदय होय, काहू केवलिकौं नाहीं। तौ केवलिविषैं

---

१. यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को उसकी भूमिका के अनुसार होनेवाले शुभभाव को भी बन्धपद्धति कही है। बन्धमार्ग-बन्ध का कारण-बन्ध का उपाय और बन्धपद्धति एकार्थ हैं।

२. सम्यग्दृष्टि शुभभाव को बन्धपद्धति में गिनते हैं इसलिए उनसे लाभ या किञ्चित् हित मानते नहीं, और उनका अभाव करने का पुरुषार्थ करते हैं; इसलिए 'यह बन्धपद्धति का मोह तोड़कर स्वसन्मुख प्रवर्तन का उद्यम करते हुए शुद्धता में वृद्धि करने की सीख अपने को दे रहे हैं।'

भी उदय की नानात्वता है तौ और गुणस्थानक की कौन बात चलावै। तातैं औदयिक[१] भाव के भरोसे ज्ञान नाहीं, ज्ञान स्वशक्ति प्रवान है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति, ज्ञायक प्रमान ज्ञान, स्वरूपाचरनरूप चारित्र, यथानुभव प्रमान यह ज्ञाता को सामर्थ्यपनौ।

इन बानको व्यौरो कहांतांई लिखिये, कहांताई कहिए। वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत, तातैं यह विचार बहुत कहा लिखहि। जो ज्ञाता होइगो सो थोरी ही लिख्यो बहुत करि समुझैगो, जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगो नहीं। यह वचनिका यथा का यथा सुमति प्रवान केवलिवचनानुसारी है। जो याहि सुणैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण। इति परमार्थ वचनिका।

२४ - समाज में आत्मज्ञान के विषय में अपूर्व जिज्ञासा और जागृति

(१) जिसे सत्य की ओर रुचि होने लगी है, जो सत्यतत्त्व को समझने और निर्णय करने के इच्छुक हैं, वह समाज मध्यस्थता से शास्त्रों की स्वाध्याय और चर्चा करके न्यार्थ, अनेकान्त, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार दो नयों की सच्ची व्याख्या और प्रयोजन तथा मोक्षमार्ग का दो प्रकार से निरूपण हेय-उपादेय और प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों की भी स्वतन्त्रता केवलज्ञान और क्रमबद्धपर्याय आदि प्रयोजनभूत विषयों में उत्साह से अभ्यास कर रहे हैं और तत्त्वनिर्णय के विषय में समाज में विशेष विचारों का प्रवाह चल रहा है - ऐसा नीचे के आधार से भी सिद्ध होता है -

(२) श्री भारत० दिगम्बर जैन संघ (मथुरा) द्वारा ई० सन् १९४४ में प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक (पण्डित टोडरमलजी कृत) की प्रस्तावना पृष्ठ ९ में शास्त्रीजी ने कहा है कि 'अब तक शास्त्र स्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओं में एकान्त निश्चयी और एकान्तव्यवहारी को ही मिथ्यादृष्टि कहते सुनते आये हैं परन्तु दोनों नयों का अवलम्बन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं, यह आपकी (स्व० श्री टोडरमलजी की) नई और विशेष चर्चा है। ऐसे मिथ्यादृष्टियों के सूक्ष्मभावों का विश्लेषण करते हुए आपने कई अपूर्व बातें लिखी हैं। उदाहरण के लिए आपने इस बात का खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकार का है। वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय-व्यवहारालम्बी मिथ्यादृष्टियों की है, वास्तव में पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चयसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि भेदों की रात-दिन चर्चा करते रहते हैं, उनके मन्तव्य से पण्डितजी का मन्तव्य कितना भिन्न हैं।' इसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि '**निश्चय-व्यवहार दोनों का उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि दोनों नयों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, इसलिए दोनों**

१. यहाँ सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को औदयिकभाव कहा है और उस औदयिक भाव से संवर-निर्जरा नहीं, परन्तु बन्ध होता है।

नयों का उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार किन्तु दोनों ही उपादेय हैं, किन्तु पण्डितजी ने इसे मिथ्यादृष्टियों की प्रवृत्ति बतलाई है।'

आगे पृष्ठ ३० में उद्धरण दिया है कि 'जो ऐसा मानता है कि निश्चय का श्रद्धान करना चाहिए और प्रवृत्ति व्यवहार की करना चाहिए', उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही बतलाते हैं।

२५- इस शास्त्र की इस टीका के आधारभूत शास्त्र

इस टीका का संग्रह-मुख्यतया श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक, श्री अर्थप्रकाशिका, श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पञ्चास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री धवला-जयधवला-महाबन्ध तथा श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक इत्यादि अनेक सत् शास्त्रज्ञें के आधार पर किया गया है।

२६- अध्यात्मयोगी सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी की कृपा का फल

मोक्षमार्ग का सत्य पुरुषार्थ दर्शानेवाले, परमसत्य जैनधर्म के मर्म के पारगामी और अद्वितीय उपदेशक, आत्मज्ञ, सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी से मैंने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पढ़ लेने की प्रार्थना की और उन्होंने उसे स्वीकारने की कृपा की। फलस्वरूप उनकी सूचनानुसार सुधार करके मुद्रण के लिये भेजा गया। इस प्रकार यह ग्रन्थ उनकी कृपा का फल है - ऐसा कहने की आज्ञा लेता हूँ। इस कृपा के लिये उनका जितना उपकार व्यक्त करें, उतना कम ही है।

२७- मुमुक्षु पाठकों से...

मुमुक्षुओं को इस ग्रन्थ का सूक्ष्म दृष्टि से और मध्यस्थरूप से अध्ययन करना चाहिए। सत् शास्त्र का धर्मबुद्धि द्वारा अभ्यास करना सम्यग्दर्शन का कारण है। तदुपरान्त, शास्त्राभ्यास में निम्न बातें मुख्यतया ध्यान में रखना चाहिए -

(१) सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

(२) निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीव को सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि क्रियाएँ नहीं होती, क्योंकि वे क्रियाएँ पाँचवें गुणस्थान में शुभभावरूप से होती हैं।

(३) शुभभाव, ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होता है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि उससे धर्म होगा, अथवा वह शुभभावरूप व्यवहार करते-करते भविष्य में धर्म होगा; किन्तु ज्ञानियों को वह हेयबुद्धि से होने से, उससे (शुभभाव से धर्म होगा)-ऐसा वे कभी नहीं मानते।

(४) पूर्ण वीतरागदशा प्रगट न हो, वहाँ तक पद अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते,

किन्तु उस भाव को धर्म नहीं मानना चाहिए और न ऐसा मानना चाहिए कि उससे क्रमशः धर्म होगा; क्योंकि वह विकार होने से अनन्त वीतराग देवों ने उसे बन्धन का ही कारण कहा है।

(५) प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय से स्वतन्त्र है; एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ कर नहीं सकती; परिणमित नहीं कर सकती, प्रेरणा नहीं दे सकती, प्रभाव-असर-मदद या उपकार नहीं कर सकती; लाभ-हानि नहीं कर सकती, मार-जिला नहीं सकती, सुख-दुःख नहीं दे सकती- ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता अनन्त ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर कही है।

(६) जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले निश्चयसम्यक्त्व होता है और फिर व्रत और निश्चयसम्यक्त्व तो विपरीत-अभिप्रायरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान है, इसलिए ऐसा यथार्थ श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिए।

(७) प्रथम गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों को ज्ञानी पुरुषों के धर्मोपदेश का श्रवण, उनका निरन्तर समागम, सत्शास्त्र का अभ्यास, पठन-मनन, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दानादि शुभभाव होते हैं, किन्तु पहले गुणस्थान में सच्चे व्रत-तपादि नहीं होते।

२८- अन्त में....

मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद करने का कार्य कठिन, परिश्रमसाध्य था, उसको पूरा करनेवाले श्री पण्डित परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

इस शास्त्र की प्रथमावृत्ति तथा दूसरी आवृत्ति तैयार करने में अक्षरशः मिलान करके जाँचने के कार्य में तथा शास्त्रानुसार स्पष्टता करने के कार्य में प्रेमपूर्वक अपना समय देकर बहुत श्रम दिया है, इस सहाय के लिये श्री ब्रह्मचारी गुलाबचन्दभाई को आभार सहित धन्यवाद है।

हिन्दी समाज को इस गुजराती-मोक्षशास्त्र टीका का लाभ प्राप्त हो, इसलिए इसका हिन्दी अनुवाद करने के लिये तथा दूसरी आवृत्ति के लिये श्री नेमिचन्दजी पाठनी ने पुनः पुनः प्रेरणा की थी, और कमल प्रिन्टिंग प्रेस में यह शास्त्र सुन्दर रीति से छपाने की व्यवस्था करने के लिये श्री नेमिचन्दजी पाटनी (प्रधानमन्त्री श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ-राज०) को धन्यवाद है।

इस ग्रन्थ का प्रूफरीडिंग, शुद्धिपत्र, विस्तृत विषय-सूची, शब्द-सूची आदि तैयार करने का कार्य सावधानी से श्री नेमीचन्दजी कासलीवाल (मदनगंज) ने तथा ब्रह्मचारी गुलाबचन्दजी ने किया है, अतः उन्हें भी धन्यवाद है।

रामजी माणेकचन्द दोशी,
प्रमुख
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

अक्षय तृतीया
वीर निर्वाण संवत् २४८९

विषय-सूची

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
★	मङ्गलाचरण	१
★	शास्त्र के विषयों का संक्षिप्त अवलोकन	१-४
	प्रथम अध्याय	
१.	मोक्ष की प्राप्ति का उपाय-निश्चय मोक्षमार्ग	४
★	पहले सूत्र का सिद्धान्त	६
२.	निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण	७
★	'तत्त्व' शब्द का मर्म	८
★	सम्यग्दर्शन की महिमा	८
★	सम्यग्दर्शन का बल	११
★	सम्यग्दर्शन के भेद तथा अन्य प्रकार	१२
★	सराग सम्यग्दृष्टि के प्रशमादि भाव	१३
★	सम्यग्दर्शन का विषय-लक्ष्य-स्वरूप	१३
	यह सूत्र निश्चयसम्यग्दर्शन के लिये है उसके शास्त्राधार	१४
३.	निश्चयसम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा से भेद	१७
★	तीसरे सूत्र का सिद्धान्त	१८
४.	तत्त्वों के नाम तथा स्वरूप	१९
★	चौथे सूत्र का सिद्धान्त	२१
५.	निश्चयसम्यग्दर्शनादि शब्दों के अर्थ समझने की रीति	२१
★	निक्षेप के भेदों की व्याख्या	२२
★	पाँचवें सूत्र का सिद्धान्त	२३
६.	निश्चयसम्यग्दर्शनादि जानने का उपाय	२४
★	प्रमाण, नय, युक्ति	२४-२५
★	अनेकान्त, एकान्त, सम्यक् और मिथ्या अनेकान्त का स्वरूप तथा दृष्टान्त	२५-२६
★	सम्यक् और मिथ्या एकान्त का स्वरूप	२७
★	सम्यक् और मिथ्या एकान्त के दृष्टान्त	२७
★	प्रमाण और नय के प्रकार	२८
★	द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय क्या है ?	२८
★	गुणार्थिकनय क्यों नहीं ?	२९

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
★	नयों के नाम	२९
★	सम्यग्दृष्टि के नाम, मिथ्यादृष्टि के नाम	२९
★	आदरणीय निश्चयनय है - ऐसी श्रद्धा करना चाहिए	३०
★	व्यवहार और निश्चय का फल	३०
★	शास्त्रों में दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?	३०
★	जैनशास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति	३०
★	निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी	३१
★	नय के दो प्रकार (रागसहित और रागरहित)	३१
★	प्रमाण-सप्तभङ्गी और नय-सप्तभङ्गी	३२
	वीतरागी-विज्ञान का निरूपण	३२
★	मिथ्यादृष्टि के नय, सम्यग्दृष्टि के नय, नीति	३२-३३
★	निश्चय और व्यवहारनय का दूसरा अर्थ	३३
★	आत्मा का स्वरूप समझने के लिये नय-विभाग	३४
★	निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय के अर्थ, भिन्न-भिन्न भी होते हैं	३४
★	छट्ठे सूत्र का सिद्धान्त	३५
७.	निश्चयसम्यग्दर्शनादि जानने के अमुख्य (अप्रधान) उपाय	३५
★	निर्देश स्वामित्वादि	३५
★	जिनबिम्बदर्शन इत्यादि सम्यग्दर्शन के कारणों सम्बन्धी चर्चा	३७
८.	और भी अन्य अमुख्य उपाय	३९
★	सत्, संख्या, क्षेत्रादि की व्याख्या	३९
★	सत् और निर्देश में अन्तर	४०
★	'सत्' शब्द के प्रयोग का कारण	४१
★	संख्या और विधान में अन्तर	४१

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
★	क्षेत्र और अधिकरण में अन्तर वगैरह	४१
★	काल और स्थिति में अन्तर	४२
★	'भाव' शब्द का निक्षेप के सूत्र में कथन होने पर भी यहाँ किसलिये कहा? विस्तृत वर्णन का प्रयोजन	४२
★	भाव सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण	४३
★	सूत्र ४ से ८ तक का तात्पर्यरूप सिद्धान्त	४३
९.	सम्यग्ज्ञान के भेद-मतिज्ञानादि पाँचों प्रकार का स्वरूप	४४
★	नववें सूत्र का सिद्धान्त	४५
१०.	कौन से ज्ञान प्रमाण हैं	४५
★	सूत्र ९-१० का सिद्धान्त	४६
११.	परोक्ष प्रमाण के भेद	४६
★	क्या सम्यक् मतिज्ञान यह जान सकता है कि अमुक जीव भव्य है या अभव्य?	४७
★	मति-श्रुतिज्ञान को परोक्ष कहा उसका विशेष समाधान	४९
१२.	प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद	५०
१३.	मतिज्ञान के नाम	५०
१४.	मतिज्ञान की उत्पत्ति के समय निमित्त	५२
★	मतिज्ञान में ज्ञेय पदार्थ और प्रकाश को भी निमित्त क्यों नहीं कहा?	५३
★	निमित्त और उपादान	५५
१५.	मतिज्ञान के क्रम के भेद-अवग्रह, ईहादि का स्वरूप	५५
१६.	अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ	५६
★	बहु, बहुविधादि बारह भेद की व्याख्या	५७
★	प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा होनेवाले इन बारह प्रकार के मतिज्ञान का स्पष्टीकरण,	५९
★	शङ्का-समाधान	६१ से ६४
१७.	अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ भेद किसके हैं?	६४
१८.	अवग्रह ज्ञान में विशेषता	६५
★	अर्थावग्रह-व्यञ्जनावग्रह के दृष्टान्त	६५
★	अव्यक्त-व्यक्त का अर्थ	६६
★	अव्यक्त और व्यक्तज्ञान अर्थात् व्यञ्जनावग्रह-अर्थावग्रह	६६
★	ईहा, अवाय, धारणा का विशेष स्वरूप	६६-६७
★	एक के बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं?	६७
★	ईहा ज्ञान सत्य है?	६७
★	'धारणा' और 'संस्कार' के बारे में स्पष्टीकरण	६७
★	चार भेदों की विशेषता	६८
१९.	व्यञ्जनावग्रहज्ञान नेत्र और मन से नहीं होता	६९
२०.	श्रुतज्ञान का वर्णन, उत्पत्ति का क्रम तथा उसके भेद	६९
★	श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के दृष्टान्त	६९
★	अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान	७०
★	श्रुतज्ञानी उत्पत्ति में मतिज्ञान निमित्तमात्र	७०
★	मतिज्ञान के समान ही श्रुतज्ञान क्यों नहीं?	७०
★	श्रुतज्ञान साक्षात् मतिज्ञानपूर्वक और परम्परा मतिपूर्वक	७०
★	भावश्रुत और द्रव्यश्रुत	७१
★	प्रमाण के दो प्रकार, 'श्रुत' के अर्थ	७१
★	बारह अङ्ग, चौदह पूर्व	७२
★	मति और श्रुतज्ञान के बीच का भेद	७२
★	विशेष स्पष्टीकरण	७३
★	सूत्र ११ से २० तक का सिद्धान्त	७४
२१.	अवधिज्ञान का वर्णन - भव और गुण अपेक्षा से	७४
२२.	क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के भेद तथा उनके स्वामी	७५
★	अनुगामी आदि छह भेद का वर्णन	७५
	द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा से अवधिज्ञान का विषय	७६
★	क्षयोपशम का अर्थ	७७
★	सूत्र २१-२२ का सिद्धान्त	७७
२३.	मन:पर्यय ज्ञान के भेद	७८
२४.	ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर	८०
२५.	अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में विशेषता	८०

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
२६.	मति-श्रुतज्ञान का विषय	८१
२७.	अवधिज्ञान का विषय	८२
२८.	मन:पर्ययज्ञान का विषय	८२
☆	सूत्र २७-२८ का सिद्धान्त	८२
२९.	केवलज्ञान का विषय	८३
☆	केवली भगवान के एक ही ज्ञान होता है या पाँचों	८४
☆	सूत्र २९ का सिद्धान्त	८४
३०.	एक जीव के एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?	८४
☆	सूत्र ९ से ३० तक का सिद्धान्त	८५
३१.	मतिश्रुत और अविधज्ञान में मिथ्यात्व भी होता है	८६
३२.	मिथ्यादृष्टि जीव के ज्ञान को मिथ्या क्यों कहा ?	८७
☆	कारणविपरीतता, स्वरूपविपरीतता, भेदाभेदविपरीतता इन तीनों को दूर करने का उपाय	८८
☆	सत् असत्, ज्ञान का कार्य, विपरीत ज्ञान के दृष्टान्त	९०
३३.	प्रमाण का स्वरूप कहा, श्रुतज्ञान के अंशरूपनय का स्वरूप कहते हैं	९२
☆	अनेकान्त, स्याद्वाद और नय की व्याख्या	९२
☆	नैगमादि सात नयों का स्वरूप	९२-९४
☆	नय के तीन प्रकार (शब्द-अर्थ और ज्ञाननय)	९४
☆	श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मा के सम्बन्ध में इन सात नयों को चौदह प्रकार से कैसे उत्तम ढंग से अवतरित किये हैं ?	९४-९५
☆	वास्तविकभाव लौकिकभावों से विरुद्ध	९५
☆	पाँच प्रकार से जैनशास्त्रों के अर्थ समझाने की रीति	९५
☆	नयों के संक्षेप स्वरूप, जैन नीति तथा नयों की सुलझन	९७-९८
	प्रथम अध्याय का परिशिष्ट-१	
☆	सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य	१००
☆	सम्यग्दर्शन की आवश्यकता, सम्यग्दर्शन क्या है	१००
☆	श्रद्धा-गुण की मुख्यता से निश्चयसम्यग्दर्शन	१००
☆	ज्ञान-गुण की मुख्यता से निश्चयसम्यग्दर्शन	१०१
☆	चारित्र-गुण की मुख्यता से निश्चयसम्यग्दर्शन	१०३
☆	अनेकान्त स्वरूप	१०४
☆	सम्यग्दर्शन सभी सम्यग्दृष्टियों के एक समान	१०४
☆	सम्यग्ज्ञान सभी सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व की अपेक्षा से समान है	१०४
☆	अवस्था में विकास का कम बढ़ होना वगैरह अपेक्षा से समान नहीं	१०४
☆	सम्यक्चारित्र में भी अनेकान्त	१०४
☆	दर्शन (श्रद्धा) ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणों की अभेददृष्टि से निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या	१०५
☆	निश्चयसम्यग्दर्शन का चारित्र के भेदों की अपेक्षा से कथन	१०५
☆	निश्चयसम्यग्दर्शन के बारे में प्रश्नोत्तर	१०५
☆	व्यवहारसम्यग्दर्शन की व्याख्या	१०६
☆	व्यवहाराभास सम्यग्दर्शन को कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं	१०७
☆	सम्यग्दर्शन के प्रगट करने का उपाय	१०७
☆	निर्विकल्प अनुभव का प्रारम्भ	१०९
☆	सम्यग्दर्शन पर्याय है तो भी उसे गुण कैसे कहते हैं	१०९
☆	सभी सम्यग्दृष्टियों का सम्यग्दर्शन समान है	११०
☆	सम्यग्दर्शन के भेद क्यों कहे गये हैं ?	११०
☆	सम्यग्दर्शन की निर्मलता	१११
☆	सम्यक्त्व की निर्मलता में पाँच भेद किस अपेक्षा से	११२

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
☆	सम्यग्दृष्टि जीव अपने को सम्यक्त्व प्रगट होने की बात श्रुतज्ञान द्वारा बराबर जानते हैं।	११२
☆	सम्यग्दर्शन सम्बन्धी कुछ प्रश्नोत्तर	११७
☆	ज्ञान-चेतना के विधान में अन्तर क्यों हैं ?	११९
	ज्ञान-चेतना के सम्बन्ध में विचारणीय नव विषय	१२०
☆	अक्रमिकविकास और क्रमिक विकास का दृष्टान्त	१२१
☆	इस विषय के प्रश्नोत्तर और विस्तार	१२३
☆	सम्यग्दर्शन और ज्ञान-चेतना में अन्तर	१२८
☆	चारित्र न पले फिर भी उसकी श्रद्धा करनी चाहिए	१२९
☆	निश्चयसम्यग्दर्शन का दूसरा अर्थ	१२९
	प्रथम अध्याय का परिशिष्ट - २	
☆	निश्चयसम्यग्दर्शन	१३१
☆	निश्चयसम्यग्दर्शन क्या है और उसे किसका अवलम्बन	१३१
☆	भेद-विकल्प से सम्यग्दर्शन नहीं होता	१३२
☆	विकल्प से स्वरूपानुभव नहीं हो सकता	१३३
☆	सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध किसके साथ	१३४
☆	श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् कब हुए	१३४
☆	सम्यग्दर्शन का विषय, मोक्ष का परमार्थ-कारण	१३५
☆	सम्यग्दर्शन ही शान्ति का उपाय है सम्यग्दर्शन ही संसार का नाशक है	१३६
	प्रथम अध्याय का परिशिष्ट - ३	
☆	जिज्ञासु को धर्म किस प्रकार करना	१३७
☆	पात्र जीव का लक्षण	१३७
☆	सम्यग्दर्शन के उपाय के लिये ज्ञानियों के द्वारा बताई गई क्रिया	१३७
☆	श्रुतज्ञान किसे कहना	१३८
☆	श्रुतज्ञान का वास्तविक लक्षण-अनेकान्त	१३८
☆	भगवान भी दूसरे का कुछ नहीं कर सके	१३९
☆	प्रभावना का सच्चा स्वरूप	१३९
☆	सच्ची दया (अहिंसा)	१३९
☆	आनन्दकारी भावनावाला क्या करे	१३९
☆	श्रुतज्ञान का अवलम्बन ही प्रथम क्रिया है	१४०
☆	धर्म कहाँ और कैसे ?	१४१
☆	सुख का उपाय ज्ञान और सत् समागम	१४२
☆	जिस ओर की रुचि उसी का रटन	१४३
☆	श्रुतज्ञान के अवलम्बन का फल-आत्मानुभव	१४५
☆	सम्यग्दर्शन होने से पूर्व	१४५
☆	धर्म के लिये प्रथम क्या करें	१४७
☆	सुख का मार्ग, विकार का फल, असाध्य, शुद्धात्मा	१४७-१४८
☆	धर्म की रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ?	१४८
☆	उपादान-निमित्त और कारण-कार्य	१४९
☆	अन्तरङ्ग-अनुभव का उपाय-ज्ञान की क्रिया	१४९
☆	ज्ञान में भव नहीं है	१५०
☆	इस प्रकार अनुभव में आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ?	१५०
☆	निश्चय-व्यवहार	१५१
☆	सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है	१५१
☆	बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास	१५१
☆	अन्तिम अभिप्राय	१५३
	प्रथम अध्याय का परिशिष्ट-४	
☆	तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है, उस लक्षण में अव्याप्ति आदि दोष का परिहार	१५४-१६५
	प्रथम अध्याय का परिशिष्ट - ५	
☆	केवलज्ञान [केवली का ज्ञान] का स्पष्टरूप और उनके शास्त्रों का आधार	१६६-१७७
	अध्याय दूसरा	
१.	जीव के असाधारण भाव	१७८
☆	औपशमिकादि पाँच भावों की व्याख्या	१७८
☆	यह पाँच भाव क्या बतलाते हैं ?	१७९
☆	उनके कुछ प्रश्नोत्तर	१८०
☆	औपशमिकभाव कब होता है ?	१८१

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
☆	उनकी महिमा	१८२
☆	पाँच भावों के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण	१८३
☆	जीव का कर्त्तव्य	१८५
☆	पाँच भावों के सम्बन्ध में कुछ विशेष स्पष्टीकरण	१८६
☆	इस सूत्र में नय-प्रमाण की विवक्षा	१८६
२.	भावों के भेद	१८७
३.	औपशमिक भाव के दो भेद	१८७
☆	क्षायिकभाव के ९ भेद	१८८
५.	क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद	१८९
६.	औदयिक भाव के २१ भेद	१९०
७.	पारिणामिकभाव के तीन भेद	१९१
☆	उनके विशेष स्पष्टीकरण	१९२
☆	अनादि अज्ञानी के कौन से भाव कभी नहीं हुए?	१९३
☆	औपशमिकादि तीन भाव कैसे प्रगट होते हैं?	१९३
☆	कौन से भाव बन्धरूप हैं?	१९४
८.	जीव का लक्षण	१९४
☆	आठवें सूत्र का सिद्धान्त	१९५
९.	उपयोग के भेद	१९६
☆	साकार-निराकार	१९७
☆	दर्शन और ज्ञान के बीच का भेद	१९८
☆	उस भेद की अपेक्षा और अभेद की अपेक्षा से दर्शनज्ञान का अर्थ	१९९
१०.	जीव के भेद	२००
☆	संसार का अर्थ	२००
☆	द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, काल परिवर्तन, भावपरिवर्तन का स्वरूप	२०१-२०५
☆	भावपरिवर्तन का कारण मिथ्यात्व है	२०५
☆	मानव-भव की सार्थकता के लिये विशेष	२०६
११.	संसारी जीवों के भेद	२०७
१२.	संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद (त्रस-स्थावर)	२०९
१३.	स्थावर जीवों के भेद	२०९
	इन पृथ्वी आदिकों के चार-चार भेद	२१०
१४.	त्रस जीवों के भेद	२१०
१५.	इन्द्रियों की संख्या	२११
१६.	इन्द्रियों के मूल-भेद	२१२
१७.	द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप	२१२
१८.	भावेन्द्रिय का स्वरूप (लब्धि-उपयोग)	२१३
	इस सूत्र का सिद्धान्त	२१४
१९.	पाँच इन्द्रियों के नाम और क्रम	२१५
२०.	इन्द्रियों के विषय	२१५
२१.	मन का विषय	२१६
२२.	इन्द्रियों के स्वामी	२१७
२३.	इन्द्रियों के स्वामी और क्रम	२१७
२४.	सैनी किसे कहते हैं?	२१८
२५.	विग्रहगतिवान जीव को कौन-सा योग है?	२१८
२६.	विग्रहगति में जीव और पुद्गलों का गमन कैसे होता है?	२१८
२७.	मुक्त जीवों की गति कैसी होती है?	२१९
२८.	संसारी जीवों की गति और उनका समय	२२०
२९.	अविग्रहगति का समय	२२१
३०.	अविग्रहगति में आहारक अनाहारक की व्यवस्था	२२१
३१.	जन्म के भेद	२२२
३२.	योनियों के भेद	२२३
३३.	गर्भ-जन्म किसे कहते हैं?	२२४
३४.	उपपादजन्म किसे कहते हैं?	२२५
३५.	सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है?	२२५
३६.	शरीर के नाम तथा भेद	२२५
३७.	शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन	२२६
३८.	पहिले-पहिले शरीर की अपेक्षा आगे-आगे के शरीरों के प्रदेश	२२६-२२७
३९.	थोड़े होंगे या अधिक	२२७
४०.	तैजस-कार्माण शरीर की विशेषता	२२७
४१.	तैजस-कार्माण शरीर की अन्य विशेषता	२२७
४२.	वे शरीर संसारी जीवों के अनादि काल से हैं	२२८
४३.	एक जीव के एक साथ	

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
	कितने शरीरों का सम्बन्ध ?	२२९
४४.	कार्मण शरीर की विशेषता	२२९
४५.	औदारिक-शरीर का लक्षण	२३०
४६.	वैक्रियिक-शरीर का लक्षण	२३१
४७.	देव और नारकियों के अतिरिक्त दूसरों के वैक्रियिक शरीर होता है या नहीं ?	२३१
४८.	वैक्रियिक के अतिरिक्त किसी अन्य शरीर को भी लब्धि का निमित्त है ?	२३१
४९	आहारक शरीर का स्वामी तथा उसका लक्षण	२३२
	आहारक शरीर का विस्तार से वर्णन	२३२-२३३
५०.	लिङ्ग-वेद के स्वामी	२३३
५१.	देवों के लिङ्ग	२३४
५२.	अन्य कितने लिङ्गवाले हैं ?	२३४
५३.	किनकी आयु अपवर्तन (अकाल मृत्यु) रहित है ?	२३५
☆	**अध्याय २ का उपसंहार**	**२३६**
☆	पारिणामिकभाव के सम्बन्ध में	२३७
☆	धर्म करने के लिये पाँच भावों का ज्ञान उपयोगी है ?	२३८
☆	उपादान और निमित्त कारण के सम्बन्ध में	२३८
☆	पाँच भावों के साथ इस अध्याय के सूत्रों के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण	२४१
☆	निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध	२४६
☆	तात्पर्य	२४३
	अध्याय तीसरा	
☆	भूमिका	२४७
☆	अधोलोक का वर्णन	२४८
१.	सात नरक-पृथिवियाँ	२४८
२.	सात पृथिवियों के बिलों की संख्या	२४९
☆	नरक गति होने का प्रमाण	२४९
३.	नारकियों के दुखों का वर्णन	२५०
४.	नारकी जीव एक-दूसरे को दुःख देते हैं	२५१
५.	विशेष दुःख	२५१
६.	नारकों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण	२५२

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
☆	सम्यग्दृष्टियों को नरक में कैसा दुःख होता है ?	२५३
७.	मध्यलोक का वर्णन, कुछ द्वीप समुद्रों के नाम	२५५
८.	द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार	२५६
९.	जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार	२५६
१०.	उसमें सात क्षेत्रों के नाम	२५६
११.	सात विभाग करनेवाले छह पर्वतों के नाम	२५७
१२.	कुलाचल पर्वतों का रङ्ग	२५७
१३.	कुलाचलों का विशेष स्वरूप	२५७
१४.	कुलाचलों के ऊपर स्थित सरोवरों के नाम	२५७
१५.	प्रथम सरोवर की लम्बाई-चौड़ाई	२५७
१६.	प्रथम सरोवर की गहराई	२५८
१७.	उसके मध्य में क्या है ?	२५८
१८.	महापद्मादि सरोवर तथा उनमें कमलों का प्रमाण ह्रदों का विस्तार आदि	२५८
१९.	छह कमलों में रहनेवाली छह देवियाँ	२५९
२०.	चौदह महानदियों के नाम	२५९
२१.	नदियों के बहने का क्रम	२५९
२२.	इन चौदह महानदियों की सहायक नदियाँ	२६०
२३.	भरत क्षेत्र का विस्तार	२६०
२४.	आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार	२६१
२५.	विदेह क्षेत्र के आगे के पर्वत क्षेत्रों का विस्तार	२६१
२६.	भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन	२६२-२६३
२७.	भरत-ऐरावत के मनुष्यों की आयु तथा ऊँचाई तथा मनुष्यों का आहार	२६३
२८.	अन्य भूमियों की काल-व्यवस्था	२६३
२९.	हैमवतक इत्यादि क्षेत्रों में आयु	२६३
३०.	हैरण्यवतकादि क्षेत्रों में आयु	२६४
३१.	विदेह क्षेत्र में आयु की व्यवस्था	२६४
३२.	भरतक्षेत्र का विस्तार दूसरी तरह से	२६४
३३.	घातकी खण्ड का वर्णन	२६५

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
३४.	पुष्करार्ध द्वीप का वर्णन	२६५
३५.	मनुष्य क्षेत्र	२६५
३६.	मनुष्यों के भेद (आर्य-म्लेच्छ)	२६५
☆	ऋद्धि प्राप्त आर्य की आठ प्रकार की तथा अनेक प्रकार रूढ़ियों का वर्णन	२६६-२७३
☆	अनऋद्धि प्राप्त आर्य	२७३
☆	म्लेच्छ	२७४
३७.	कर्मभूमि का वर्णन	२७५
३८.	मनुष्यों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु	२७५
३९.	तिर्यञ्चों की आयु स्थिति	२७६
☆	क्षेत्र के नाप का कोष्टक	२७७
☆	उत्तरकुरु, देवकुरु, लवणसमुद्र, घातकी द्वीप, कालोदधिसमुद्र, पुष्करद्वीप, नरलोक, दूसरे द्वीप, समुद्र, कर्मभूमि, भोगभूमि और कर्मभूमि जैसा क्षेत्र	२७८-२८०
	अध्याय चौथा	
☆	भूमिका	२८१
१.	देवों के भेद	२८१
२.	भवनत्रिक देवों में लेश्या का विभाग	२८१
३.	चार निकाय के देवों के प्रभेद	२८१
४.	चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद	२८३
५.	व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में इन्द्र आदि भेदों की विशेषता	२८४
६.	देवों में इन्द्रों की व्यवस्था	२८४
७-९	देवों का काम-सेवन सम्बन्धी वर्णन	२८५
१०.	भवनवासी देवों का भेद	२८७
११.	व्यन्तर देवों के आठ भेद	२८९
१२.	ज्योतिषी देवों के पाँच भेद	२९०
१३.	ज्योतिषी देवों के विशेष वर्णन	२९०
१४.	उससे होनेवाला काल-विभाग	२९०
१५.	अढ़ाई द्वीप के बाहर ज्योतिषी देव	२९१
१६.	वैमानिक देवों का वर्णन	२९१
१७.	वैमानिक देवों के भेद	२९१
१८.	कल्पों की स्थिति का क्रम	२९२
१९.	वैमानिक देवों के रहने का स्थान	२९२
२०.	वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता	२९३
२१.	वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता	२९४
☆	शुभभाव के कारण कौन जीव किस स्वर्ग में उत्पन्न होता है उसका स्पष्टीकरण	२९४-२९५
☆	देव शरीर से छूटकर कौन-सी पर्याय धारण करता है उसका वर्णन इस सूत्र का सिद्धान्त	२९६
२२.	वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन	२९८
२३-२४	कल्पसंज्ञा कहाँ तक, लौकान्तिक देव	२९८
२५.	लौकान्तिक देवों के नाम	२९९
२६.	अनुदिश और अनुत्तरवासी देवों के अवतार का नियम	२९९
२७.	तिर्यञ्च कौन है ?	३००
२८.	भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु	३०१
२९.	वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु	३०१
३०-३१	सानत्कुमारादि की आयु	३०२
३२.	कल्पातीत देवों की आयु	३०२
३३-३४	स्वर्गों की जघन्य आयु	३०३
३५-३६	नारकियों की जघन्य आयु	३०३
३७.	भवनवासी देवों की जघन्य आयु	३०४
३८.	व्यन्तर देवों की जघन्य आयु	३०४
३९.	व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु	३०४
४०.	ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु	३०४
४१.	ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु	३०४
४२.	लौकान्तिक देवों की आयु, उपसंहार	३०४
☆	सप्तभङ्गी [स्यात् अति-नास्ति]	३०५
☆	साधक जीवों को उसके ज्ञान से लाभ	३०६
☆	अध्याय २ से ४ तक यह अस्ति-नास्ति स्वरूप कहाँ-कहाँ बताया है उसका वर्णन	३०७-३०८
☆	सप्तभङ्गी के शेष पाँच भङ्ग का वर्णन	३०९
☆	जीव में अवतरित सप्तभङ्गी	३०९
☆	उसमें लागू होनेवाले नय	३०९
☆	प्रमाण, निक्षेप, स्वज्ञेय, अनेकान्त	३१०
☆	सप्तभङ्गी और अनेकान्त	३११
☆	नय, अध्यात्म के नय, उपचार नय	३१२-१३

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
☆	सम्यग्दृष्टि का और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान	३१४
☆	अनेकान्त क्या बतलाता है ?	३१४
☆	शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति	३१५
☆	मुमुक्षुओं का कर्त्तव्य	३१६
☆	देवगति की व्यवस्था (भवनत्रिक)	३१७
☆	देवगति की व्यवस्था (वैमानिक)	३२०
	अध्याय पाँचवाँ	
☆	भूमिका	३२१
१.	अजीव तत्त्व का वर्णन	३२२
२.	ये अजीवकाय क्या है ?	३२३
३.	द्रव्य में जीव की गिनती	३२४
४.	पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त द्रव्यों की विशेषता 'नित्य' और 'अवस्थित' का विशेष स्पष्टीकरण	३२५
५.	एक पुद्गल द्रव्य का ही रूपित्व बतलाते हैं	३२६
६.	धर्मादि द्रव्यों की संख्या	३२७
७.	इनका गमन रहितत्व	३२८
८.	धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य के प्रदेशों की संख्या	३२९
९.	आकाश के प्रदेश	३३०
१०.	पुद्गल के प्रदेशों की संख्या	३३०
११.	अणु एक प्रदेशी है द्रव्यों के अनेकान्त स्वरूप का वर्णन	३३१
१२.	समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान	३३३
१३.	धर्म-अधर्म द्रव्य का अवगाहन	३३५
१४.	पुद्गल का अवगाहन	३३५
१५.	जीवों का अवगाहन	३३५
१६.	जीवों का अवगाहन लोक के असंख्यात भाग में कैसे ?	३३६
१७.	धर्म और अधर्म द्रव्य का जीव और पुद्गल के साथ का विशेष सम्बन्ध	३३७
१८.	आकाश और दूसरे द्रव्यों के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध	३३९
१९.	पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध	३३९
२०.	पुद्गल का जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध	३४०
२१.	जीव का उपकार	३४१
२२.	कालद्रव्य का उपकार	३४३
	उपकार के सूत्र १७ से २२ तक के सिद्धान्त	३४४
२३.	पुद्गल द्रव्य का लक्षण	३४४
२४.	पुद्गल की पर्याय के अनेक भेद	३४६
२५.	पुद्गल के भेद	३४९
२६.	स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण	३५०
२७.	अणु की उत्पत्ति का कारण	३५०
२८.	चक्षुगोचर स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण	३५०
२९.	द्रव्यों का सामान्य लक्षण	३५१
३०.	सत् का लक्षण	३५४
☆	उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की व्याख्या	३५४
☆	राग-द्वेष के कारण में अज्ञानी का मत	३५६
☆	अज्ञानी को सत्यमार्ग का उपदेश	३५६
☆	छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में सदा परिणमते हैं, कोई द्रव्य किसी का कभी भी प्रेरक नहीं है, वस्तु की प्रत्येक अवस्था भी 'स्वतः सिद्ध असहाय'	३५७
☆	राग-द्वेष परिणाम का मूल प्रेरक कौन ?	३५७
३१.	नित्य का लक्षण	३५८
३२.	एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति	३५८
☆	अर्पित-अनर्पित के द्वारा (मुख्य-गौण के द्वारा) अनेकान्त स्वरूप का कथन	३५९
☆	विकार साक्षेप है कि निरपेक्ष ?	३६२
☆	अनेकान्त का प्रयोजन	३६२
☆	एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कर सकता है इस मान्यता में आनेवाले दोषों का वर्णन; संकर, व्यतिकर, अधिकरण, परस्पराश्रय, संशय, अनवस्था अप्रतिपत्ति, विरोध, अभाव	३६३-३६५
☆	मुख्य और गौण का विशेष	३६५
३३.	परमाणुओं में बन्ध होने का कारण	३६६

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
३४.	परमाणुओं में बन्ध कब नहीं होता?	३६७
	इस सूत्र का सिद्धान्त	३६७
३५.	परमाणुओं में बन्ध कब नहीं होता?	३६८
३६.	परमाणुओं में बन्ध कब होता है?	३६९
३७.	दो गुण अधिक के साथ मिलने पर नई व्यवस्था कैसी होती है?	३६९
३८.	द्रव्य का दूसरा लक्षण (गुण-पर्याय की व्याख्या)	३६९
३९-४०	काल भी द्रव्य है - व्यवहार काल का भी वर्णन	३७१
४१.	गुण का वर्णन	३७२
	इस सूत्र का सिद्धान्त	३७२
४२.	पर्याय का लक्षण - इस सूत्र का सिद्धान्त	३७३
	उपसंहार	
☆	छहों द्रव्यों को लागू होनेवाला स्वरूप, द्रव्यों की संख्या, नाम	३७४
☆	अजीव का स्वरूप, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, काल, पुद्गल	३७५-७६
☆	स्याद्वाद सिद्धान्त-अस्तिकाय	३७७-७८
☆	जीव और पुद्गलद्रव्य की सिद्धि १-२	३७८
☆	उपादान-निमित्त सम्बन्धी सिद्धान्त	३८२
☆	उपरोक्त सिद्धान्त के आधार से जीव, पुद्गल के अतिरिक्त चार द्रव्यों की सिद्धि	३८३
☆	आकाश द्रव्य की सिद्धि	३८४
☆	काल द्रव्य की सिद्धि	३८५
☆	अधर्मास्तिकाय-धर्मास्तिकाय की सिद्धि ५-६	३८५
☆	इन छह द्रव्यों के एक ही जगह होने की सिद्धि	३८६
☆	अन्य प्रकार के छह द्रव्यों के अस्तित्व की सिद्धि विस्तार से १-२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य आदि	३८६
☆	छह द्रव्य सम्बन्धी कुछ जानकारी	३८९
☆	टोपी के दृष्टान्त से छह द्रव्यों की सिद्धि	३९०
☆	मनुष्य शरीर के दृष्टान्त से छह द्रव्यों की सिद्धि	३९१
☆	कर्मों के दृष्टान्त से छह द्रव्यों की सिद्धि	३९३
☆	द्रव्यों की स्वतन्त्रता	३९३
☆	उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्रव्य की शक्ति (गुण)	३९३
☆	अस्तित्व आदि सामान्य गुणों की व्याख्या	३९४
☆	छह कारण (कारण)	३९५
☆	कार्य कारण, उपादान, योग्यता, निमित्त	३९६
☆	उपादान कारण और निमित्त की उपस्थिति का क्या नियम है? बनारसी विलास में कथित दोहा से	३९७
☆	राग-द्वेष के प्रेरक; पुद्गल कर्म की जोरावरी से राग-द्वेष करना पड़ता है?	३९९
☆	निमित्त के दो भेद किस अपेक्षा से हैं? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध किसे कहते हैं?	३९९-४००
☆	निमित्त-नैमित्तिक के दृष्टान्त	४००
☆	प्रयोजनभूत	४०१
	अध्याय छठवाँ	
☆	भूमिका	४०३
☆	सात तत्त्वों की सिद्धि	४०३
☆	सात तत्त्वों का प्रयोजन	४०४
☆	तत्त्वों की श्रद्धा कब हुई कही जाय?	४०५
१.	आस्रव में योग के भेद और उसका स्वरूप	४०६
२.	आस्रव का स्वरूप	४०७
३.	योग के निमित्त से आस्रव के भेद	४०९
☆	पुण्यास्रव और पापास्रव के सम्बन्ध में भूल	४०९
☆	शुभयोग और अशुभयोग के अर्थ	४१०
☆	आस्रव में शुभ और अशुभ भेद क्यों?	४१०
☆	शुभभावों से ७ या ८ कर्म बँधते हैं तो शुभ परिणाम को पुण्यास्रव का कारण क्यों कहा?	४११
☆	कर्मों के बँधने की अपेक्षा से शुभ-अशुभ योग ऐसे भेद नहीं है	४११
☆	शुभभाव से पाप की निर्जरा नहीं होती	४१२
☆	इस सूत्र का सिद्धान्त	४१२

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
४.	आस्रव के दो भेद	४१२
★	कर्म-बन्ध के चार भेद	४१३
५.	साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद	४१३
★	२५ प्रकार की क्रियाओं के नाम और अर्थ	४१४
६.	आस्रव में हीनाधिकता का कारण	४१७
७.	अधिकरण (निमित्त कारण) के भेद	४१७
८.	जीव अधिकरण के भेद (१०८ भेद का अर्थ)	४१८
९.	अजीवाधिकरण आस्रव के भेद	४१९
१०.	ज्ञान-दर्शनावरण कर्म के आस्रव का कारण	४२०
११.	असाता वेदनीय के आस्रव के कारण	४२३
★	इस सूत्र का सिद्धान्त	४२४
१२.	साता वेदनीय के आस्रव का कारण	४२४
१३.	अनन्त संसार के कारणरूप दर्शनमोह के आस्रव के कारण	४२६
★	केवली भगवान् के अवर्णवाद	४२७
★	श्रुत के अवर्णवाद का स्वरूप	४३१
★	संघ के अवर्णवाद का स्वरूप	४३१
★	धर्म के अवर्णवाद का स्वरूप	४३२
★	देव के अवर्णवाद का स्वरूप	४३२
★	इस सूत्र का सिद्धान्त	४३३
१४.	चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण	४३३
१५.	नरकायु के आस्रव के कारण	४३५
१६.	तिर्यञ्च आयु के आस्रव के कारण	४३७
१७-१८	मनुष्यायु के आस्रव के कारण	४३८-४३९
१९.	सर्व आयुयों के आस्रव के कारण	४३९
२०-२१	देवायु के आस्रव के कारण	४४०-४४१
२२.	अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण	४४१
२३.	शुभनाम कर्म के आस्रव के कारण	४४२
२४.	तीर्थङ्कर नामकर्म के आस्रव के कारण	४४३
★	दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का स्वरूप	४४३-४४७
★	तीर्थङ्करों के तीन भेद	४४७
★	अरहन्तों के सात भेद	४४८
★	इस सूत्र का सिद्धान्त	४४८
२५.	नीचगोत्र के आस्रव के कारण	४४९
२६.	उच्चगोत्र के आस्रव के कारण	४४९
२७.	अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण	४५०
	उपसंहार	४५०
	अध्याय सातवाँ	
★	भूमिका	४५३
१.	व्रत का लक्षण	४५४
★	इस सूत्र कथित व्रत, सम्यग्दृष्टि के भी शुभास्रव है, बन्ध का कारण है, उनमें अनेक शास्त्राधार	४५५-४६२
★	इस सूत्र का सिद्धान्त	४६२
२.	व्रत के भेद	४६२
★	इस सूत्र कथित त्याग का स्वरूप	४६३
★	अहिंसा, सत्यादि चार व्रत सम्बन्धी	४६३-४६४
★	त्रस हिंसा के त्याग सम्बन्धी	४६४
३.	व्रतों में स्थिरता के कारण	४६४
४.	अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ	४६५
५.	सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ	४६६
६.	अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ	४६७
७.	ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ	४६७
८.	परिग्रह त्याग व्रत की पाँच भावनाएँ	४६८
९-१०	हिंसा आदि से विरक्त होने की भावना	४६९
११.	व्रतधारी सम्यग्दृष्टि की भावना	४७१
१२.	व्रतों की रक्षा के लिये सम्यग्दृष्टि की विशेष भावना	४७२
★	जगत का स्वभाव	४७२
★	शरीर का स्वभाव	४७४
★	संवेग, वैराग्य, विशेष स्पष्टीकरण	४७५
१३.	हिंसा, पाप का लक्षण	४७७
★	आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणाम को घातनेवाला भाव ही हिंसा है	४७७
★	१३वें सूत्र का सिद्धान्त	४७९
१४.	असत्य का स्वरूप	४७९
★	सत्य का परमार्थ स्वरूप	४७९
१५.	चोरी का स्वरूप	४८१
१६.	अब्रह्म (कुशील) का स्वरूप	४८२
१७.	परिग्रह का स्वरूप	४८३

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
१८.	व्रती की विशेषता	४८३
☆	द्रव्यलिङ्गी का अन्यथापन	४८४
☆	१८वें सूत्र का सिद्धान्त	४८५
१९.	व्रती के भेद	४८६
२०.	सागर के भेद	४८६
२१.	अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत	४८७
☆	तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप	४८७
☆	ध्यान में रखने योग्य सिद्धान्त	४८८
२२.	व्रती को संल्लेखना धारण करने का उपदेश	४८८
२३.	सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार	४८९
२४.	पाँच व्रत और सात शीलों के अतिचार	४९१
२५.	अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार	४९१
२६.	सत्याणुव्रत के अतिचार	४९२
२७.	अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार	४९३
२८.	ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार	४९३
२९.	परिग्रह परिमाण अणुव्रत के ५ अतिचार	४९४
३०.	दिग्व्रत के पाँच अतिचार	४९४
३१.	देशव्रत के पाँच अतिचार	४९४
३२.	अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार	४९४-४९५
३३.	सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार	४९५
३४.	प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार	४९५
३५.	उपभोग परिभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार	४९५
३६.	अतिथि संविभाग व्रत के पाँच अतिचार	४९६
३७.	संल्लेखना के पाँच अतिचार	४९६
३८.	दान का स्वरूप - करुणादान	४९८
३९.	दान में विशेषता	४९९
☆	नवधा भक्ति का स्वरूप-विधि	४९९
☆	द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता	५००
☆	दान सम्बन्धी जानने योग्य विशेष बातें	५०१
☆	उपसंहार	५०२
	अध्याय आठवाँ	
☆	भूमिका	५०५
१.	बन्ध के कारण	५०५
☆	बन्ध के पाँच कारणों में अन्तरङ्ग भावों की पहिचान करना चाहिए	५०६
☆	मिथ्यादर्शन का स्वरूप	५०६
☆	मिथ्या अभिप्राय की कुछ मान्यताएँ	५०९
☆	मिथ्यादर्शन के दो भेद	५०९
☆	गृहीत मिथ्यात्व के भेद - एकान्त, संशय, विपरीत, अज्ञान, विनय उनका वर्णन तथा विशेष स्पष्टीकरण	५१०-५११
☆	अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का स्वरूप	५१४-५१५
☆	किस गुणस्थान में क्या बन्ध होता है?	५१५
☆	महापाप कौन है? इस सूत्र का सिद्धान्त	५१५-५१६
२.	बन्ध का स्वरूप	५१६
३.	बन्ध के भेद	५१९
४.	प्रकृतिबन्ध के मूल भेद (आठ कर्म के नाम)	५१९
५.	प्रकृतिबन्ध के उत्तर भेद	५२१
६.	ज्ञानावरण कर्म के ५ भेद	५२१
७.	दर्शनावरण कर्म के ९ भेद	५२२
८.	वेदनीयकर्म के दो भेद	५२२
☆	इस विषय में शङ्का-समाधान	५२२
☆	धन, स्त्री, पुत्रादि बाह्य-पदार्थों के संयोग-वियोग में पूर्वकर्म का उदय (निमित्त) कारण है। इसका आधार	५२३
९.	मोहनीय कर्म के २८ भेद	५२४
☆	अनन्तानुबन्धी का अर्थ और क्रोधादि चार कषाय का तात्त्विक स्वरूप	५२५
१०.	आयुकर्म के चार भेद	५२६
११.	नामकर्म के ४२ भेद	५२६
१२.	गोत्रकर्म के दो भेद	५२७
१३.	अन्तरायकर्म के ५ भेद	५२७
१४.	स्थितिबन्ध में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्म की उत्कृष्ट स्थिति	५२७
१५.	मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति	५२८

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
१६.	नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति	५२८
१७.	आयुकर्म की जघन्य उत्कृष्ट स्थिति	५२८
१८.	वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति	५२८
१९.	नाम और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति	५२८
२०.	ज्ञानावरणादि पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति	५२९
२१.	अनुभागबन्ध का लक्षण	५२९
२२.	अनुभागबन्ध-कर्म के नामानुसार होता है	५२९
२३.	फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है	५३०
★	सविपाक-अविपाक निर्जरा	५३०
★	अकाम-सकाम निर्जरा	५३०
२४.	प्रदेशबन्ध का स्वरूप	५३१
२५-२६	पुण्य प्रकृतियाँ-पाप प्रकृतियाँ	५३२
★	उपसंहार	५३३ से ५३५
	अध्याय नववाँ	
★	भूमिका, संवर का स्वरूप	५३६
★	संवर की विस्तार से व्याख्या	५३६
★	ध्यान में रखने योग्य बातें	५३९
★	निर्जरा का स्वरूप	५४१
१.	संवर का लक्षण	५४३
२.	संवर के कारण	५४५
★	गुप्ति का स्वरूप	५४५
३.	निर्जरा और संवर का कारण	५४६
★	तप का अर्थ-स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूख	५४७
★	तप के फल के बारे में स्पष्टीकरण	५४८
४.	गुप्ति का लक्षण और भेद गुप्ति की व्याख्या	५४९
५.	समिति के पाँच भेद उस सम्बन्ध में होनेवाली भूख	५५०-५५२
६.	उत्तम क्षमादि दस धर्म उस सम्बन्ध में होनेवाली भूल	५५३-५५४
★	दस प्रकार के धर्मों का वर्णन	५५५-५५७
७.	बारह अनुप्रेक्षा	५५७-५६१
८.	परीषह सहन करने का उपदेश	५६१-५६४
९.	परीषह के २२ भेद	५६४
★	परीषहजय का स्वरूप	५६५-५६८

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
★	इस सूत्र का सिद्धान्त	५६८-५७०
१०.	दसवें से बारहवें गुणस्थान तक की परीषह	५७०
११.	तेरहवें गुणस्थान में परीषह	५७२
★	केवली भगवान को आहार नहीं होता, इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण	५७३-५७६
★	कर्मसिद्धान्त के अनुसार केवली के अन्नाहार होता ही नहीं	५७६
★	सूत्र १०-११ का सिद्धान्त और ८वें सूत्र के साथ उसका सम्बन्ध	५७७
१२.	६ से ९वें गुणस्थान तक की परीषह	५७७
१३.	ज्ञानावरण-कर्म के उदय से होनेवाली परीषह	५७८
१४.	दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय से होनेवाली परीषह	५७८
१५.	चारित्र मोहनीय से होनेवाली परीषह	५७८
१६.	वेदनीय कर्म के उदय से होनेवाली परीषहें	५७९
१७.	एक जीव के एक साथ होनेवाली परीषहों की संख्या	५७९
१८.	चारित्र के पाँच भेद और व्याख्या	५८१
★	छट्ठे गुणस्थान की दशा, चारित्र का स्वरूप	५८२-८३
★	चारित्र के भेद किसलिये बताये ?	५८३
★	सामायिक का स्वरूप, व्रत और चारित्र में अन्तर	५८४-८५
★	निर्जरा तत्त्व का वर्णन	५८५
१९.	बाह्यव्रत के ६ भेद-व्याख्या	५८६
★	सम्यक्तप की व्याख्या	५८८
★	तप के भेद किसलिये हैं ?	५८९
२०.	अभ्यन्तर तप के ६ भेद	५८९
२१.	अभ्यन्तर तप के उपभेद	५९०
२२.	सम्यक् प्रायश्चित के ९ भेद	५९१
★	निश्चय प्रायश्चित का स्वरूप	५९३
★	निश्चय प्रतिक्रमण-आलोचना का स्वरूप	५९३
२३.	सम्यक् विनय तप के चार भेद	५९३
★	निश्चय विनय का स्वरूप	५९३

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
२४.	सम्यक् वैयावृत्य तप के १० भेद	५९३
२५.	सम्यक् स्वाध्याय तप के पाँच भेद	५९४
२६.	सम्यक् व्युत्सर्ग तप के भेद	५९५
२७.	सम्यक् ध्यान तप का लक्षण	५९६
२८.	ध्यान के भेद	५९७
२९.	मोक्ष के कारणरूप ध्यान	५९८
३०-३३	आर्त्तध्यान के भेद	५९८-९९
३४.	गुणस्थान अपेक्षा आर्त्तध्यान के स्वामी	५९९
३५.	रौद्रध्यान के भेद और स्वामी	६००
३६.	धर्मध्यान के भेद	६००
३७.	शुक्लध्यान के स्वामी	६०२
३८.	शुक्लध्यान के चार भेदों में से बाकी के दो भेद किसके हैं ?	६०३
३९.	शुक्लध्यान के चार भेद	६०३
४०.	योग अपेक्षा शुक्लध्यान के स्वामी	६०३
☆	केवली के मनोयोग सम्बन्धी स्पष्टीकरण	६०४
☆	केवली के दो प्रकार का वचनयोग	६०५
☆	क्षपक तथा उपशमक के चार मनोयोग तथा वचनयोग का स्पष्टीकरण	६०५
४१-४२	शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों की विशेषता	६०६
४३.	वितर्क का लक्षण	६०६
४४.	वीचार का लक्षण	६०७
☆	व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, बारह प्रकार के तप आदि सम्बन्धी खास ध्यान में रखने योग्य स्पष्टीकरण	६०८-६१०
४५.	पात्र अपेक्षा निर्जरा में होनेवाली न्यूनाधिकता	६१०
४६.	निर्ग्रन्थ साधु के भेद	६१२
	परमार्थ निर्ग्रन्थ-व्यवहार निर्ग्रन्थ	६१३
४७.	पुलाकादि मुनियों में विशेषता	६१४
	उपसंहार	६१७-६२१

अध्याय दसवाँ

☆	भूमिका	६२२
१.	केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण	६२२
☆	केवलज्ञान होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता ?	६२४
२.	मोक्ष के कारण और उसका लक्षण	६२६
☆	मोक्ष यत्न से साध्य है	६२७
३-४	मोक्षदशा में कर्मों के अलावा किसके अभाव होता है ?	६२८
५.	मुक्त जीवों का स्थान	६२९
६.	मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का कारण	६३०
७.	सूत्र कथित ऊर्ध्वगमन के चारों कारणों के दृष्टान्त	६३०
८.	लोकाग्र से आगे नहीं जाने का कारण	६३१
९.	मुक्त जीवों में व्यवहारनय की अपेक्षा से भेद	६३२
☆	उपसंहार-मोक्षतत्व की मान्यता सम्बन्धी होनेवाली भूल और उसका निस्तारण	६३५
☆	अनादि कर्मबन्धन नष्ट होने की सिद्धि	६३६
☆	आत्मा के बन्धन की सिद्धि	६३९
☆	मुक्त होने के बाद फिर बन्ध या जन्म नहीं होता	६३९
☆	बन्ध जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं	६४०
☆	सिद्धों का लोकाग्र से स्थानान्तर नहीं होता	६४०
☆	अधिक जीव थोड़े क्षेत्र में रहते हैं	६४१
☆	सिद्ध जीवों के आकार	६४१
☆	परिशिष्ट-१ ग्रन्थ का साराँश	६४३
☆	मोक्षमार्ग का दो प्रकार से कथन	६४३
☆	व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है इसका क्या अर्थ ?	६४४
☆	मोक्षमार्ग दो नहीं	६४४
☆	निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप-व्यवहारमोक्षमार्ग का स्वरूप	६४४-६४५
☆	व्यवहार मुनि का स्वरूप, निश्चयी मुनि का स्वरूप, निश्चयी के अभेद का समर्थन	६४५
☆	निश्चय रत्नत्रय की कर्ता, कर्म, करण और सम्प्रदान के साथ अभेदता	६४७
☆	अपादान और सम्बन्ध, आधार, क्रिया और गुणस्वरूप के साथ अभेदता	६४८
☆	निश्चयरत्नत्रय की पर्याय, प्रदेश और	

सूत्र सं.	विषय	पृष्ठ सं.
	अगुरुलघु स्वरूप के साथ अभेदता	६४९
☆	उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप की अभेदता	६५०
☆	निश्चय-व्यवहार मानने का प्रयोजन	६५०
☆	तत्त्वार्थसार ग्रन्थ का प्रयोजन	६५१
☆	इस ग्रन्थ के कर्ता पुद्गल हैं आचार्य नहीं	६५१
☆	**परिशिष्ट - २**	**६५३**
☆	प्रत्येक द्रव्य और उसके प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता की घोषणा	६५३
☆	**परिशिष्ट - ३**	**६५५**
☆	साधक जीव की दृष्टि को मापने की रीति	६५५
☆	अध्यात्म का रहस्य	६५७
☆	वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके ?	६५७
☆	**परिशिष्ट - ४**	**६५८**
☆	शास्त्र का संक्षिप्त सार	६५८

श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः

श्रीमदाचार्य उमास्वामि-विरचित

मोक्षशास्त्र

गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद

मङ्गलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थ - मोक्षमार्ग के प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतों के भेदक, अर्थात् नष्ट करनेवाले तथा विश्व के (समस्त) तत्त्वों के जाननेवाले, (आप्त) को उनके गुणों की प्राप्ति के हेतु मैं प्रणाम करता हूँ - वन्दना करता हूँ।

संक्षिप्त अवलोकन

(१) इस शास्त्र को प्रारम्भ करने से पूर्व संक्षेप में यह बताना आवश्यक है कि इस शास्त्र का विषय क्या है?

(२) आचार्यदेव ने इस शास्त्र का नाम '**मोक्षशास्त्र**' अथवा '**तत्त्वार्थसूत्र**' रखा है। जगत के जीव अनन्त प्रकार के दुःख भोग रहे हैं, और उन दुःखों से सदा के लिए मुक्त होने, अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिए रात-दिन उपाय कर रहे हैं, किन्तु उनके वे उपाय मिथ्या होने से, जीवों का दुःख दूर नहीं होता; एक-दूसरे रूप में दुःख बना ही रहता है। जीव दुःखों की परम्परा से क्योंकर मुक्त हों, इसका उपाय और उसका वीतराग-विज्ञान इस शास्त्र में बताया गया है; इसीलिए इसका नाम '**मोक्षशास्त्र**' रखा गया है।

मूलभूत भूल के बिना दु:ख नहीं होता, और उस भूल के दूर होने पर, सुख हुए बिना नहीं रह सकता – यह अबाधित सिद्धान्त है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझे बिना, वह भूल दूर नहीं होती; इसलिए इस शास्त्र में वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझाया गया है; इसीलिए इसका नाम '**तत्त्वार्थसूत्र**' भी रखा गया है।

(३) यदि जीव को वस्तु के यथार्थ स्वरूप सम्बन्धी मिथ्या मान्यता [Wrong Belief] न हो तो ज्ञान में भूल न हो। जहाँ मान्यता सच्ची होती है, वहाँ ज्ञान सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञानपूर्वक ही यथार्थ प्रवृत्ति होती है; इसलिए आचार्यदेव ने इस शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए प्रथम अध्याय के पहले ही सूत्र में यह सिद्धान्त बताया है कि सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञानपूर्वक होनेवाली सच्ची प्रवृत्ति द्वारा ही जीव, दु:ख से मुक्त हो सकते हैं।

(४) '**स्वयं कौन है ?**'—इस सम्बन्ध में जगत के जीवों की भारी भूल चली आ रही है। बहुत से जीव, शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं; इसलिए वे शरीर की रक्षा करने के लिए निरन्तर अनेक प्रकार के प्रयत्न करते रहते हैं। जीव, शरीर को अपना मानता है, तब जिसे वह समझता है कि यह शारीरिक सुविधा चेतन या जड़ पदार्थों की ओर से मिलती है, उनकी ओर उसे राग होता ही है और जिसे वह समझता है कि यह असुविधा चेतन या जड़ पदार्थों की ओर से मिलती है, उनकी ओर उसे द्वेष होता है और इस प्रकार की धारणा से जीव को आकुलता बनी रहती है।

(५) जीव की इस **महान् भूल को** शास्त्र में 'मिथ्यादर्शन' कहा गया है। जहाँ मिथ्या मान्यता होती है, वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होता है; इसलिए मिथ्यादर्शनरूपी भूल को महापाप भी कहा जाता है। मिथ्यादर्शन, भारी भूल है और वह सर्व दु:खों की महान् बलवान् जड़ (मूल) है—जीवों को ऐसा लक्ष्य न होने से, वह लक्ष्य कराने और वह भूल दूर करके, जीव अविनाशी सुख की ओर पैर रखें, इस हेतु से आचार्यदेव ने इस शास्त्र में सबसे पहला शब्द '**सम्यग्दर्शन**' प्रयुक्त किया है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही ज्ञान सच्चा हो जाता है; इसलिए दूसरा शब्द '**सम्यग्ज्ञान**' प्रयुक्त किया गया है, और सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है; इसलिए '**सम्यक्चारित्र**' शब्द को तीसरे स्थान पर रखा है। इस प्रकार तीन शब्दों का प्रयोग करने से कहीं लोग यह न मान बैठें कि 'सच्चा सुख प्राप्त

करने के तीन मार्ग हैं', इसलिए प्रथम सूत्र में ही यह बता दिया है कि 'तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।'

(६) यदि जीव को सच्चा सुख चाहिए तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए। जगत में कौन-कौन से पदार्थ हैं; उनका क्या स्वरूप है; उनका कार्यक्षेत्र क्या है; जीव क्या है; वह क्यों दु:खी होता है — इसकी यथार्थ समझ हो, तब ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; इसलिए आचार्यदेव ने दस अध्यायों में सात तत्त्वों के द्वारा वस्तुस्वरूप बतलाया है।

(७) इस मोक्षशास्त्र के दस अध्यायों में निम्नलिखित विषय लिए गए हैं—

प्रथम अध्याय में—मोक्ष का उपाय और जीव के ज्ञान की अवस्थाओं का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में—जीव के भाव, लक्षण और शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।

तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में—विकारी जीवों के रहने के क्षेत्रों का वर्णन है।

इस प्रकार प्रथम चार अध्यायों में, **जीवतत्त्व का** वर्णन किया गया है।

पाँचवें अध्याय में—अजीवतत्त्व का वर्णन है।

छठवें-सातवें अध्याय में—जीव के नवीन विकारभाव (आस्रव) तथा उनका निमित्त पाकर जीव का सूक्ष्म जड़कर्म के साथ होनेवाला सम्बन्ध बताया है।

इस प्रकार **आस्रवतत्त्व** का वर्णन किया है।

आठवें अध्याय में—बताया गया है कि जीव का जड़कर्मों के साथ किस प्रकार बन्ध होता है और वह जड़कर्म कितने समय तक जीव के साथ रहते हैं।

इस प्रकार इस अध्याय में **बन्धतत्त्व** का वर्णन किया गया है।

नवमें अध्याय में—बताया गया है कि जीव के अनादिकाल से प्राप्त न होनेवाले धर्म का प्रारम्भ, संवर से होता है। जीव की यह अवस्था होने पर, उसे सच्चे सुख का प्रारम्भ होता है और क्रमश: शुद्धि के बढ़ने पर, विकार दूर होता है, उससे निर्जरा, अर्थात् जड़कर्म के साथ बन्ध का अंशत: अभाव होता है।

इस प्रकार नववें अध्याय में **संवर और निर्जरातत्त्व** बताया गया है।

दशवें अध्याय में—जीव की शुद्धि की पूर्णता, सर्व दु:खों से अविनाशी मुक्ति और सम्पूर्ण पवित्रता, मोक्षतत्त्व है; इसलिए आचार्यदेव ने **मोक्षतत्त्व,** दशवें अध्याय में बतलाया है।

(८) मङ्गलाचरण में भगवान को 'कर्मरूपी पर्वतों को भेदनेवाला' कहा है। कर्म दो प्रकार के हैं - १. भावकर्म, और २. द्रव्यकर्म। जब जीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भावकर्मरूपी पर्वतों को दूर करता है, तब द्रव्यकर्म स्वयं ही अपने आप हट जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं; जीव की शुद्धता का और कर्मक्षय का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है—यहाँ यही बताया गया है। जीव, जड़कर्म को परमार्थत: नष्ट कर सकता है—यह कहने का आशय नहीं है।

(९) मङ्गलाचरण में नमस्कार करते हुए देवागमन, समवसरण, चामर और दिव्य-शरीरादि पुण्य-विभूतियों का उल्लेख नहीं किया गया है, जो तीर्थङ्कर भगवान के पास होती हैं क्योंकि पुण्य, आत्मा का गुण (शुद्धता) नहीं है।

(१०) मङ्गलाचरण में गुणों से पहचान करके, भगवान को नमस्कार किया है, अर्थात् भगवान विश्व के (समस्त तत्त्वों के) ज्ञाता हैं, मोक्षमार्ग के नेता हैं और उन्होंने सर्व विकारों (दोषों) का नाश किया है; इस प्रकार भगवान के गुणों का स्वरूप बतलाकर, गुणों को पहचान करके उनकी स्तुति की है। वैसे निश्चय से, अपनी आत्मा की ही स्तुति की है।

☆☆☆☆☆

मोक्षशास्त्र

प्रथम अध्याय

निश्चयमोक्षमार्ग की व्याख्या

सम्यग्दर्शनाज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थ : [सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र तीनों मिलाकर **[मोक्षमार्गः]** मोक्ष का मार्ग है, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

टीका - (१) सम्यक् - यह शब्द प्रशंसावाचक है, जो कि यथार्थता को सूचित करता है। विपरीत आदि दोषों का अभाव 'सम्यक्' है।

दर्शन - का अर्थ है श्रद्धा। 'ऐसा ही है; अन्यथा नहीं'—ऐसा प्रतीतिभाव।

सम्यग्ज्ञान - संशय, विपर्यय, और अनध्यवसायरहित अपने आत्मा का तथा पर का यथार्थज्ञान, सम्यग्ज्ञान है।

संशय - **'विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः'** अर्थात्, 'ऐसा है कि ऐसा है'—इस प्रकार परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान को संशय कहते हैं; जैसे, आत्मा अपने कार्य को कर सकता होगा या जड़ के कार्य को ? शुभरागरूप व्यवहार से धर्म होगा या वीतरागरूप निश्चय से ?

विपर्यय - **'विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः'** अर्थात्, वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है'—इस प्रकार का एकरूपज्ञान, विपर्यय है; जैसे, शरीर को आत्मा जानना।

अनध्यवसाय - **'किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः'** अर्थात्, 'कुछ है'—ऐसा निराधाररहित विचार, अनध्यवसाय है; जैसे, मैं कोई कुछ हूँ—ऐसा जानना।

[विशेष - यहाँ जीव और आत्मा, दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।]

सम्यक्चारित्र - (यहाँ 'सम्यक्' पद अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त किया है।) सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मा में स्थिरता का होना, सम्यक्चारित्र है।

यह तीनों क्रमशः आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों की शुद्धपर्यायें हैं।

मोक्षमार्ग - यह शब्द एकवचन है, जो यह सूचित करता है कि मोक्ष के तीन मार्ग

नहीं, किन्तु इन तीनों का एकत्व मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग का अर्थ है, अपने आत्मा की शुद्धि का मार्ग, पंथ, उपाय; उसे अमृतमार्ग, स्वरूपमार्ग अथवा कल्याणमार्ग भी कहते हैं।

(२) इस सूत्र में अस्ति से कथन है, जो यह सूचित करता है कि इससे विरुद्धभाव, जैसे कि राग, पुण्य इत्यादि से धर्म होता है या वे धर्म में सहायक होते हैं, इस प्रकार की मान्यता, ज्ञान और आचरण, मोक्षमार्ग नहीं है।

(३) इस सूत्र में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' कहा है, वह निश्चयरत्नत्रय है; व्यवहाररत्नत्रय नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यवहाररत्नत्रय, राग होने से बन्धरूप है।

(४) इस सूत्र में 'मोक्षमार्ग' शब्द निश्चयमोक्षमार्ग बताने के लिए कहा है — ऐसा समझना चाहिए।

(५) मोक्षमार्ग, परमनिरपेक्ष है—'निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग, परम -निरपेक्ष होने से मोक्षमार्ग है और वह शुद्धरत्नत्रय का फल, निज शुद्धात्मा की प्राप्ति है।' *(श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार, गाथा २ की टीका)*

इस सूत्र में 'सम्यग्दर्शन' कहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है—यह बात तीसरे सूत्र से सिद्ध होती है, क्योंकि उसी में निसर्गज और अधिगमज ऐसा जो भेद कहा है—वह निश्चयसम्यग्दर्शन के ही भेद हैं और इस सूत्र की संस्कृत टीका श्री तत्त्वार्थराजवार्तिक में, जिस कारिका तथा व्याख्या द्वारा वर्णन किया है, उस आधार से इस सूत्र में तथा दूसरे सूत्र में कथित जो सम्यग्दर्शन है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है, ऐसा सिद्ध होता है।

इस सूत्र में जो 'ज्ञान' कहा है, वह निश्चयसम्यग्ज्ञान है। अ० १-सूत्र ६ में उसी के पाँच भेद कहे हैं, उसी में मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान भी आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा गया है।

बाद में इस सूत्र में 'चारित्राणि' शब्द निश्चयसम्यक्चारित्र के लिए कहा है। श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक में इस सूत्र कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र माना है, क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (व्यवहाररत्नत्रय), आस्रव और बंधरूप है, इससे इस सूत्र का अर्थ करने में, ये तीनों आत्मा की शुद्धपर्यायें, एकत्वरूप परिणमित हुई हैं; इस प्रकार शास्त्रकार ने ही बतलाया है — ऐसा स्पष्ट होता है।

पहले सूत्र का सिद्धान्त

(५) अज्ञानदशा में जीव, दु:ख भोग रहे हैं, इसका कारण यह है कि उन्हें अपने स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रम है, जिसे (जिस भ्रम को) 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है। 'दर्शन' का एक अर्थ मान्यता भी है; इसलिए मिथ्यादर्शन का अर्थ मिथ्या मान्यता है। जहाँ अपने स्वरूप की मिथ्या मान्यता होती है, वहाँ जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान, मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान' कहा जाता है। जहाँ स्वरूप की मिथ्या मान्यता और मिथ्याज्ञान होता है, वहाँ चारित्र भी मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे चारित्र को 'मिथ्याचारित्र' कहा जाता है। अनादिकाल से जीवों के 'मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र' अपने अपराध से चले आ रहे हैं; इसलिए जीव अनादिकाल से दु:ख भोग रहे हैं।

क्योंकि अपनी यह दशा, जीव स्वयं करता है; इसलिए वह स्वयं उसे दूर कर सकता है और उसे दूर करने का उपाय 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' ही है; दूसरा नहीं—यही यहाँ कहा है; इससे सिद्ध होता है कि जीव सतत जो अन्य उपाय किया करता है, वे सब मिथ्या हैं। जीव, धर्म करना चाहता है, किन्तु उसे सच्चे उपाय का पता न होने से, वह खोटे उपाय किए बिना नहीं रहता; अत: जीव को यह महान् भूल दूर करने के लिए **पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए;** उसके बिना कभी किसी के धर्म का प्रारम्भ हो ही नहीं सकता।

निश्चयसम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

अर्थ - [**तत्त्वार्थश्रद्धानं**] तत्त्व (वस्तु) के स्वरूपसहित अर्थ; जीवादि पदार्थों की श्रद्धा करना [**सम्यग्दर्शनम्**] सम्यग्दर्शन है।

टीका - (१) तत्त्वों की सच्ची (-निश्चय) श्रद्धा का नाम, सम्यग्दर्शन है। 'अर्थ' का अर्थ है, द्रव्य-गुण-पर्याय और 'तत्त्व' का अर्थ है, उसका भावस्वरूप। स्वरूप (भाव) सहित प्रयोजनभूत पदार्थों का श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है।

(२) इस सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण दिया है। सम्यग्दर्शन लक्ष्य और तत्त्वार्थश्रद्धान, उसका लक्षण है।

(३) किसी जीव को यह प्रतीति तो हो कि 'यह ज्ञातृत्व है, यह श्वेत वर्ण है' इत्यादि,

किन्तु ऐसा श्रद्धान न हो कि दर्शन-ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है और मैं आत्मा हूँ तथा वर्णादिक पुद्गल के स्वभाव हैं और पुद्गल, मुझसे भिन्न (पृथक्) पदार्थ है, तो उपर्युक्त मात्र 'भाव' का श्रद्धान, किञ्चिन्मात्र कार्यकारी नहीं है। यह श्रद्धान तो किया कि 'मैं आत्मा हूँ' किन्तु आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा श्रद्धान नहीं किया, तो 'भाव' के श्रद्धान के बिना, आत्मा का श्रद्धान यथार्थ नहीं होता; इसलिए 'तत्त्व' और उसके 'अर्थ' का श्रद्धान होना ही कार्यकारी है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ३१७-३१८)*

(४) **दूसरा अर्थ** - जीवादि को जैसे 'तत्त्व' कहा जाता है, वैसे ही 'अर्थ' भी कहा जाता है। जो तत्त्व है, वही अर्थ है और उसका श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जैसा अवस्थित है, उसका उसी प्रकार होना, सो तत्त्व है, और 'अर्यते' कहने पर निश्चय किया जाए सो अर्थ है; इसलिए तत्त्वस्वरूप का निश्चय, तत्त्वार्थ है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ९, पृष्ठ ३१८)*

(५) विपरीत अभिनिवेश (उल्टे अभिप्राय) से रहित जीवादि का तत्त्वार्थश्रद्धान, सम्यग्दर्शन का लक्षण है। सम्यग्दर्शन में विपरीत मान्यता नहीं होती, यह बतलाने के लिए 'दर्शन' से पूर्व 'सम्यक्' पद दिया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं - ऐसा चौथे सूत्र में कहेंगे।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ३१७)

(६) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यह लक्षण, निश्चय सम्यग्दर्शन का है, और वह तिर्यञ्च आदि से लेकर केवली तथा सिद्ध भगवान में समानरूप से व्याप्त है और वह लक्षण, अव्याप्ति-अतिव्याप्ति और असम्भवदोष से रहित है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ३२४-३२५ तथा इस शास्त्र का अध्याय १ परिशिष्ट ४)

(७) **'तत्त्व' शब्द का मर्म—**

'तत्त्व' शब्द का अर्थ, तत्-पन या उसरूपता है। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व के स्वरूप से तत्पन है और पररूप से अतत्पन है। जीव, वस्तु है; इसलिए उसके अपने स्वरूप से तत्पन है और पर के स्वरूप से अतत्पन है। जीव चैतन्यस्वरूप होने से ज्ञाता है और अन्य सब वस्तुएँ, ज्ञेय हैं, इसलिए जीव दूसरे सभी पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। जीव अपने से तत् है; इसलिए उसे अपना ज्ञान स्वतः होता है और जीव, पर से अतत् है; इसलिए उसे पर से ज्ञान

नहीं हो सकता। 'घड़े का ज्ञान, घड़े के आधार से होता है'—ऐसा कई लोग मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। ज्ञान, जीव का स्वरूप है; इसलिए वह ज्ञान अपने से तत् है और पर से अतत् है। जीव के प्रति समय अपनी योग्यता के अनुसार ज्ञान की अवस्था होती है; परज्ञेयसम्बन्धी अपना ज्ञान होते समय, परज्ञेय उपस्थित है, किन्तु जो यह मानता है कि उस परवस्तु से जीव को ज्ञान होता है तो मानो कि वह जीव को 'तत्त्व' नहीं मानता। यदि घड़े से घड़े सम्बन्धी ज्ञान होता हो तो नासमझ (अबोध) जीव को भी घड़े की उपस्थिति होने पर, घड़े का ज्ञान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए यह सुनिश्चित है कि ज्ञान स्वतः होता है। यदि जीव को पर से ज्ञान होने लगे तो **जीव और पर एक तत्त्व हो जाएँ, किन्तु ऐसा नहीं होता।**

(८) सम्यग्दर्शन की महिमा —

यदि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग, मिथ्यादर्शनयुक्त हों तो गुण उत्पन्न करने की जगह वे संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमणकारी दोषों को उत्पन्न करते हैं। जैसे, विषयुक्त औषधि से लाभ नहीं होता; उसी प्रकार मिथ्यात्वसहित अहिंसादि से जीव का संसार-रोग नहीं मिटता। जहाँ मिथ्यात्व होता है, वहाँ निश्चय अहिंसादि कदापि नहीं होते। '**आत्मभ्रांति सम रोग नहिं**' — इस पद को विशेष ध्यान में रखना चाहिए। जीव के साथ अनादि काल से मिथ्यात्वदशा चली आ रही है, इसलिए उसके सम्यग्दर्शन नहीं है; इसलिए आचार्यदेव पहले **सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करने के लिए बारम्बार उपदेश करते हैं।**

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र और तप में सम्यक्ता नहीं आती; सम्यग्दर्शन ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप का आधार है। जैसे — आँखों से मुख की सुन्दरता-शोभा होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन से ज्ञानादिक में सम्यक्त्व-सुन्दरता-शोभा आती है।

इसी सम्बन्ध में रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि —

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥३४॥

अर्थ - तीनों काल और तीनों लोक में जीवों का सम्यग्दर्शन के समान दूसरा कोई कल्याण और मिथ्यात्व के समान अकल्याण नहीं है।

भावार्थ - अनन्त काल व्यतीत हो चुका; एक समय का वर्तमान चल रहा है और भविष्य में अनन्त काल आएगा—इन तीनों कालों में और अधोलोक, मध्यलोक और

ऊर्ध्वलोक—इन तीनों लोकों में जीव का सर्वोत्कृष्ट उपकारी, सम्यक्त्व के समान दूसरा कोई न तो है, न हुआ है, और न होगा। त्रिलोकस्थित इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र या तीर्थङ्कर इत्यादि चेतन, और मणि, मन्त्र, औषधि इत्यादि जड़द्रव्य, ये कोई भी सम्यक्त्व के समान उपकारी नहीं हैं, और इस जीव का सबसे अधिक बुरा-अहित करनेवाला मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई जड़ या चेतनद्रव्य, तीन काल और तीन लोक में न तो है, न हुआ और न होगा; इसलिए मिथ्यात्व को छोड़ने के लिए परमपुरुषार्थ करो! समस्त संसार के दु:खों का नाश करनेवाला और आत्मकल्याण को प्रगट करनेवाला, एकमात्र सम्यक्त्व ही है; इसलिए उसके प्रगट करने का ही पुरुषार्थ करो!!

और फिर, **सम्यक्त्व ही प्रथम कर्तव्य है**—इस सम्बन्ध में अष्टपाहुड़ में इस प्रकार कहा है—

श्रावक को पहले क्या करना चाहिए, सो कहते हैं:—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं जाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥

(- मोक्षपाहुड़, गाथा ८६)

अर्थ - श्रावक को पहले सुनिर्मल, मेरु के समान निष्कम्प-अचल (चल, मल और अगाढ़ दूषण से रहित, अत्यन्त निश्चल) सम्यक्त्व को ग्रहण करके, दु:खों के क्षय के लिए उसे (सम्यक्त्व के विषयभूत एकरूप आत्मा को) ध्यान में ध्याना चाहिए।

भावार्थ - श्रावक को पहले तो निरतिचार निश्चलसम्यक्त्व को ग्रहण करके, उसका ध्यान करना चाहिए कि जिस सम्यक्त्व की भावना से गृहस्थ को गृहकार्य सम्बन्धी आकुलता, क्षोभ, दु:ख मिट जाए; कार्य के बिगड़ने-सुधरने में वस्तुस्वरूप का विचार आए, तब दु:ख मिट जाए। सम्यग्दृष्टि के ऐसा विचार होता है कि - सर्वज्ञ ने जैसा वस्तुस्वरूप जाना है, वैसा निरन्तर परिणमित होता है, और वैसा ही होता है; उसमें इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दु:खी होना व्यर्थ है; ऐसे विचार से दु:ख मिटता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है; इसलिए सम्यक्त्व का ध्यान करने को कहा है।

अब, सम्यक्त्व के ध्यान की महिमा कहते हैं —

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
समत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि॥

(- मोक्षपाहुड़, गाथा-८७)

अर्थ - जो सम्यक्त्व को ध्याता है, वह जीव, सम्यग्दृष्टि है और सम्यक्त्वरूप परिणत जीव, आठों दुष्ट कर्मों का क्षय करता है।

भावार्थ - सम्यक्त्व का ध्यान ऐसा है कि यदि पहले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी उसके स्वरूप को जानकर उसका ध्यान करे तो वह जीव, सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर, जीव के परिणाम ऐसे हो जाते हैं कि संसार के कारणभूत आठों दुष्टकर्मों का क्षय हो जाता है। सम्यक्त्व के होते ही कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होती जाती है और अनुक्रम से मुनि होने पर, चारित्र और शुक्लध्यान के सहकारी होने पर, सर्व कर्मों का नाश होता है।

अब, इस बात को संक्षेप में कहते हैं—

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं॥

(- मोक्षपाहुड़, गाथा-८८)

अर्थ - श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि बहुत कहने से क्या साध्य है! जो नर प्रधान भूत काल में सिद्ध हुए और भविष्य में सिद्ध होंगे, वे सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।

भावार्थ - सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है कि भूत काल में जो श्रेष्ठ पुरुष, आठ कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं तथा भविष्य में होंगे, वे इसी सम्यक्त्व से हुए हैं और होंगे; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाए? संक्षेप में समझना चाहिए कि मुक्ति का प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि गृहस्थों के क्या धर्म होता है? यह सम्यक्त्वधर्म ऐसा है कि जो धर्म के सर्व अङ्गों को सफल करता है।

अब, यह कहते हैं कि जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं, वे धन्य हैं—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥

(- मोक्षपाहुड़, गाथा-८९)

अर्थ - जिस पुरुष के मुक्ति को प्राप्त करनेवाला सम्यक्त्व है, और उस सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया — अतिचार नहीं लगाया, वह पुरुष धन्य है, वही कृतार्थ है, वीर-शूरवीर है, वही पण्डित है, वही मनुष्य है।

भावार्थ - लोक में जो कुछ दानादि करता है, उसे धन्य कहा जाता है; जो विवाह, यज्ञादि

करता है, उसे कृतार्थ कहा जाता है; जो युद्ध से पीछे नहीं हटता, उसे शूरवीर कहते हैं; और जो बहुत से शास्त्र पढ़ लेता है, उसे पण्डित कहते हैं किन्तु यह सब कथनमात्र हैं। वास्तव में तो जो मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्व को मलिन नहीं करता, उसे निरतिचार पालता है वही धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पण्डित है, वही मनुष्य है; उसके बिना (सम्यक्त्व के बिना) मनुष्य, पशुसमान है। सम्यक्त्व की ऐसी महिमा कही गयी है।

(९) सम्यग्दर्शन का बल—केवली और सिद्ध भगवान, रागादिरूप परिणमित नहीं होते और संसारावस्था को नहीं चाहते, यह सम्यग्दर्शन का ही बल समझना चाहिए।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ३२४)

(१०) सम्यग्दर्शन के भेद—ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यञ्चादि (पशु आदि) के और केवली तथा सिद्ध भगवान के सम्यग्दर्शन को समान कहा है; उनके आत्म-प्रतीति एक ही प्रकार की होती है, किन्तु स्वपर्याय की योग्यता की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के तीन भेद हो जाते हैं — (i) औपशमिक सम्यग्दर्शन, (ii) क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन, और (iii) क्षायिकसम्यग्दर्शन। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ३२४)*

(i) **औपशमिकसम्यग्दर्शन**—उस दशा में मिथ्यात्वकर्म के तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के जड़ रजकण स्वयं उपशमरूप होते हैं। जैसे - मैले पानी में से मैल नीचे बैठ जाता है अथवा जैसे अग्नि, राख से ढक जाती है। आत्मा के पुरुषार्थ से जीव, प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, तब औपशमिकसम्यग्दर्शन ही होता है।*

(ii) **क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन**—इस दशा में मिथ्यात्व और मिश्रमिथ्यात्वकर्म के रज-कण, आत्मप्रदेशों से पृथक् होने पर उनका फल नहीं होता, और सम्यक् मोहनीयकर्म के रजकण उदयरूप होते हैं, तथा अनन्तानुबन्धी कषायकर्म के रजकण विसंयोजनरूप होते हैं।

(iii) **क्षायिकसम्यग्दर्शन**—इस दशा में मिथ्यात्वप्रकृति के (तीनों उपविभाग के) रजकण, आत्मप्रदेश से सर्वथा हट जाते हैं; इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की सातों प्रकृतियों का क्षय हुआ कहलाता है।

*** अनादि मिथ्यादृष्टि के औपशमिकसम्यग्दर्शन होने पर, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की चार — ऐसी पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं और सादि मिथ्यादृष्टि के औपशमिकसम्यग्दर्शन होने पर, जिसके मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्तारूप होती हैं, उसके मिथ्यात्व की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार, ऐसे सात प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं, और जिस सादि मिथ्यादृष्टि के एक मिथ्यात्वप्रकृति ही सत्ता में होती है, उसके मिथ्यात्व की एक, और अनन्तानुबन्धी की चार — ऐसी पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं।**

(११) सम्यग्दर्शन के अन्य प्रकार से भेद —सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के आत्मा की तत्त्व की प्रतीति एक सी होती है, तथापि **चारित्रदशा की अपेक्षा से** उनके दो भेद हो जाते हैं — (१) वीतराग सम्यग्दर्शन, और (२) सराग सम्यग्दर्शन।

जब सम्यग्दृष्टि जीव, अपने आत्मा में स्थिर होता है, तब उसके निर्विकल्पदशा होती है, तब राग के साथ बुद्धिपूर्वक सम्बन्ध नहीं होता। जीव की इस दशा को 'वीतराग-सम्यग्दर्शन' कहा जाता है और जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने में स्थिर नहीं रह सकता, तब राग में उसका अनित्य-सम्बन्ध होता है; इसलिए उस दशा को 'सराग-सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। ध्यान रहे कि सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कभी नहीं मानता कि शुभराग से धर्म होता है या धर्म में सहायता होती है। *(- समयसार जयसेनाचार्य, गाथा-१६६)*

(१२) सराग-सम्यग्दृष्टि के प्रशमादि भाव—सम्यग्दृष्टि के राग के साथ सम्बन्ध होता है, तब चार प्रकार के शुभभाव होते हैं—(१) प्रशम, (२) संवेग, (३) अनुकम्पा, और (४) आस्तिक्य।

प्रशम - क्रोध-मान-माया-लोभ सम्बन्धी राग-द्वेषादिकी मन्दता।

संवेग - संसार, अर्थात् विकारीभाव का भय।

अनुकम्पा - स्वयं और पर, सर्व प्राणियों पर दया का प्रादुर्भाव।

आस्तिक्य - जीवादि तत्त्वों का जैसा अस्तित्त्व है, वैसा ही आगम और युक्ति से मानना।

सराग सम्यग्दृष्टि को इन चार प्रकार का राग होता है; इसलिए इन चार भावों को उपचार से सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा जाता है। जीव के सम्यग्दर्शन न हो तो वे शुभभाव प्रशमाभास, संवेगाभास, अनुकम्पाभास और आस्तिक्याभास हैं—ऐसा समझना चाहिए।

प्रशमादिक, सम्यग्दर्शन के यथार्थ (निश्चय) लक्षण नहीं हैं; उसका यथार्थ लक्षण तो अपने शुद्धात्मा की प्रतीति है।

(१३) सम्यग्दर्शन का विषय (लक्ष्य) तथा स्वरूप—

प्रश्न - सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को कैसा मानता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को परमार्थतः त्रिकाल, शुद्ध, ध्रुव, अखण्ड, चैतन्यस्वरूप मानता है।

प्रश्न - उस समय जीव की विकारी अवस्था तो होती है, सो उसका क्या?

उत्तर - विकारी अवस्था, सम्यग्ज्ञान का विषय है; इसलिए उसे सम्यग्दृष्टि जानता तो है, किन्तु सम्यग्दृष्टि का आश्रय, अवस्था (पर्याय-भेद) पर नहीं होता; क्योंकि अवस्था के आश्रय से जीव के राग होता है और ध्रुवस्वरूप के आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगट होती है।

प्रश्न - सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस गुण की निर्मलदशा प्रगट होने से अपने शुद्धात्मा का प्रतिभास (यथार्थ प्रतीति) हो; अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति हो।

(१) सच्चे देव-गुरु-धर्म में दृढ़ प्रतीति, (२) जीवादि सात तत्त्वों की सच्ची प्रतीति, (३) स्व-पर का श्रद्धान, और (४) आत्मश्रद्धान; इन लक्षणों के अविनाभावसहित जो श्रद्धान होता है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। उस पर्याय का धारक, सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण है, तथा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन उसकी पर्यायें हैं।

(१४) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यह सूत्र निश्चयसम्यग्दर्शन के लिए है, ऐसा पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक; अध्याय ९ में कहते हैं—

(१) विपरीताभिनिवेशरहित, जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धानपना, सो सम्यग्दर्शन का लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है; यही तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्॥ १-२॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी इसी प्रकार कहा है—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थनां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्॥२२॥

अर्थ - विपरीताभिनिवेश से रहित, जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदाकाल करने योग्य है। **यह श्रद्धान, आत्मा का स्वरूप है; चतुर्थादि गुणस्थान में प्रगट होता है, पश्चात् सिद्ध अवस्था में भी सदा काल इसका** सद्भाव रहता है - ऐसा जानना।

(सोनगढ़ से प्रकाशित आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-३२०-३२१)

इस सम्बन्ध में पृष्ठ ३२३ से ३२५ में पण्डित टोडरमलजी विशेष कहते हैं कि—

फिर प्रश्न है कि छद्मस्थ के तो प्रतीति-अप्रतीति कहना सम्भव है; इसलिए यहाँ

सप्त तत्त्वों की प्रतीति सम्यक्त्व का लक्षण कहा सो हमने माना, परन्तु केवली-सिद्ध भगवान के तो सर्व का जानपना समानरूप है, वहाँ सप्त तत्त्वों की प्रतीति कहना सम्भव नहीं है और उनके सम्यक्त्वगुण पाया जाता है; इसलिए वहाँ उस लक्षण का अव्याप्तिपना आया?

समाधान — जैसे, छद्मस्थ के श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति पायी जाती है; उसी प्रकार केवली-सिद्धभगवान के केवलज्ञान के अनुसार प्रतीति पायी जाती है। जो सप्त तत्त्वों का स्वरूप पहले ठीक किया था, वही केवलज्ञान द्वारा जाना; वहाँ प्रतीति का परमावगाढ़पना हुआ; इसी से परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा। जो पहले श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती; **सो तो जैसा सप्त तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ के हुआ था, वैसा ही केवली-सिद्ध भगवान के पाया जाता है;** इसलिए ज्ञानादिक की हीनता-अधिकता होने पर भी, तिर्यञ्चादिक व केवली-सिद्ध भगवान के सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है तथा पूर्व अवस्था में यह माना था कि संवर-निर्जरा से मोक्ष का उपाय करना, पश्चात् मुक्त अवस्था होने पर ऐसा माने कि संवर-निर्जरा से हमारे मोक्ष हुआ तथा पहले ज्ञान की हीनता से जीवादिक के थोड़ा विशेष जाने थे, पश्चात् केवलज्ञान होने पर उनके सर्व विशेष जाने, **परन्तु मूलभूत जीवादिक के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ के पाया जाता है, वैसा ही केवली के पाया जाता है।** तथा यद्यपि केवली-सिद्धभगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीतिसहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं; **इसलिए सम्यक्त्वगुण में सप्त तत्त्वों ही का श्रद्धान ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते, संवर अवस्था को भी नहीं चाहते, सो यह इस श्रद्धान का बल जानना।**

फिर प्रश्न है कि सम्यग्दर्शन को तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्ष में इसका सद्भाव कैसे कहते हैं?

उत्तर - कोई कारण ऐसा भी होता है जो कार्य सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होता। जैसे, किसी वृक्ष की किसी एक शाखा से अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर, वह एक शाखा नष्ट नहीं होती; उसी प्रकार किसी आत्मा के सम्यक्त्वगुण से अनेक गुणयुक्त मुक्त-अवस्था हुई, उसके होने पर सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता; **इस प्रकार केवली-सिद्ध भगवान के भी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण ही सम्यक्त्व पाया जाता है; इसलिए वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।**

(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३२४)

फिर प्रश्न—मिथ्यादृष्टि के भी तत्त्वश्रद्धान होता है, ऐसा शास्त्र में निरूपण है।

प्रवचनसार में आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है; इसलिए सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहने पर उसमें अतिव्याप्ति दूषण लगता है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि के जो तत्त्वश्रद्धान कहा है, वह नामनिक्षेप से कहा है, जिसमें तत्त्वश्रद्धान गुण नहीं है और व्यवहार में जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहा जाए वह मिथ्यादृष्टि के होता है अथवा आगम द्रव्यनिक्षेप से होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास करता है; उनका स्वरूप निश्चय करने में उपयोग नहीं लगाता है, ऐसा जानना। **तथा यहाँ सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, सो भावनिक्षेप से कहा है। ऐसा गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टि के कदाचित् नहीं होता।** तथा आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, वहाँ भी वही अर्थ जानना। जिसके सच्चे **जीव-अजीवादिक का श्रद्धान हो, उसके आत्मज्ञान कैसे नहीं होगा ? होता ही होता है;** इस प्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टि के सच्चा तत्त्वश्रद्धान सर्वथा नहीं पाया जाता; इसलिए उस लक्षण में अतिव्याप्ति दूषण नहीं लगता।

तथा जो यह तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा, सो असम्भवी नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व का यह नहीं है, उसका लक्षण इससे विपरीततासहित है।

इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भविपने से रहित सर्व सम्यग्दृष्टियों में तो पाया जाए और किसी मिथ्यादृष्टि में न पाया जाए—**ऐसा सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण, तत्त्वार्थश्रद्धान है।** *(- मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ३२४ से ३२५)*

पञ्चाध्यायी, भाग २ में कहा है कि—

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नवपदान्येव तद्विकारादृते परम्॥१८३॥

अर्थ - इसलिए शुद्धतत्त्व, कुछ उन नव तत्त्वों से विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु **केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारों को छोड़कर, नवतत्त्व ही शुद्ध है।**

भावार्थ - इसलिए सिद्ध होता है कि केवल विकार की उपेक्षा करने से, **नवतत्त्व ही शुद्ध जीव है।** नवतत्त्वों से कुछ सर्वथा भिन्न, शुद्धत्व नहीं है।

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम्।
तत्तत्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि॥१८७॥

अर्थ - इसलिए सूत्र में तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन माना गया है और वे

तत्त्व भी जीवाजीवादिरूप से नौ है; अतः क्रमानुसार उन नौ पदार्थों का कथन करना चाहिए।

इसलिए इस शास्त्र के '**सूत्र में**' निश्चय सम्यग्दर्शन का ही लक्षण है; व्यवहार सम्यग्दर्शन का नहीं, ऐसा निश्चय करना।

दूसरे सूत्र का सिद्धान्त—संसारसमुद्र से रत्नत्रयरूपी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी) जहाज को पार करने के लिए, सम्यग्दर्शन चतुर नाविक है। जो जीव, सम्यग्दर्शन को प्रगट करता है, वह अनन्त सुख को पाता है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है, वह यदि पुण्य करे तो भी अनन्त दुःख भोगता है; इसलिए जीवों को वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए[१] **तत्त्व का स्वरूप यथार्थ समझकर, सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए।** तत्त्व का स्वरूप समझे बिना, किसी जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता जो जीव तत्त्व के स्वरूप को यथार्थतया समझता है, उसे समयग्दर्शन होता ही है[२] इन सात तत्त्वों में सारभूत तत्त्व त्रिकाली शुद्ध जीव है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। इसे यह सूत्र प्रतिपादित करता है॥२॥

निश्चयसम्यग्दर्शन के (उत्पत्ति की अपेक्षा से) भेद —

तन्निसर्गादधिगमाद्वा॥ ३॥

अर्थ - [**तत्**] वह सम्यग्दर्शन, [**निसर्गात्**] स्वभाव से [**वा**] अथवा [**अधिगमात्**] दूसरे के उपदेशादि से उत्पन्न होता है।

टीका - (१) उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—(१) निसर्गज, और (२) अधिगमज।

निसर्गज - जो दूसरे के उपदेशादि के बिना, स्वयमेव (पूर्व संस्कार से) उत्पन्न होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज - जो सम्यग्दर्शन, पर के उपदेशादि से उत्पन्न होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(१) जिस जीव के सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उस जीव ने उस समय अथवा पूर्व भव में सम्यग्ज्ञानी आत्मा से उपदेश सुना होता है। [उपदिष्टि तत्त्व का श्रवण, ग्रहण-धारण होना; विचार होना, उसे देशनालब्धि कहते हैं] उसके बिना किसी को सम्यग्दर्शन नहीं होता।

१. श्री समयसार, गाथा १७-१८। २. श्री समयसार, गाथा ११ तथा नियमसार, गाथा ५०।

इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह उपदेश, सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता है। जीव, सम्यग्दर्शन को स्वत: अपने में प्रगट करता है, ज्ञानी का उपदेश तो निमित्तमात्र है। अज्ञानी का उपदेश सुनकर कोई सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं कर सकता, यह नियम है और यदि सद्गुरु का उपदेश, सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता हो तो, जो-जो जीव उस उपदेश को सुनें, उन सबको सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। सद्गुरु के उपदेश से सम्यग्दर्शन हुआ है, यह कथन व्यवहारमात्र है, निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कथन है।

(३) अधिगम का स्वरूप इस अध्याय के छट्ठे सूत्र में दिया गया है। वहाँ बताया है कि 'प्रमाण और नय के द्वारा अधिगम होता है'। प्रमाण और नय का स्वरूप उस सूत्र की टीका में दिया है, वहाँ से ज्ञात करना चाहिए।

(४) तीसरे सूत्र का सिद्धान्त—जीव को अपनी भूल के कारण अनादिकाल से अपने स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रम बना हुआ है; इसलिए उस भ्रम को स्वयं दूर करने पर, सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जीव जब अपने सच्चे स्वरूप को समझने की जिज्ञासा करता है, तब उसे आत्मज्ञानीपुरुष के उपदेश का योग मिलता है। उस उपदेश को सुनकर जीव, अपने स्वरूप का यथार्थ निर्णय करे तो उसे सम्यक् -दर्शन होता है। किसी जीव को आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनने पर, तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और किसी को उसी भव में दीर्घकाल में अथवा दूसरे भव में उत्पन्न होता है। जिसे तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, वह '**अधिगमज सम्यग्दर्शन**' हुआ कहलाता है, और जिसे पूर्व के संस्कार से उत्पन्न होता है, वह '**निसर्गज**' सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है।

[कोई जीव, अपने आप शास्त्र पढ़कर या अज्ञानी का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर ले—ऐसा कभी नहीं हो सकता है। देशनालब्धि के विषय में सब प्रश्नों का सम्पूर्ण समाधानवाला लेख देखो—आत्मधर्म वर्ष छठवाँ अङ्क नं० ११-१२]

जैसे, वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करना हो तो वैद्यक के ज्ञानी गुरु की शिक्षा से वह प्राप्त किया जा सकता है; वैद्यक के अज्ञानी पुरुष से नहीं; उसी प्रकार आत्मज्ञानी गुरु के उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है; आत्मज्ञानहीन (अज्ञानी) गुरु के उपदेश से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए सच्चे सुख के इच्छुक जीवों को उपदेशक का चुनाव करने में सावधानी रखना आवश्यक है। जो उपदेशक का चुनाव करने में भूल करते हैं, वे सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकते—यह निश्चित समझना चाहिए॥३॥

तत्त्वों के नाम —

जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

अर्थ - [**जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः**] १ जीव, २ अजीव, ३ आस्त्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा, और ७ मोक्ष—ये सात [**तत्त्वम्**] तत्त्व हैं।

टीका - **१. जीव**—जीव, अर्थात् आत्मा। वह सदा ज्ञातास्वरूप, पर से भिन्न और त्रिकाल स्थायी है। जब वह पर-निमित्त के शुभ अवलम्बन में युक्त होता है, तब उसके शुभभाव (पुण्य) होता है, और जब अशुभावलम्बन में युक्त होता है, तब अशुभभाव (पाप) होता है और जब स्वावलम्बी होता है, तब शुद्धभाव (धर्म) होता है।

२. अजीव—जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है, ऐसे द्रव्य पाँच हैं। उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश, और काल, ये चार अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित) है। अजीव वस्तुएँ, आत्मा से भिन्न हैं तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरे से पृथक्-स्वतन्त्र हैं। पराश्रय के बिना जीव में विकार नहीं होता; परोन्मुख होने से जीव के पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकारी भाव होते हैं।

३. आस्त्रव—विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी अवस्था जीव में होती है, वह भावास्त्रव और नवीन कर्म-रजकणों का आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहना), सो द्रव्यास्त्रव है।

पुण्य-पाप दोनों, आस्त्रव और बन्ध के उपभेद हैं।

पुण्य—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, इत्यादि जो शुभभाव जीव के होते हैं, वे अरूपी विकारीभाव हैं; वह भावपुण्य है, और उसके निमित्त से जड़ परमाणुओं का समूह स्वयं (अपने ही कारण से स्वतः) एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध से जीव के साथ बँधता है, वह द्रव्यपुण्य है।

पाप—मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी, अव्रत इत्यादि जो अशुभभाव हैं, सो भाव-पाप है, और उसके निमित्त से, जड़ की शक्ति से जो परमाणुओं का समूह स्वयं बँधता है, वह द्रव्यपाप है।

परमार्थत—वास्तव में ये पुण्य-पाप, आत्मा का स्वरूप नहीं हैं; वह आत्मा की क्षणिक अवस्था में, पर के सम्बन्ध से होनेवाला विकार है।

४. बन्ध—आत्मा का अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव में रुक जाना, सो भाव-बन्ध है और उसके निमित्त से पुद्गल का स्वयं कर्मरूप बँधना सो द्रव्यबन्ध है।

५. संवर—पुण्य-पाप के विकारीभाव को (आस्रव को), आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना, सो भावसंवर है और तदनुसार नये कर्मों का आगमन रुक जाए, सो द्रव्यसंवर है।

६. निर्जरा—अखण्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभाव के लक्ष्य के बल से स्वरूप-स्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिकरूप से शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना, सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का अंशतः खिर जाना, सो द्रव्य -निर्जरा है।

७. मोक्ष—अशुद्ध अवस्था का सर्वथा-सम्पूर्ण नाश होकर, आत्मा की पूर्ण निर्मल -पवित्र दशा का प्रगट होना, सो भावमोक्ष है और निमित्तकारण द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश (अभाव) होना, सो द्रव्यमोक्ष है।

(२) सात तत्त्वों में से प्रथम दो तत्त्व - '**जीव**' और '**अजीव**' द्रव्य हैं, तथा शेष पाँच तत्त्व उनकी (जीव और अजीव की) संयोगी तथा वियोगी पर्यायें (विशेष अवस्थाएँ) हैं। आस्रव और बन्ध, संयोगी हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष, जीव-अजीव की वियोगी पर्यायें हैं। जीव और अजीवतत्त्व, **सामान्य** हैं तथा शेष पाँच तत्त्व, पर्याय होने से **विशेष** कहलाते हैं।

(३) जिसकी दशा को अशुद्ध में से शुद्ध करना है, उसका नाम तो प्रथम अवश्य दिखाना ही चाहिए; इसलिए '**जीव**' तत्त्व प्रथम कहा गया है; पश्चात् जिस ओर के लक्ष्य से अशुद्धता, अर्थात् विकार होता है, उसका नाम देना आवश्यक है; इसलिए '**अजीव**' तत्त्व कहा गया है। अशुद्धदशा के कारण-कार्य का ज्ञान कराने के लिए '**आस्रव**' और '**बन्ध**' तत्त्व कहे गए हैं, तत्पश्चात् मुक्ति का कारण कहना चाहिए और मुक्ति का कारण वही हो सकता है जो बन्ध और बन्ध के कारण से उल्टेरूप में हो; इसलिए आस्रव के निरोध होने को '**संवर**' तत्त्व कहा है। अशुद्धता-विकार के एकदेश दूर हो जाने के कार्य को '**निर्जरा**' तत्त्व कहा है। जीव के अत्यन्त शुद्ध हो जाने की दशा को '**मोक्ष**' तत्त्व कहा है। इन तत्त्वों को समझने की अत्यन्त आवश्यकता है, इसलिए वे कहे गए हैं। उन्हें समझने से जीव, मोक्षोपाय में युक्त हो सकता है। मात्र जीव-अजीव को जाननेवाला ज्ञान, मोक्षमार्ग के लिए कार्यकारी नहीं होता। इसलिए जो सच्चे सुख के मार्ग में प्रवेश करना चाहते हैं, उन्हें इन तत्त्वों को यथार्थतया जानना चाहिए। *(- तत्त्वार्थसार, सूत्र ६, पृष्ठ ७-८, सनातन ग्रन्थमाला १७)*

(४) सात तत्त्वों के होने पर भी इस सूत्र के अन्त में '**तत्त्वम्**' ऐसा एक वचन सूचक शब्द प्रयोग किया गया है, जो यह सूचित करता है कि इन सात तत्त्वों का ज्ञान करके, भेद पर से लक्ष्य हटाकर, जीव के त्रिकाल ज्ञायकभाव का आश्रय करने से, जीव शुद्धता प्रगट कर सकता है।

(५) चौथे सूत्र का सिद्धान्त—इस सूत्र में सात तत्त्व कहे गए हैं, उनमें से पुण्य और पाप का समावेश आस्रव और बन्ध तत्त्वों में हो जाता है। जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और दुःख का नाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है। जीव और अजीव के विशेष (भेद) बहुत से हैं, उनमें से जो विशेषों के साथ जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने पर, स्व-पर का श्रद्धान हो, उससे सुख उत्पन्न हो और जिसका अयथार्थ श्रद्धान करने पर, स्व-पर का श्रद्धान न हो, रागादिक को दूर करने का श्रद्धान न हो और उससे दुःख उत्पन्न हो; इन विशेषों से युक्त जीव-अजीव पदार्थ, प्रयोजनभूत समझने चाहिए। आस्रव और बन्ध, दुःख के कारण हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष, सुख के कारण हैं; इसलिए जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान करना आवश्यक है। इन सात तत्त्वों के श्रद्धान के बिना, शुद्धभाव प्रगट नहीं हो सकता। 'सम्यग्दर्शन' जीव के श्रद्धागुण की शुद्ध अवस्था है; इसलिए उस शुद्धभाव को प्रगट करने के लिए सात तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान अनिवार्य है। जो जीव, इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करता है, वही अपने जीव, अर्थात् शुद्धात्मा को जानकर, उस ओर अपना पुरुषार्थ लगाकर, सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। इन सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वों के अतिरिक्त, अन्य कोई 'तत्त्व' नहीं है—ऐसा समझना चाहिए॥ ५ ॥ *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ४, पृष्ठ ७९)*

निश्चयसम्यग्दर्शनादि शब्दों के अर्थ समझने की रीति -

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

अर्थ—[**नामस्थापनाद्रव्यभावतः**] नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव से [**तत् न्यासः**] उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादि का लोकव्यवहार होता है।

टीका - (१) वक्ता के मुख से निकले हुए शब्द की अपेक्षा को लेकर भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं; उन अर्थों में व्यभिचार (दोष) न आए और सच्चा अर्थ कैसे हो, यह बताने के लिए यह सूत्र कहा है।

(२) इन अर्थों के सामान्य चार प्रकार किए गए हैं। पदार्थों के भेद को न्यास अथवा

निक्षेप कहा जाता है। [प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित हुए लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।] ज्ञेयपदार्थ अखण्ड है, तथापि उसे जानने पर, ज्ञेयपदार्थ के जो भेद (अंश; पहलू) किए जाते हैं, उसे **निक्षेप** कहते हैं और उस अंश को जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। निक्षेप, नय का विषय है और नय, निक्षेप का विषयी (विषय करनेवाला) है।

(३) निक्षेप के भेदों की व्याख्या —नामनिक्षेप—गुण, जाति या क्रिया की अपेक्षा किए बिना, किसी का यथेच्छ नाम रख लेना, सो नाम निक्षेप है; जैसे, किसी का नाम 'जिनदत्त' रखा, किन्तु वह जिनदेव के द्वारा दिया हुआ नहीं है तथापि लोकव्यवहार (पहचानने) के लिए उसका 'जिनदत्त' नाम रखा गया है। एकमात्र वस्तु की पहिचान के लिए उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है, उसे नाम निक्षेप कहते हैं।

स्थापनानिक्षेप—किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तु का, किसी दूसरी उपस्थित वस्तु में **सम्बन्ध** या **मनोभावना को** जोड़कर आरोप कर देना कि 'यह वही है' सो ऐसी भावना को **स्थापना** कहा जाता है। जहाँ ऐसा आरोप होता है, वहाँ जीवों के ऐसी मनोभावना होने लगती है कि 'यह वही' है।

स्थापना दो प्रकार की होती है - **तदाकार** और **अतदाकार**। जिस पदार्थ का जैसा आकार हो, वैसा आकार उसकी स्थापना में करना, सो 'तदाकारस्थापना' है और चाहे जैसा आकार कर लेना, सो '**अतदाकारस्थापना**' है। सदृशता को स्थापना निक्षेप का कारण नहीं मान लेना चाहिए, **उसका कारण तो केवल मनोभावना** ही है। जनसमुदाय की यह मानसिक भावना जहाँ होती है, वहाँ स्थापनानिक्षेप समझना चाहिए। वीतराग प्रतिमा को देखकर, बहुत से जीवों के भगवान और उनकी वीतरागता की मनोभावना होती है; इसलिए वह स्थापना निक्षेप है।*

द्रव्यनिक्षेप—भूत और भविष्यत् पर्याय की मुख्यता को लेकर, उसे वर्तमान में कहना-जानना, सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे श्रेणिक राजा, भविष्य में तीर्थङ्कर होंगे, उन्हें वर्तमान में तीर्थङ्कर कहना-जानना, और भूतकाल में हो गए भगवान महावीरादि तीर्थङ्करों को, वर्तमान तीर्थङ्कर मानकर स्तुति करना, सो द्रव्यनिक्षेप है।

भावनिक्षेप—केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से जो पदार्थ वर्तमान जिस दशा में

* **नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप में यह अन्तर है कि नामनिक्षेप में पूज्य-अपूज्य का व्यवहार नहीं होता और स्थापना निक्षेप में यह व्यवहार होता है।**

है, उसे उस रूप कहना-जानना सो भावनिक्षेप है; जैसे, सीमन्धर भगवान वर्तमान तीर्थङ्कर के रूप में महाविदेह में विराजमान हैं, उन्हें तीर्थङ्कर कहना-जानना, और भगवान महावीर वर्तमान में सिद्ध हैं, उन्हें सिद्ध कहना-जानना सो भावनिक्षेप है।

(४) जहाँ 'सम्यग्दर्शनादि' या 'जीवाजीवादि' शब्दों का प्रयोग किया गया हो, वहाँ कौन सा निक्षेप लागू होता है, सो निश्चय करके जीव को सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिए। सूत्र १ में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि' तथा 'मोक्षमार्गः', यह शब्द तथा सूत्र २ में सम्यग्दर्शन, यह शब्द भावनिक्षेप से कहा - ऐसा समझना चाहिए।

(५) स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेप में भेद — "In Sthapana the connotation is merely attributed. It is never there. It can not be there. In Dravya it will be there or has been there. The common factor between the two is that it is not there now, and to that extent connotation is ficitious in both." ***(English Tatvarth Sutram, Page-11)***

अर्थ—स्थापनानिक्षेप में—बतानामात्र आरोपित है; उसमें वह (मूल वस्तु) कदापि नहीं है, वह वहाँ कदापि नहीं हो सकती और **द्रव्यनिक्षेप में** वह (मूल वस्तु), भविष्य में प्रगट होगी अथवा भूतकाल में थी। दोनों के बीच सामान्तया इतनी है कि वर्तमान-काल में विद्यमान नहीं है और उतने अंश में दोनों में ..... है। *(- तत्त्वार्थसूत्र अंग्रेजी टीका, पृष्ठ ११)*

(६) पाँचवें सूत्र का सिद्धान्त— भगवान के नाम निक्षेप और स्थापनानिक्षेप, शुभभाव के **निर्मित** हैं; इसलिए व्यवहार हैं। द्रव्यनिक्षेप निश्चयपूर्वक व्यवहार होने से, अपनी शुद्धपर्याय थोड़े समय के पश्चात् प्रगट होगी, यह सूचित करता है। भावनिक्षेप निश्चयपूर्वक अपनी शुद्धपर्याय होने से धर्म है, ऐसा समझना चाहिए। निश्चय और व्यवहारनय का स्पष्टीकरण, इसके बाद के सूत्र की टीका में किया है॥५॥

निश्चयसम्यग्दर्शनादि का उपाय —

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वों का [**अधिगमः**] ज्ञान, [**प्रमाणनयैः**] प्रमाण और नयों से होता है।

टीका - **(१) प्रमाण**—सच्चे ज्ञान को—निर्दोष ज्ञान को, अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अनन्त गुणों या धर्म का समुदायरूप अपना तथा परवस्तु का स्वरूप, प्रमाण

द्वारा जाना जाता है। प्रमाण, वस्तु के सर्वदेश को (सर्व पहलुओं को) ग्रहण करता है, जानता है।

नय—प्रमाण द्वारा निश्चित हुई वस्तु के एकदेश को जो ज्ञान ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं। जो प्रमाण द्वारा निश्चित हुए अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अङ्ग का ज्ञान मुख्यता से कराता है, सो नय है। वस्तुओं में अनन्त धर्म हैं; इसलिए उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं और इसलिए अवयव के ज्ञानरूप नय भी अनन्त तक हो सकते हैं। श्रुतप्रमाण के विकल्प, भेद या अंश को नय कहते हैं। श्रुतज्ञान में ही नयरूप अंश होता है। जो नय है, वह **प्रमाणसापेक्षरूप** होता है। (मति, अवधि, मन:पर्यय, और केवलज्ञान में नय के भेद नहीं होते।)

(2) "Right belife is not identical with blind faith, It's authority is neither external nor autocratic. It is resoned knowledge. It is a sort of a sight of a thing. You can not doubt it's testimony. So long as there is doubt, there is no right belief. But doubt must not be suppressed, it must be destroyed. Things have not to be taken on trust. They must be tested and tried by every one himself. This sutra lays down the mode in which it can be done. It refers the inquirer to the first laws of thought and to the universal principles as all reasoning, that is to logic under the names of Praman and Naya. ***(- English Tatvarth Sutram, page 15)***

अर्थ - सम्यग्दर्शन, अन्धश्रद्धान के साथ एकरूप नहीं, उसका अधिकार आत्मा के बाहर या स्वच्छन्दी नहीं है; वह युक्तिपुरस्सर ज्ञानसहित होता है; उसका प्रकार वस्तु के दर्शन (देखने) के समान है। आप उसके साक्षीपने की शङ्का नहीं कर सकते। जहाँ तक (स्वस्वरूप की) शङ्का है, वहाँ तक सच्ची मान्यता नहीं है। उस शङ्का को दबाना नहीं चाहिए, किन्तु उसका नाश करना चाहिए। [किसी के] भरोसे पर वस्तु का ग्रहण नहीं किया जाता। प्रत्येक को स्वयं स्वत: उसकी परीक्षा करके, उसके लिए यत्न करना चाहिए। वह कैसे हो सकता है, सो यह सूत्र बतलाता है। विचारकता के प्राथमिक नियम तथा समस्त युक्तिमान विश्व के सिद्धान्तों को प्रमाण और नय का नाम देकर, उसका आश्रय लेने के लिए सत्यशोधक को यह सूत्र सूचित करता है। *[अंग्रेजी तत्त्वार्थसूत्र पृष्ठ १५]*

(३) युक्ति—प्रमाण और नय को युक्ति कहते हैं। सत्शास्त्र का ज्ञान, आगमज्ञान है। आगम में वर्णित तत्त्वों की यथार्थता युक्ति द्वारा निश्चित किए बिना, तत्त्वों के भावों का यथार्थ भास नहीं होता; इसलिए यहाँ युक्ति द्वारा निर्णय करने को कहा है।

(४) अनेकान्त-एकान्त —जैन शास्त्रों में अनेकान्त और एकान्त शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया गया है; इसलिए उनका संक्षिप्त स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

अनेकान्त = [अनेक + अन्त] अनेक धर्म।

एकान्त = [एक + अन्त] एक धर्म।

अनेकान्त और एकान्त, दोनों के दो-दो भेद हैं। अनेकान्त के दो भेद, सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त तथा एकान्त के दो भेद, सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त हैं। इनमें से सम्यक्-अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या-अनेकान्त प्रमाणाभास; तथा सम्यक्-एकान्त नय हैं और मिथ्या-एकान्त नयाभास है।

(५) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्त का स्वरूप —प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगमप्रमाण से अविरुद्ध एक वस्तु में जो अनेक धर्म हैं, उन्हें निरूपण करने में जो तत्पर है, सो सम्यक्-अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु निजरूप से है और पर रूप से नहीं। आत्मा, स्व-स्वरूप से है, पर-स्वरूप से नहीं; पर उसके स्वरूप से है और आत्मा के स्वरूप से नहीं — इस प्रकार जानना सो सम्यक्-अनेकान्त है और जो तत्-अतत् स्वभाव की मिथ्या कल्पना की जाती है, सो मिथ्या अनेकान्त है। जीव अपना कुछ कर सकता है और दूसरे जीवों का भी कर सकता है - इसमें जीव का निज से और पर से - दोनों से तत्पना हुआ; इसलिए वह मिथ्या-अनेकान्त है।

(६) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्त के दृष्टान्त —१- आत्मा, निजरूप से है और पररूप से नहीं, ऐसा जानना सो सम्यक्-अनेकान्त है। आत्मा, निजरूप से है और पररूप से भी है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

२- आत्मा, अपना कुछ कर सकता है, शरीरादि पर वस्तुओं का नहीं कर सकता - ऐसा जानना सो सम्यक्-अनेकान्त है। आत्मा, अपना कर सकता है और शरीरादि पर का भी कर सकता है, ऐसा जानना सो मिथ्या-अनेकान्त है।

३- आत्मा के शुद्धभाव से धर्म होता है और शुभभाव से नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक्-अनेकान्त है। आत्मा के शुद्धभाव से धर्म होता है और शुभभाव से भी होता है, ऐसा जानना सो मिथ्या-अनेकान्त है।

४- निश्चयस्वरूप के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से नहीं होता,

ऐसा जानना सो सम्यक्-अनेकान्त है। निश्चयस्वरूप के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से भी होता है, ऐसा समझना, सो मिथ्या-अनेकान्त है।

५- निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करने के बाद स्वावलम्बन के बल से जितना अंश व्यवहार का (- पराश्रय का) अभाव होता है, उतना अंश निश्चय (-शुद्धपर्याय) प्रगट होता है, ऐसा समझना, सो सम्यक् अनेकान्त है। व्यवहार के करते-करते निश्चय प्रगट हो जाता है, ऐसा समझना, सो मिथ्या अनेकान्त है।

६- आत्मा को अपनी शुद्ध क्रिया से लाभ होता है और शारीरिक क्रिया से हानि-लाभ नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक्-अनेकान्त है। आत्मा को अपनी शुद्ध क्रिया से लाभ होता है और शारीरिक क्रिया से भी लाभ होता है, ऐसा मानना सो मिथ्या-अनेकान्त है।

७- एक (प्रत्येक) वस्तु में सदा स्वतन्त्र वस्तुत्त्व को सिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरोधी शक्तियों [सत्-असत्; तत्-अतत्; नित्य-अनित्य; एक-अनेक इत्यादि] को प्रकाशित करे, सो सम्यक्-अनेकान्त है।

एक वस्तु में दूसरी वस्तु की शक्ति को प्रकाशित करके, एक वस्तु, दो वस्तुओं का कार्य करती है - ऐसा मानना सो मिथ्या-अनेकान्त है; अथवा सम्यक्-अनेकान्त से वस्तु का जो स्वरूप निश्चित है, उससे विपरीत वस्तुस्वरूप की कल्पना करके, जो उसमें न हो, वैसे स्वभावों की कल्पना करना सो मिथ्या-अनेकान्त है।

८- जीव अपने भाव कर सकता है और पर वस्तु का कुछ नहीं कर सकता - ऐसा मानना सो सम्यक्-अनेकान्त है।

९- जीव, सूक्ष्म पुद्गलों का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल पुद्गलों का कर सकता है - ऐसा जानना सो मिथ्या-अनेकान्त है।

(७) सम्यक् और मिथ्या एकान्त का स्वरूप —निजस्वरूप से अस्तिरूपता और पररूप से नास्तिरूपता-आदि वस्तु का जो स्वरूप है, उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाण के द्वारा ज्ञात पदार्थ के एकदेश को (एक पहलू को) विषय करनेवाला नय, सम्यक्-एकान्त है और किसी वस्तु के एक धर्म का निश्चय करके, उस वस्तु में रहनेवाले अन्य धर्मों का निषेध करना सो मिथ्या-एकान्त है।

(८) सम्यक् और मिथ्या एकान्त के दृष्टान्त —१- 'सिद्ध भगवन्त एकान्त सुखी

हैं'–ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि 'सिद्ध जीवों को बिलकुल दु:ख नहीं है' यह बात गर्भितरूप से उसमें आ जाती है; और सर्व जीव एकान्त सुखी हैं – ऐसा जानना सो मिथ्या–एकान्त है, क्योंकि अज्ञानी जीव वर्तमान में दु:खी हैं, उसका निषेध होता है।

२– 'एकान्त बोधबीजरूप जीव का स्वभाव है'—ऐसा जानना सो सम्यक्–एकान्त है, क्योंकि छद्मस्थ जीव की वर्तमान ज्ञानावस्था पूर्ण विकासरूप नहीं है, यह उसमें गर्भितरूप से आ जाता है।

३– 'सम्यग्ज्ञान, धर्म है'—ऐसा जानना सो सम्यक्–एकान्त है, क्योंकि 'सम्यग्ज्ञान –पूर्वक वैराग्य होता है' – यह गर्भितरूप से उसमें आ जाता है। सम्यग्ज्ञानरहित 'त्यागमात्र, धर्म है' – ऐसा जानना सो मिथ्या–एकान्त है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञानरहित होने से मिथ्या त्याग है।

(९) प्रमाण के प्रकार— परोक्ष – जो उपात्त[१] और अनुपात्त[२] पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते, वह परोक्ष (प्रमाणज्ञान) है।

प्रत्यक्ष – जो केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चिततया प्रवृत्ति करे, सो प्रत्यक्ष है।

प्रमाण, सच्चा ज्ञान है, उसके पाँच भेद हैं – मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, और केवलज्ञान। इनमें से मति और श्रुत मुख्यतया परोक्ष हैं; अवधि और मन:पर्यय विकल (–आंशिक एकदेश) प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

(१०) नय के प्रकार —नय, दो प्रकार के हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें से जो द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यतया अनुभव करावे, सो द्रव्यार्थिकनय है और जो पर्याय का मुख्यतया अनुभव कराए, सो पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय क्या है ? गुणार्थिकनय क्यों नहीं ?

शास्त्रों में अनेक स्थलों पर द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का उल्लेख मिलता है, किन्तु कहीं भी 'गुणार्थिकनय' का प्रयोग नहीं किया गया है; इसका क्या कारण है ? सो कहते हैं —

तर्क – १ — द्रव्यार्थिकनय के कहने से उसका विषय गुण, और पर्यायार्थिकनय के

१. उपात्त = प्राप्त (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं।)

२. अनुपात्त = अप्राप्त (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं।)

कहने से उसका विषय, पर्याय, तथा दोनों एकत्रित होकर जो प्रमाण का विषय द्रव्य है, सो सामान्य विशेषात्मक द्रव्य है; इस प्रकार मानकर गुणार्थिकनय का प्रयोग नहीं किया है— यदि कोई ऐसा कहे तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अकेले गुण, द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं है।

तर्क - २ — द्रव्यार्थिकनय का विषय, द्रव्य और पर्यायार्थिकनय का विषय, पर्याय हैं; तथा पर्याय, गुण का अंश होने से पर्याय में गुण आ गए, यह मानकर गुणार्थिकनय का प्रयोग नहीं किया है; यदि इस प्रकार कोई कहे तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि पर्याय में सम्पूर्ण गुणों का समावेश नहीं हो जाता।

गुणार्थिकनय का प्रयोग न करने का वास्तविक कारण — शास्त्रों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - दो नयों का ही प्रयोग किया जाता है। उन दोनों नयों का वास्तविक स्वरूप क्या है—

पर्यायार्थिकनय का विषय, जीव की अपेक्षित बन्ध-मोक्ष की पर्याय है और उस (बन्ध-मोक्ष की अपेक्षा) से रहित त्रैकालिक शक्तिरूप गुणों से अभेद त्रैकालिक जीवद्रव्य सामान्य, वही द्रव्यार्थिकनय का विषय है - इस अर्थ में शास्त्रों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय का प्रयोग किया गया है; इसलिए गुणार्थिकनय की आवश्यकता नहीं रहती। जीव के अतिरिक्त, पाँच द्रव्यों के त्रैकालिक ध्रुवस्वरूप में उसके गुणों का भी समावेश हो जाता है; इसलिए पृथक् गुणार्थिकनय की आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रों में द्रव्यार्थिकनय का प्रयोग होता है, इसमें गम्भीर रहस्य है। द्रव्यार्थिकनय का विषय त्रैकालिक द्रव्य है, और पर्यायार्थिकनय का विषय क्षणिक पर्याय है। द्रव्यार्थिकनय के विषय में पृथक् गुण नहीं हैं, क्योंकि गुण को पृथक् करके लक्ष्य में लेने पर विकल्प उठता है, और गुणभेद तथा विकल्प, पर्यायार्थिकनय का विषय है।[१]

(११) द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय के दूसरे नाम —

द्रव्यार्थिकनय को - निश्चय, शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतन्त्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद और स्वलक्ष्यीनय कहा जाता है।

पर्यायार्थिकनय को - व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी,

१. नय का विशेष स्वरूप जानना हो तो प्रवचनसार के अन्त में दिये गये ४७ नयों का अभ्यास करना चाहिए।

पराश्रित, परतन्त्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद और परलक्ष्यीनय कहा जाता है।

(१२) सम्यग्दृष्टि के दूसरे नाम — सम्यग्दृष्टि को द्रव्यदृष्टि, शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि और अन्तरात्मा आदि नाम दिए गए हैं।

(१३) मिथ्यादृष्टि के दूसरे नाम — मिथ्यादृष्टि को पर्यायबुद्धि, संयोगीबुद्धि, पर्यायमूढ़, व्यवहारदृष्टि, व्यवहारमूढ़, संसारदृष्टि, परावलम्बीबुद्धि, पराश्रितदृष्टि और बहिरात्मा आदि नाम दिए गए हैं।

(१४) ज्ञान दोनों नयों का करना चाहिए, किन्तु उसमें परमार्थतः आदरणीय निश्चयनय है - ऐसी श्रद्धा करना चाहिए।

व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य अथवा उसके भावों को या कारण-कार्यादि को किसी का किसी में मिलाकर निरूपण करता है; इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, अतः उसका त्याग करना चाहिए।

निश्चयनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को अथवा उसके भावों को या कारण-कार्यादि को यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता; इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; अतः उसका श्रद्धान करना चाहिए। इन दोनों नयों को समकक्षी (-समान कोटि का) मानना, सो मिथ्यात्व है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५१)*

(१५) व्यवहार और निश्चय का फल — वीतरागकथित व्यवहार, अशुभ से बचाकर जीव को शुभभाव में ले जाता है; उसका दृष्टान्त मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि हैं। वे भगवान के द्वारा कथित व्रतादि का निरतिचार पालन करते हैं; इसलिए शुभभाव के कारण नववें ग्रैवेयक तक जाते हैं, किन्तु उनका संसार बना रहता है और भगवान के द्वारा कथित निश्चय, शुभ और अशुभ दोनों से बचाकर जीव को शुद्धभाव में-मोक्ष में ले जाता है, उसका दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि है, जो कि नियमतः मोक्ष प्राप्त करता है।

(१६) शास्त्रों में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

जैन शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति - जैन शास्त्रों में वस्तु का स्वरूप समझाने के दो प्रकार है - निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय, अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूप में जैसी हो, उसी प्रकार कहना; इसलिए निश्चयनय की मुख्यता से जहाँ कथन हो, वहाँ उसे तो '**सत्यार्थ ऐसा ही है**' ऐसा जानना चाहिए; और —

(२) व्यवहारनय, अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूप से वैसी न हो, किन्तु परवस्तु के साथ का सम्बन्ध बतलाने के लिए कथन हो; जैसे - 'घी का घड़ा!' यद्यपि घड़ा, घी का नहीं किन्तु मिट्टी का है, तथापि घी और घड़ा दोनों एक साथ हैं, यह बात बताने के लिए उसे 'घी का घड़ा' कहा जाता है। इस प्रकार जहाँ व्यवहार से कथन हो, वहाँ यह समझना चाहिए कि '**वास्तव में तो ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि बतलाने के लिए उपचार से वैसा कथन है।**'

दोनों नयों के कथन को सत्यार्थ जानना, अर्थात् 'इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है'—ऐसा मानना सो भ्रम है; इसलिए निश्चयकथन को सत्यार्थ जानना चाहिए; व्यवहारकथन को नहीं; प्रत्युत यह समझना चाहिए कि वह निमित्तादि को बतानेवाला उपचार कथन है।

इस प्रकार दोनों नयों के कथन का अर्थ करना, सो दोनों नयों का ग्रहण है। दोनों को समकक्ष अथवा आदरणीय मानना सो भ्रम है। सत्यार्थ को ही आदरणीय मानना चाहिए।

[नय = श्रुतज्ञान का एक पहलू; निमित्त = विद्यमान अनुकूल परवस्तु]

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५१ के आधार से)

(१७) निश्चयाभासी का स्वरूप — जो जीव, आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप को स्वीकार करे, किन्तु यह स्वीकार न करे कि अपनी भूल के कारण निज की वर्तमान पर्याय में विकार हैं, वह निश्चयाभासी है, उसे शुष्कज्ञानी भी कहते हैं।

(१८) व्यवहाराभासी का स्वरूप — प्रथम व्यवहार चाहिए, व्यवहार करते-करते निश्चय (धर्म) होता है, ऐसा मानकर शुभराग करता है, परन्तु अपना त्रैकालिक ध्रुव (ज्ञायकमात्र) स्वभाव नहीं मानता और न अन्तर्मुख होता है, ऐसे जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा सप्त तत्त्वों की व्यवहार-श्रद्धा है तो भी अनादि की निमित्त तथा व्यवहार (भेद-पराश्रय) की रुचि नहीं छोड़ता और सप्त तत्त्व की निश्चय श्रद्धा नहीं करता; इसलिए वह व्यवहाराभासी है, उसे 'क्रियाजड़' भी कहते हैं और जो यह मानता है कि शारीरिक क्रिया से धर्म होता है, वह व्यवहाराभास से भी अति दूर है।

(१९) नय के दो प्रकार —नय, दो प्रकार के हैं - 'रागसहित और रागरहित।' आगम का प्रथम अभ्यास करने पर नयों का जो ज्ञान होता है, वह 'रागसहित' नय है। वहाँ यदि जीव यह माने कि उस राग के होने पर भी **राग से धर्म नहीं होता** तो वह नय का ज्ञान सच्चा है, किन्तु यदि यह माने कि राग से धर्म होता है, तो वह ज्ञान नयाभास है। दोनों नयों

का यथार्थ ज्ञान करने के बाद, अपनी पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर लक्ष्य करे, स्वसन्मुख हो, तब सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट होते हैं; इसलिए वह नय, रागरहित नय है, उसे 'शुद्धनय का आश्रय अथवा शुद्धनय का अवलम्बन' भी कहा जाता है; उस दशा को 'नयातिक्रान्त' भी कहते हैं। उसी को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और उसी को 'आत्मानुभव' भी कहते हैं।

(२०) प्रमाणसप्तभङ्गी-नयसप्तभङ्गी — सप्तभङ्गी के दो प्रकार हैं। सप्तभङ्ग का स्वरूप चौथे अध्याय के उपसंहार में दिया गया है, वहाँ से समझ लेना चाहिए। दो प्रकार की सप्तभङ्गी में से जिस सप्तभङ्गी से एक गुण या पर्याय के द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य जाना जाए, वह 'प्रमाण सप्तभङ्गी' है और जिस सप्तभङ्गी से कथित गुण अथवा पर्याय के द्वारा, उस गुण अथवा पर्याय का ज्ञान हो, वह 'नय-सप्तभङ्गी' है। इस सप्तभङ्गी का ज्ञान होने पर, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है और एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता - ऐसा निश्चय होने से, अनादिकालीन विपरीत मान्यता टल जाती है।

(२१) वीतरागी-विज्ञान का निरूपण — जैन शास्त्रों में अनेकान्तरूप यथार्थ जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा सच्चा (निश्चय) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बताया है; इसलिए यदि जीव उसकी पहिचान कर ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें वीतरागभाव की पुष्टि का ही प्रयोजन है, रागभाव (पुण्य-पापभाव) की पुष्टि का प्रयोजन नहीं है; इसलिए जो ऐसा मानते हैं कि राग से-पुण्य से धर्म होता है, वे जैन शास्त्रों के मर्म को नहीं जानते।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२४)

(२२) मिथ्यादृष्टि के नय — जो मनुष्य, शरीर को अपना मानता है और ऐसा मानता हे कि मैं मनुष्य हूँ, जो शरीर है, वह मैं हूँ अथवा शरीर मेरा है, अर्थात् जीव, शरीर का कोई कार्य कर सकता है - ऐसा माननेवाला जीव, आत्मा और अनन्त रजकणों को एकरूप मानने के कारण (अर्थात्, अनन्त के मिलाप को, एक मानने के कारण) मिथ्यादृष्टि है और उसका ज्ञान भी यथार्थ में कुनय है। ऐसी मान्यतापूर्वक प्रवर्तना कि मैं मनुष्य हूँ, यह उसका (मिथ्यादृष्टि का) व्यवहार है; इसलिए वह व्यवहार, कुनय है; वास्तव में तो उस व्यवहार को निश्चय मानता है। जैसे 'जो शरीर है सो मैं हूँ' इस दृष्टान्त में शरीर पर है, वह जीव के साथ मात्र एक क्षेत्रावगाही है तथापि उसको अपना रूप माना; इसलिए उसने व्यवहार को निश्चय समझा। वह ऐसा भी मानता है कि 'जो मैं हूँ, सो शरीर है', इसलिए

उसने निश्चय को व्यवहार माना है। जो ऐसा मानना है कि पर द्रव्यों का मैं कुछ कर सकता हूँ और पर, अपने को लाभ-नुकसान कर सकता है, वह मिथ्यादृष्टि है -एकान्ती है।

(२३) सम्यग्दृष्टि के नय — समस्त सम्यक्विद्या के मूलरूप अपने भगवान आत्मा के स्वभाव को प्राप्त होना, आत्मस्वभाव की भावना में जुटना और स्वद्रव्य में एकता के बल से आत्मस्वभाव में स्थिरता बढ़ाना, सो सम्यक् अनेकान्तदृष्टि है। सम्यक्दृष्टि जीव, अपने एकरूप-ध्रुव स्वभावरूप आत्मा का आश्रय करता है, यह उसका निश्चय-सुनय है और अचलित चैतन्य विलासरूप जो **आत्मव्यवहार** (शुद्ध पर्याय) प्रगट होता है, सो उसका व्यवहार सुनय है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा ९४ टीका)*

(२४) नीति का स्वरूप — प्रत्येक वस्तु, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से है और परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से वह वस्तु नहीं है; इसलिए प्रत्येक वस्तु अपना ही कार्य कर सकती है, ऐसा जानना सो यथार्थ नीति है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया अनेकान्त स्वरूप तथा प्रमाण और निश्चय व्यवहाररूप नय ही यथार्थ नीति है। जो सत्पुरुष, अनेकान्त के साथ सुसङ्गत (समीचीन) दृष्टि के द्वारा, अनेकान्तमय वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त कर-जानकर **जिननीति को,** अर्थात् जिनेश्वरदेव के मार्ग को-न्याय को उल्लंघन न करते हुए ज्ञानस्वरूप होते हैं।

नोट — (१) अनेकान्त को समझाने की रीति को स्याद्वाद कहा है। (२) सम्यक् अनेकान्त को प्रमाण कहा जाता है, यह संक्षिप्त कथन है। वास्तव में जो सम्यक् अनेकान्त का ज्ञान है, सो प्रमाण है, उसी प्रकार सम्यक् एकान्त को नय कहते हैं, वास्तव में जो सम्यक् एकान्त का ज्ञान है, सो नय है।

(२५) निश्चय और व्यवहार का दूसरा अर्थ — अपना द्रव्य और अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय बताने के लिए भी निश्चय प्रयुक्त होता है; जैसे सर्व जीव, द्रव्य अपेक्षा से सिद्ध परमात्मा के समान हैं। आत्मा की सिद्धपर्याय को निश्चयपर्याय कहते हैं और आत्मा में होनेवाले विकारीभाव को निश्चयबन्ध कहा जाता है।

स्व-द्रव्य या पर्याय को जब निश्चय कहा जाता है, तब आत्मा के साथ पर द्रव्य का जो सम्बन्ध होता है, उसे आत्मा का कहते हैं, यही व्यवहार है-उपचार कथन है; जैसे, जड़कर्म को आत्मा का कहना व्यवहार है। जड़कर्म, परद्रव्य की अवस्था है; आत्मा की अवस्था नहीं है, तथापि उन जड़कर्मों को आत्मा का कहते हैं। यह कथन निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए है; अतः व्यवहारनय है - उपचारकथन हैं।

इस अध्याय के ३३ वें सूत्र में दिए गए सात नय, आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्य में लागू होते हैं; इसलिए उन्हें आगम शास्त्र में निश्चयनय के विभाग के रूप में माना जाता है। इन सात नयों में से पहले तीन, द्रव्यार्थिकनय के विभाग हैं और बाद के चार, पर्यायार्थिकनय के विभाग हैं, किन्तु वे सात नय भेद हैं; इसलिए और उनके आश्रय से राग होता है और वे राग दूर करने योग्य हैं; इसलिए अध्यात्म-शास्त्रों में उन सबको व्यवहारनय के उप-विभाग के रूप में माना जाता है।

आत्मा का स्वरूप समझने के लिये नय-विभाग — शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से आत्मा, त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप है - यहाँ (त्रिकाल शुद्ध कहने में) वर्तमान विकारी पर्याय गौण की गयी है। यह विकारी पर्याय, क्षणिक अवस्था होने से पर्यायार्थिकनय का विषय है और जब वह विकारीदशा, आत्मा में होती है, ऐसा बतलाना हो, तब वह विकारी पर्याय, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय होती है, और जब ऐसा बतलाना हो कि यह पर्याय, परद्रव्य के संयोग से होती है, तब वह विकारी पर्याय, व्यवहारनय का विषय होती है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि जहाँ आत्मा की अपूर्ण पर्याय भी व्यवहार का विषय है, वहाँ व्यवहार का अर्थ भेद होता है।

निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय भिन्न-भिन्न अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं—

ऐसा ज्ञान करना कि रत्नत्रय, जीव से अभिन्न है सो अभेद प्रधान द्रव्यार्थिनय का स्वरूप है। इसी प्रकार रत्नत्रय, जीव से भिन्न है, ऐसा ज्ञान करना सो भेद प्रधान पर्यायार्थिकनय का स्वरूप है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा १८१ जयसेनाचार्य टीका)*

रत्नत्रय में अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना, सो निश्चयनय से मोक्षमार्ग है तथा भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना, सो व्यवहारनय से मोक्षमार्ग है।

निश्चयरत्नत्रय के समर्थन करने का यह मतलब है कि जो भेद-प्रवृत्ति है, सो व्यवहार रत्नत्रय है और जो अभेद-प्रवृत्ति है, सो निश्चय रत्नत्रय है।

(२६) छट्ठे सूत्र का सिद्धान्त —हे जीव! पहले यह निश्चय कर कि तुझे धर्म करना है या नहीं! यदि धर्म करना हो तो पर के आश्रय से मेरा धर्म नहीं है, ऐसी श्रद्धा के द्वारा पराश्रित अभिप्राय को दूर कर; पर से जो अपने में होना माना है, उस मान्यता को यथार्थ प्रतीति के द्वारा जला दे!

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जिस प्रकार सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वों को जानकर, उनमें से शुद्धनय के विषयरूप जीव का ही आश्रय करना भूतार्थ है; उसी प्रकार अधिगम के उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेपों को जानकर, उनमें से शुद्धनय के विषयरूप जीव का ही आश्रय करना भूतार्थ है और यही सम्यग्दर्शन है॥ ६॥

निश्चयसम्यग्दर्शनादि जानने के अमुख्य (अप्रधान) उपाय —

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः॥ ७॥

अर्थ - [**निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति विधानतः**] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक तत्त्वों का अधिगम होता है।

टीका - **१. निर्देशः** - वस्तुस्वरूप के कथन को निर्देश कहते हैं।

२. स्वामित्वः - वस्तु के अधिकारीपन को स्वामित्व कहते हैं।

३. साधनः - वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं।

४. अधिकरणः - वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

५. स्थितिः - वस्तु के काल की मर्यादा को स्थिति कहते हैं।

६. विधानः - वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं।

उपरोक्त ६ प्रकार से सम्यग्दर्शन का वर्णन निम्न प्रकार किया जाता है —

१. निर्देशः - जीवादि सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धापूर्वक, निज शुद्धात्मा का प्रतिभास विश्वास-प्रतीति को निर्देश कहते हैं।

२. स्वामित्वः - चारों गति के संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव स्वामी होते हैं।

३. साधनः - साधन के दो भेद हैं—अन्तरङ्ग और बाह्य। अन्तरङ्ग साधन (अन्तरङ्ग कारण) तो स्व शुद्धात्मा के त्रिकाली ज्ञायकभाव (पारिणामिकभाव) का आश्रय है और बाह्य कारण भिन्न प्रकार के होते हैं। तिर्यञ्च और मनुष्यगति में (१) जातिस्मरण (२) धर्मश्रवण (३) जिनबिम्ब दर्शन, ये निमित्त होते हैं। देवगति में बारहवें स्वर्ग से पहले (१) जातिस्मरण (२) धर्मश्रवण (३) जिनकल्याणक दर्शन और (४) देवऋद्धि-दर्शन, कारण होता है और बारहवें स्वर्ग से सोलहवें स्वर्गपर्यन्त (१) जातिस्मरण

(२) धर्मश्रवण और (३) जिनकल्याणक दर्शन कारण है। नव ग्रैवेयक में (१) जातिस्मरण और (२) धर्मश्रवण कारण होता है। नरकगति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और दु:खानुभव, निमित्त होता है एवं चौथे से सातवें नरक तक जातिस्मरण और दु:खानुभव, निमित्त होता है।

नोट - उपरोक्त धर्मश्रवण सम्यग्ज्ञानियों से प्राप्त होना चाहिए।

शङ्का - सभी नारकी जीव विभङ्गज्ञान द्वारा एक, दो या तीन आदि भव जानते हैं, उससे सभी को जातिस्मरण होता है; इसलिए क्या सभी नारकी जीव, सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे ?

समाधान - सामान्यतया भवस्मरण द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु पूर्वभव में धर्मबुद्धि से किए हुए अनुष्ठान विपरीत (विफल) थे—ऐसी प्रतीति, प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होती है, इसी बात को ध्यान में रखकर भवस्मरण को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण कहा है। नारकी जीवों के पूर्वभव का स्मरण होने पर भी, बहुतों के उपरोक्त उपयोग का अभाव होता है। ऊपर कहे गए प्रकार का जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

शङ्का - नरक में ऋषियों (साधुओं) का गमन नहीं होता, फिर वहाँ नारकी जीवों के धर्मश्रवण किस तरह सम्भव हो सकता है ?

समाधान - अपने पूर्वभव के सम्बन्धियों के धर्म उत्पन्न कराने में प्रवृत्त और सभी बाधाओं से रहित सम्यग्दृष्टि देवों का वहाँ (तीसरे नरक पर्यन्त) गमन होता है।

शङ्का - यदि वेदना का अनुभव सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है तो सभी नारकियों को सम्यक्त्व हो जाना चाहिए, क्योंकि सभी नारकियों के वेदना का अनुभव है।

समाधान - वेदना, सामान्य सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि मिथ्यात्व के कारण इस वेदना की उत्पत्ति हुई है, उन जीवों के वेदना, सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है; दूसरे जीवों के वेदना, सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं होता। *(- श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४२२-४२३)*

शङ्का - जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण कैसे होता है ?

समाधान - जिनबिम्बदर्शन से (जो जीव अपने संस्कार को शुद्ध आत्मोन्मुख करे उनके) निधत्त और निकाचितरूप मिथ्यात्त्वादि कर्म समूह का भी क्षय देखा जाता है और

इसी कारण जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

(- श्री धवला, पुस्तक ६, पृष्ठ ४२७-४२८)

प्रश्न - शास्त्र में जिनबिम्बदर्शन से (जिनप्रतिमा के दर्शन से) सम्यग्दर्शन होना बताया है; अतः दर्शन करनेवाले सभी को यह फल होना चाहिए, किन्तु सभी को वह फल क्यों नहीं होता?

उत्तर - जिसने सर्वज्ञ की सत्ता का निर्णय किया है, उसके जिनप्रतिमा के दर्शन से सम्यग्दर्शनरूप फल होता है, दूसरे को नहीं। उन सभी को नियम से अपने आत्मकल्याणरूप कार्य की सिद्धि नहीं होती। जो जीव अपने सत्य पुरुषार्थ से निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसी को जिनबिम्बदर्शन निमित्त कहा जाता है। जिन्होंने सर्वज्ञ का तो निश्चय किया नहीं किन्तु मात्र कुल-पद्धति से, सम्प्रदाय के आश्रय से या मिथ्या धर्मबुद्धि से दर्शन-पूजनादिरूप प्रवृत्ति करते हैं और कितनेक जो मतपक्ष के हठग्राहीपने से अन्य देव को नहीं मानते, मात्र जिनदेवादि के सेवक बने हुए हैं, उनके भी नियम से अपने आत्मकल्याणरूप कार्य की सिद्धि नहीं होती।

प्रश्न - यदि सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय हमसे नहीं हुआ तो क्या हुआ? ये देव तो सच्चे देव हैं, उनकी पूजनादि करना व्यर्थ थोड़े ही होता है?

उत्तर - यदि किञ्चित् मन्दकषायरूप परिणति होगी तो पुण्य बन्ध होगा, परन्तु जिनमत में तो देव-दर्शन से सम्यग्दर्शनरूप फल होना बतलाया है, सो तो नियम से सर्वज्ञ की सत्ता के जानने से ही होगा, दूसरी तरह से नहीं; इसलिए जिन्हें सच्चा जैनी होना है, उन्हें तो सत्देव, सद्गुरु और सत्शास्त्र के आश्रय से सर्वज्ञ की सत्ता का तत्त्वनिर्णय करना योग्य हैं; किन्तु जो तत्त्वनिर्णय तो नहीं करते और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, सन्तोष आदि सभी कार्य करते हैं, उनके ये सभी कार्य झूठे हैं; इसलिए सत् आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा सद्गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। *(- सनावद से प्रकाशित हिन्दी सत्तास्वरूप, पृष्ठ ६१)*

प्रश्न - यह कहा है कि मिथ्यादृष्टि देव, चार कारणों से प्रथम औपशमिकसम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, उनमें एक 'जिनमहिमा' कारण बतलाया है, किन्तु जिनबिम्बदर्शन नहीं बतलाया; इसका क्या कारण है?

उत्तर - जिनबिम्ब-दर्शन का जिनमहिमा-दर्शन में समावेश हो जाता है क्योंकि जिनबिम्ब के बिना जिनमहिमा की सिद्धि नहीं होती।

प्रश्न - स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षा कल्याणकरूप जिनमहिमा, जिनबिम्ब के बिना की जाती है, इसलिए क्या जिनमहिमादर्शन में जिनबिम्ब-दर्शन का अविनाभावित्व नहीं आया?

उत्तर - स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षाकल्याणरूप जिनमहिमा में भी भावी जिनबिम्ब का दर्शन होता है। दूसरी बात यह है कि इस महिमा में उत्पन्न होनेवाले प्रथम सम्यक्त्व, जिनबिम्ब-दर्शन नैमित्तिक नहीं है, किन्तु जिनगुण-श्रवण नैमित्तिक है, अर्थात् प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न होने में जिनगुण-श्रवण निमित्त है।

प्रश्न - जातिस्मरण का देवऋद्धि-दर्शन में समावेश क्यों नहीं होता?

उत्तर - अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि जिन भगवान के द्वारा प्ररूपित धर्मानुष्ठान से ये ऋद्धियाँ उत्पन्न हुई हैं, तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए जातिस्मरण निमित्त होता है; किन्तु जिस समय सौधर्मादिक देवों की महा ऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि सम्यग्दर्शनसहित संयम के फल से-शुभभाव से वह उत्पन्न हुई है और मैं सम्यक्त्वरहित द्रव्यसंयम के फल से वाहनादिक नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ, उस समय प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन-निमित्तक होता है; इस तरह जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन इन दोनों कारणों में अन्तर है।

नोट - नारकियों में जातिस्मरण और वेदनारूप कारणों में भी यही नियम लगा लेना चाहिये।

प्रश्न - आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गों के मिथ्यादृष्टिदेवों के प्रथमोपशम सम्यक्त्व में देवर्द्धिदर्शन कारण क्यों नहीं बतलाया?

उत्तर - इन चार स्वर्गों में महा ऋद्धिवाले ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, इसीलिए वहाँ प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण, महाऋद्धिदर्शन कारण नहीं बतलाया, इन्हीं स्वर्गों में स्थित देवों की महाऋद्धि का दर्शन, प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण नहीं होता, क्योंकि बारम्बार इन ऋद्धियों के देखने से विस्मय नहीं होता। पुनश्च इन स्वर्गों में शुक्ललेश्या के सद्भाव के कारण महाऋद्धि के दर्शन से कोई संक्लेशभाव उत्पन्न नहीं होता।

नव ग्रैवेयक तथा ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, इसलिए वहाँ महाऋद्धिदर्शन

कारण नहीं है तथा ये विमानवासी देव, अष्टाह्निकापर्व महोत्सव देखने के लिये नन्दीश्वरादि द्वीपों में नहीं जाते, इसलिए वहाँ जिनमहिमा-दर्शन भी कारण नहीं है, वे अवधिज्ञान के बल से जिनमहिमा को देखते हैं तो भी इन देवों के राग की न्यूनता, अर्थात् मन्दराग होने से जिनमहिमा-दर्शन से उनको विस्मय उत्पन्न नहीं होता। *(श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४३२ से ४३६)*

(४) अधिकरण - सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्ग आधार आत्मा है और बाह्य आधार त्रसनाली है (लोकाकाश के मध्य में चौदह राजू लम्बे और एक राजू चौड़े स्थान को त्रसनाली कहते हैं।)

(५) स्थिति - तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन की जघन्य से जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। औपशमिक समयग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर की और क्षायिक सम्यग्दर्शन की सादि-अनन्त है तथा संसार में रहने की अपेक्षा से उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कोडी पूर्व है।

(६) विधान - सम्यग्दर्शन एक तरह अथवा स्वपर्याय की योग्यतानुसार तीन प्रकार है - औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तथा आज्ञा, मार्ग, बीज, उपदेश, सूत्र, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़; इस तरह १० भेदरूप हैं।

और भी अन्य अमुख्य उपाय —

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थ - **(च)** और **(सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भावाल्पबहुत्वैः)** सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी पदार्थ का ज्ञान होता है।

टीका - सत् और संख्या - यह द्रव्य-गुण-पर्याय के सत्त्व की अपेक्षा से उपभेद है। सत्, सामान्य और संख्या, विशेष है।

क्षेत्र और स्पर्शन - यह क्षेत्र का उपभेद है। क्षेत्र, सामान्य और स्पर्शन, विशेष है।

काल और अन्तर - यह काल का उपभेद है। काल, सामान्य और अन्तर, विशेष है।

भाव और अल्पबहुत्व - यह भाव का उपभेद है। भाव, सामान्य है और अल्पबहुत्व, विशेष है।

सत् - वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं।

संख्या - वस्तु के परिणामों की गणना को संख्या कहते हैं।

क्षेत्र - वस्तु के वर्तमानकालीन निवास को क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन - वस्तु के त्रिकालवर्ती निवास को स्पर्शन कहते हैं।

काल - वस्तु के स्थिर रहने की मर्यादा को काल कहते हैं।

अन्तर - वस्तु के विरह काल को अन्तर कहते हैं।

भाव - गुण को अथवा औपशमिक, क्षायिक आदि पाँच भावों को भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्व - अन्य पदार्थ की अपेक्षा से वस्तु की हीनता-अधिकता के वर्णन को अल्प-बहुत्व कहते हैं।

अनुयोग - भगवान प्रणीत उपदेश विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न अधिकार में कहा गया है, प्रत्येक अधिकार का नाम अनुयोग है। सम्यग्ज्ञान का उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुए अधिकार को अनुयोग कहते हैं।

सत् और निर्देश में अन्तर — यदि 'सत्' शब्द निर्देश है, वह सामान्य कथन है और सत् है, वह विशेष कथन सामान्यतः सम्यग्दर्शनादि के अस्तित्व को बतलानेवाला हो तो निर्देश में उसका समावेश हो जाएगा, किन्तु गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि चौदह मार्गणाओं में किस जगह किस तरह का सम्यग्दर्शन होता है और किस तरह का नहीं—ऐसा विशेष ज्ञान, सत् से होता है, निर्देश से ऐसा ज्ञान नहीं होता, यही सत् और निर्देश में अन्तर है।

इस सूत्र में सत् शब्द का प्रयोग किसलिए किया है ? — अनधिकृत पदार्थों का भी ज्ञान करा सकने की सत् शब्द की सामर्थ्य है। यदि इस सूत्र में सत् शब्द का प्रयोग न किया होता तो आगामी सूत्र में सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि सात तत्त्वों के ही अस्तित्व का ज्ञान, निर्देश शब्द के द्वारा होता और जीव के क्रोध-मान आदि पर्याय तथा पुद्गल के वर्ण, गन्ध तथा घट, पट आदि पर्याय, (जिनका यह अधिकार नहीं है), के अस्तित्व के अभाव का ज्ञान होता, इसलिए इस समय अनधिकृत पदार्थ जीव में क्रोधादि तथा पुद्गल में वर्णादि का ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र में सत् शब्द का प्रयोग किया है।

संख्या और विधान में अन्तर — प्रकार की प्रगणना को विधान कहते हैं और उस भेद

की गणना को संख्या कहते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि तीन तरह के हैं (१) औपशमिक सम्यग्दृष्टि (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। 'संख्या' शब्द से भेदगणना का ज्ञान होता है कि उक्त तीन प्रकार के सम्यग्दृष्टियों में औपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं। भेदों के गणना की विशेषता को बतलाने का जो कारण है, उसे संख्या कहते हैं।

'विधान' शब्द में मूल पदार्थ के ही भेद ग्रहण किए हैं, इसीलिए भेदों के अनेक तरह के भेदों को ग्रहण करने के लिए संख्या शब्द का प्रयोग किया है।

'विधान' शब्द के कहने से भेद-प्रभेद आ जाते हैं, ऐसा माना जाए तो विशेष स्पष्टता के लिए संख्या शब्द का प्रयोग किया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

क्षेत्र और अधिकरण में अन्तर — अधिकरण शब्द थोड़े स्थान को बतलाता है, इसी से वह व्याप्य है और क्षेत्र शब्द व्यापक है, वह अधिक स्थान को बतलाता है। 'अधिकरण' शब्द के कहने से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, क्षेत्र के कहने से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान होता है; इसलिए समस्त पदार्थों के ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र में क्षेत्र शब्द का प्रयोग किया है।

क्षेत्र और स्पर्शन में अन्तर — 'क्षेत्र' शब्द अधिकरण से विशेषता बतलाता है तो भी उसका विषय एकदेश का है और 'स्पर्शन' शब्द सर्वदेश का विषय करता है। जैसे किसी ने पूछा कि 'राजा कहाँ रहता है ?' उत्तर दिया कि 'फलाने नगर में रहता है।' यहाँ यद्यपि राजा सम्पूर्ण नगर में नहीं रहता, किन्तु नगर के एकदेश में रहता है, इसलिए नगर के एकदेश में राजा का निवास होने से 'नगर' क्षेत्र है। किसी ने पूछा कि 'तेल कहा है ?' उत्तर दिया कि 'तिल में तेल रहता है' यहाँ सम्पूर्ण स्थान में तेल रहने के कारण तिल, तेल का स्पर्शन है, इस तरह क्षेत्र और स्पर्शन में अन्तर है।

क्षेत्र, वर्तमान काल का विषय है और स्पर्शन, त्रिकालगोचर विषय है। वर्तमान की दृष्टि से घड़े में जल है, किन्तु वह त्रिकाल नहीं है। तीनों काल में जिस जगह पदार्थ की सत्ता रहती है, उसे स्पर्शन कहते हैं। यह दूसरी तरह से क्षेत्र और स्पर्शन के बीच का अन्तर है।

काल और स्थिति में अन्तर — 'स्थिति' शब्द कुछ पदार्थों के काल की मर्यादा बतलाता है, यह शब्द व्याप्य है। 'काल' शब्द व्यापक है और यह समस्त पदार्थों की मर्यादा

को बतलाता है। 'स्थिति' शब्द कुछ ही पदार्थों का ज्ञान कराता है और 'काल' शब्द समस्त पदार्थों का ज्ञान कराता है। काल के भेद हैं (१) निश्चयकाल (२) व्यवहारकाल। मुख्य काल को निश्चयकाल कहते हैं और पर्याय विशिष्ट पदार्थों की मर्यादा बतलानेवाला, अर्थात् घण्टा, घड़ी, पल आदि व्यवहारकाल है। काल की मर्यादा को स्थिति कहते हैं, अर्थात् 'स्थिति' शब्द इस बात को बतलाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक स्थान पर इतने समय रहता है। इतना काल और स्थिति में अन्तर है।

'भाव' शब्द का निक्षेप के सूत्र में उल्लेख होने पर भी यहाँ किसलिए कहा है ?

निक्षेप के सूत्र ५वें में भाव का अर्थ यह है कि वर्तमान में जो अवस्था मौजूद हो, उसे भावनिक्षेप समझना और भविष्य में होनेवाली अवस्था को वर्तमान में कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। यहाँ ८ वें सूत्र में 'भाव' शब्द से औपशमिक, क्षायिक आदि भावों का ग्रहण किया है, जैसे औपशमिक भी सम्यग्दर्शन है और क्षायिक आदि भी सम्यग्दर्शन कहे जाते हैं; इस प्रकार दोनों जगह (५ वें और ८ वें सूत्र में) भाव शब्द का पृथक् प्रयोजन है।

विस्तृत वर्णन का प्रयोजन — कितने ही शिष्य अल्प कथन से विशेष तात्पर्य समझ लेते हैं और कितने ही शिष्य ऐसे होते हैं कि विस्तारपूर्वक कथन करने पर समझ सकते हैं। परम कल्याणमय आचार्य का सभी को तत्त्वों का स्वरूप समझाने का उद्देश्य है। प्रमाण, नय से ही समस्त पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, तथापि विस्तृत कथन से समझ सकनेवाले जीवों को निर्देश आदि तथा सत् संख्यादि का ज्ञान कराने के लिए पृथक्-पृथक् सूत्र कहे हैं। ऐसी शङ्का ठीक नहीं है कि एक सूत्र में दूसरे का समावेश हो जाता है, इसलिए विस्तारपूर्वक कथन व्यर्थ है।

ज्ञान सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्न - इस सूत्र में ज्ञान के सत्-संख्यादि आठ भेद ही क्यों कहे गए हैं, कम या अधिक क्यों नहीं कहे गए ?

उत्तर - निम्नलिखित आठ प्रकार का निषेध करने के लिए वे आठ भेद कहे गए हैं—

१- नास्तिक कहता है कि 'कोई वस्तु है ही नहीं।' इसलिए 'सत्' को सिद्ध करने से उस नास्तिक का तर्क खण्डित कर दिया गया है।

२- कोई कहता है कि 'वस्तु' एक ही है, उसमें किसी प्रकार के भेद नहीं हैं। 'संख्या' को सिद्ध करने से यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

३- कोई कहता है कि 'वस्तु के प्रदेश (आकार) नहीं हैं।' 'क्षेत्र' के सिद्ध करने से यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

४- कोई कहता है कि 'वस्तु क्रिया रहित है।' स्पर्शन के सिद्ध करने से यह तर्क खण्डित कर दिया गया। [नोट - एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, सो क्रिया है।]

५- 'वस्तु का प्रलय (सर्वथा नाश) होता है' ऐसा कोई मानता है। 'काल' के सिद्ध करने से यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

६- कोई यह मानता है कि 'वस्तु क्षणिक है' 'अन्तर' के सिद्ध करने से यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

७- कोई यह मानता है कि 'वस्तु' कूटस्थ है। 'भाव' के सिद्ध करने से यह तर्क खण्डित कर दिया गया है। (जिसकी स्थिति न बदले, उसे कूटस्थ कहते हैं।)

८- कोई यह मानता है कि 'वस्तु सर्वथा एक ही है अथवा वस्तु सर्वथा अनेक ही हैं।' 'अल्पबहुत्व' के सिद्ध करने से यह तर्क खण्डित कर दिया गया है।

(देखो, प्रश्नोत्तर सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २७७-२७८)

सूत्र ४ से ८ तक का तात्पर्यरूप सिद्धान्त

जिज्ञासु जीवों को जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वों का जानना, छोड़ने योग्य मिथ्यात्व-रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि के स्वरूप की पहिचान करना, प्रमाण और नयों के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करना तथा निर्देश-स्वामित्वादि और सत्-संख्यादि के द्वारा उनका विशेष जानना चाहिए।

अब सम्यग्ज्ञान के भेद कहते हैं —

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

अर्थ - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान - ये पाँच (**ज्ञानम्**) ज्ञान हैं।

टीका - **(१) मतिज्ञान** - पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा (अपनी शक्ति के अनुसार) जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान - मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेषरूप से जानना, सो श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान – जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादासहित इन्द्रिय या मन के निमित्त के बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मन:पर्ययज्ञज्ञान – जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादासहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान – समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

(२) इस सूत्र में 'ज्ञानम्' शब्द एक वचन का है, वह यह बतलाता है कि ज्ञानगुण एक है और उसकी पर्याय के ये ५ भेद हैं। इनमें जब एक प्रकार उपयोगरूप होता है, तब दूसरा प्रकार उपयोगरूप नहीं होता; इसलिए इन पाँच में से एक समय में एक ही ज्ञान का प्रकार उपयोगरूप होता है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन, कारण और सम्यग्ज्ञान, कार्य है। सम्यग्ज्ञान, आत्मा के ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय है; यह आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। सम्यग्ज्ञान का स्वरूप निम्न प्रकार है —

''सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विंदुः''

(तत्त्वार्थसार पूर्वार्ध, गाथा १८, पृष्ठ १४)

अर्थ – जिस ज्ञान में **स्व** = अपना स्वरूप, **अर्थ** = विषय, **व्यवसाय** = यथार्थ निश्चय, ये तीन बात पूरी हों, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञान में विषय प्रतिबोध के साथ-साथ स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

नववें सूत्र का सिद्धान्त

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित ज्ञान के समस्त भेदों को जानकर, परभावों को छोड़कर और निजस्वरूप में स्थिर होकर, जीव जो चैतन्य चमत्कारमात्र है, उसमें प्रवेश करता है – गहरा उतर जाता है, वह पुरुष शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

(श्री नियमसार, गाथा १० की टीका का श्लोक १७)

कौन से ज्ञान प्रमाण हैं ?

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ - **[तत्]** उपरोक्त पाँचों प्रकार के ज्ञान ही **[प्रमाणे]** प्रमाण (सच्चे ज्ञान) हैं।

टीका - नववें सूत्र में कहे हुए पाँचों ज्ञान ही प्रमाण हैं; अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं है। प्रमाण के दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह ध्यान रहे कि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों और पदार्थों के सम्बन्ध (सन्निकर्ष), ये कोई प्रमाण नहीं हैं अर्थात् न तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है और न इन्द्रियों और पदार्थों के सम्बन्ध से ज्ञान होता है, किन्तु उपरोक्त मति आदि ज्ञान, स्व से होते हैं; इसलिए ज्ञान प्रमाण है।

प्रश्न - इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, क्योंकि उनके द्वारा ज्ञान होता है ?

उत्तर - इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं और ज्ञान तो चेतन की पर्याय है, वह जड़ नहीं है; इसलिए आत्मा के द्वारा ही ज्ञान होता है।

(श्री जयधवला पुस्तक भाग १, पृष्ठ ५४-५५)

प्रश्न - यह ठीक है न कि प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थ हों तो उससे ज्ञान होता है ?

उत्तर - यह ठीक नहीं है। यदि प्रस्तुत पदार्थ (ज्ञेय) और आत्मा इन दोनों के मिलने से ज्ञान होता तो ज्ञाता और ज्ञेय, इन दोनों को ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता।

(सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३३२)

यदि उपादान और निमित्त ये दो होकर एक कार्य करें तो उपादान और निमित्त की स्वतन्त्र सत्ता न रहे। उपादान, निमित्त का कुछ नहीं करता और न निमित्त, उपादान का कुछ करता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने कारण से अपने लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा नियम होने से अपनी योग्यतानुसार निमित्त-उपादान दोनों के कार्य स्वतन्त्र, पृथक्-पृथक् होते हैं। यदि उपादान और निमित्त ये दोनों मिलकर काम करें तो दोनों उपादान हो जाएँ, अर्थात् दोनों की एक सत्ता हो जाए, किन्तु ऐसा नहीं होता।

इस सम्बन्ध में ऐसा नियम है कि अपूर्ण ज्ञान का विकास जिस समय अपना व्यापार करता है, उस समय उसके योग्य बाह्य पदार्थ, अर्थात् इन्द्रियाँ, प्रकाश, ज्ञेयपदार्थ, गुरु, शास्त्र इत्यादि (परद्रव्य) अपने-अपने कारण से ही उपस्थित होते हैं, ज्ञान को उनकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। निमित्त-नैमित्तिक का तथा उपादान-निमित्त का ऐसा मेल होता है।

प्रश्न - आप सम्यग्ज्ञान का फल अधिगम कहते हो, किन्तु वह (अधिगम) तो ज्ञान ही है, इसलिए ऐसा मालूम होता है कि सम्यग्ज्ञान का कुछ फल नहीं होता।

उत्तर - सम्यग्ज्ञान का फल आनन्द (सन्तोष), उपेक्षा (राग-द्वेष रहितता) और अज्ञान का नाश है। *(सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३३४)*

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान, स्व से ही होता है; परपदार्थ से नहीं होता।

सूत्र ९-१० का सिद्धान्त

नौवें सूत्र में कथित पाँच सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे लोग भिन्न-भिन्न प्रमाण कहते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है। जिस जीव को सम्यग्ज्ञान हो जाता है, वह सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञान के द्वारा अपने को सम्यक्त्व होने का निर्णय कर सकता है और वह ज्ञान, प्रमाण अर्थात् सच्चा ज्ञान है॥१०॥

परोक्ष प्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम्॥११॥

अर्थ - [**आद्ये**] प्रारम्भ के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [**परोक्षम्**] परोक्ष प्रमाण हैं।

टीका - यहाँ प्रमाण, अर्थात् सम्यग्ज्ञान के भेदों में से प्रारम्भ के दो, अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है। ये ज्ञान, परोक्ष प्रमाण हैं, इसलिए उन्हें संशयवान या भूलयुक्त नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि वे सर्वथा सच्चे ही हैं। उनके उपयोग के समय इन्द्रिय या मन निमित्त होते हैं, इसलिए पर-अपेक्षा के कारण उन्हें परोक्ष कहा है; स्व-अपेक्षा से पाँचों प्रकार के ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

प्रश्न - तब क्या सम्यक्मतिज्ञानवाला जीव यह जान सकता है कि मुझे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है?

उत्तर - ज्ञान सम्यक् है, इसलिए अपने को सम्यग्ज्ञान होने का निर्णय भली भाँति कर सकता है और जहाँ सम्यग्ज्ञान होता है, वहाँ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिए उसका भी निर्णय कर ही लेता है। यदि निर्णय नहीं कर पाए तो वह अपना अनिर्णय, अर्थात् अनध्यवसाय कहलाएगा, और ऐसा होने पर उसका वह ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाएगा।

प्रश्न – सम्यक्मतिज्ञानी, दर्शनमोहनीय प्रकृति के पुद्गलों को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता और उसके पुद्गल उदयरूप हों तथा जीव उसमें युक्त होता हो तो क्या उसकी भूल नहीं होगी ?

उत्तर – यदि भूल होती है तो वह ज्ञान विपरीत होगा और इसलिए वह ज्ञान 'सम्यक्' नहीं कहला सकता। जैसे शरीर के बिगड़ने पर, यह असातावेदनीय का उदय है, सातावेदनीय का उदय नहीं है – ऐसा कर्म के रजकणों को प्रत्यक्ष देखे बिना श्रुतज्ञान के बल से यथार्थ जान लिया जाता है; उसी प्रकार अपने ज्ञान-अनुभव से श्रुतज्ञान के बल से यह सम्यक् (यथार्थ) जाना जा सकता है कि दर्शनमोहनीयकर्म उदयरूप नहीं है।

प्रश्न – क्या सम्यक्मतिज्ञान यह जान सकता है कि अमुक जीव भव्य है या अभव्य ?

उत्तर – इस सम्बन्ध में श्री धवला शास्त्र में (पुस्तक ६, पृष्ठ १७ में) लिखा है कि – अवग्रह से ग्रहण किए गए अर्थ को विशेष जानने की आकाँक्षा 'ईहा' है। जैसे – किसी पुरुष को देखकर 'यह भव्य है या अभव्य ?' इस प्रकार की विशेष परीक्षा करना, सो 'ईहाज्ञान' है। ईहाज्ञान सन्देहरूप नहीं होता, क्योंकि ईहात्मक विचारबुद्धि से सन्देह का विनाश हो जाता है। सन्देह से ऊपर और अवाय से नीचे तथा मध्य में प्रवृत्त होनेवाली विचारबुद्धि का नाम ईहा है।

***

ईहाज्ञान से जाने गए पदार्थ विषयक सन्देह का दूर हो जाना, सो 'अवाय' (निर्णय) है। पहले ईहा ज्ञान से 'यह भव्य है, या अभव्य ?' इस प्रकार सन्देहरूप बुद्धि के द्वारा विषय किया गया जीव 'अभव्य नहीं भव्य ही है' क्योंकि उसमें भव्यत्व के अविनाभावी सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र गुण प्रगट हुए हैं, इस प्रकार उत्पन्न हुए 'चय' (निश्चय) ज्ञान का नाम 'अवाय' है।

यह अवश्य है कि जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप आत्मा को उपादेय मान के श्रद्धान करता है, उसके सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अवश्यमेव विद्यमान है और अवश्य भव्य है। जिसके पूर्व में कहे अनुसार 'शुद्धात्मा ही उपादेय है'—ऐसा श्रद्धान नहीं है, उसके सात प्रकृतियों का उपशमादिक भी नहीं होता, ऐसा जानना योग्य है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है। इस कारण अभव्य जीव के मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम आदि का होना कदाचित् भी सम्भव नहीं है, यह तात्पर्य है। *(श्री समयसार गाथा २७६-२७७, जयसेनाचार्यकृत टीका)*

इससे सिद्ध होता है कि सम्यक्मतिज्ञान यह यथार्थतया निश्चय कर सकता है कि अपने को तथा पर को सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने उपयोग में युक्त होता है, तब वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं। यह दशा चौथे गुणस्थान से होती है। (श्री समयसार गाथा ८५ की जयसेनाचार्यकृत टीका, पृष्ठ १४१) श्रीमद् शास्त्रमाला में लिखा है कि 'निज शुद्धात्मा उपादेय रुचिरूप निर्विकार चित् चमत्कारमात्र लक्षण शुद्ध उपादानकारण से उत्पन्न निश्चय सम्यक्त्व जिसको प्रगट नहीं हुआ है, वह मिथ्यादृष्टि है।' इसका स्पष्टीकरण यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव, मिथ्यादृष्टि नहीं है, अपितु सम्यग्दृष्टि है। चतुर्थ गुणस्थान से निश्चयसम्यक्त्व होता है, ऐसा उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है।

यही बात श्री धवला पुस्तक १ सत्प्ररूपणासूत्र १४५ की टीका में निम्न प्रकार कही है – सामान्य सम्यग्दर्शन तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन के गुणस्थान बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं —

सम्माइट्ठी खइय सम्माइट्ठी असंजद-सम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति ॥ १४५ ॥

सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ॥१४५॥

शङ्का – सामान्य सम्यग्दर्शन क्या वस्तु हैं ?

समाधान – तीनों ही सम्यग्दर्शन में जो साधारण धर्म पाया जाता है, वही सामान्य सम्यग्दर्शन से विवक्षित है।

शङ्का – क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन से परस्पर में भिन्न हैं, उनमें सदृशता कैसी ?

समाधान – यथार्थ श्रद्धान की अपेक्षा उन तीनों में समानता पाई जाती है।

मतिश्रुतात्मक भावमन स्वानुभूति के समय विशेष दशावाला होता है, फिर भी श्रेणिसमान तो नहीं किन्तु, अपनी भूमिका के योग्य निर्विकल्प होता है; इसलिए मति-श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष माना गया है। मति-श्रुतज्ञान के बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, उसका यही कारण है। (अवधिमन:पर्ययज्ञान के बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है।) **[पञ्चाध्यायी भाग १, श्लोक ७०८ से ७१९ तक इस सूत्र की चर्चा की गयी है। देखो पण्डित देवकीनन्दनजीकृत टीका, पृष्ठ ३६३ से ३६८]**

यहाँ मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, तत्सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान को 'सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा गया है। लोग कहते हैं कि 'मैंने घड़े के रूप को प्रत्यक्ष देखा है', इसलिए वह ज्ञान सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है।

श्रुतज्ञान के तीन प्रकार हो जाते हैं - (१) सम्पूर्ण परोक्ष, (२) आँशिक परोक्ष, (३) परोक्ष बिलकुल नहीं किन्तु प्रत्यक्ष।

(१) शब्दरूप जो श्रुतज्ञान है, सो परोक्ष ही है तथा दूरभूत स्वर्ग-नरकादि बाह्य विषयों का ज्ञान करानेवाला विकल्परूप ज्ञान भी परोक्ष ही है।

(२) आभ्यन्तर में सुख-दुःख के विकल्परूप जो ज्ञान होता है, वह अथवा 'मैं अनन्त ज्ञानादिरूप हूँ' - ऐसा ज्ञान ईषत् (किञ्चित्) परोक्ष है।

(३) निश्चय भावश्रुतज्ञान शुद्धात्मा के सम्मुख होने से सुख संवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है। यद्यपि वह ज्ञान निज को जानता है, तथापि इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न होनेवाले विकल्पों के समूह रहित होने से निर्विकल्प है। (अभेदनय से) उसे 'आत्मज्ञान' शब्द से पहचाना जाता है। यद्यपि वह केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष है, तथापि छद्मस्थों के क्षायिक ज्ञान की प्राप्ति न होने से, क्षायोपशमिक होने पर भी उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

प्रश्न - इस सूत्र में मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है, तथापि आपने उसे ऊपर 'प्रत्यक्ष' कैसे कहा है?

उत्तर - इस सूत्र में जो श्रुत को परोक्ष कहा है, सो वह सामान्य कथन है और ऊपर जो भावश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, सो विशेष कथन है। प्रत्यक्ष का कथन विशेष की अपेक्षा से है—ऐसा समझना चाहिए।

यदि इस सूत्र में उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञान को परोक्ष नहीं कहा जाता। यदि मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्कशास्त्र में उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं? इसलिए जैसे विशेष कथन में उस मतिज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है; उसी प्रकार निजात्म-सन्मुख भावश्रुतज्ञान को (यद्यपि वह केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष है, तथापि) विशेष कथन में प्रत्यक्ष कहा है।

यदि मति और श्रुत दोनों मात्र परोक्ष ही होते तो सुख-दुःखादि का जो संवेदन (ज्ञान)

होता है, वह भी परोक्ष ही होता, किन्तु वह संवेदन प्रत्यक्ष है, यह सभी जानते हैं। [देखो, वृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ५ के नीचे हिन्दी टीका पृष्ठ १३ से १५, इंग्लिश पृष्ठ १७-१८] उत्सर्ग = सामान्य-General Ordinance-सामान्य नियम; अपवाद = विशेष Exception-विशेष नियम।

नोट-ऐसा उत्सर्ग कथन ध्याता के सम्बन्ध में अध्याय १ सूत्र २७-४७ में कहा है, वहाँ अपवाद कथन नहीं किया है। [देखो बृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ५७, नीचे हिन्दी टीका, पृष्ठ-२११] इस प्रकार जहाँ उत्सर्क कथन हो, वहाँ अपवाद कथन गर्भित है- ऐसा समझना चाहिए।

प्रत्यक्षप्रमाण के भेद

प्रत्यक्षमन्यत्॥ १२॥

अर्थ - [**अन्यत्**] शेष तीन अर्थात् अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान [**प्रत्यक्षम्**] प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

टीका - अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान, विकल-प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान, सकल -प्रत्यक्ष है। [प्रत्यक्ष = प्रति+अक्ष] 'अक्ष' का अर्थ आत्मा है। आत्मा के प्रति जिसका नियम हो, अर्थात् जो परनिमित्त-इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदि से रहित आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हो, जिसमें दूसरा कोई निमित्त न हो, ऐसा ज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान के दूसरे नाम

मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्॥ १३॥

अर्थ - [**मति**] मति, [**स्मृतिः**] स्मृति, [**संज्ञा**] संज्ञा, [**चिंता**] चिन्ता, [**अभिनिबोध**] अभिनिबोध, [**इति**] इत्यादि, [**अनर्थांतरम्**] अन्य पदार्थ नहीं हैं, अर्थात् वे मतिज्ञान के नामान्तर हैं।

टीका - **मति** - मन अथवा इन्द्रियों से, वर्तमानकालवर्ती पदार्थ को अवग्रहादिरूप साक्षात् जानना, सो मति है।

स्मृति - पहले जाने हुए या अनुभव किए हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आना, सो स्मृति है।

संज्ञा - का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमान में किसी पदार्थ को देखने पर 'यह

वही पदार्थ है जो पहले देखा था', इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।

चिन्ता - चिन्तवनज्ञान अर्थात् किसी चिह्न को देखकर 'यहाँ उस चिह्नवाला अवश्य होना चाहिए' इस प्रकार का विचार, चिन्ता है। इस ज्ञान को ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

अभिनिबोध - स्वार्थानुमान, अनुमान, उसके दूसरे नाम हैं। सन्मुख चिह्नादि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थ का निर्णय करना, सो 'अभिनिबोध' है।

यद्यपि इन सब में अर्थभेद है, तथापि प्रसिद्ध रूढ़ि के बल से वे मति के नामान्तर कहलाते हैं। उन सबके प्रगट होने में मतिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम निमित्तमात्र है, यह लक्ष्य में रखकर उसे मतिज्ञान के नामान्तर कहते हैं।

यह सूत्र सिद्ध करता है कि जिसने आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं किया हो, वह आत्मा का स्मरण नहीं कर सकता; क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत पदार्थ की ही होती है, इसीलिए अज्ञानी को प्रभुस्मरण (आत्मस्मरण) नहीं होता; किन्तु 'राग मेरा है' ऐसी पकड़कर स्मरण होता है, क्योंकि उसे उसका अनुभव है; इस प्रकार अज्ञानी जीव, धर्म के नाम पर चाहे जो कार्य करे, तथापि उसका ज्ञान मिथ्या होने से उसे धर्म का स्मरण नहीं होता, किन्तु राग की पकड़ का स्मरण होता है।

स्वसंवेदन, बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा, इत्यादि भी मतिज्ञान के भेद हैं।

स्वसंवेदन - सुखादि अन्तरङ्ग विषयों का ज्ञान, स्वसंवेदन है।

बुद्धि - बोधनमात्रत्व बुद्धि है। बुद्धि, प्रतिभा, प्रज्ञा आदि मतिज्ञान की तारतम्यता (हीनाधिकता) सूचक ज्ञान के भेद हैं।

अनुमान दो प्रकार के हैं - एक मतिज्ञान का भेद है और दूसरा श्रुतज्ञान का। साधन के देखने पर स्वयं साध्य का ज्ञान होना, सो मतिज्ञान है। दूसरे के हेतु और तर्क के वाक्य सुनकर जो अनुमान ज्ञान हो, सो श्रुतानुमान है। चिह्नादि से उसी पदार्थ का अनुमान होना, सो मतिज्ञान है और उसी (चिह्नादि) से दूसरे पदार्थ का अनुमान होता, सो श्रुतज्ञान है॥१३॥

मतिज्ञान की उत्पत्ति के समय निमित्त –

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

अर्थ – **[इन्द्रियानिन्द्रिय]** इन्द्रियाँ और मन **[तत्]** उस मतिज्ञान के **[निमित्तम्]** निमित्त हैं।

टीका – **इन्द्रिय** – आत्मा, (इन्द्र = आत्मा) परम ऐश्वर्यरूप प्रवर्तमान है, इस प्रकार अनुमान करानेवाला शरीर का चिह्न।

नो इन्द्रिय – मन; जो सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध मनोवर्गणा के नाम से पहिचाने जाते हैं, उनसे बने हुए शरीर का आन्तरिक अङ्ग, जो कि अष्ट दल कमल के आकार हृदयस्थान में हैं।

मतिज्ञान के होने में इन्द्रिय-मन निमित्त होता है, ऐसा जो इस सूत्र में कहा है, सो वह परद्रव्यों के होनेवाले ज्ञान की अपेक्षा से कहा है – ऐसा समझना चाहिए। भीतर स्वलक्ष्य में मन-इन्द्रिय निमित्त नहीं है। जब जीव उस (मन और इन्द्रिय के अवलम्बन) से अंशत: पृथक् होता है, तब स्वतन्त्र तत्त्व का ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

इन्द्रियों का धर्म तो यह है कि वे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण को जानने में निमित्त हों, आत्मा में वह नहीं है, इसलिए स्वलक्ष्य में इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं। मन का धर्म यह है कि वह अनेक विकल्पों में निमित्त हो, वह विकल्प भी यहाँ (स्वलक्ष्य में) नहीं है। जो ज्ञान, इन्द्रियों तथा मन के द्वारा प्रवृत्त होता था, वही ज्ञान निजानुभव में वर्त रहा है; इस प्रकार इस मतिज्ञान में मन-इन्द्रियाँ, निमित्त नहीं हैं, यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। मन का विषय मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ हैं, इसलिए मन सम्बन्धी परिणाम, स्वरूप के विषय में एकाग्र होकर अन्य चितवन का निरोध करता है, इसलिए उसे (उपचार से) मन के द्वारा हुआ कहा जाता है। ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है।

(– आधुनिक हिन्दी, मोक्षमार्गप्रकाशक के अन्तर्गत, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ ४-७)

इस सूत्र में बतलाया गया है कि मतिज्ञान में इन्द्रिय, मन निमित्त हैं। यह नहीं कहा है कि मतिज्ञान में ज्ञेय अर्थ (वस्तु) और आलोक (प्रकाश) निमित्त हैं, क्योंकि अर्थ और आलोक, मतिज्ञान में निमित्त नहीं हैं, उन्हें निमित्त मानना भूल है। यह विषय विशेष समझने योग्य है, इसलिए इसे प्रमेयरत्नमाला हिन्दी (पृष्ठ ५० से ५५) यहाँ संक्षेप में दे रहे हैं —

प्रश्न – साँव्यवहारिक मतिज्ञान का निमित्तकारण इन्द्रियादि को कहा है, उसी प्रकार (ज्ञेय) पदार्थ और प्रकाश को भी निमित्त कारण क्यों नहीं कहा?

प्रश्नकार का तर्क यह है कि अर्थ (वस्तु) से भी ज्ञान उत्पन्न होता है और प्रकाश से भी ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि उसे निमित्त न माना जाए तो सभी निमित्त कारण नहीं आ सकते, इसलिए सूत्र अपूर्ण रह जाता है।

समाधान – आचार्यदेव कहते हैं कि –

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् *(द्वितीय समुद्देश अधिकार)*

अर्थ – अर्थ (वस्तु) और आलोक दोनों सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं हैं, किन्तु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं। जैसे अन्धकार ज्ञेय है, वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं।

इसी न्याय को बतलाने के लिए तत्पश्चात् सातवाँ सूत्र दिया है, जिसमें कहा गया है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जब अर्थ और आलोक हो, तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हों, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इनके लिए निम्नलिखित दृष्टान्त दिए गए हैं —

(१) एक मनुष्य के सिर पर मच्छरों का समूह उड़ रहा था, किन्तु दूसरे ने उसे बालों का गुच्छा समझा; इस प्रकार यहाँ अर्थ (वस्तु) ज्ञान का कारण नहीं हुआ।

(२) अन्धकार में बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी, वस्तुओं को देख सकते हैं, इसलिए ज्ञान के होने में प्रकाश कारण नहीं हुआ।

उपरोक्त दृष्टान्त (१) मच्छरों का समूह था किन्तु ज्ञान तो बालों के गुच्छे का हुआ। यदि अर्थ, ज्ञान का कारण होता तो बालों के गुच्छे का ज्ञान क्यों हुआ और मच्छरों के समूह का ज्ञान क्यों नहीं हुआ? और दृष्टान्त (२) में बिल्ली आदि को अन्धकार में ज्ञान हो जाता है; यदि प्रकाश, ज्ञान का कारण होता तो बिल्ली को अन्धकार में ज्ञान कैसे होता?

प्रश्न – तब यह मतिज्ञान किस कारण से होता है?

उत्तर – क्षायोपशमिक ज्ञान की योग्यता के अनुसार ज्ञान होता है; ज्ञान होने का यह कारण है। ज्ञान के उस क्षयोपशम के अनुसार यह होता है; वस्तु के अनुसार नहीं। इसलिए यह निश्चित्त समझना चाहिए कि बाह्य वस्तु, ज्ञान के होने में निमित्तकारण नहीं है। आगे नववें सूत्र में इस न्याय को सिद्ध किया है।

जैसे दीपक, घट इत्यादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता, तथापि वह अर्थ का प्रकाशक है। *(प्रमेयरत्नमाला, सूत्र ८)*

जिस ज्ञान की क्षयोपशम लक्षण योग्यता है, वही विषय के प्रति नियमरूप ज्ञान होने का कारण है, ऐसा समझना चाहिए। *(प्रमेयरत्नमाला, सूत्र ९)*

जब आत्मा के मतिज्ञान होता है, तब इन्द्रियाँ और मन दोनों निमित्तमात्र होते हैं, वह मात्र इतना बतलाता है कि 'आत्मा' उपादान है। निमित्त अपने में (निमित्त में) शत प्रतिशत कार्य करता है, किन्तु वह उपादान में अंशमात्र कार्य नहीं करता। निमित्त परद्रव्य है; आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है; इसलिए आत्मा में (उपादान में) उसका (निमित्त का) अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के क्षेत्र में घुस नहीं सकता; इसलिए निमित्त, उपादान का कुछ नहीं कर सकता। उपादान अपने में अपना कार्य स्वत: शत प्रतिशत करता है। मतिज्ञान परोक्षज्ञान है, यह ग्यारहवें सूत्र में कहा है। वह परोक्षज्ञान है, इसलिए उस ज्ञान के समय निमित्त की स्वत: अपने कारण से उपस्थिति होती है। वह उपस्थिति, निमित्त कैसा होता है—उसका ज्ञान कराने के लिये यह सूत्र कहा है; किन्तु 'निमित्त, आत्मा में कुछ भी कर सकता है'—यह बताने के लिए यह सूत्र नहीं कहा है। यदि निमित्त, आत्मा में कुछ करता होता तो वह (निमित्त) स्वयं ही उपादान हो जाता।

और निमित्त भी उपादान के कार्य के समय मात्र आरोपकारण है। यदि जीव, चक्षु के द्वारा ज्ञान करे तो चक्षु पर निमित्त का आरोप होता है और यदि जीव अन्य इन्द्रिय या मन के द्वारा ज्ञान करे तो उस पर निमित्त का आरोप होता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में (परद्रव्य में) अकिञ्चित्कर है, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता। अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में कदापि प्रवेश नहीं है और न अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय का उत्पादक ही है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने अन्तरङ्ग में अत्यन्त (सम्पूर्णतया) प्रकाशित है, पर में लेशमात्र भी नहीं है। इसलिए निमित्तभूतवस्तु, उपादानभूतवस्तु का कुछ भी नहीं कर सकती। उपादान में निमित्त की द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से नास्ति है और निमित्त में उपादान की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्ति है; इसलिए एक दूसरे का क्या कर सकते हैं ? यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ करने लगे तो वस्तु अपने वस्तुत्व को ही खो बैठे, किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता।

[निमित्त = संयोगरूपकारण; उपादान = वस्तु की सहज शक्ति] इस शास्त्र के दशवें

सूत्र की टीका में निमित्त-उपादान सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया है, वहाँ से विशेष समझ लेना चाहिए।

उपादान-निमित्त कारण

प्रत्येक कार्य में दो कारण होते हैं (१) उपादान (२) निमित्त। इनमें से उपादान तो निश्चय (वास्तविक) कारण है और निमित्त, व्यवहार / आरोप-कारण है, अर्थात् वह (जब उपादान कार्य कर रहा हो, तब वह उसके) अनुकूल उपस्थितरूप (विद्यमान) होता है। कार्य के समय निमित्त होता है, किन्तु उपादान में वह कोई कार्य नहीं कर सकता, इसलिए उसे व्यवहारकारण कहा जाता है। जब कार्य होता है, तब निमित्त की उपस्थिति के दो प्रकार होते हैं (१) वास्तविक उपस्थिति (२) काल्पनिक उपस्थिति। जब छद्मस्थ जीव, विकार करता है, तब द्रव्यकर्म का उदय उपस्थितरूप होता ही है, वहाँ द्रव्यकर्म का उदय उस विकार का वास्तविक उपस्थितिरूप निमित्तकारण है। (यदि जीव विकार न करे तो उसी द्रव्यकर्म की निर्जरा हुई कहलाती है) तथा जीव जब विकार करता है, तब नोकर्म की उपस्थिति वास्तव में होती है अथवा कल्पनारूप होती है।

निमित्त होता ही नहीं, यह कहकर यदि कोई निमित्त के अस्तित्व का इंकार करे, तब 'उपादान अपूर्ण हो तब निमित्त उपस्थित होता ही है', यह बतलाया जाता है किन्तु यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है, इसलिए जो निमित्त के अस्तित्व को ही स्वीकार न करे, उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। सम्यग्ज्ञान का विषय होने से आचार्यदेव ने निमित्त कैसा होता है - इसका ज्ञान कराया है। जो यह मानता है कि निमित्त, उपादान कुछ करता है, उसकी यह मान्यता मिथ्या है और इसलिए यह समझना चाहिए कि उसे सम्यग्दर्शन नहीं है॥१४॥

मतिज्ञान के क्रम के भेद -

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

अर्थ - **[अवग्रह ईहा अवाय धारणाः]** अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, यह चार भेद हैं।

टीका - **अवग्रह** - चेतना में जो थोड़ा विशेषाकार भासित होने लगता है, उस ज्ञान को 'अवग्रह' कहते हैं। विषय और विषयी (विषय करनेवाले) के योग्य स्थान में आ जाने के बाद होनेवाला आद्यग्रहण अवग्रह है। स्व और पर दोनों का (जिस समय जो विषय हो उसका) पहिले अवग्रह होता है। (Perception)

ईहा - अवग्रह के द्वारा जाने गए पदार्थ को विशेषरूप से जानने की चेष्टा (आकाँक्षा) को ईहा कहते हैं। ईहा का विशेष वर्णन ग्यारहवें सूत्र के नीचे दिया गया है। (Conception)

अवाय - विशेष चिह्न देखने से उसका निश्चय हो जाए, सो अवाय है। (Judgement)

धारणा - अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालान्तर में न भूलना, सो धारणा है। (Retention)

आत्मा के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा

जीव को अनादि काल से अपने स्वरूप का भ्रम है, इसलिए पहिले आत्मज्ञानी पुरुष से आत्मस्वरूप को सुनकर, युक्ति के द्वारा यह निर्णय करना चाहिए कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है, तत्पश्चात् —

परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण-इन्द्रिय द्वारा तथा मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि को मर्यादा में लाकर, अर्थात् परपदार्थों की ओर से अपना लक्ष्य खींचकर, जब आत्मा स्वयं स्वसन्मुख लक्ष्य करता है, तब प्रथम सामान्य स्थूलतया आत्मा सम्बन्धी ज्ञान हुआ, वह आत्मा का अर्थावग्रह हुआ; तत्पश्चात् स्व-विचार के निर्णय की ओर उन्मुख हुआ, सो ईहा और निर्णय हुआ, सो अवाय, अर्थात् ईहा से ज्ञात आत्मा में 'यह वही है, अन्य नहीं'—ऐसा दृढ़ ज्ञान, अवाय है। आत्मा सम्बन्धी कालान्तर में संशय तथा विस्मरण न हो, सो धारणा है। यहाँ तक तो मतिज्ञान में धारणा तक का अन्तिम भेद हुआ। इसके बाद यह आत्मा अनन्त ज्ञानानन्द शान्तिस्वरूप है, इस प्रकार मति में से प्रलम्बित तार्किक ज्ञान, श्रुतज्ञान है। भीतर स्वलक्ष्य में मन-इन्द्रिय निमित्त नहीं है। जब जीव उससे-अंशतः पृथक् होता है, तब स्वतन्त्र तत्त्व का ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

अवग्रह या ईहा हो, किन्तु यदि वह लक्ष्य चालू न रहे तो आत्मा का निर्णय नहीं होता, अर्थात् अवाय ज्ञान नहीं होता; इसलिए अवाय की अत्यन्त आवश्यकता है। यह ज्ञान होते समय विकल्प, राग, मन या परवस्तु की ओर लक्ष्य नहीं होता, किन्तु स्वसन्मुख लक्ष्य होता है।

सम्यग्दृष्टि को अपना (आत्मा का) ज्ञान होते समय इन चारों प्रकार का ज्ञान होता है। धारणा तो स्मृति है। जिस आत्मा को सम्यग्ज्ञान अप्रतिहत (निर्बाध) भाव से हुआ हो, उसे आत्मा का ज्ञान, धारणारूप बना ही रहता है॥१५॥

अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ –

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥१६ ॥

अर्थ – [**बहु**] बहुत [**बहुविध**] बहुत प्रकार [**क्षिप्र**] जल्दी [**अनिःसृत**] अनिःसृत [**अनुक्त**] अनुक्त [**ध्रुवाणां**] ध्रुव [**सेतराणां**] उनसे उल्टे भेदों से युक्त अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, और अध्रुव; इस प्रकार बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहादिरूप ज्ञान होता है।

टीका – **(१) बहु** – एक ही साथ बहुत से पदार्थों का अथवा बहुत से समूहों का अवग्रहादि होना, (जैसे लोगों के झुण्ड का अथवा गेहूँ के ढेर का) बहुत से पदार्थों का ज्ञानगोचर होना।

(२) एक – अल्प अथवा एक पदार्थ का ज्ञान होना, (जैसे – एक मनुष्य का अथवा पानी के प्याले का) थोड़े पदार्थों का ज्ञानगोचर होना।

(३) बहुविध – कई प्रकार के पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान होना, (जैसे कुत्ते के साथ का मनुष्य अथवा गेहूँ, चना, चावल इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थ), युगपत् बहुत प्रकार के पदार्थों का ज्ञानगोचर होना।

(४) एकविध – एक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना, (जैसे एक प्रकार के गेहूँ का ज्ञान), एक प्रकार के पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

(५) क्षिप्र – शीघ्रता से पदार्थ का ज्ञान होना।

(६) अक्षिप्र – किसी पदार्थ को धीरे–धीरे बहुत समय में जानना, अर्थात् चिरग्रहण।

(७) अनिःसृत – एक भाग के ज्ञान से सर्वभाग का ज्ञान होना, (जैसे पानी के बाहर निकली हुई सूंड को देखकर पानी में डूबे हुए पूरे हाथी का ज्ञान होना), एक भाग के अव्यक्त रहने पर भी ज्ञानगोचर होना।

(८) निःसृत – बाहर निकले हुए प्रगट पदार्थ का ज्ञान होना, पूर्णव्यक्त पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

(९) अनुक्त – (अकथित) जिस वस्तु का वर्णन नहीं किया, उसे जानना। जिसका वर्णन नहीं सुना है, फिर भी उस पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

(१०) उक्त - कथित पदार्थ का ज्ञान होना। वर्णन सुनने के बाद पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

(११) ध्रुव - बहुत समय तक ज्ञान जैसा का तैसा बना रहना, अर्थात् दृढ़तावाला ज्ञान।

(१२) अध्रुव - प्रतिक्षण हीनाधिक होनेवाला ज्ञान, अर्थात् अस्थिरज्ञान।

यह सब भेद सम्यक् मतिज्ञान के हैं। जिसे सम्यग्ज्ञान हो जाता है, वह जानता है कि आत्मा वास्तव में अपने ज्ञान की पर्यायों को जानता है और पर तो उस ज्ञान का निमित्तमात्र है। 'पर को जाना' - ऐसा कहना, सो व्यवहार है। यदि परमार्थदृष्टि से कहा जाए कि 'आत्मा पर को जानता है' सो मिथ्या है, क्योंकि ऐसा होने पर, आत्मा और पर (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों एक हो जाऐंगे, क्योंकि '**जिसका जो होता है, वह वही होता है**' इसलिए वास्तव में यदि यह कहा जाए कि 'पुद्गल का ज्ञान' है, तो ज्ञान, पुद्गलरूप-ज्ञेयरूप हो जाएगा, इसलिए यह समझना चाहिए कि निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञान की पर्याय को आत्मा जानता है। *(- श्री समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका)*

प्रश्न - अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञान का विषय कैसे सम्भव है ?

उत्तर - श्रोत्रज्ञान में 'अनुक्त' का अर्थ 'ईषत् (थोड़ा) अनुक्त' करना चाहिए; और 'उक्त' का अर्थ 'विस्तार से लक्षणादि के द्वारा वर्णन किया है' - ऐसा करना चाहिए, जिससे नाममात्र के सुनते ही जीव को विशद (विस्ताररूप) ज्ञान हो जाए तो उस जीव को अनुक्त ज्ञान ही हुआ है - ऐसा कहना चाहिए। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के द्वारा अनुक्त का ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रश्न - नेत्रज्ञान में 'उक्त' विषय कैसे सम्भव है ?

उत्तर - किसी वस्तु को विस्तारपूर्वक सुन लिया और फिर वह देखने में आये तो उस समय का नेत्रज्ञान 'उक्त-ज्ञान' कहलाता है। इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियों के द्वारा भी 'उक्त' का ज्ञान होता है।

प्रश्न - 'अनुक्त' का ज्ञान पाँच इन्द्रियों के द्वारा कैसे होता है ?

उत्तर - श्रोत्र इन्द्रिय के अतिरिक्त चार इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला ज्ञान सदा अनुक्त होता है और श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा अनुक्त का ज्ञान कैसे होता है, सो इसका स्पष्टीकरण पहिले उत्तर में किया गया है।

प्रश्न - अनि:सृत और अनुक्त पदार्थों के साथ श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों का संयोग होता हो, यह हमें दिखायी नहीं देता, इसलिए हम उस संयोग को स्वीकार नहीं कर सकते।

उत्तर - यह भी ठीक नहीं है। जैसे, यदि कोई जन्म से ही जमीन के भीतर रखा गया पुरुष किसी प्रकार बाहर निकले तो उसे घट-पटादि समस्त पदार्थों का आभास होता है; किन्तु उसे जो 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विशेषज्ञान होता है, वह उसे पर के उपदेश से ही होता है; वह स्वयं वैसा ज्ञान नहीं कर सकता; इसी प्रकार सूक्ष्म अवयवों के साथ जो इन्द्रियों का भिड़ना होता है और उससे अवग्रहादि ज्ञान होता है, वह विशेष ज्ञान भी वीतराग के उपदेश से ही जाना जाता है। अपने भीतर ऐसी शक्ति नहीं है कि उसे स्वयं जान सकें; इसलिए केवलज्ञानी के उपदेश से जब अनि:सृत और अनुक्त पदार्थों के अवग्रह इत्यादि सिद्ध हैं, तब उनका अभाव कभी नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा होनेवाले इन बारह प्रकार के मतिज्ञान का स्पष्टीकरण —

१. श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा

बहु - एक-तत (तांत का शब्द), वितत (ताल का शब्द), घन (काँसे के वाद्य का शब्द) और सुषिर (बाँसुरी आदि का शब्द) इत्यादि शब्दों का एक साथ अवग्रह ज्ञान होता है। उसमें तत इत्यादि भिन्न-भिन्न शब्दों का ग्रहण, अवग्रह से नहीं होता, किन्तु उसके समुदायरूप सामान्य को वह ग्रहण करता है; ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिए, यहाँ बहु पदार्थ का अवग्रह हुआ।

प्रश्न - सम्भिन्नसंश्रोतृऋद्धि के धारी जीव को तत इत्यादि प्रत्येक शब्द का स्पष्टतया भिन्न-भिन्नरूप से ज्ञान होता है, तो उसे यह ज्ञान होना बाधित है ?

उत्तर - यह ठीक नहीं है, सामान्य मनुष्य की भाँति उसे भी क्रमश: ही ज्ञान होता है, इसलिए उसे भी अवग्रह ज्ञान होता है।

जिस जीव के विशुद्धज्ञान मन्द होता है, उसे तत आदि शब्दों में से किसी एक शब्द का अवग्रह होता है। यह एक पदार्थ का दृष्टान्त हुआ।

बहुविध-एकविध - उपरोक्त दृष्टान्त में 'तत' आदि शब्दों में प्रत्येक शब्द के दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात या अनन्त भेदों को जीव ग्रहण करता है, तब उसे 'बहुविध' पदार्थ का अवग्रह होता है।

विशुद्धता के मन्द रहने पर जीव, तत आदि शब्दों में से किसी एक प्रकार के शब्दों को ग्रहण करता है, उसे 'एकविध' पदार्थ का अवग्रह होता है।

क्षिप्र-अक्षिप्र - विशुद्धि के बल से कोई जीव बहुत जल्दी शब्द को ग्रहण करता है, उसे 'क्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धि की मन्दता होने से जीव को ग्रहण करने में ढील होती है, उसे 'अक्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

अनि:सृत-नि:सृत - विशुद्धि के बल से जीव जब बिना कहे अथवा बिना बताए ही शब्द को ग्रहण करता है, तब उसे 'अनि:सृत' पदार्थ का अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धि की मन्दता के कारण जीव, मुख में से निकले हुए शब्द को ग्रहण करता है, तब 'नि:सृत' पदार्थ का अवग्रह हुआ कहलाता है।

शङ्का - मुख से पूरे शब्द के निकलने को 'नि:सृत' कहा है और 'उक्त' का अर्थ भी वही होता है, तब फिर दो में से एक भेद कहना चाहिए, दोनों क्यों कहते हो?

समाधान - जहाँ किसी अन्य के कहने से शब्द का ग्रहण होता है, जैसे किसी ने 'गौ' शब्द का ऐसा उच्चारण किया कि 'यहाँ यह गौ शब्द है' उस पर से जो ज्ञान होता है, वह उक्त ज्ञान है और इस प्रकार अन्य के बताए बिना शब्द सम्मुख हो उसका यह 'अमुक शब्द है' -ऐसा ज्ञान होना सो नि:सृत ज्ञान है।

अनुक्त-उक्त - जिस समय समस्त शब्द का उच्चारण न किया गया हो, किन्तु मुख में से एक वर्ण के निकलते ही विशुद्धता के बल से अभिप्रायमात्र से समस्त शब्द को किसी अन्य के कहे बिना ग्रहण कर ले कि 'वह यह कहना चाहता है' उस समय उसके 'अनुक्त' पदार्थ का अवग्रह हुआ कहलाता है।

जिस समय विशुद्धि की मन्दता से समस्त शब्द कहा जाता है, तब किसी दूसरे के कहने से जीव ग्रहण कहता है, उस समय 'उक्त' पदार्थ का अवग्रह हुआ कहलाता है। अथवा -

वीणा अथवा मृदङ्ग आदि में कौन-सा स्वर गाया जाएगा, उसका स्वर संवार न किया हो, उससे पूर्व ही केवल उस बाजे में गाये जानेवाले स्वर का मिलाप हो, उसी समय जीव को विशुद्धि के बल से ऐसा ज्ञान हो जाए कि 'वह यह स्वर बाजे में बजाएगा', उसी समय 'अनुक्त' पदार्थ का अवग्रह होता है।

विशुद्धि की मन्दता के कारण बाजे के द्वारा वह स्वर गाया जाए, उस समय जानना, सो 'उक्त' पदार्थ का अवग्रह है।

ध्रुव-अध्रुव - विशुद्धि के बल से जीव ने जिस प्रकार प्रथम समय में शब्द को ग्रहण किया, उसी प्रकार निश्चयरूप से कुछ समय ग्रहण करना चालू रहे, उसमें किञ्चित्मात्र भी न्यूनाधिक न हो, सो 'ध्रुव' पदार्थ का अवग्रह है।

बारम्बार होनेवाले संक्लेश तथा विशुद्धपरिणामस्वरूप कारणों से जीव के श्रोत्र इन्द्रियादि का कुछ आवरण और कुछ अनावरण (क्षयोपशम) भी रहता है। इस प्रकार श्रोत्र इन्द्रियादि के आवरण की क्षयोपशमरूप विशुद्धि की कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष दशा रहती है; उस समय न्यूनाधिकता जानने के कारण कुछ चल-विचलता रहती है। इससे उस 'अध्रुव' पदार्थ का अवग्रह कहलाता है तथा कभी तत इत्यादि बहुत से शब्दों का ग्रहण करना; कभी थोड़े का, कभी बहुत का, कभी बहुत प्रकार के शब्दों का ग्रहण करना; कभी एक प्रकार का, कभी जल्दी, कभी देर से, कभी अनि:सृत शब्द का ग्रहण करना, कभी नि:सृत का, कभी अनुक्त शब्द का और कभी उक्त का ग्रहण करना। इस प्रकार जो चल-विचलता से शब्द ग्रहण करना, सो सब 'अध्रुवावग्रह' का विषय है।

शङ्का-समाधान

शङ्का - 'बहु' शब्दों के अवग्रह में तत आदि शब्दों का ग्रहण माना है और 'बहुविध' शब्दों के अवग्रह में भी तत आदि शब्दों का ग्रहण माना है; तो उनमें क्या अन्तर है?

समाधान - जैसे गम्भीरतायुक्त कोई विद्वान बहुत से शास्त्रों के विशेष-विशेष अर्थ नहीं करता और एक सामान्य (संक्षेप) अर्थ का ही प्रतिपादन करता है; अन्य विद्वान बहुत से शास्त्रों में पाए जानेवाले एक दूसरे में अन्तर बतानेवाले कई प्रकार के अर्थों का प्रतिपादन करते हैं; उसी प्रकार बहु और बहुविधि दोनों प्रकार के अवग्रह में सामान्यरूप से तत आदि शब्दों का ग्रहण है, तथापि जिस अवग्रह में तत आदि शब्दों के एक, दो, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकार के भेदों का ग्रहण है, अर्थात् अनेक प्रकार के भेद-प्रभेदयुक्त तत आदि शब्दों का ग्रहण है, वह बहुविध बहुप्रकार के शब्दों को ग्रहण करनेवाला अवग्रह कहलाता है और जिस अवग्रह में भेद-प्रभेदरहित सामान्यरूप से तत आदि शब्दों का ग्रहण है, वह बहु शब्दों का अवग्रह कहलाता है।

२. चक्षु इन्द्रिय द्वारा

बहु-एक - जिस समय जीव, विशुद्धि के बल से सफेद, काले, हरे आदि रङ्गों को ग्रहण करता है, उस समय उसे 'बहु' पदार्थ का अवग्रह होता है और जब मन्दता के कारण जीव एक वर्ण को ग्रहण करता है, तब उसे 'एक' पदार्थ का अवग्रह होता है।

बहुविध-एकविध - जिस समय जीव, विशुद्धि के बल से शुक्ल, कृष्णादि प्रत्येक वर्ण के दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद-प्रभेदों को ग्रहण करता है, उस समय उसे 'बहुविध' पदार्थ का अवग्रह होता है।

जिस समय मन्दता के कारण जीव, शुक्ल-कृष्णादि वर्णों में से एक प्रकार के वर्ण को ग्रहण करता है, उस समय उसे 'एकविध' पदार्थ का अवग्रह होता है।

क्षिप्र-अक्षिप्र - जिस समय जीव, तीव्र क्षयोपशम (विशुद्धि) के बल से शुक्लादि वर्ण को जल्दी ग्रहण करता है, उस समय उसे क्षिप्र पदार्थ का अवग्रह होता है।

विशुद्धि की मन्दता के कारण जिस समय जीव, देर से पदार्थ को ग्रहण करता है, उस समय उसके 'अक्षिप्र' पदार्थ का अवग्रह होता है।

अनि:सृत-नि:सृत - जिस समय जीव, विशुद्धि के बल से किसी पचरङ्गी वस्त्र या चित्रादि के एक बार किसी भाग में से पाँच रङ्गों को देखता है, उस समय यद्यपि शेष भाग की पञ्चरंगीनता उसे दिखायी नहीं दी है तथा उस समय उसके समक्ष पूरा वस्त्र बिना खुला हुआ (घड़ी किया हुआ ही) रखा है, तथापि वह उस वस्त्र के सभी भागों की पञ्चरंगीनता को ग्रहण करता है, यह 'अनि:सृत' पदार्थ का अवग्रह है।

जिस समय विशुद्धि की मन्दता के कारण, जीव के सम्मुख बाहर निकालकर रखे गए पञ्चरङ्गी वस्त्र के पाँचों रङ्गों को जीव ग्रहण करता है, उस समय उसे 'नि:सृत' पदार्थ का अवग्रह होता है।

अनुक्त-उक्त - सफेद-काले अथवा सफेद-पीले आदि रङ्गों की मिलावट करते हुए किसी पुरुष को देखकर, (वह इस प्रकार के रङ्गों को मिलाकर अमुक प्रकार का रङ्ग तैयार करेगा), इस प्रकार विशुद्धि के बल से बिना कहे ही जान लेता है; उस समय उसे 'अनुक्त' पदार्थ का अवग्रह होता है। अथवा —

दूसरे देश में बने हुए किसी पचरङ्गी पदार्थ को कहते समय, कहनेवाला पुरुष कहने का

प्रयत्न ही कर रहा है कि उसके कहने से पूर्व ही विशुद्धि के बल से जीव जिस समय उस वस्तु के पाँच रङ्गों को जान लेता है, उस समय उसके भी 'अनुक्त' पदार्थ का अवग्रह होता है।

विशुद्धि की मन्दता के कारण, पचरङ्गी पदार्थ को कहने पर, जिस समय जीव पाँच रङ्गों को जान लेता है, उस समय उसके 'उक्त' पदार्थ का अवग्रह होता है।

ध्रुव-अध्रुव - संक्लेशपरिणामरहित और यथायोग्य विशुद्धतासहित जीव, जैसे सबसे पहिले रङ्ग को जिस-जिस प्रकार से ग्रहण करता है, उसी प्रकार निश्चलरूप कुछ समय वैसे ही उसके रङ्ग को ग्रहण करना बना रहता है; कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता; उस समय उसके 'ध्रुव' पदार्थ का अवग्रह होता है।

बारम्बार होनेवाले संक्लेशपरिणाम और विशुद्धपरिणामों के कारण, जीव के जिस समय कुछ आवरण रहता है और कुछ विकास भी रहता है तथा वह विकास कुछ उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट—ऐसी दो दशाओं में रहता है, तब जिस समय कुछ हीनता और कुछ अधिकता के कारण चल-विचलता रहती है, उस समय उसके अध्रुव अवग्रह होता है। अथवा -

कृष्णादि बहुत से रङ्गों का जानना अथवा एक रङ्ग को जानना, बहुविध रङ्गों को जानना, या एकविध रङ्ग को जानना, जल्दी रङ्गों को जानना या ढील से जानना, अनि:सृत रङ्ग को जानना या नि:सृत रङ्ग को जानना, अनुक्तरूप को जानना या उक्तरूप को जानना; इस प्रकार जो चल-विचलरूप जीव जानता है, सो अध्रुव अवग्रह का विषय है।

विशेष-समाधान - आगम में कहा है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन यह छह प्रकार का लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। लब्धि का अर्थ है क्षायोपशमिकरूप (विकासरूप) शक्ति और 'अक्षर' का अर्थ है अविनाशी। जिस क्षायोपशमिक शक्ति का कभी नाश न हो, उसे लब्ध्यसार कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनि:सृत और अनुक्त पदार्थों का भी अवग्रहादि ज्ञान होता है। लब्ध्यसार ज्ञान, श्रुतज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। जब इस ज्ञान को माना जाता है, तब अनि:सृत और अनुक्त पदार्थों के अवग्रहादि मानने में कोई दोष नहीं है।

३-४-५- घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय

घ्राण-रसना और स्पर्शन इन तीन इन्द्रियों के द्वारा उपर्युक्त बारह प्रकार के अवग्रह के भेद, श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय की भाँति समझ लेना चाहिए।

ईहा-अवाय और धारणा—चालू सूत्र का शीर्षक 'अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ'

है; उसमें अवग्रहादि के कहने पर, जैसे बारह भेद अवग्रह के कहे हैं। उसी प्रकार ईहा-अवाय और धारणा ज्ञानों का भी विषय मानना चाहिए।

शङ्का-समाधान

शङ्का - जो इन्द्रियाँ, पदार्थ को स्पर्श करके ज्ञान कराती हैं, वे पदार्थों के जितने भागों (अवयवों) के साथ सम्बन्ध होता है, उतने ही भागों का ज्ञान करा सकती हैं; अधिक अवयवों का नहीं। श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन और रसना - यह चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, इसलिए वे जितने अवयवों के साथ सम्बद्ध होती हैं, उतने ही अवयवों का ज्ञान करा सकती हैं, अधिक का नहीं; तथापि अनि:सृत और अनुक्त में ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहाँ पदार्थों का एक भाग देख लेने या सुन लेने से समस्त पदार्थ का ज्ञान माना जाता है, इसलिए श्रोत्रादि चार इन्द्रियों से जो अनि:सृत और अनुक्त पदार्थों का अवग्रह ईहादि माना गया है, वह व्यर्थ है।

समाधान - यह शङ्का ठीक नहीं है। जैसे, चींटी आदि जीवों को नाक तथा जिह्वा के साथ गुड़ आदि द्रव्यों का सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी उसकी गन्ध और रस का ज्ञान उन्हें हो जाता है, क्योंकि वहाँ अत्यन्त सूक्ष्म (जिसे हम नहीं देख सकते) गुड़ आदि के अवयवों के साथ चींटी आदि जीवों की नाक तथा जिह्वा आदि इन्द्रियों का एक दूसरे के साथ स्वाभाविक संयोग सम्बन्ध रहता है; उस सम्बन्ध में दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिए सूक्ष्म अवयवों के साथ सम्बन्ध रहने से वह प्राप्त होकर ही पदार्थ को ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार अनि:सृत और अनुक्त पदार्थों के अवग्रह इत्यादि में भी अनि:सृत और अनुक्त पदार्थों के सूक्ष्म अवयवों के साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियों का अपनी उत्पत्ति में परपदार्थों की अपेक्षा न रखनेवाला स्वाभाविक संयोग सम्बन्ध है, इसलिए अनि:सृत और अनुक्त स्थलों पर भी प्राप्त होकर इन्द्रियाँ, पदार्थों का ज्ञान कराती हैं; अप्राप्त होकर नहीं।

इस सूत्र के अनुसार मतिज्ञान के भेदों की संख्या निम्न प्रकार है —

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा = ४

पाँच इन्द्रिय और मन = ६

उपरोक्त छह प्रकार के द्वारा चार प्रकार से ज्ञान (४ × ६) = २४ तथा विषयों की अपेक्षा से बहु बहुविध आदि बारह = (२४ × १२)= २८८ भेद हैं॥ १६॥

उपरोक्त अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थभेद किसके हैं ?

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ - उपरोक्त बारह अथवा २८८ भेद (**अर्थस्य**) पदार्थ के (द्रव्य के-वस्तु के) हैं।

टीका - यह भेद व्यक्त पदार्थ के कहे हैं; अव्यक्त पदार्थ के लिये अठारहवाँ सूत्र कहा है।

यदि कोई कहे कि 'रूपादि गुण ही इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जा सकते हैं; इसलिए रूपादि गुणों का ही अवग्रह होता है, न कि द्रव्यों का।' तो यह कहना ठीक नहीं है, यह यहाँ बताया गया है। 'इन्द्रियों के द्वारा रूपादि जाने जाते हैं' यह कहनेमात्र का व्यवहार है; रूपादि गुण, द्रव्य से अभिन्न हैं, इसलिए ऐसा व्यवहार होता है कि 'मैंने रूप को देखा या मैंने गन्ध को सूँघा' किन्तु गुण-पर्याय, द्रव्य से भिन्न नहीं है, इसलिए पदार्थ का ज्ञान होता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध, पदार्थ के साथ होता है। मात्र गुण-पर्यायों के साथ नहीं होता।

अवग्रह ज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ - [**व्यञ्जनस्य**] अप्रगटरूप शब्दादि पदार्थों का [**अवग्रहः**] मात्र अवग्रह ज्ञान होता है, ईहादि तीन ज्ञान नहीं होते।

टीका - अवग्रह के दो भेद हैं - (१) व्यञ्जनावग्रह (२) अर्थावग्रह।

व्यञ्जनावग्रह - अव्यक्त-अप्रगट पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह - व्यक्त-प्रगट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह के दृष्टान्त

(१) पुस्तक का शरीर की चमड़ी से स्पर्श हुआ, तब (उस वस्तु का ज्ञान प्रारम्भ होने पर भी) कुछ समय तक वह ज्ञान अपने का प्रगटरूप नहीं होता, इसलिए जीव को उस पुस्तक का ज्ञान अव्यक्त-अप्रगट होने से उस ज्ञान को व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है।

(२) पुस्तक पर दृष्टि पड़ने पर, पहिले जो ज्ञान प्रगटरूप होता है, वह व्यक्त अथवा प्रगट पदार्थ का अवग्रह (अर्थावग्रह) कहलाता है।

व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त चार इन्द्रियों के द्वारा होता है, व्यञ्जनावग्रह

के बाद ज्ञान प्रगटरूप होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं। चक्षु और मन के द्वारा अर्थावग्रह होता है।

'अव्यक्त' का अर्थ—जैसे, मिट्टी के कोरे घड़े को पानी के छींटे डालकर भिगोना प्रारम्भ किया जाए तो थोड़े छींटे पड़ने पर भी वे ऐसे सूख जाते हैं कि देखनेवाला उस स्थान को भीगा हुआ नहीं कह सकता, तथापि युक्ति से तो वह 'भीगा हुआ ही है' यह बात मानना ही होगी। इसी प्रकार कान, नाक, जीभ और त्वचा, यह चार इन्द्रियाँ अपने विषयों के साथ भिड़ती हैं, तभी ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए पहिले ही, कुछ समय तक विषय का मन्द सम्बन्ध रहने से ज्ञान (होने का प्रारम्भ हो जाने पर भी) प्रगट मालूम नहीं होता, तथापि विषय का सम्बन्ध प्रारम्भ हो गया है, इसलिए ज्ञान का होना भी प्रारम्भ हो गया है – यह बात युक्ति से अवश्य मानना पड़ती है। **उसे (उस प्रारम्भ हुए ज्ञान को) अव्यक्तज्ञान अथवा व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।**

जब व्यञ्जनावग्रह में विषय का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं जाना जाता, तब फिर विशेषता की शङ्का तथा समाधानरूप ईहादि ज्ञान तो कहाँ से हो सकता है ? इसलिए अव्यक्त का अवग्रहमात्र ही होता है; ईहादि नहीं होते।

'व्यक्त' का अर्थ—मन तथा चक्षु के द्वारा होनेवाला ज्ञान, विषय के साथ सम्बद्ध (स्पर्शित) होकर नहीं हो सकता, किन्तु दूर रहने से ही होता है, इसलिए मन और चक्षु के द्वारा, जो ज्ञान होता है, वह 'व्यक्त' कहलाता है। चक्षु तथा मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान, अव्यक्त कदापि नहीं होता, इसलिए उसके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है।

अव्यक्त और व्यक्त ज्ञान—उपरोक्त अव्यक्त ज्ञान का नाम व्यञ्जनावग्रह है। जब से विषय की व्यक्तता भासित होने लगती है, तभी से उस ज्ञान को व्यक्तज्ञान कहते हैं, उसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थावग्रह (अर्थ सहित अवग्रह) सभी इन्द्रियों तथा मन के द्वारा होता है।

ईहा—अर्थावग्रह के बाद ईहा होता है। अर्थावग्रह ज्ञान में किसी पदार्थ की जितनी विशेषता भासित हो चुकी है, उससे अधिक जानने की इच्छा हो तो वह ज्ञान सत्य की ओर अधिक झुकता है, इसे ईहाज्ञान कहा जाता है; वह (ईहा) सुदृढ़ नहीं होता। ईहा में प्राप्त हुए सत्य विषय का यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं होता, तथापि ज्ञान का अधिकांश वहाँ होता है। वह

(ज्ञान के अधिकांश) विषय के सत्यार्थग्रही होते हैं, इसलिए ईहा को सत्य ज्ञानों में गिना गया है।

अवाय—अवाय का अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है। ईहा के बाद के काल तक ईहा के विषय पर लक्ष्य रहे तो ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है और उसे अवाय कहते हैं। ज्ञान के अवग्रह, ईहा और अवाय इन तीनों भेदों में से अवाय उत्कृष्ट अथवा सर्वाधिक विशेषज्ञान है।

धारणा—धारणा अवाय के बाद होती है, किन्तु उसमें कुछ अधिक दृढ़ता उत्पन्न होने के अतिरिक्त अन्य विशेषता नहीं है। धारणा की सुदृढ़ता के कारण एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जाने से पूर्व के अनुभव का स्मरण हो सकता है।

एक के बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं ?

अवग्रह होने के बाद ईहा हो या न हो और यदि अवग्रह के बाद ईहा हो तो एक ईहा ही होकर छूट जाता है और कभी अवाय भी होता है। अवाय होने के बाद धारणा होती है और नहीं भी होती।

ईहाज्ञान सत्य है या मिथ्या ? — जिस ज्ञान में दो विषय ऐसे आ जाएँ जिनमें एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या, तो (ऐसे समय) जिस अंश पर ज्ञान करने का अधिक ध्यान हो, तदनुसार उस ज्ञान को सत्य या मिथ्या मान लेना चाहिए। जैसे - एक चन्द्रमा के देखने पर यदि दो चन्द्रमा का ज्ञान हो और वहाँ यदि देखनेवाले का लक्ष्य केवल चन्द्रमा को समझ लेने की ओर हो तो उस ज्ञान को सत्य मानना चाहिए, और यदि देखनेवाले का लक्ष्य एक या दो ऐसी संख्या निश्चित करने की ओर हो तो उस ज्ञान को असत्य (मिथ्या) मानना चाहिए।

इस नियम के अनुसार ईहा में ज्ञान का अधिकाँश विषय का सत्यांशग्राही ही होता है, इसलिए ईहा को सत्यज्ञान में माना गया है।

(तत्वार्थसार, सनातन जैन ग्रन्थमाला, १७ का सूत्र २१, २२, २३ के नीचे की टीका, पृष्ठ १९-२०)

'धारणा' और 'संस्कार' सम्बन्धी स्पष्टीकरण

शङ्का - धारणा किसी उपयोग ज्ञान का नाम है या संस्कार का ?

शङ्काकार का तर्क - यदि उपयोगरूप ज्ञान का नाम धारणा हो तो वह धारणा, स्मरण को उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य-कारणरूप पदार्थों में परस्पर काल का अन्तर नहीं रह सकता। धारणा कब होती है और स्मरण कब, इसमें काल का बहुत

बड़ा अन्तर पड़ता है। यदि उसे (धारणा को) संस्काररूप मानकर स्मरण के समय तक विद्यमान मानने की कल्पना करें तो वह प्रत्यक्ष का भेद नहीं होता; क्योंकि संस्काररूप ज्ञान भी स्मरण की अपेक्षा से मलिन है; स्मरण उपयोगरूप होने से अपने समय में दूसरा उपयोग नहीं होने देता और स्वयं कोई विशेषज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु धारणा के संस्काररूप होने से उसके रहने पर भी अन्यान्य अनेक ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं और स्वयं वह धारणा तो अर्थ का ज्ञान ही नहीं करा सकती।

[नोट - यह शङ्काकार का तर्क है, उसका समाधान करते हैं।]

समाधान - 'धारणा' उपयोगरूप ज्ञान का भी नाम है और संस्कार का भी नाम है। धारणा को प्रत्यक्ष ज्ञान में माना है और उसकी उत्पत्ति भी अवाय के बाद ही होती है; उसका स्वरूप भी अवाय की अपेक्षा अधिक दृढ़रूप है; इसलिए उसे उपयोगरूप ज्ञान में गर्भित करना चाहिए।

वह धारणा, स्मरण को उत्पन्न करती है और कार्य के पूर्वक्षण में कारण रहना ही चाहिए, इसलिए उसे संस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो स्मरण के समय तक रहता है, उसे किसी-किसी जगह धारणा से पृथक् गिनाया है और किसी-किसी जगह धारणा के नाम से कहा है। धारणा तथा उस संस्कार में कारण-कार्य सम्बन्ध है, इसलिए जहाँ भेदविवक्षा मुख्य होती है, वहाँ भिन्न गिने जाते हैं और जहाँ अभेद-विवक्ष मुख्य होती है, वहाँ भिन्न न गिनकर केवल धारणा को ही स्मरण का कारण कहा है।

चार भेदों की विशेषता — इस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, यह चार मतिज्ञान के भेद हैं; उसका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम-अधिक-अधिक शुद्ध होता है और उसे पूर्व-पूर्व ज्ञान का कार्य समझना चाहिए। एक विषय की उत्तरोत्तर विशेषता उसके द्वारा जानी जाती है, इसलिए उन चारों ज्ञानों को एक ही ज्ञान के विशेष प्रकार भी कह सकते हैं। मति स्मृति-आदि की भाँति उसमें काल का असम्बन्ध नहीं है तथा बुद्धि मेधादि की भाँति विषय का असम्बन्ध भी नहीं है॥१८॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥१९॥

अर्थ - व्यञ्जनावग्रह [**चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्**] नेत्र और मन से [**न**] नहीं होता।

टीका - मतिज्ञान के २८८ भेद सोलहवें सूत्र में कहे गए हैं और व्यञ्जनावग्रह चार

इन्द्रियों के द्वारा होता है, इसलिए उसके बहु, बहुविध आदि बारह भेद होने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ प्रभेद होते हैं ॥१९॥

श्रुतज्ञान का वर्णन, उत्पत्ति का क्रम तथा उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

अर्थ - [**श्रुतम्**] श्रुतज्ञान [**मतिपूर्वं**] मतिज्ञान पूर्वक होता है, अर्थात् मतिज्ञान के बाद होता है, वह श्रुतज्ञान [**द्व्यनेकद्वादशभेदम्**] दो, अनेक और बारह भेदवाला है।

टीका - (१) सम्यग्ज्ञान का विषय चल रहा है, [देखो सूत्र ९], इसलिए यह सम्यक् श्रुतज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाला सूत्र है - ऐसा समझना चाहिए। मिथ्या श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में ३१वाँ सूत्र कहा है।

(२) श्रुतज्ञान - मतिज्ञान से ग्रहण किए गए पदार्थ से, उससे भिन्न पदार्थ ग्रहण करनेवाला ज्ञान, श्रुतज्ञान है। जैसे -

१- सद्गुरु का उपदेश सुनकर आत्मा का यथार्थ ज्ञान होना। इसमें उपदेश सुनना, मतिज्ञान है और फिर विचार करके आत्मा का भान प्रगट करना, श्रुतज्ञान हैं।

२- शब्द से घटादि पदार्थों को जानना। इसमें घट शब्द का सुनना, मतिज्ञान है और उससे घट पदार्थ का ज्ञान होना, श्रुतज्ञान है।

३- धुएँ से अग्नि का ग्रहण करना। इसमें धुएँ को आँख से देखकर जो ज्ञान हुआ, सो मतिज्ञान है और धुएँ से अग्नि का अनुमान करना, सो श्रुतज्ञान है।

४- एक मनुष्य ने 'जहाज' शब्द सुना, सो वह मतिज्ञान है। पहिले जहाज के गुण सुने अथवा पढ़े थे; तत्सम्बन्धी ('जहाज' शब्द सुनकर) जो विचार करता है, सो श्रुतज्ञान है।

(३) मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए विषय का अवलम्बन लेकर जो **उत्तर तर्कणा** (दूसरे विषय के सम्बन्ध में विचार) जीव करता है, सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - (१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। 'आत्मा' शब्द को सुनकर आत्मा के गुणों को हृदय में प्रगट करना, सो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षर और पदार्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध है। 'वाचक' शब्द है, उसका ज्ञान, मतिज्ञान है और उसके निमित्त से 'वाच्य' का ज्ञान होना, सो श्रुतज्ञान है। परमार्थ से ज्ञान कोई अक्षर नहीं है; अक्षर तो जड़ हैं; वह पुद्गल स्कन्ध की

पर्याय है; वह निमित्तमात्र है। 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' कहने पर, कार्य में कारण का (निमित्त का) मात्र उपचार किया गया समझना चाहिए।

(४) श्रुतज्ञान, ज्ञानगुण की पर्याय है; उसके होने में मतिज्ञान निमित्तमात्र है। श्रुतज्ञान से पूर्व ज्ञानगुण की मतिज्ञानरूप पर्याय होती है और उस उपयोगरूप पर्याय का व्यय होने पर श्रुतज्ञान प्रगट होता है, इसलिए मतिज्ञान का व्यय, श्रुतज्ञान का निमित्त है; वह 'अभावरूप निमित्त' है, अर्थात् मतिज्ञान का जो व्यय होता है, वह श्रुतज्ञान को उत्पन्न नहीं करता; किन्तु श्रुतज्ञान तो अपने उपादानकारण से उत्पन्न होता है। (मतिज्ञान से श्रुतज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।)

(५) प्रश्न – जगत में कारण के समान ही कार्य होता है; इसलिए मतिज्ञान के समान ही श्रुतज्ञान होना चाहिए?

उत्तर – उपादानकारण के समान कार्य होता है; निमित्तकारण के समान नहीं। जैसे घट की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुम्हार, आकाश इत्यादि निमित्तकारण होते हैं; किन्तु उत्पन्न हुआ घट उन दण्ड चक्र कुम्हार आकाश आदि के समान नहीं होता; किन्तु वह भिन्न स्वरूप ही (मिट्टी के स्वरूप ही) होता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान के उत्पन्न होने में मति नाम (केवल नाम) मात्र बाह्य कारण है और उसका स्वरूप श्रुतज्ञान से भिन्न है।

(६) एक बार श्रुतज्ञान के होने पर, फिर जब विचार प्रलम्बित होता है, तब दूसरा श्रुतज्ञान, मतिज्ञान के बीच में आए बिना भी उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न – ऐसे श्रुतज्ञान में 'मतिपूर्व' इस सूत्र में दी गई व्याख्या कैसे लागू होती है?

उत्तर – उसमें पहिला श्रुतज्ञान, मतिपूर्वक हुआ था, इसलिए दूसरा श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक है—ऐसा उपचार किया जा सकता है। सूत्र में 'पूर्व' पहिले 'साक्षात्' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, इसलिए यह समझना चाहिए कि श्रुतज्ञान, साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परामतिपूर्वक – ऐसे दो प्रकार से होता है। *(श्री धवल पुस्तक १३, पृष्ठ २८३-२८४)*

(७) भावश्रुत और द्रव्यश्रुत— श्रुतज्ञान में तारतम्य की अपेक्षा से भेद होता है और उसके निमित्त में भी भेद होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इन दोनों में दो, अनेक और बारह भेद होते हैं। भावश्रुत को भावागम भी कह सकते हैं और उसमें द्रव्यागम निमित्त होता है। द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं; (१) अङ्ग प्रविष्ट और (२) अङ्ग बाह्य। अङ्ग प्रविष्ट के बारह भेद हैं।

(८) अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान —अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के दो भेद हैं – पर्यायज्ञान और पर्यायसमास। सूक्ष्मनिगोदिया जीव के उत्पन्न होते समय जो पहिले समय में सर्व जघन्य श्रुतज्ञान होता है, सो पर्यायज्ञान है। दूसरा भेद पर्यायसमास है। सर्वजघन्यज्ञान से अधिक ज्ञान को पर्यायसमास कहते हैं। [उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं]। निगोदिया जीव के सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता; किन्तु मिथ्याश्रुत होता है; इसलिए यह दो भेद सामान्य श्रुतज्ञान की अपेक्षा से कहे हैं, ऐसा समझना चाहिए।

(९) यदि सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद न करके – सामान्य मतिश्रुतज्ञान का विचार करें तो प्रत्येक छद्मस्थ जीव के मति और श्रुतज्ञान होता है। स्पर्श के द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान होना सो मतिज्ञान है और उसके सम्बन्ध से ऐसा ज्ञान होना कि 'यह हितकारी नहीं है या है', सो श्रुतज्ञान है, वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रियादि असैनी जीवों के अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। सैनीपञ्चेन्द्रिय जीवों के दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान होता है।

(१०) प्रमाण के दो प्रकार—प्रमाण दो प्रकार का है – (१) स्वार्थप्रमाण, (२) परार्थप्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञानस्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुत के अतिरिक्त चार ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। श्रुतप्रमाण स्वार्थ-परार्थ – दोनों रूप हैं; इसलिए वह ज्ञानरूप और वचनरूप है। श्रुत उपादान है और वचन उसका निमित्त है। [विकल्प का समावेश वचन में हो जाता है।] श्रुतप्रमाण का अंश 'नय' है।

[पञ्चाध्यायी भाग १, पृष्ठ ३४४, पण्डित देवकीनन्दनजी कृत और जैन सिद्धान्त दर्पण, पृष्ठ २२, राजवार्तिक पृष्ठ १५३, सर्वार्थसिद्धि-अध्याय एक, सूत्र ६ पृष्ठ ५६]

(११) 'श्रुत' का अर्थ—श्रुत का अर्थ होता है, सुना हुआ विषय अथवा 'शब्द'। यद्यपि श्रुतज्ञान, मतिज्ञान के बाद होता है, तथापि उसमें वर्णनीय तथा शिक्षा योग्य सभी विषय आते हैं, और वह सुनकर जाना जा सकता है; इस प्रकार श्रुतज्ञान में श्रुत का (शब्द का) सम्बन्ध मुख्यता से है, इसलिए श्रुतज्ञान को शास्त्रज्ञान (भावशास्त्रज्ञान) भी कहा जाता है। (शब्दों को सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है, उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार का भी श्रुतज्ञान होता है।) सम्यग्ज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनने से पात्र जीवों को आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, इस अपेक्षा से उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(१२) रूढ़ि के बल से भी मतिपूर्वक होनेवाले इस विशेष ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

(१३) श्रुतज्ञान को वितर्क - भी कहते हैं। [अध्याय ९, सूत्र ३९]

(१४) अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य—

अङ्गप्रविष्ट के बारह भेद हैं - (१) आचाराङ्ग, (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानाङ्ग, (४) समवायाङ्ग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग, (६) ज्ञातृधर्म कथाङ्ग, (७) उपासकाध्ययनाङ्ग, (८) अन्तःकृतदशाङ्ग, (९) अनुत्तरौपपादिकाङ्ग, (१०) प्रश्नव्याकरणाङ्ग, (११) विपाकसूत्राङ्ग, और (१२) दृष्टिप्रवादाङ्ग।

अङ्गबाह्य श्रुत में - चौदह प्रकीर्णक होते हैं। इन बारह अङ्ग और चौदह पूर्व की रचना, जिस दिन तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है, तब भावश्रुतरूप पर्याय से परिणत गणधर भगवान एक ही मुहूर्त में क्रम से करते हैं।

(१५) यह सब शास्त्र निमित्तमात्र है, भावश्रुतज्ञान में उसका अनुसरण करके तारतम्य होता है - ऐसा समझना चाहिए।

(१६) मति और श्रुतज्ञान के बीच का भेद —

प्रश्न - जैसे मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है, तब फिर दोनों में अन्तर क्या है ?

शङ्काकार के कारण - इन्द्रिय और मन से मतिज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह प्रसिद्ध है; श्रुतज्ञान, वक्ता के कथन और श्रोता के श्रवण से उत्पन्न होता है, इसलिए वक्ता की जीभ और श्रोता के कान तथा मन, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में कारण है; इस प्रकार मति-श्रुत दोनों के उत्पादक कारण इन्द्रिय और मन हुए, इसलिए उन दोनों को एक मानना चाहिए।

उत्तर - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को एक मानना ठीक नहीं है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होते हैं, यह हेतु असिद्ध है; क्योंकि जीभ और कान को श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में कारण मानना भूल है। जीभ तो शब्द का उच्चारण करने में कारण है, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में नहीं। कान भी जीव के होनेवाले मतिज्ञान की उत्पत्ति में कारण है, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में नहीं, इसलिए श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में दो इन्द्रियों को कारण बताना और मति तथा श्रुतज्ञान दोनों को इन्द्रियों और मन से उत्पन्न कहकर दोनों की एकता मानना मिथ्या है। वे दो इन्द्रियाँ श्रुतज्ञान में निमित्त नहीं है। इस प्रकार मति और श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के कारण में भेद है। मतिज्ञान इन्द्रियों और मन के कारण उत्पन्न होता है और जिस पदार्थ का

इन्द्रियों तथा मन के द्वारा मतिज्ञान से निर्णय हो जाता है, उस पदार्थ का मन के द्वारा जिस विशेषता से ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है, इसलिए दोनों ज्ञान एक नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न हैं।

विशेष स्पष्टीकरण — १- इन्द्रिय और मन के द्वारा यह निश्चय किया कि यह 'घट' है, सो यह मतिज्ञान है, तत्पश्चात् उस घड़े से भिन्न, अनेक स्थलों और अनेक काल में रहनेवाले अथवा विभिन्न रङ्गों के समानजातीय दूसरे घड़ों का ज्ञान करना श्रुतज्ञान है। एक पदार्थ को जानने के बाद समानजातीय दूसरे प्रकार को जानना, सो श्रुतज्ञान का विषय है। अथवा -

२- इन्द्रिय और मन के द्वारा जो घट का निश्चय किया, तत्पश्चात् उसके भेदों का ज्ञान करना, सो श्रुतज्ञान है। जैसे - अमुक घड़ा, अमुक रङ्ग का है, अथवा घड़ा मिट्टी का है, ताँबे का है, पीतल का है। इस प्रकार इन्द्रिय और मन के द्वारा निश्चय करके उसके भेद-प्रभेद को जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। उसी (मतिज्ञान के द्वारा जाने गए) पदार्थ के भेद-प्रभेद का ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। अथवा -

३- 'यह जीव है' या 'यह अजीव' ऐसा निश्चय करने के बाद जिस ज्ञान से सत्-संख्यादि द्वारा उसका स्वरूप जाना जाता है, वह श्रुतज्ञान है, क्योंकि उस विशेष स्वरूप का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए वह मतिज्ञान का विषय नहीं किन्तु श्रुतज्ञान का विषय है। जीव-अजीव को जानने के बाद उसके सत्संख्यादि विशेषों का ज्ञान मात्र मन के निमित्त से होता है। मतिज्ञान में एक पदार्थ के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ का या उसी पदार्थ के विशेषों का ज्ञान नहीं होता; इसलिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। अवग्रह के बाद ईहाज्ञान में उसी पदार्थ का विशेष ज्ञान है और ईहा के बाद अवाय में उसी पदार्थ का विशेष ज्ञान है; किन्तु उसमें (ईहा या अवाय में) उसी पदार्थ के भेद-प्रभेद का ज्ञान नहीं है, इसलिए वह मतिज्ञान है-श्रुतज्ञान नहीं। (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञान के भेद हैं।)

सूत्र ११ से २० तक का सिद्धान्त

जीव को सम्यग्दर्शन होते ही सम्यक्मति और सम्यक्श्रुतज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य, ऐसा समझना चाहिए। यह जो सम्यक्मति और श्रुतज्ञान के भेद दिए गए हैं, वे ज्ञान की विशेष निर्मलता होने के लिये दिए गए हैं; उन भेदों में अटककर राग में लगे रहने के लिए नहीं दिए गए हैं; इसलिए उन भेदों का स्वरूप जानकर जीव को अपने

त्रैकालिक अखण्ड अभेद चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर निर्विकल्प होने की आवश्यकता है ॥२०॥

अवधिज्ञान का वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

अर्थ - [**भवप्रत्ययः**] भवप्रत्यय नामक [**अवधिः**] अवधिज्ञान [**देवनारकाणाम्**] देव और नारकियों के होता है।

टीका—(१) अवधिज्ञान के दो भेद हैं (१) भवप्रत्यय, (२) गुणप्रत्यय। प्रत्यय, कारण और निमित्त तीनों एकार्थ वाचक शब्द हैं। यहाँ 'भवप्रत्यय' शब्द बाह्य निमित्त की अपेक्षा से कहा है, अन्तरङ्ग निमित्त तो प्रत्येक प्रकार के अवधिज्ञान में अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

(२) देव और नारक पर्याय के धारण करने पर जीव को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह भवप्रत्यय कहलाता है। जैसे पक्षियों में जन्म का होना ही आकाश में गमन का निमित्त होता है, न कि शिक्षा, उपदेश, जप-तप इत्यादि। इसी प्रकार नारकी और देव की पर्याय में उत्पत्ति मात्र से अवधिज्ञान प्राप्त होता है। [यहाँ सम्यग्ज्ञान का विषय है, फिर भी सम्यक् या मिथ्या का भेद किए बिना सामान्य अवधिज्ञान के लिए 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है।]

(३) भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थङ्करों के (गृहस्थदशा में) होता है, वह नियम से देशावधि होता है। वह समस्त प्रदेश से उत्पन्न होता है।

(४) 'गुणप्रत्यय' - किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीव के पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहलाता है ॥२१॥

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान के भेद तथा उनके स्वामी -

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अर्थ - [**क्षयोपशमनिमित्तः**] क्षयोपशमनैमित्तिक अवधिज्ञान [**षडविकल्पः**] अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित - ऐसे छह भेदवाला है, और वह [**शेषाणाम्**] मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के होता है।

टीका—(१) अनुगामी - जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की भाँति जीव के साथ ही साथ जाता है, उसे अनुगामी कहते हैं।

अननुगामी - जो अवधिज्ञान जीव के साथ ही साथ नहीं जाता, उसे अननुगामी कहते हैं।

वर्धमान - जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कला की भाँति बढ़ता रहे, उसे वर्धमान कहते हैं।

हीयमान - जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की कला की तरह घटता रहे, उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थित - जो अवधिज्ञान एक-सा रहे, न घटे न बढ़े, उसे अवस्थित कहते हैं।

अनवस्थित - जो पानी की तरङ्गों की भाँति घटता-बढ़ता रहे, एक-सा न रहे, उसे अनवस्थित कहते हैं।

(२) यह अवधिज्ञान मनुष्यों को होता है, ऐसा कहा गया है। इसमें तीर्थङ्करों को नहीं लेना चाहिए, उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्यों को समझना चाहिए, वह भी बहुत थोड़े से मनुष्यों को होता है। इस अवधिज्ञान को 'गुणप्रत्यय' भी कहा जाता है। वह नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नों के द्वारा होता है।

(३) अवधिज्ञान के प्रतिपाति[१], अप्रतिपाति[२], देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद हैं।

(४) जघन्य[३] देशावधि संयत तथा असंयत मनुष्यों और तिर्यञ्चों के होता है। (देव-नारकी को नहीं होता) उत्कृष्ट देशावधि संयत भावमुनि के ही होता है - अन्य तीर्थङ्करादि गृहस्थ मनुष्य, देव, नारकी के नहीं होता; उनके देशावधि होता है।

(५) देशावधि उपरोक्त (पैरा १ में कहे गए) छह प्रकार तथा प्रतिपाति और अप्रतिपाति ऐसे आठ प्रकार का होता है।

परमावधि-अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित और अप्रतिपाति होता है।

(६) अवधिज्ञान रूपी-पुद्गल तथा उस पुद्गल के सम्बन्धवाले संसारी जीव (के विकारी भाव) को प्रत्यक्ष जानता है।

---

१. प्रतिपाति=जो गिर जाता है। २. अप्रतिपाति=जो नहीं गिरता। ३. जघन्य=सबसे कम।

(७) द्रव्य अपेक्षा से जघन्य अवधिज्ञान का विषय - एक जीव के औदारिकशरीर सञ्चय के लोकाकाश-प्रदेशप्रमाण खण्ड करने पर उसके एक खण्ड तक का ज्ञान होता है।

द्रव्यापेक्षा से सर्वावधिज्ञान का विषय - एक परमाणु तक जानता है [देखो सूत्र २८ की टीका]

द्रव्यापेक्षा से मध्यम अवधिान का विषय - जघन्य और उत्कृष्ट के बीच के द्रव्यों के भेदों को जानता है।

क्षेत्रापेक्षा से जघन्य अवधिज्ञान का विषय - उत्सेघाङ्गुल के [आठ यब मध्य के] असंख्यातवें भाग तक के क्षेत्र को जानता है।

क्षेत्र अपेक्षा से उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय - असंख्यात लोकप्रमाण तक क्षेत्र को जानता है।

क्षेत्र अपेक्षा से मध्यम अवधिज्ञान का विषय - जघन्य और उत्कृष्ट के बीच के क्षेत्र-भेदों को जानता है।

कालापेक्षा से जघन्य अवधिज्ञान का विषय - आवली के असंख्यात भाग प्रमाणभूत और भविष्य को जानता है।

कालापेक्षा से उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय - असंख्यात लोकप्रमाण अतीत और अनागत काल को जानता है।

कालापेक्षा से मध्यम अवधिज्ञान का विषय - जघन्य और उत्कृष्ट के बीच के कालभेदों को जानता है।

भाव अपेक्षा से अवधिज्ञान का विषय - पहिले द्रव्यप्रमाण निरूपण किए गए, द्रव्यों की शक्ति को जानता है। *[श्री धवला पुस्तक १, पृष्ठ १३-१४]*

(८) कर्म का क्षयोपशम निमित्तमात्र है अर्थात् जीव अपने पुरुषार्थ से अपने ज्ञान की विशुद्धि अवधिज्ञानपर्याय को प्रगट करता है, उसमें 'स्वयं ही कारण है। अवधिज्ञान के समय अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम स्वयं होता है, इतना सम्बन्ध बताने को निमित्त बताया है। कर्म की उस समय की स्थिति कर्म के अपने कारण से क्षयोपशमरूप होती है, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह यहाँ बताया है। '

क्षयोपशम का अर्थ - (१) सर्वघातिस्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय, (२) देशघाति-स्पर्द्धकों में गुण का सर्वथा घात करने की शक्ति का उपशम, सो क्षयोपशम कहलाता है। तथा-

(९) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में वेदक सम्यक्त्वप्रकृति के स्पर्द्धकों को 'क्षय' और मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृतियों के उदयाभाव को उपशम कहते हैं। प्रकृतियों के क्षय तथा उपशम को क्षयोपशम कहते हैं। *(श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २००, २११-२२१)*

(१०) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रत के निमित्त से होता है, तथापि वह सभी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती या महाव्रती जीवों के नहीं होता, क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप परिणामों में अवधिज्ञानवरण के क्षयोपशम के कारणभूत परिणाम बहुत थोड़े होते हैं [श्री जयधवला १, पृष्ठ १७] गुण प्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवों के ही हो सकता है, किन्तु वह सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के नहीं होता।

सूत्र २१-२२ का सिद्धान्त

यह मानना ठीक नहीं है कि 'जिन जीवों को अवधिज्ञान हुआ हो, वे ही जीव अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर दर्शनमोहकर्म के रजकणों की अवस्था को देखकर उस पर से यह यथार्थतया जान सकते हैं कि हमें सम्यग्दर्शन हुआ है' क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों को अवधिज्ञान नहीं होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवों में से बहुत थोड़े से जीवों को अवधिज्ञान होता है। अपने को 'सम्यग्दर्शन हुआ है' यदि यह अवधिज्ञान के बिना निश्चय न हो सकता होता तो जिन जीवों के अवधिज्ञान नहीं होता, उन्हें सदा तत्सम्बन्धी शङ्का-संशय बना ही रहेगा, किन्तु निःशङ्कित्व सम्यग्दर्शन का पहिला ही आचार है; इसलिए जिन जीवों को सम्यग्दर्शन सम्बन्धी शङ्का बनी रहती है, वे जीव वास्तव में सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते, किन्तु मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिए अवधिज्ञान का, मनःपर्ययज्ञान का तथा उनके भेदों का स्वरूप जानकर, भेदों की ओर के राग को दूर करके अभेद ज्ञानस्वरूप अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होना चाहिए॥२२॥

मन:पर्ययज्ञान के भेद

ऋजुविपुलमती मन:पर्यय: ॥२३॥

अर्थ - [**मन:पर्यय:**] मन:पर्ययज्ञान [**ऋजुमतिविपुलमति:**] ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकार का है।

टीका— (१) मन:पर्ययज्ञान की व्याख्या नववें सूत्र की टीका में की गई है। दूसरे के मनोगत मूर्तिक द्रव्यों को मन के साथ जो प्रत्यक्ष जानता है, सो मन:पर्ययज्ञान है।

(२) द्रव्यापेक्षा से मन:पर्ययज्ञान का विषय - जघन्यरूप से एक समय में होनेवाले औदारिकशरीर के निर्जरारूप द्रव्य तक जान सकता है; उत्कृष्टरूप से आठ कर्मों के एक समय में बन्धे हुए समयप्रबद्धरूप[१] द्रव्य के अनन्त भागों में से एक भाग तक जान सकता है।

क्षेत्रापेक्षा से इस ज्ञान का विषय - जघन्यरूप से दो, तीन कोस तक के क्षेत्र को जानता है और उत्कृष्टरूप से मनुष्यक्षेत्र के भीतर जान सकता है। [यहाँ विष्कम्भरूप मनुष्यक्षेत्र समझना चाहिए।]

कालापेक्षा से इस ज्ञान का विषय - जघन्यरूप से दो तीन भवों का ग्रहण करता है; उत्कृष्टरूप से असंख्यात भवों का ग्रहण करता है।

भावापेक्षा से इस ज्ञान का विषय - द्रव्यप्रमाण में कहे गये द्रव्यों की शक्ति को (भाव को) जानता है। *[श्री धवला पुस्तक १, पृष्ठ ९४]*

इस ज्ञान के होने में मन अपेक्षामात्र (निमित्तमात्र) कारण है; वह उत्पत्ति का कारण नहीं। इस ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा की शुद्धि से होती है। इस ज्ञान के द्वारा स्व तथा पर दोनों के मन में स्थित रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं। *[श्री सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४४८-४५१-४५२]*

दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को भी मन कहते हैं; उनकी पर्यायों (विशेषों) को मन:पर्यय कहते हैं, उसे जो ज्ञान जानता है, सो मन:पर्ययज्ञान है। मन:पर्ययज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति - ऐसे दो भेद हैं।

ऋजुमति - मन में चिन्तित पदार्थ को जानता हैं, अचिन्तित पदार्थ को नहीं और वह भी सरलरूप से चिन्तित पदार्थ को जानता है। [देखो, सूत्र २८ की टीका]

---

१. समयप्रबद्ध - एक समय में जितने कर्म परमाणु और नो कर्म परमाणु बंधते हैं, उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

विपुलमति - चिन्तित और अचिन्तित पदार्थ को तथा वक्रचिन्तित और अवक्रचिन्तित पदार्थ को भी जानता है। [देखो, सूत्र २८ की टीका]

मन:पर्ययज्ञान विशिष्ट संयमधारी के होता है [श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २८-२९] 'विपुल' का अर्थ विस्तीर्ण-विशाल-गम्भीर होता है। [उसमें कुटिल, असरल, विषम, सरल इत्यादि गर्भित हैं] विपुलमतिज्ञान में ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा) सर्वप्रकार के रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरों के जीवन-मरण, सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, इत्यादि का भी ज्ञान होता है। *(श्री धवला पुस्तक १३, पृष्ठ ३२८ से ३४४ एवं सूत्र ६० से ७८)*

विपुलमति मन:पर्ययज्ञानी व्यक्त अथवा अव्यक्त मन से चिन्तित या अचिन्तित अथवा आगे जाकर चिन्तवन किए जानेवाले सर्व प्रकार के पदार्थों को जानता है।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८-४५१-४५२)

कालापेक्षा से ऋजुमति का विषय - जघन्यरूप से भूत-भविष्यत के अपने और दूसरे के दो-तीन भव जानता है और उत्कृष्टरूप से उसी प्रकार सात-आठ भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षा से - यह ज्ञान जघन्यरूप से तीन से ऊपर और नौ से नीचे कोस, तथा उत्कृष्टरूप से तीन से ऊपर और नौ से नीचे योजन के भीतर जानता है। उससे बाहर नहीं जानता।

कालापेक्षा से विपुलमतिका विषय - जघन्यरूप से अगले-पिछले सात-आठ भव जानता है और उत्कृष्टरूप से अगले-पिछले असंख्यात भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षा में - यह ज्ञान जघन्यरूप से तीन से ऊपर और नौ से नीचे योजन प्रमाण जानता है और उत्कृष्टरूप से मानुषोत्तरपर्वत के भीतर तक जानता है, उससे बाहर नहीं।

(सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४५४)

विपुलमति का अर्थ-इंग्लिश तत्त्वार्थसूत्र में निम्न प्रकार दिया है —

Complex direct knowledge of complex mental thing. e.g. of what a man is thinking of now along with what he has thought of it in the past and will think of it in the future. *(पृष्ठ ४०)*

अर्थ - मन में स्थित पेचीदा वस्तुओं का पेचीदगी सहित प्रत्यक्षज्ञान, जैसे एक मनुष्य वर्तमान में क्या विचार कर रहा है, उसके साथ भूतकाल में उसने क्या विचार किया है और भविष्य में क्या विचार करेगा, इस ज्ञान का मनोगत विकल्प मन:पर्ययज्ञान का विषय है। (बाह्य वस्तु की अपेक्षा मनोगतभाव एक अति सूक्ष्म और विजातीय वस्तु है।)

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

अर्थ - [**विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां**] परिणामों की विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होने से पूर्व न छूटना [**तद्विशेषः**] इन दो बातों से ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान में विशेषता (अन्तर) है।

टीका—ऋजुमति और विपुलमति यह दो मनःपर्ययज्ञान के भेद सूत्र २३ की टीका में दिए गए हैं। इस सूत्र में स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नहीं छूट सकता, किन्तु वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है। यह भेद चारित्र की तीव्रता के भेद के कारण होते हैं। संयम परिणाम का घटना-उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमतिवाले के होता है॥२४॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विशेषता

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः ॥२५॥

अर्थ - [**अवधिमनःपर्ययोः**] अवधि और मनःपर्ययज्ञान में [**विशुद्धिक्षेत्र-स्वामिविषयेभ्यः**] विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा विशेषता होती है।

टीका—मनः पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव-मुनियों के ही होता है और अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी जीवों के होता है, यह स्वामी की अपेक्षा से भेद है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात लोक-प्रमाण तक है और मनःपर्ययज्ञान का ढाई द्वीप मनुष्यक्षेत्र है। यह क्षेत्रापेक्षा से भेद है।

स्वामी तथा विषय के भेद से विशुद्धि में अन्तर जाना जा सकता है, अवधिज्ञान का विषय परमाणुपर्यन्त रूपी पदार्थ है और मनःपर्यय का विषय मनोगत विकल्प है।

विषय का भेद सूत्र २७-२८ की टीका में दिया गया है तथा सूत्र २२ की टीका में अवधिज्ञान का और २३ की टीका में मनःपर्ययज्ञान का विषय दिया गया है, उस पर से यह भेद समझ लेना चाहिए॥२५॥

मति-श्रुतज्ञान का विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अर्थ - [**मतिश्रुतयोः**] मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का [**निबन्धः**] विषय-सम्बन्ध [**असर्वपार्ययेषु**] कुछ (न कि सर्व) पर्यायों से युक्त [**द्रव्येषु**] जीव-पुद्गलादि सर्व द्रव्यों में है।

टीका—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्यों को जानते हैं, किन्तु उनकी सभी पर्यायों को नहीं जानते, उनका विषय-सम्बन्ध सभी द्रव्य और उनको कुछ पर्यायों के साथ होता है।

इस सूत्र में 'द्रव्येषु' शब्द दिया है, जिससे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्य समझना चाहिए। उनकी कुछ पर्यायों को यह ज्ञान जानते हैं, सभी पर्यायों को नहीं।

प्रश्न - जीव, धर्मास्तिकाय इत्यादि अमूर्तद्रव्य हैं, उन्हें मतिज्ञान कैसे जानता है, जिससे यह कहा जा सके कि मतिज्ञान सब द्रव्यों को जानता है ?

उत्तर - अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से अरूपी द्रव्यों को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान पहिले उत्पन्न होता है और फिर उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान सर्व द्रव्यों को जानता है और अपनी योग्य पर्यायों को जानता है।

आत्मा का निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान जो सम्यक्मति और श्रुतरूप है, उसका विषय त्रिकाली शुद्ध आत्मा होता है।

इन दोनों ज्ञानों के द्वारा जीव को भी यथार्थतया जाना जा सकता है ॥२६॥

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अर्थ - [**अवधेः**] अवधिज्ञान का विषय-सम्बन्ध [**रूपिषु**] रूपी द्रव्यों में है अर्थात् अवधिज्ञानरूपी पदार्थों को जानता है।

टीका—जिसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होता है, वह पुद्गलद्रव्य है; पुद्गलद्रव्य से सम्बन्ध रखनेवाले संसारी जीव को भी इस ज्ञान के हेतु के लिए कहा जाता है। [सूत्र २८ की टीका]

जीव के पाँच भावों में से औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक – यह तीन भाव (परिणाम) ही अवधिज्ञान के विषय हैं और जीव के शेष–क्षायिक तथा पारिणामिकभाव और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अरूपी पदार्थ हैं, वे अवधिज्ञान के विषयभूत नहीं होते।

यह ज्ञान सब रूपी पदार्थों और उनकी कुछ पर्यायों को जानता है॥२७॥

मन:पर्ययज्ञान का विषय

तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य॥२८॥

अर्थ – **[तत् अनन्तभागे]** सर्वावधिज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनन्तवें भाग में **[मन:पर्ययस्य]** मन:पर्ययज्ञान का विषय सम्बन्ध है।

टीका —परमावधिज्ञान के विषयभूत जो पुद्गलस्कन्ध हैं, उनका अनन्तवां भाग करने पर जो एक परमाणुमात्र होता है, सो सर्वावधि का विषय है, उसका अनन्तवाँ भाग ऋजुमति–मन:पर्ययज्ञान का विषय है और उसका अनन्तवां भाग विपुलमतिमन:पर्ययज्ञान का विषय है। *(सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ४७३)*

सूत्र २७–२८ का सिद्धान्त

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का विषय रूपी है, ऐसा यहाँ कहा गया है। अध्याय दो सूत्र एक में आत्मा के पाँच भाव कहे हैं, उनमें से औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक ये तीन भाव, इस ज्ञान के विषय हैं, ऐसा २७वें सूत्र में कहा है। इससे निश्चय होता है कि परमार्थत: यह तीन भाव रूपी हैं अर्थात् वे अरूपी आत्मा का स्वरूप नहीं है। क्योंकि आत्मा में से वे भाव दूर हो सकते हैं और जो दूर हो सकते हैं, वे परमार्थत: आत्मा के नहीं हो सकते। 'रूपी' की व्याख्या अध्याय पाँच के सूत्र पाँचवें में दी है। वहाँ पुद्गल 'रूपी' है – ऐसा कहा है और पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाले हैं, यह अध्याय पाँच के २३ सूत्र में कहा है। श्रीसमयसार की गाथा ५० से ६८ तथा २०३ में यही कहा है कि वर्णादि से गुणस्थान तक के भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जीव की अनुभूति से भिन्न हैं, इसलिए वे जीव नहीं हैं। वही सिद्धान्त इस शास्त्र में उपरोक्त संक्षिप्त सूत्रों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है।

अध्याय २ सूत्र १ में उन भावों को व्यवहार से जीव का कहा है। यदि वे वास्तव में जीव के होते तो कभी जीव से अलग न होते, किन्तु वे अलग किए जा सकते हैं, इसलिए वे जीवस्वरूप या जीव के निजभाव नहीं हैं॥२८॥

केवलज्ञान का विषय

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अर्थ - [**केवलस्य**] केवलज्ञान का विषय-सम्बन्ध [**सर्वद्रव्य-पर्यायेषु**] सर्वद्रव्य और उनकी सर्व पर्याय हैं अर्थात् केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थों को और उनकी सभी पर्यायों को जानता है।

टीका—केवलज्ञान - असहाय ज्ञान अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय, मन या आलोक की अपेक्षा से रहित है। वह त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानता है। वह असङ्कुचित, प्रतिपक्षी रहित और अमर्यादित है।

शङ्का - जिस पदार्थ का नाश हो चुका है और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुआ, उसे केवलज्ञान कैसे जान सकता है?

समाधान - केवलज्ञान निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों को जाने तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। केवलज्ञान को विपर्ययज्ञानत्व का भी प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप से पदार्थों को जानता है। यद्यपि नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं का वर्तमान में सद्भाव नहीं है, तथापि उनका अत्यन्ताभाव भी नहीं है।

केवलज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को अक्रम से एक ही काल में जानता है; वह ज्ञान सहज (बिना इच्छा के) जानता है। केवलज्ञान में ऐसी शक्ति है कि अनन्तानन्त लोक-अलोक हों तो भी उन्हें जानने में केवलज्ञान समर्थ है।

(विशेष स्पष्टता के लिये देखो अध्याय १ परिशिष्ट ५ जो बड़े महत्वपूर्ण हैं।)

शङ्का - केवली भगवान के एक ही ज्ञान होता है या पाँचों?

समाधान - पाँचों ज्ञानों का एक ही साथ रहना नहीं माना जा सकता, क्योंकि मतिज्ञानादि आवरणीय ज्ञान हैं; केवलज्ञानी भगवान क्षीण आवरणीय हैं, इसलिए भगवान के आवरणीय ज्ञान का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि आवरण के निमित्त से होनेवाले ज्ञानों का (आवरणों का अभाव होने के बाद) रहना हो सकता है—ऐसा मानना न्याय-विरुद्ध है।

(श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २९-३०)

मति आदि ज्ञानों का आवरण केवलज्ञानावरण के नाश होने के साथ ही सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है। [देखो, सूत्र ३० की टीका]

एक ही साथ सर्वथा जानने की एक-एक जीव में सामर्थ्य है।

२९वें सूत्र का सिद्धान्त

'मैं पर को जानूँ तो बड़ा कहलाऊँ' ऐसा नहीं, किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्त ज्ञान-ऐश्वर्यरूप है, इसलिए मैं पूर्णज्ञानघन स्वाधीन आत्मा हूँ – इस प्रकार पूर्ण साध्य को प्रत्येक जीव को निश्चित करना चाहिए; इस प्रकार निश्चित करके स्व से एकत्व और पर से विभक्त (भिन्न) अपने एकाकार स्वरूप की ओर उन्मुख होना चाहिए। अपने एकाकार स्वरूप की और उन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जीव क्रमशः आगे बढ़ता है और थोड़े समय में उसकी पूर्ण **ज्ञान-दशा** प्रगट हो जाती है॥२९॥

एक जीव के एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

अर्थ - [**एकस्मिन्**] एक जीव में [**युगपत्**] एक साथ [**एकादोनि**] एक से लेकर [**आचतुर्भ्यः**] चार ज्ञान तक [**भाज्यानि**] विभक्त करने योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

टीका— (१) एक जीव के एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है; दो हों तो मति और श्रुत होते हैं; तीन हों तो मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मनःपर्ययज्ञान होते हैं; चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। एक ही साथ पाँच ज्ञान किसी के नहीं होते और एक ही ज्ञान **एक समय में** उपयोगरूप होता है। केवलज्ञान के प्रगट होने पर वह सदा के लिए बना रहता है। दूसरे ज्ञानों का उपयोग अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त होता है, उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञान के उपयोग का विषय बदल ही जाता है। केवली के अतिरिक्त सभी संसारी जीवों के कम से कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

(२) क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है, एक काल में एक ही प्रवर्तित होता है; किन्तु यहाँ जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे हैं, सो चार का विकास एक ही समय होने से चार ज्ञानों की जाननेरूप लब्धि एक काल में होती है – यही कहने का तात्पर्य है। उपयोग तो एक काल में एक ही स्वरूप होता है॥३०॥

सूत्र ९ से ३० तक का सिद्धान्त

आत्मा वास्तव में परमार्थ है और वह ज्ञान है। आत्मा स्वयं एक ही पदार्थ है, इसलिए

ज्ञान भी एक ही पद है। जो यह ज्ञान नामक एक पद है, सो यह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष-उपाय है। इन सूत्रों में ज्ञान के जो भेद कहे हैं, वे इस एक पद को अभिनन्दन करते हैं।

ज्ञान के हीनाधिकरूप भेद उसके सामान्य ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, किन्तु अभिनन्दन करते हैं; इसलिए जिसमें समस्त भेदों का अभाव है, ऐसे आत्मस्वभावभूत ज्ञान का ही एक का आलम्बन करना चाहिए अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अवलम्बन करना चाहिए, ज्ञानस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से ही निम्न प्रकार प्राप्ति होती है —

(१) जिन पद की प्राप्ति होती है। (२) भ्रान्ति का नाश होता है। (३) आत्मा का लाभ होता है। (४) अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है। (५) भावकर्म बलवान नहीं हो सकता। (६) राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते। (७) पुनः कर्म का आस्रव नहीं होता। (८) पुनः कर्म नहीं बँधता। (९) पूर्वबद्ध कर्म भोगा जाने पर निर्जरित हो जाता है। (१०) समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा के आलम्बन को ऐसी महिमा है।

क्षायोपशम के अनुसार ज्ञान में जो भेद होते हैं, वे कहीं ज्ञान सामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञान को प्रकट करते हैं, इसलिए इन सब भेदों पर का लक्ष गौण करके ज्ञान सामान्य का अवलम्बन करना चाहिए। नववें सूत्र के अन्त में एकवचन सूचक 'ज्ञानम्' शब्द कहा है, वह भेदों का स्वरूप जानकर, भेदों पर का लक्ष छोड़कर, शुद्धनय के विषयभूत अभेद, अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा की ओर अपना लक्ष करने के लिए कहा है; ऐसा समझना चाहिए। *[पाटनी ग्रन्थमाला का श्री समयसार, गाथा २०४, पृष्ठ ३१०]*

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यात्व

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

अर्थ - [**मतिश्रुतावधयः**] मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान [**विपर्ययः**] विपर्यय भी होते हैं।

टीका— (१) उपरोक्त पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु मति, श्रुत और अवधि यह तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। उस मिथ्याज्ञान को कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि (विभङ्गावधि) ज्ञान कहते हैं। अभी तक सम्यग्ज्ञान का अधिकार चला आ रहा है, अब इस सूत्र में 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि यह तीन ज्ञान सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या

भी होते हैं। सूत्र में विपर्यय: शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसमें संशय और अनध्यवसाय गर्भितरूप से आ जाते हैं। मति और श्रुतज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय यह तीन दोष हैं; अवधिज्ञान में संशय नहीं होता, किन्तु अनध्यवसाय अथवा विपर्यय, यह दो दोष होते हैं, इसलिए उसे कुअवधि अथवा विभङ्ग कहते हैं। **विपर्यय** सम्बन्धी विशेष वर्णन ३२वें सूत्र की टीका में दिया गया है।

(२) अनादि मिथ्यादृष्टि के कुमति और कुश्रुत होते हैं तथा उसके देव और नारकी के भव में कुअवधि भी होता है। जहाँ-जहाँ मिथ्यादर्शन होता है, वहाँ-वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावीरूप से होता है॥३१॥

प्रश्न - जैसे सम्यग्दृष्टि जीव नेत्रादि इन्द्रियों से रूपादि को सुमति से जानता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुमतिज्ञान से उन्हें जानता है तथा जैसे सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञान से उन्हें जानता है तथा कथन करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञान से जानता है और कथन करता है तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान से रूपी वस्तुओं को जानता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि कुअवधिज्ञान से जानता है, तब फिर मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्याज्ञान क्यों कहते हो?

उत्तर

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्॥३२॥

अर्थ - [**यदृच्छोपलब्धेः**] अपनी इच्छा से चाहे जैसा (Whims) ग्रहण करने के कारण [**सत् असतोः**] विद्यमान और अविद्यमान पदार्थों का [**अविशेषात्**] भेदरूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होने से [**उन्मत्तवत्**] पागल के ज्ञान की भाँति मिथ्यादृष्टि का ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

टीका—(१) यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह '**मोक्षशास्त्र है**' इसलिए अविनाशी सुख के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एक ही मार्ग है, यह पहिले सूत्र में बताकर, दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण बताता है; जिसकी श्रद्धा से सम्यग्दर्शन होता है, वे सात तत्त्व चौथे सूत्र में बताये हैं, तत्त्वों को जानने के लिए प्रमाण और नय के ज्ञानों की आवश्यकता है, ऐसा ६वें सूत्र में कहा है। पाँच ज्ञान सम्यक् हैं, इसलिए वे प्रमाण हैं, यह ९-१०वें सूत्र में बताया है और उन पाँच सम्यग्ज्ञानों का स्वरूप ११ से ३०वें सूत्र तक बताया है।

(२) इतनी भूमिका बाँधने के बाद मति, श्रुत और अवधि यह तीन मिथ्याज्ञान भी होते हैं और जीव अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है, इसलिए वह जब तक सम्यक्त्व को नहीं पाता, जब तक उसका ज्ञान विपर्यय है, यह ३१वें सूत्र में बताया है। **सुख के सच्चे अभिलाषी को सर्व प्रथम मिथ्यादर्शन का त्याग करना चाहिए** - यह बताने के लिए इस सूत्र में मिथ्याज्ञान जो कि मिथ्यादर्शन पूर्वक ही होता है, उसका स्वरूप बताया है।

(३) सुख के सच्चे अभिलाषी को मिथ्याज्ञान का स्वरूप समझाने के लिये कहा है कि

१- मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत् के बीच का भेद (विवेक) नहीं जानता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भव्य जीव को पहिले सत् क्या है, और असत् क्या है, इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मिथ्याज्ञान को दूर करना चाहिए।

२- जहाँ सत् और असत् के भेद का अज्ञान होता है, वहाँ नासमझपूर्वक जीव जैसा अपने को ठीक लगता है, वैसा पागल पुरुष की भाँति अथवा शराब पीये हुए मनुष्य की भाँति मिथ्या कल्पनाएँ किया ही करता है। इसलिए यह समझाया है कि सुख के सच्चे अभिलाषी जीव को **सच्ची समझपूर्वक** मिथ्या कल्पनाओं का नाश करना चाहिए।

(४) पहले से तीस तक के सूत्रों में मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का स्वरूप समझाकर उसे ग्रहण करने को कहा है, वह उपदेश 'अस्ति' से दिया है और ३१वें सूत्र में मिथ्याज्ञान का स्वरूप बताकर उसका कारण ३२वें सूत्र में देकर मिथ्याज्ञान का नाश करने का उपदेश दिया है अर्थात् इस सूत्र में 'नास्ति' से समझाया है। इस प्रकार 'अस्ति-नास्ति' के द्वारा अर्थात् अनेकान्त के द्वारा सम्यग्ज्ञान को प्रगट करके मिथ्याज्ञान की नास्ति करने के लिए उपदेश दिया है।

(५) **सत्** = विद्यमान (वस्तु)

असत् = अविद्यमान (वस्तु)

अविशेषात् = इन दोनों का यथार्थ विवेक न होने से।

यदृच्छ (विपर्यय) उपलब्धेः = [विपर्यय शब्द की ३१वें सूत्र से अनुवृत्ति चली आई है।] विपरीत-अपनी मनमानी इच्छानुसार कल्पनाएँ होने से वह मिथ्याज्ञान है।

उन्मत्तवत् - मदिरा पीए हुए मनुष्य की भाँति।

विपर्यय - विपरीतता, वह तीन प्रकार की है - १. कारणविपरीतता, २. स्वरूप-विपरीतता, ३. भेदाभेदविपरीतता।

कारणविपरीतता - मूलकारण को न पहचाने और अन्यथा कारण को माने।

स्वरूपविपरीतता - जिसे जानता है, उसके मूल वस्तुभूत स्वरूप को न पहचाने और अन्यथा स्वरूप को जाने।

भेदाभेदविपरीतता - जिसे वह जानता है, उसे 'यह इससे भिन्न है' और 'यह इससे अभिन्न है' - इस प्रकार यथार्थ न पहचानकर अन्यथा भिन्नत्व-अभिन्नत्व को माने, सो भेदाभेदविपरीतता है।

इन तीन विपरीतताओं को दूर करने का उपाय - सच्चे धर्म की परिपाटी है कि पहले जीव सम्यक्त्व प्रगट करता है, पश्चात् व्रतरूप शुभभाव होते हैं और सम्यक्त्व स्व और पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग (अध्यात्मशास्त्रों) का अभ्यास करने से होता है, इसलिए पहले जीव को द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिए और फिर स्वयं चरणानुयोग के अनुसार सच्चे व्रतादि धारण करके व्रती होना चाहिए।

इस प्रकार मुख्यता से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। यथार्थ अभ्यास के परिणामस्वरूप विपरीतता को दूर होने पर निम्न प्रकार यथार्थतया मानता है —

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २९३)

(१) एक द्रव्य, उसके गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य, उसके गुण या पर्याय में कुछ भी नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कारण से अपनी पर्याय धारण करता है। विकारी अवस्था के समय परद्रव्य निमित्तरूप अर्थात् उपस्थित तो होता है किन्तु वह किसी अन्य द्रव्य में विक्रिया (कुछ भी) नहीं कर सकता। *(श्री समयसार गाथा ३७३ से ३८२ टीका, पृष्ठ ५१५)*

प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्व नामक गुण है, इसलिए वह द्रव्य अन्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे रूप नहीं होता और एक पर्याय दूसरे रूप नहीं होती। एक द्रव्य के गुण या पर्याय उस द्रव्य से पृथक् नहीं हो सकते। इस प्रकार जो अपने क्षेत्र से अलग नहीं हो सकते और पर द्रव्य में नहीं जा सकते, तब फिर वे उसका क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं। एक द्रव्य, गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय में कारण नहीं होते, इसी प्रकार वे दूसरे का कार्य भी नहीं होते। ऐसी **अकारणकार्यत्वशक्ति** प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान है। इस प्रकार समझ लेने पर कारणविपरीतता दूर हो जाती है।

(२) प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। जीवद्रव्य चेतनागुणस्वरूप है, पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण स्वरूप है। जब तक जीव ऐसी विपरीत पकड़ पकड़े रहता है कि 'मैं पर का, कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है तथा शुभ विकल्प से लाभ होता है,' तब तक उसकी अज्ञानरूप पर्याय बनी रहती है। जब जीव यथार्थ को समझता है अर्थात् सत् को समझता है, तब यथार्थ मान्यतापूर्वक उसे सच्चा ज्ञान होता है। अन्य चार द्रव्य (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल) अरूपी हैं, उनकी कभी अशुद्ध अवस्था नहीं होती। इस प्रकार समझ लेने पर स्वरूपविपरीतता दूर हो जाती है।

(३) परद्रव्य, जड़कर्म और शरीर से जीव त्रिकाल भिन्न है। जब वे एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध से रहते हैं, तब भी जीव के साथ एक नहीं हो सकते। एक द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे द्रव्य में नास्तिरूप हैं; क्योंकि दूसरे द्रव्य से वह द्रव्य चारों प्रकार से भिन्न है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने गुण से अभिन्न है, क्योंकि उससे वह द्रव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। इस प्रकार समझ लेने पर भेदाभेदविपरीतता दूर हो जाती है।

सत् - त्रिकाल टिकनेवाला, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय, शुद्ध यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जीव का ज्ञायकभाव त्रैकालिक अखण्ड है; इसलिए वह सत्, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय और शुद्ध है। इस दृष्टि को द्रव्यदृष्टि, वस्तुदृष्टि, शिवदृष्टि, तत्त्वदृष्टि और कल्याणकारी दृष्टि भी कहते हैं।

असत् - क्षणिक, अभूतार्थ, व्यवहार, भेद, पर्याय, भङ्ग, अविद्यमान, जीव में होनेवाला विकारभाव असत् है, क्योंकि वह क्षणिक है और टालने पर टाला जा सकता है।

जीव अनादि काल से इस असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है, इसलिए उसे पर्यायबुद्धि, व्यवहारविमूढ़, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, मोही और मूढ़ भी कहा जाता है। अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भाव को अपना मान रहा है अर्थात् वह असत् को सत् मान रहा है; इसलिए इस भेद को जानकर जो असत् को गौण करके सत्स्वरूप पर भार देकर अपने ज्ञायक-स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, वह मिथ्याज्ञान को दूर करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है; उसकी उन्मत्तता दूर हो जाती है।

विपर्यय - भी दो प्रकार का है, सहज और आहार्य।

(१) सहज - जो स्वत: अपनी भूल से अर्थात् परोपदेश के बिना विपरीतता उत्पन्न होती है।

(२) आहार्य - दूसरे के उपदेश से ग्रहण की गई विपरीतता। यह श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होनेवाले कुमतिज्ञानपूर्वक ग्रहण किया गया कुश्रुतज्ञान है।

शङ्का - दया धर्म के जाननेवाले जीवों के भले ही आत्मा की पहचान न हो, तथापि उन्हें दया धर्म की श्रद्धा तो होती ही है, तब फिर उनके ज्ञान को अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कैसे माना जा सकता है ?

समाधान - दया धर्म के ज्ञाताओं में भी आप्त, आगम और पदार्थ (नव तत्त्वों) की यथार्थ श्रद्धा से रहित जो जीव हैं, उनके दयाधर्म आदि में यथार्थ श्रद्धा होने का विरोध है; इसलिए उनका ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञान का जो काय होना चाहिए, वह न हो तो वहाँ ज्ञान को अज्ञान मानने का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है, क्योंकि पुत्र का कार्य न करनेवाले पुत्र को भी लोक में कुपुत्र कहने का व्यवहार देखा जाता है।

शङ्का - ज्ञान का कार्य क्या है ?

समाधान - जाने हुए पदार्थ की श्रद्धा करना ज्ञान का कार्य है। ऐसे ज्ञान का कार्य मिथ्यादृष्टि जीव में नहीं होता, इसलिए उसके ज्ञान को अज्ञान कहा है।

[श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २१४ व पुस्तक १, पृष्ठ ३५३]

विपर्यय में संशय और अनध्यवसाय का समावेश हो जाता है - यह ३१वें सूत्र की टीका में कहा है। इसी सम्बन्ध में यहाँ कुछ बताया जाता है —

१- कुछ लोगों को यह संशय होता है कि धर्म या अधर्म कुछ होगा या नहीं ?

२- कुछ लोगों को सर्वज्ञ के अस्तित्व-नास्तित्व का संशय होता है।

३- कुछ लोगों को परलोक के अस्तित्व-नास्तित्व का संशय होता है।

४- कुछ लोगों को अनध्यवसाय (अनिर्णय) होता है। वे कहते हैं कि हेतुवादरूप तर्कशास्त्र है, इसलिए उससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता और जो **आगम** है, सो वे भिन्न-भिन्न प्रकार से वस्तु का स्वरूप बतलाते हैं, कोई कुछ कहता है और कोई कुछ, इसलिए उनकी परस्पर बात नहीं मिलती।

५- कुछ लोगों को ऐसा अनध्यवसाय होता है कि कोई ज्ञाता सर्वज्ञ अथवा कोई मुनि या ज्ञानी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता कि जिसके वचनों को हम प्रमाण मान सकें और धर्म का स्वरूप अति सूक्ष्म है, इसलिए कैसे निर्णय हो सकता है ? इसलिए 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' अर्थात् बड़े आदमी जिस मार्ग से जाते हैं, उसी मार्ग पर हमें चलना चाहिए।

६- कुछ लोग वीतराग धर्म का लौकिक वादों के साथ समन्वय करते हैं। वे शुभभावों के वर्णन में कुछ समानता देखकर जगत में चलनेवाली सभी धार्मिक मान्यताओं को एक मान बैठते हैं। (यह विपर्यय है।)

७- कुछ लोग यह मानते हैं कि मन्दकषाय से धर्म (शुद्धता) होता है, (यह भी विपर्यय है।)

८- कुछ लोग ईश्वर के स्वरूप को इस प्रकार विपर्यय मानते हैं कि इस जगत को किसी ईश्वर ने उत्पन्न किया है और वह उसका नियामक है।

इस प्रकार संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय अनेक प्रकार से मिथ्याज्ञान में होते हैं; इसलिए सत् और असत् का यथार्थ भेद समझकर, स्वच्छन्दतापूर्वक की जानेवाली कल्पनाओं और उन्मत्तता को दूर करने के लिए यह सूत्र कहते हैं। [मिथ्यात्व को उन्मत्तता कहा है, क्योंकि मिथ्यात्व से अनन्त पापों का बन्ध होता है, जिसका ध्यान जगत को नहीं है।] ॥३२॥

प्रमाण का स्वरूप कहा गया, अब श्रुतज्ञान के अंशरूप नय का स्वरूप कहते हैं —

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

अर्थ - [**नैगम**] नैगम [**संग्रह**] संग्रह [**व्यवहार**] व्यवहार [**ऋजुसूत्र**] ऋजुसूत्र [**शब्द**] शब्द [**समभिरूढ**] समभिरूढ़ [**एवंभूता**] एवंभूत - यह सात [**नयाः**] नय [Viewpoints] हैं।

टीका— वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक की मुख्यता करके अन्य धर्मों का विरोध किए बिना उन्हें गौण करके साध्य को जानना, सो नय है।

प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहे हुए हैं, इसलिए वह अनेकान्तस्वरूप है। ['अन्त' का अर्थ 'धर्म' होता है] अनेकान्तस्वरूप समझाने की पद्धति को 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वाद द्योतक है, अनेकान्त द्योत्य है। 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्' होता है, अर्थात् किसी यथार्थ प्रकार की विवक्षा का कथन स्याद्वाद है। अनेकान्त का प्रकाश करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया आता है।

हेतु और विषय की सामर्थ्य की अपेक्षा से प्रमाण से निरूपण किए गए अर्थ के एक देश को कहना, सो नय है। उसे 'सम्यक्-एकान्त' भी कहते हैं। श्रुतप्रमाण दो प्रकार का है

– स्वार्थ और परार्थ। उस श्रुतप्रमाण का अंश नय है। शास्त्र का भाव समझने के लिए नयों का स्वरूप समझना आवश्यक है, सात नयों का स्वरूप निम्नप्रकार है—

१– **नैगमनय** – जो भूतकाल की पर्याय में वर्तमानवत् सङ्कल्प करे अथवा भविष्य की पर्याय में वर्तमानवत् सङ्कल्प करे तथा वर्तमान पर्याय में कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है, उसका निष्पन्नरूप सङ्कल्प करे, उस ज्ञान को तथा वचन को नैगमनय कहते हैं। [Figurative]

२– **संग्रहनय** – जो समस्त वस्तुओं को तथा समस्त पर्यायों को संग्रहरूप करके जानता है तथा कहता है, सो संग्रहनय है। जैसे सत् द्रव्य, इत्यादि [General, Common]

३– **व्यवहारनय** – अनेक प्रकार के भेद करके व्यवहार करे या भेदे, सो व्यवहारनय है। जो संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किए हुए पदार्थ को विधिपूर्वक भेद करे, सो व्यवहार है। जैसे सत् के दो प्रकार हैं – द्रव्य और गुण। द्रव्य के छह भेद हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुण के दो भेद हैं – सामान्य और विशेष। इस प्रकार जहाँ तक भेद हो सकते हैं, वहाँ तक यह नय प्रवृत्त होता है। [Distributive]

४– **ऋजुसूत्रनय** – [ऋजु अर्थात् वर्तमान, उपस्थित, सरल] जो ज्ञान का अंश वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे, सो ऋजुसूत्रनय है। [Present condition]

५– **शब्दनय** – जो नय लिङ्ग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है, सो शब्दनय है। यह नय लिङ्गादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है; जैसे दार (पु०) भार्या (स्त्री) कलत्र (न०), यह दार, भार्या और कलत्र तीनों शब्द भिन्न लिङ्गवाले होने से यद्यपि एक ही पदार्थ के वाचक हैं, तथापि यह नय स्त्री पदार्थ को लिङ्ग के भेद से तीन भेदरूप जानता है। [Descriptive]

६– **समभिरूढ़नय** – (१) जो भिन्न-भिन्न अर्थों का उल्लंघन करके एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करे। जैसे गाय [Usage] (२) जो पर्याय के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करे। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर; यह तीनों शब्द इन्द्र के नाम हैं, किन्तु यह नय तीनों का भिन्न-भिन्न अर्थ करता है। [Specific]

७- **एवंभूतनय** - जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है, उस क्रियारूप परिणमित होनेवाले पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है, उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना। [Active]

पहले तीन भेद द्रव्यार्थिकनय के हैं। उसे सामान्य, उत्सर्ग अथवा अनुवृत्ति नाम से भी कहा जाता है।

बाद के चार भेद पर्यायार्थिकनय के हैं। उसे विशेष, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नाम से कहते हैं।

पहले चार नय अर्थनय हैं और बाद के तीन शब्दनय हैं।

पर्याय के दो भेद हैं—(१) सहभावी - जिसे गुण कहते हैं, (२) क्रमभावी - जिसे पर्याय कहते हैं।

द्रव्य नाम वस्तुओं का भी है और वस्तुओं के सामान्यस्वभावमय एक स्वभाव का भी है। जब द्रव्य प्रमाण का विषय होता है, तब उसका अर्थ वस्तु (द्रव्य-गुण और तीनों काल की पर्याय सहित) करना चाहिए। जब नयों के प्रकरण में द्रव्यार्थिक का प्रयोग होता है तब 'सामान्यस्वभावमय एक स्वभाव' (सामान्यात्मक धर्म) अर्थ करना चाहिए। द्रव्यार्थिक में निम्न प्रकार तीन भेद होते हैं—

१- सत् और असत् पर्याय के स्वरूप में **प्रयोजनवश** परस्पर भेद न मानकर दोनों को वस्तु का स्वरूप मानना, सो नैगमनय है।

२- सत् के अन्तर्भेदों में भेद न मानना, सो संग्रहनय है।

३- सत् में अन्तर्भेदों का मानना, सो व्यवहारनय है।

नय के ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थ (धर्म) नय - ऐसे भी तीन प्रकार होते हैं।

(१) वास्तविक प्रमाणज्ञान है और जब वह एकदेशग्राही होता है, तब उसे नय कहते हैं, इसलिए ज्ञान का नाम नय है और उसे **ज्ञाननय** कहा जाता है।

(२) ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ का प्रतिपादन शब्द के द्वारा होता है, इसलिए उस शब्द को **शब्दनय** कहते हैं।

(३) ज्ञान का विषय पदार्थ है, इसलिए नय से प्रतिपादित किये जानेवाले पदार्थ को

भी नय कहते हैं, यह **अर्थनय** है। *(श्री स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६४-२६५, पृष्ठ १८९-१९०, संस्कृत टीका एवं हिन्दी टीका, श्रीमद् राजचन्द्र शास्त्रमाला)*

आत्मा के सम्बन्ध में इन सात नयों को श्रीमद् राजचन्द्रजी ने निम्नलिखित चौदह प्रकार से अवतरित किए हैं। वे साधक को उपयोगी होने से यहाँ अर्थ सहित दिए जाते हैं।

१- एवंभूतदृष्टि से ऋजुसूत्र स्थिति कर = पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ कर।

२- ऋजुसूत्रदृष्टि से एवंभूत स्थिति कर = साधकदृष्टि के द्वारा साध्य में स्थिति कर।

३- नैगमदृष्टि से एवंभूत प्राप्त कर = तू पूर्ण है—ऐसी सङ्कल्पदृष्टि से पूर्णता को प्राप्त कर।

४- एवंभूतदृष्टि से नैगम विशुद्ध कर = पूर्णदृष्टि से अव्यक्त अंश विशुद्ध कर।

५- संग्रहदृष्टि से एवंभूत हो = त्रैकालिक सत्दृष्टि से पूर्ण शुद्धपर्याय प्रगट कर।

६- एवंभूतदृष्टि से संग्रह विशुद्ध कर = निश्चयदृष्टि से सत्ता को विशुद्ध कर।

७- व्यवहारदृष्टि से एवंभूत के प्रति जा = भेददृष्टि छोड़कर अभेद के प्रति जा।

८- एवंभूतदृष्टि से व्यवहार निवृत्ति कर = अभेददृष्टि से भेद को निवृत्त कर।

९- शब्ददृष्टि से एवंभूत के प्रति जा = शब्द के रहस्यभूत पदार्थ की दृष्टि से पूर्णता के प्रति जा।

१०- एवंभूतदृष्टि से शब्द निर्विकल्प कर = निश्चयदृष्टि से शब्द के रहस्यभूत पदार्थ में निर्विकल्प हो।

११- समभिरूढ़दृष्टि से एवंभूत को देख = साधक अवस्था के आरूढ़भाव से निश्चय को देख।

१२- एवंभूतदृष्टि से समभिरूढ़ स्थिति कर = निश्चयदृष्टि से समस्वभाव के प्रति आरूढ़ स्थिति कर।

१३- एवंभूतदृष्टि से एवंभूत हो = निश्चयदृष्टि से निश्चयरूप हो।

१४- एवंभूत स्थिति से एवंभूतदृष्टि को शमित कर = निश्चय स्थिति से निश्चयदृष्टि के विकल्प को शमित कर दे।

वास्तविक भाव लौकिक भावों से विरुद्ध होते हैं

प्रश्न - यदि व्यवहारनय से अर्थात् व्याकरण के अनुसार जो प्रयोग (अर्थ) होता है, उसे आप शब्दनय से दूषित कहेंगे तो लोक और शास्त्र में विरोध आएगा।

उत्तर - लोक न समझें इसलिए विरोध भले करें, यहाँ यथार्थ स्वरूप (तत्त्व) का विचार किया जा रहा है - परीक्षा की जा रही है। औषधि रोगी की इच्छानुसार नहीं होती। [सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ५३४] जगत रोगी है, ज्ञानीजन उसी के अनुकूल (रुचिकर) तत्त्व का स्वरूप (औषधि) नहीं कहते, किन्तु वे वही कहते हैं जो यथार्थ स्वरूप होता है॥३३॥

पाँच प्रकार से जैनशास्त्रों के अर्थ समझने की रीति

प्रत्येक वाक्य का पाँच प्रकार से अर्थ करना चाहिए—

शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ।

'परमात्मा को नमस्कार' इस वाक्य का यहाँ पाँच प्रकार से अर्थ किया जाता है—

(१) शब्दार्थ - 'जो ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मकलङ्क को भस्म करके शुद्ध नित्य निरञ्जन ज्ञानमय हुए हैं, उन परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।' यह परमात्मा को नमस्कार का शब्दार्थ हुआ।

(२) नयार्थ - शुद्ध निश्चयनय से आत्मा परमानन्दस्वरूप है। पूर्णशुद्धता प्रगट हुई, वह सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। कर्म दूर हुए, वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय है। इस प्रकार प्रत्येक स्थान पर नय से समझना चाहिए। यदि नयों के अभिप्राय को न समझे तो वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आता। यथार्थ ज्ञान में साधक के सुनय होते ही हैं।

'ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को रोका' - ऐसा वाक्य हो, वहाँ 'ज्ञानावरणीय नाम का जड़ कर्म ज्ञान को रोकता है', ऐसा कहना दो द्रव्यों का सम्बन्ध बतलानेवाला व्यवहारनय का कथन है, सत्यार्थ नहीं है।

शास्त्रों के सच्चे रहस्य को खोलने के लिये नयार्थ होना चाहिए। नयार्थ को समझे बिना चरणानुयोग का कथन भी समझ में नहीं आता। जहाँ गुरु का उपकार मानने का कथन आए, वहाँ समझना चाहिए कि गुरु परद्रव्य है, इसलिए वह व्यवहार का कथन है और वह असद्भूत-उपचरित व्यवहारनय है। परमात्मप्रकाश गाथा ७ तथा १४ के अर्थ में बताया गया है कि असद्भूत का अर्थ 'मिथ्या' होता है।

चरणानुयोग में जहाँ परद्रव्य छोड़ने की बात आए, वहाँ समझना चाहिए कि वहाँ राग को छुड़ाने के लिए व्यवहारनय का कथन है। प्रवचनसार में शुद्धता और शुभराग की मित्रता कही है, किन्तु वास्तव में वहाँ उनके 'मित्रता' नहीं है, राग तो शुद्धता का शत्रु ही है, किन्तु

चरणानुयोग के शास्त्र में वैसा कहने की पद्धति है और वह व्यवहारनय का कथन है। अशुभ से बचने के लिए शुभराग निमित्तमात्र मित्र कहा है। उसका भावार्थ तो यह है कि वह वास्तव में वीतरागता का शत्रु है, किन्तु निमित्त बताने के लिये व्यवहारनय द्वारा ऐसा ही कथन होता है।

(३) मतार्थ - दूसरे विरुद्ध मत किस प्रकार से मिथ्या हैं, उसका वर्णन करना, सो मतार्थ है। चरणानुयोग में कहे हुए व्यवहारव्रतादि करने से धर्म हो, ऐसी मान्यतावाले अन्यमत हैं; जैनमत नहीं है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ गाथा ८३ में कहा है कि 'पूजादिक में और व्रतादि सहित होय सो तो पुण्य है और मोह-क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम, सो धर्म है। लौकिक जन-अन्यमति कई कहै हैं जो पूजा आदिक शुभ क्रिया में और व्रतक्रिया सहित है, सो जिनधर्म है, सो ऐसे नहीं है।'

यहाँ बौद्ध, वेदान्त, नैयायिक इत्यादि में जो एकान्त मान्यता है और जिनमत में रहनेवाले जीव में भी जिस प्रकार की विपरीत-एकान्त-मान्यता चल रही हो, वह भूल बताकर उस भूलरहित सच्चा अभिप्राय बतलाना, सो मतार्थ है।

(५) आगमार्थ - जो सत् शास्त्र में (सिद्धान्त में) कहा हो, उसके साथ अर्थ को मिलाना, सो आगमार्थ है। सिद्धान्त में जो अर्थ प्रसिद्ध हो, वह आगमार्थ है।

(६) भावार्थ - तात्पर्य अर्थात् इस कथन का अन्तिम अभिप्राय-सार क्या है ? कि परमात्मारूप वीतरागी त्रिकाली आत्मद्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त कोई निमित्त या किसी प्रकार का राग-विकल्प उपादेय नहीं है। यह सब तो मात्र जाननेयोग्य है, एक परमशुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। भावनमस्काररूप पर्याय भी निश्चय से आदरणीय नहीं है, इस प्रकार परम शुद्धात्मस्वभाव को ही उपादेयरूप से अङ्गीकार करना, सो भावार्थ है।

यह पाँच प्रकार से शास्त्रों का अर्थ करने की बात समयसार, पञ्चास्तिकाय, वृहद द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाश की टीका में है।

यदि किसी शास्त्र में यह न कही हो तो भी प्रत्येक शास्त्र के प्रत्येक कथन में इन पाँच प्रकार से अर्थ करके उसका भाव समझना चाहिए।

नय का स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार है—

सम्यग्नय सम्यक् श्रुतज्ञान का अवयव है और इससे वह परमार्थ से ज्ञान का (उपयोगात्मक) अंश है और उसके शब्दरूप कथन को मात्र उपचार से नय कहा है।

इस विषय में श्री धवला टीका में कहा है कि

शङ्का - नय किसे कहते हैं ?

समाधान - ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

शङ्का - 'अभिप्राय' का क्या अर्थ है ?

समाधान - प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है।

युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ के ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्याय में से किसी एक को अर्थरूप से ग्रहण करने का नाम नय है। प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में वस्तु के निश्चय करने को नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय है।

(धवला टीका पुस्तक ६, पृष्ठ १६२-१६३)

'प्रमाण और नय से वस्तु का ज्ञान होता है, इस सूत्र द्वारा भी यह व्याख्यान विरुद्ध नहीं पड़ता, इसका कारण यह है कि प्रमाण और नय से उत्पन्न वाक्य भी उपचार से प्रमाण और नय है।'

(धवला टीका पुस्तक ६, पृष्ठ १६४)

[यहाँ श्री वीरसेनाचार्य ने वाक्य को उपचार से नय कहकर ज्ञानात्मक नय को परमार्थ से नय कहा है।]

पञ्चाध्यायी में भी नय के दो प्रकार माने हैं—

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ॥५०५॥

अर्थ - 'वह नय भी द्रव्यनय और भावनय इस प्रकार के भेद से दो प्रकार का है। जैसे कि वास्तव में पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथा जीव का गुण जो चैतन्य है, वह भावनय कहलाता है अर्थात् नय ज्ञानात्मक और वचनात्मक के भेद से दो प्रकार का है। उनमें वचनात्मक नय द्रव्यनय तथा ज्ञानात्मक नय भावनय कहलाता है।'

स्वामी कार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षा में नय के तीन प्रकार कहे हैं। अब वस्तु के धर्म को, उसके वाचक शब्द को और उसके ज्ञान को नय कहते हैं—

'सो चिय इक्को धम्मो, वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णय विसेसा य॥२६५॥'

अर्थ - जो वस्तु का एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द और उस धर्म को जाननेवाला ज्ञान, ये तीनों ही नय के विशेष हैं।

भावार्थ - वस्तु का ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु, इनको जैसे प्रमाणस्वरूप कहते हैं, वैसे ही नय भी कहते हैं। *(पाटनी ग्रन्थमाला से प्र० कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृष्ठ १७०)*

'सुयणाणस्स, वियप्पो, सो वि णओ' श्रुतज्ञान के विकल्प (भेद) को नय कहा है। *(कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २६३)*

जैन नीति अथवा नय-विवक्षा

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु तच्चमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥२२५॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

अर्थ - मथानी को खींचनेवाली ग्वालिन की तरह जिनेन्द्र भगवान की जो नीति अर्थात् नय-विवक्षा है, वह वस्तुस्वरूप को एक नय-विवक्षा से खींचती हुई तथा दूसरी नय-विवक्षा से ढीली करती हुई अन्त अर्थात् दोनों विवक्षाओं से जयवन्त रहे।

भावार्थ - भगवान् की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है। वस्तु का स्वरूप मुख्य तथा गौण नय की विवक्षा से ग्रहण किया जाता है। जैसे जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है, द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है तथा पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से अनित्य है। यही नय-विवक्षा है। *(जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता से प्रकाशित श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, पृष्ठ १२३)*

यह श्लोक सूचित करता है कि शास्त्र में कहीं पर निश्चयनय की मुख्यता से कथन है और कहीं पर व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि धर्म किसी समय तो व्यवहारनय (अभूतार्थनय) के आश्रय से होता है और किसी समय निश्चयनय (भूतार्थनय) के आश्रय से होता है, परन्तु धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनय के ही आश्रय से होता है (अर्थात् भूतार्थनय के अखण्ड विषयरूप निजशुद्धात्मा के आश्रय से ही धर्म होता है।) ऐसा न्याय पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ५वें श्लोक में तथा श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्था गाथा ३११-१२ के भावार्थ में दिया गया है। इसलिए इस श्लोक नं २२५ का अन्य प्रकार अर्थ करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार श्री उमास्वामि विरचित मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय की गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[१] सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य

(१) सम्यग्दर्शन की आवश्यकता

प्रश्न - ज्ञानी कहते हैं कि जब सम्यग्दर्शन से धर्म का प्रारम्भ होता है, तब फिर सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान और चारित्र कैसे होते हैं ?

उत्तर - यदि सम्यग्दर्शन न हो तो ग्यारह अङ्ग का ज्ञाता भी मिथ्याज्ञानी है और उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, जप, तप, भक्ति, प्रत्याख्यान आदि जितने भी आचरण हैं, वे सब मिथ्याचारित्र हैं, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

(२) सम्यग्दर्शन क्या है ?

प्रश्न - सम्यग्दर्शन क्या है ? वह द्रव्य है, गुण है या पर्याय ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन जीवद्रव्य के श्रद्धागुण की एक निर्मल पर्याय है। इस जगत में छह द्रव्य हैं, उनमें से एक चैतन्यद्रव्य (जीव) है और पाँच अचेतन (जड़ द्रव्य) पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल हैं। जीवद्रव्य अर्थात् आत्मवस्तु में अनन्त गुण हैं, उनमें से एक गुण श्रद्धा (मान्यता-विश्वास-प्रतीति) है, उस गुण की अवस्था अनादिकाल से उलटी है, इसलिए जीव को अपने स्वरूप का भ्रम बना हुआ है; उस अवस्था को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस श्रद्धागुण की सुलटी (शुद्ध) अवस्था सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार आत्मा के श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय सम्यग्दर्शन है।

(३) श्रद्धागुण की मुख्यता से निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) श्रद्धागुण की जिस अवस्था के प्रगट होने से अपने शुद्ध आत्मा का प्रतिभास हो, सो सम्यग्दर्शन है।

(२) सर्वज्ञ भगवान की वाणी में जैसा पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा गया है, वैसा श्रद्धान करना, सो निश्चयसम्यग्दर्शन है।

[निश्चयसम्यग्दर्शन निमित्त को, अपूर्ण या विकारी पर्याय को, भङ्गभेद को या गुणभेद को स्वीकार नहीं करता - (भेदरूप) लक्ष में नहीं लेता।]

नोट - बहुत से लोग यह मानते हैं कि मात्र एक सर्वव्यापक आत्मा है और वह आत्मा कूटस्थमात्र है, किन्तु उनके कथनानुसार चैतन्यमात्र आत्मा को मानना सम्यग्दर्शन नहीं है।

(३) स्वरूप का श्रद्धान।

(४) आत्म-श्रद्धान [पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक २१६]

(५) स्वरूप की यथार्थ प्रतीति-श्रद्धान *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३२१)*

(६) पर से भिन्न अपने आत्मा की श्रद्धा-रुचि [समयसार कलश ६, छहढाला तीसरी ढाल, छन्द २]

नोट - यहाँ पर से 'भिन्न' शब्द सूचित करता है कि सम्यग्दर्शन को परवस्तु, निमित्त, अशुद्धपर्याय, अपूर्ण शुद्धपर्याय या भङ्गभेद आदि कुछ भी स्वीकार्य नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय [लक्ष्य] पूर्ण ज्ञानघन त्रैकालिक आत्मा है। [पर्याय की अपूर्णता इत्यादि सम्यग्ज्ञान का विषय है।]

(७) विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावरूप निज परमात्मा की रुचि सम्यग्दर्शन है।

[जयसेनाचार्यकृत, टीका, हिन्दी समयसार, पृष्ठ ८]

नोट - यहाँ 'निज' शब्द है, वह अनेक आत्मा हैं, उनसे अपनी भिन्नता बतलाता है।

(८) शुद्ध जीवास्तिकाय की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व।

[जयसेनाचार्यकृत टीका, पञ्चास्तिकाय गाथा १०७, पृष्ठ १७०]

(४) ज्ञानगुण की मुख्यता से निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) विपरीत अभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३२० तथा पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक २२]

नोट - यह व्याख्या प्रमाणदृष्टि से है, उसमें अस्ति-नास्ति दोनों पहलू बताए हैं।

(२) 'जीवादि का श्रद्धान सम्यक्त्व है' अर्थात् जीवादि पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान-स्वरूप में आत्मा का परिणमन सम्यक्त्व है। *(समयसार गाथा १३ तथा १५५ टीका)*

(३) भूतार्थ से जाने हुए पदार्थों से शुद्धात्मा के पृथक्त्व का सम्यक् अवलोकन।

(जयसेनाचार्यकृत टीका, हिन्दी समयसार, पृष्ठ २२६)

नोट - यह कथन द्रव्यार्थिकनय से है। कालम नं० २ और ३ यह सूचित करते हैं कि जिसे नव पदार्थों का सम्यग्ज्ञान होता है, उसे ही सम्यग्दर्शन होता है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी भाव बतलाता है।

(४) पञ्चाध्यायी भाग दूसरे में ज्ञान की अपेक्षा से निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या श्लोक १८६ से १८९ में दी गई है। यह कथन पर्यायार्थिकनय से है, वह निम्नप्रकार कहा गया है —

(गाथा १८६) 'इसलिए शुद्धतत्त्व कहीं उन नव तत्त्वों से विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारों को छोड़कर नवतत्त्व ही शुद्ध हैं।'

भावार्थ - इससे सिद्ध होता है कि केवल विकार की उपेक्षा करने से नवतत्त्व ही शुद्ध हैं, नवतत्त्वों से कहीं सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है।

(गाथा १८७) 'इसलिए सूत्र में तत्त्वार्थ की श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन माना गया है, और वह भी जीव-अजीवादिरूप नव हैं।'

भावार्थ - विकार की उपेक्षा करने पर शुद्धत्व नवतत्त्वों से अभिन्न है, इसलिए सूत्रकार ने (तत्त्वार्थसूत्र में) नवतत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

(गाथा १८८) इस गाथा में 'जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा और मोक्ष' इन सात तत्त्वों के नाम दिये गए हैं।

(गाथा १८९) 'पुण्य और पाप के साथ इन सात तत्त्वों को नव पदार्थ कहा जाता है, और वे नव पदार्थ भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन का वास्तविक विषय हैं।'

भावार्थ - 'पुण्य और पाप के साथ यह सात तत्त्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं, और वे नव पदार्थ यथार्थता के आश्रय से सम्यग्दर्शन के यथार्थ विषय हैं।'

नोट - यह ध्यान रहे कि यह कथन ज्ञान की अपेक्षा से है। दर्शनापेक्षा से सम्यग्दर्शन का विषय अपना अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूप परिपूर्ण आत्मा है - यह बात ऊपर बताई गई है।

(५) 'शुद्ध चेतना एक प्रकार की है, क्योंकि शुद्ध का एक प्रकार है। शुद्ध चेतना में शुद्धता की उपलब्धि होती है, इसलिए वह शुद्धरूप है और वह ज्ञानरूप है, इसलिए वह ज्ञान -चेतना है।' *(पञ्चाध्यायी अध्याय २ गाथा १९४)*

सभी सम्यग्दृष्टियों के यह ज्ञानचेतना प्रवाहरूप से अथवा अखण्ड एकधारारूप से रहती है। *(पञ्चाध्यायी अध्याय २, गाथा ८५१)*

(६) ज्ञेय-ज्ञातृत्व की यथावत् प्रतिति जिसका लक्षण है, वह सम्यग्दर्शन पर्याय है।

(प्रवचनसार अध्याय ३, गाथा २४२, श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका)

(७) आत्मा से आत्मा को जाननेवाला जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि है।

(परमात्म प्रकाश, गाथा ८२)

(८) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' *(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १ सूत्र २)*

(५) चारित्रगुण की मुख्यता से निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) ''ज्ञानचेतना में 'ज्ञान' शब्द से ज्ञानमय होने के कारण शुद्धात्मा का ग्रहण है, और वह शुद्धात्मा जिसके द्वारा अनुभूत होता है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।''

(पञ्चाध्यायी, अध्याय २ गाथा ११६-भावार्थ)

(२) उसका स्पष्टीकरण यह है कि 'आत्मा का ज्ञानगुण सम्यक्त्वयुक्त होने पर आत्मस्वरूप की जो उपलब्धि होती है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।' *(पञ्चाध्यायी, गाथा ११७)*

(३) 'निश्चय से यह ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि के ही होती है।' *(पञ्चाध्यायी, गाथा १८८)*

नोट - यहाँ आत्मा का जो शुद्धोपयोग है, अनुभव है, वह चारित्रगुण की पर्याय है।

(४) आत्मा की शुद्ध उपलब्धि सम्यग्दर्शन का लक्षण है। *(पञ्चाध्यायी, गाथा २१५)*

नोट - यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान की मुख्यता या चारित्र की मुख्यता से जो कथन है, उसे सम्यग्दर्शन का बाह्य लक्षण जानना चाहिए, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और अनुभव के साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी है, इसलिए वे सम्यग्दर्शन को अनुमान से सिद्ध करते हैं। इस अपेक्षा से इसे व्यवहारकथन कहते हैं और दर्शन (श्रद्धा) गुण की अपेक्षा से जो कथन है, उसे निश्चय-कथन कहते हैं।

(५) दर्शन का निश्चय स्वरूप ऐसा है कि भगवान परमात्मस्वभाव के अतीन्द्रिय सुख की रुचि करनेवाले जीव में शुद्ध अन्तरङ्ग आत्मिक तत्त्व के आनन्द को उत्पन्न होने का धाम ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय का (अपने जीवस्वरूप का) परमश्रद्धान, दृढ़ प्रतीति और सच्चा निश्चय ही दर्शन है। (यह व्याख्या सुखगुण की मुख्यता से है।)

(६) अनेकान्त-स्वरूप

दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी अनेकान्त-स्वरूप समझने योग्य है, इसलिए वह यहाँ कहा जाता है।

(१) सम्यग्दर्शन - सभी सम्यग्दृष्टियों के अर्थात् चौथे गुणस्थान से सिद्धों तक सभी के एक समान है अर्थात् शुद्धात्मा की मान्यता उन सबके एक सी है - मान्यता में कोई अन्तर नहीं है।

(२) सम्यग्ज्ञान - सभी सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व की अपेक्षा से ज्ञान एक ही प्रकार का है, किन्तु ज्ञान किसी के हीन या किसी के अधिक होता है। तेरहवें गुणस्थान से सिद्धों तक का ज्ञान सम्पूर्ण होने से सर्व वस्तुओं को युगपत् जानता है। नीचे के गुणस्थानों में (चौथे से बारहवें तक) ज्ञान क्रमशः होता है, और वहाँ यद्यपि ज्ञान सम्यक् है, तथापि

कम-बढ़ होता है। उस अवस्था में जो ज्ञान विकासरूप नहीं है, वह अभावरूप है, इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर है।

(३) सम्यक्चारित्र - सभी सम्यग्दृष्टियों के जो कुछ भी चारित्र प्रगट हुआ हो सो सम्यक् है और जो दसवें गुणस्थान तक प्रगट नहीं हुआ, सो विभावरूप है। तेरहवें गुणस्थान में अनुजीवी योगगुण कम्पनरूप होने से विभावरूप है और वहाँ प्रतिजीवीगुण बिल्कुल प्रगट नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में भी उपादान की कचास है, इसलिए वहाँ औदयिकभाव है।

(४) जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र का अंश अभेदरूप होता है। ऊपर कहे अनुसार दर्शनगुण से ज्ञानगुण का पृथक्त्व और उन दोनों गुणों से चारित्रगुण का पृथक्त्व सिद्ध हुआ; इस प्रकार अनेकान्त स्वरूप हुआ।

(५) यह भेद पर्यायार्थिकनय से है। द्रव्य अखण्ड है, इसलिए द्रव्यार्थिकनय से सभी गुण अभेद-अखण्ड है, ऐसा समझना चाहिए।

(७) दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणों की अभेददृष्टि से निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मस्वरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, उसी समय आत्मा सम्यक्रूप से दिखायी देता है - (अर्थात् श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। नयों के पक्षपात को छोड़कर एक अखण्ड प्रतिभास को अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' ऐसे नाम पाता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं।

(समयसार गाथा १४४ टीका भावार्थ)

(२) **वर्ते निज स्वभाव का अनुभव लक्ष प्रतीत,**
वृत्ति वहे निजभाव में परमार्थे समकित। *(आत्मसिद्धि गाथा १११)*

अर्थ - अपने स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और अनुभव वर्ते और अपने भाव में अपनी वृत्ति वहे, सो परमार्थ सम्यक्त्व है।

(८) निश्चयसम्यग्दर्शन का चारित्र के भेदों की अपेक्षा से कथन

निश्चयसम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, चौथे और पाँचवें गुणस्थान में चारित्र में मुख्यतया राग होता है, इसलिए उसे 'सराग सम्यक्त्व' कहते हैं। छठे गुणस्थान में

चारित्र में राग गौण है और ऊपर के गुणस्थानों में उसके दूर होते-होते अन्त में सम्पूर्ण वीतराग चारित्र हो जाता है, इसलिए छठे गुणस्थान से 'वीतराग सम्यक्त्व' कहलाता है।

(९) निश्चयसम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर

प्रश्न - मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के निमित्त से होनेवाले विपरीत-अभिनिवेश से रहित जो श्रद्धा है, सो निश्चय सम्यक्त्व है, या व्यवहार सम्यक्त्व है ?

उत्तर - वह निश्चय सम्यक्त्व है; व्यवहार सम्यक्त्व नहीं।

प्रश्न - पञ्चास्तिकाय की १०७वीं गाथा की संस्कृत टीका में उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है ?

उत्तर - नहीं, उसमें इस प्रकार शब्द है - '**मिथ्यात्वोदयजनित-विपरीताभिनिवेश-रहितं श्रद्धानम्**', यहाँ 'श्रद्धान' कहकर श्रद्धान की पहिचान कराई है, किन्तु उसे व्यवहार-सम्यक्त्व नहीं कहा है, व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व की व्याख्या गाथा १०७ में कथित '**भावाणम्**' शब्द के अर्थ में कही है।

प्रश्न - 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' की सातवीं गाथा में उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर - नहीं, वहाँ निश्चय सम्यक्त्व की व्याख्या है। द्रव्यकर्म के उपशम, क्षय इत्यादि के निमित्त से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है - इस प्रकार निश्चय सम्यक्त्व की व्याख्या करना, सो व्यवहारनय से है, क्योंकि वह व्याख्या परद्रव्य की अपेक्षा से की है। अपने पुरुषार्थ से निश्चय-सम्यक्त्व प्रगट होता है, यह निश्चयनय का कथन है। हिन्दी में जो 'व्यवहार सम्यक्त्व' ऐसा अर्थ किया है, सो यह मूल गाथा के साथ मेल नहीं खाता।

(१०) व्यवहारसम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य तथा जीव-पुद्गल के संयोगी परिणामों से उत्पन्न आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इस प्रकार नव पदार्थों के विकल्परूप व्यवहार, सम्यक्त्व है। *(पञ्चास्तिकाय, गाथा १०७ जयसेनाचार्यकृत टीका, पृष्ठ १७०)*

(२) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों की ज्यों की त्यों यथार्थ अटल श्रद्धा करना, सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। *(छहढाला, ढाल ३ छन्द ३)*

(३) **प्रश्न** - क्या व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन का साधक है ?

उत्तर – प्रथम जब निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तब विकल्परूप व्यवहारसम्यग्दर्शन का अभाव होता है; इसलिए वह (व्यवहारसम्यग्दर्शन) वास्तव में निश्चयसम्यग्दर्शन का साधक नहीं है, तथापि उसे भूतनैगमनय से साधक कहा जाता है अर्थात् पहले जो व्यवहारसम्यग्दर्शन था, वह निश्चयसम्यग्दर्शन के प्रगट होते समय अभावरूप होता है, इसलिए जब उसका अभाव होता है, तब पूर्व की सविकल्प श्रद्धा को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश, गाथा १४०, पृष्ठ १४३, प्रथमावृत्ति संस्कृत टीका) इस प्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नहीं, किन्तु उसका अभाव कारण है।

(११) व्यवहाराभास सम्यग्दर्शन को कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं

द्रव्यलिङ्गी मुनि को आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभाव की एकता भी कार्यकारी नहीं है। *(देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, देहलीवाला, पृष्ठ ३४९)*

यहाँ जो 'तत्त्वार्थश्रद्धान' शब्द का प्रयोग हुआ है, सो वह भावनिक्षेप से नहीं किन्तु नामनिक्षेप से है।

'जिसे स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान नहीं है, किन्तु जो वीतराग कथित देव, गुरु और धर्म- इन तीनों को मानता है तथा अन्यमत में कथित देवादि को तथा तत्त्वादि को नहीं मानता - ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्व से वह निश्चय सम्यक्त्वी नाम नहीं पा सकता।' (पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी) उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर हो गया है, इस अपेक्षा से व्यवहार सम्यक्त्व हुआ है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु उसके अगृहीत मिथ्यादर्शन है, इसलिए वास्तव में उसे व्यवहाराभास सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यादृष्टि जीव को देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान आभासमात्र होता है, उसके श्रद्धान में से विपरीताभिनिवेश का अभाव नहीं हुआ है और उसे व्यवहार सम्यक्त्व आभासमात्र है, इसलिए उसे जो देव-गुरु-धर्म, नव तत्त्वादि का श्रद्धान है, सो विपरीताभिनिवेश के अभाव के लिए कारण नहीं हुआ और कारण हुए बिना उसमें (सम्यग्दर्शन का) उपचार सम्भावित नहीं होता, इसलिए उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। उसे व्यवहार सम्यक्त्व मात्र नामनिक्षेप से कहा जाता है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९, पृष्ठ ४७६-४७७ देहली का)*

(१२) सम्यग्दर्शन के प्रगट करने का उपाय

प्रश्न – सम्यग्दर्शन प्रगट करने का क्या उपाय है ?

१- उत्तर - आत्मा और परद्रव्य सर्वथा भिन्न है, एक का दूसरे में अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य, उसका कोई गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य में, उसके गुण में या उसकी पर्याय में प्रवेश नहीं कर सकते; इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, ऐसी वस्तुस्थिति की मर्यादा है और फिर प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्वगुण है, क्योंकि वह सामान्यगुण है। उस गुण के कारण कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, इसलिए आत्मा, परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, शरीर को हिला-डुला नहीं सकता, द्रव्यकर्म या कोई भी परद्रव्य जीव को कभी हानि नहीं पहुँचा सकता - यह पहिले निश्चय करना चाहिए।

इस प्रकार निश्चय करने से जगत के परपदार्थों के कर्तृत्व का जो अभिमान आत्मा को अनादिकाल से चला आ रहा है, वह दोष मान्यता में से और ज्ञान में से दूर हो जाता है।

शास्त्रों में कहा गया है कि द्रव्यकर्म जीव के गुणों का घात करते हैं, इसलिए कई लोग मानते हैं कि उन कर्मों का उदय जीव के गुणों का वास्तव में घात करता है, और वे लोग ऐसा ही अर्थ करते हैं, किन्तु उनका यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि वह कथन व्यवहारनय का है, जो कि केवल निमित्त का ज्ञान करानेवाला है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि जब जीव अपने पुरुषार्थ के दोष से अपनी पर्याय में विकार करता है अर्थात् अपनी पर्याय का घात करता है, तब उस घात में अनुकूल निमित्तरूप जो द्रव्यकर्म आत्मप्रदेशों से खिरने के लिये तैयार हुआ है, उसे 'उदय' कहने का उपचार है अर्थात् उस कर्म पर विपाक उदयरूप निमित्त का आरोप होता है और यदि जीव स्वयं अपने सत्यपुरुषार्थ से विकार नहीं करता - अपनी पर्याय का घात नहीं करता तो द्रव्यकर्मों के उसी समूह को 'निर्जरा' नाम दिया जाता है। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करने मात्र के लिए उस व्यवहार कथन का अर्थ होता है। यदि अन्य प्रकार से (शब्दानुसार ही) अर्थ किया जाए तो इस सम्बन्ध के बदले कर्ता-कर्म का सम्बन्ध मानने के बराबर होता है अर्थात् उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार एकरूप हो जाता है अथवा एक ओर जीवद्रव्य और दूसरी ओर अनन्त पुद्गलद्रव्य हैं, तो अनन्त द्रव्यों ने मिलकर जीव में विकार किया है, ऐसा उसका अर्थ हो जाता है, जो कि ऐसा नहीं हो सकता। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए कर्म के उदय ने जीव पर असर करके हानि पहुँचाई - उसे परिणमित किया, इत्यादि प्रकार से उपचार से कहा जाता है, किन्तु उसका यदि उस शब्द के अनुसार ही अर्थ किया जाए तो वह मिथ्या है। *(समयसार गाथा १२२ से १२५, १६० तथा ३३७ से ३४४, ४१२ अमृतचन्द्राचार्य की टीका तथा समयसार कलश नं० २११-१३, २१९)*

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पहले स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता निश्चित करना चाहिए, और फिर क्या करना चाहिए, सो कहते हैं।

२- स्वद्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता निश्चित करके, परद्रव्यों पर से लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य के विचार में आना चाहिए। वहाँ आत्मा में दो पहलू हैं, उन्हें जानना चाहिए। एक पहलू-आत्मा का प्रतिसमय त्रिकाल अखण्ड परिपूर्ण चैतन्यस्वभावरूपपना द्रव्य-गुण-पर्याय से (वर्तमान पर्याय को गौण करने पर) है, आत्मा का यह पहलू निश्चयनय का विषय है। इस पहलू को निश्चय करनेवाले ज्ञान का पहलू 'निश्चयनय' है।

दूसरा पहलू - वर्तमान पर्याय में दोष है-विकार है, अल्पज्ञता है, यह निश्चय करना चाहिए। यह पहलू व्यवहारनय का विषय है; इस प्रकार दो नयों के द्वारा आत्मा के दोनों पहलुओं का निश्चय करने के बाद पर्याय का आश्रय छोड़कर अपने त्रिकाल चैतन्यस्वरूप की ओर उन्मुख होना चाहिए।

इस प्रकार त्रैकालिक द्रव्य की ओर उन्मुख होने पर - वह त्रैकालिक नित्य पहलू होने से उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यद्यपि निश्चयनय और सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्याय हैं, तथापि उन दोनों का विषय एक है अर्थात् उन दोनों का विषय एक, अखण्ड शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा है, उसे दूसरे शब्दों में 'त्रैकालिक ज्ञायकस्वरूप' कहा जाता है। सम्यग्दर्शन किसी परद्रव्य, देव, गुरु, शास्त्र अथवा निमित्त, पर्याय, गुणभेद या भङ्ग इत्यादि को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसका विषय उपरोक्त कथनानुसार त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप आत्मा है।

(१३) निर्विकल्प अनुभव का प्रारम्भ

निर्विकल्प अनुभव का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से ही होता है, किन्तु इस गुणस्थान में वह बहुतकाल के अन्तर से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में जल्दी-जल्दी होता है। नीचे की ओर ऊपर के गुणस्थानों की निर्विकल्पता में भेद यह है कि परिणामों की मग्नता ऊपर के गुणस्थानों में विशेष है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक के अन्तर्गत श्री टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी पृष्ठ ७ तथा धवल पुस्तक १ सत्प्ररूपण सूत्र १४५ की टीका, पृष्ठ ३९६-३९७ तथा श्री समयसार जयसेनाचार्यकृत, गाथा ८५, पृष्ठ १४१)*

(१४) जबकि सम्यक्त्व पर्याय है, तब उसे गुण कैसे कहते हैं ?

प्रश्न - सम्यग्दर्शन पर्याय है, फिर भी कहीं-कहीं उसे सम्यक्त्व गुण क्यों कहते हैं ?

उत्तर – वास्तव में तो सम्यग्दर्शन पर्याय है, किन्तु जैसा गुण है, वैसा ही उसकी पर्याय प्रगट हुई है – इस प्रकार गुण–पर्याय की अभिन्नता बताने के लिए कहीं–कहीं उसे सम्यक्त्व गुण भी कहा जाता है; किन्तु वास्तव में सम्यक्त्व पर्याय है, गुण नहीं। जो गुण होता है, वह त्रिकाल रहता है। सम्यक्त्व त्रिकाल नहीं होता, किन्तु उसे जीव जब अपने सत् पुरुषार्थ से प्रगट करता है, तब होता है; इसलिए वह पर्याय है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा २४२ टीका)*

(१५) सभी सम्यग्दृष्टियों का सम्यग्दर्शन समान है

प्रश्न – छद्मस्थ जीवों को सम्यग्दर्शन होता है और केवली तथा सिद्ध भगवान के भी सम्यग्दर्शन होता है, वह उन सबके समान होता है या असमान?

उत्तर – जैस छद्मस्थ (अपूर्णज्ञानी) जीव के श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति होती है, उसी प्रकार केवली भगवान और सिद्ध भगवान के केवलज्ञान के अनुसार प्रतीति होती है। जैसे तत्त्वश्रद्धान छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली–सिद्धभगवान के भी होता है; इसलिए ज्ञानादि की हीनाधिकता होने पर भी तिर्यञ्च आदि के तथा केवली और सिद्ध भगवान के सम्यग्दर्शन तो समान ही होता है, क्योंकि जैसी आत्मस्वरूप की श्रद्धा छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि को है, वैसी ही केवली भगवान को है। ऐसा नहीं होता कि चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मा की श्रद्धा एक प्रकार की हो और केवली होने पर अन्य प्रकार की हो। यदि ऐसा होने लगे तो चौथे गुणस्थान में जो श्रद्धा होती है, वह यथार्थ नहीं कहलाएगी, किन्तु मिथ्या सिद्ध होगी।

(सोनगढ़ से प्रकाशित आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३२३)

(१६) सम्यग्दर्शन के भेद क्यों कहे गए हैं?

प्रश्न – यदि सभी सम्यग्दृष्टियों का सम्यग्दर्शन समान है तो फिर आत्मानुशासन की ग्यारहवीं गाथा में सम्यग्दर्शन के दस प्रकार के भेद क्यों कहे गए हैं?

उत्तर – सम्यग्दर्शन के वह भेद निमित्तादिकी की अपेक्षा से कहे गए हैं। आत्मानुशासन में दस प्रकार से सम्यक्त्व के जो भेद कहे गए हैं, उनमें से आठ भेद सम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व जो निमित्त होते हैं, उनका ज्ञान कराने के लिए कहे है और दो भेद, ज्ञान के सहकारीपन की अपेक्षा से कहे हैं। श्रुतकेवली को जो तत्त्वश्रद्धान है, उसे अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं और केवली भगवान को जो तत्त्वश्रद्धान है, उसे परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन कहा जाता है; इस प्रकार आठ भेद निमित्तों की अपेक्षा से और दो भेद, ज्ञान की अपेक्षा से

हैं। 'दर्शन की' अपनी अपेक्षा से वे भेद नहीं हैं। उन दसों प्रकार में सम्यग्दर्शन का स्वरूप एक ही प्रकार का होता है – ऐसा समझना चाहिए।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ३३५)

प्रश्न – यदि चौथे गुणस्थान से सिद्ध भगवान तक सभी सम्यग्दृष्टियों के सम्यग्दर्शन एक सा है तो फिर केवलीभगवान के परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन क्यों कहा है ?

उत्तर – जैसे छद्मस्थ को श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति होती है, उसी प्रकार केवली और सिद्धभगवान को केवलज्ञान के अनुसार ही प्रतीति होती है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर जो आत्मस्वरूप निर्णीत किया था, वही केवलज्ञान के द्वारा जाना गया, इसलिए वहाँ प्रतीति में परमावगाढ़ता कहलाई, इसीलिए वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है किन्तु पहिले जो श्रद्धान किया था, उसे यदि केवलज्ञान में मिथ्या जाना होता, तब तो छद्मस्थ की श्रद्धा अप्रतीतिरूप कहलाती, किन्तु आत्मस्वरूप का जैसा श्रद्धान छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली और सिद्धभगवान को भी होता है। तात्पर्य यह है कि मूलभूत जीवादि के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली को भी होता है।

(१७) सम्यक्त्व की निर्मलता का स्वरूप

औपशमिक सम्यक्त्व वर्तमान में क्षायिकवत् निर्मल है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में समल तत्त्वार्थश्रद्धान होता है। यहाँ जो मलिनता है, उसका तारतम्य स्वरूप केवलज्ञानगम्य है। इस अपेक्षा से वह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थ-श्रद्धान-क्षायिक सम्यग्दर्शन है। [मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९]। इन सभी सम्यक्त्व में ज्ञानादि की हीनाधिकता होने पर भी तुच्छ ज्ञानी तिर्यञ्चादि के तथा केवलीभगवान और सिद्धभगवान के सम्यक्त्व गुण तो समान ही कहा है, क्योंकि सबके अपने आत्मा की अथवा सात तत्त्वों की एकसी मान्यता है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४७५ देहली)*

सम्यग्दृष्टि के व्यवहारसम्यक्त्व में निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है—निरन्तर गमन (परिणमन) रूप है, (श्री टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी)

(१८) सम्यक्त्व की निर्मलता में निम्नप्रकार पाँच भेद भी किए जाते हैं —

१- समल अगाढ़, २- निर्मल, ३- गाढ़, ४- अवगाढ़ और ५- परमावगाढ़।

वेदक सम्यक्त्व समल अगाढ़ है, औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल है, क्षायिक सम्यक्त्व गाढ़ है। अङ्ग और अङ्गबाह्य सहित जैनशास्त्रों के अवगाहन से उत्पन्न दृष्टि

अवगाढ़ सम्यक्त्व है, श्रुतकेवली को जो तत्त्वश्रद्धान है, उसे अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं, परमावधिज्ञानी के और केवलज्ञानी के जो तत्त्वश्रद्धान है, उसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो भेद, ज्ञान के सहकारीभाव की अपेक्षा से हैं। (मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९)

'औपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व अधिक विशुद्ध है।'

(तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय २, सूत्र १ की कारिका १०-११ तथा उसकी संस्कृत टीका)

'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक है',

(तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय २ सूत्र १, कारिका १२, उसकी संस्कृत टीका)

(१९) सम्यग्दृष्टि जीव अपने को सम्यक्त्व प्रगट होने की बात श्रुतज्ञान के द्वारा बराबर जानता है।

प्रश्न - अपने को सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, यह किस ज्ञान के द्वारा मालूम होता है ?

उत्तर - चौथे गुणस्थान में भावश्रुतज्ञान होता है, उससे सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के प्रगट होने की बात मालूम हो जाती है। यदि उस ज्ञान के द्वारा खबर नहीं होती, ऐसा माना जाए तो उस श्रुतज्ञान को सम्यक् (यथार्थ) कैसे कहा जा सकेगा ? यदि अपने को अपने सम्यग्दर्शन की खबर न होती हो तो उसमें और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी में क्या अन्तर रहा ?

प्रश्न - यहाँ आपने कहा है कि सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञान के द्वारा जाना जाता है, किन्तु पञ्चाध्यायी अध्याय २ में उसे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानगोचर कहा है। वे श्लोक निम्न प्रकार हैं -

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥

अर्थ - सम्यक्त्व वास्तव में सूक्ष्म है और केवलज्ञानगोचर है तथा अवधि और मनःपर्यय इन दोनों के गोचर हैं। और अध्याय २ गाथा ३७५ में यह कहा है कि वह मति और श्रुतज्ञानगोचर नहीं है और यहाँ आप कहते हैं कि सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानगोचर है, इसका क्या उत्तर है ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानगोचर नहीं है, इस प्रकार जो ३७५वीं गाथा में कहा है, उसका अर्थ इतना ही है कि सम्यग्दर्शन उस-उस ज्ञान का प्रत्यक्ष विषय नहीं है, ऐसा समझना चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस ज्ञान से सम्यग्दर्शन किसी भी

प्रकार से नहीं जाना जा सकता। इस सम्बन्ध में पञ्चाध्यायी अध्याय २ की ३७१ और ३७३वीं गाथा निम्न प्रकार है –

इत्येवं ज्ञानतत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्।
वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत्॥३७१॥

अर्थ – इस प्रकार तत्त्वों को जाननेवाले स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान में राग-द्वेष को छोड़ते हैं।

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यै (श्च) संलक्ष्यते सुदृक्॥३७३॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव के दूसरे लक्षण भी हैं। जिन सम्यक्त्व के अविनाभावी लक्षणों के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित होता है।

वे लक्षण गाथा ३७४ में कहते हैं —

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः।
नादेयं कर्म सर्वं च (स्वं) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः॥३७४॥

अर्थ – जैसे ऊपर कहा है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान का आदर नहीं है, तथा आत्म-प्रत्यक्ष होने से सभी कर्मों का भी आदर नहीं है।

गाथा ३७५-३७६ का इतना ही अर्थ है कि सम्यग्दर्शन, केवलज्ञानादि का प्रत्यक्ष विषय है और मति-श्रुतज्ञान का प्रत्यक्ष विषय नहीं है, किन्तु मति-श्रुतज्ञान में वह उसके लक्षणों के द्वारा जाना जा सकता है और केवलज्ञानादि ज्ञान में लक्षण-लक्ष्य का भेद किए बिना प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

प्रश्न – इस विषय को दृष्टान्तपूर्वक समझाइए।

उत्तर – स्वानुभवदशा में जो आत्मा को जाना जाता है, सो श्रुतज्ञान के द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान, मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। वह मतिज्ञान-श्रुतज्ञान परोक्ष है, इसलिए वहाँ आत्मा का जानना प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ जो आत्मा को भलीभाँति स्पष्ट जानता है, उसमें पारमार्थिक प्रत्यक्षत्व नहीं है तथा जैसे पुद्गल पदार्थ नेत्रादि के द्वारा जाना जाता है, उसी प्रकार एकदेश (अंशतः) निर्मलतापूर्वक भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशादि नहीं जाने जाते, इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं है।

अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है, कहीं आत्मा के प्रदेशों का आकार भासित नहीं होता, परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने पर जो स्वानुभव हुआ, वह (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है। इस स्वानुभव का स्वाद कहीं आगम-अनुमानादि परोक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु स्वयं ही इस अनुभव के रसास्वाद को प्रत्यक्ष वेदन करता है, जानता है। जैसे कोई अन्य पुरुष मिश्री का स्वाद लेता है, वहाँ मिश्री का आकारादि परोक्ष है, किन्तु जिह्वा के द्वारा स्वाद लिया है, इसलिए वह स्वाद प्रत्यक्ष है - ऐसा अनुभव के सम्बन्ध में जानना चाहिए। (टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी) यह दशा चौथे गुणस्थान में होती है।

इस प्रकार आत्मा का अनुभव जाना जा सकता है और जिस जीव को उसका अनुभव होता है, उसे सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिए मति-श्रुतज्ञान से सम्यग्दर्शन भलीभाँति जाना जा सकता है। (श्री प्रवचनसार, गाथा ३३-३४ टीका)

प्रश्न - इस सम्बन्ध में पञ्चाध्यायीकार ने क्या कहा है?

उत्तर - पञ्चाध्यायी के पहले अध्याय में मति-श्रुतज्ञान का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि -

अपि किंचाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥

अर्थ - और विशेष यह है कि स्वानुभूति के समय जितना भी पहिले उस मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का द्वैत रहता है, उतना वह सब साक्षात् प्रत्यक्ष की भाँति प्रत्यक्ष है, दूसरा नहीं-परोक्ष नहीं।

भावार्थ - तथा उस मति और श्रुतज्ञान में भी इतनी विशेषता है कि जिस समय उन दो ज्ञानों में से किसी एक ज्ञान के द्वारा स्वानुभूति होती है, उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए यह दोनों ज्ञान भी स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष हैं-परोक्ष नहीं।

प्रश्न - क्या इस सम्बन्ध में कोई और शास्त्राधार है?

उत्तर - हाँ, पण्डित टोडरमलजीकृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी में निम्नप्रकार कहा है -

''जो प्रत्यक्ष के समान होता है, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं; जैसे लोक में भी कहते हैं कि 'हमने स्वप्न में या ध्यान में अमुक मनुष्य को प्रत्यक्ष देखा,' यद्यपि उसने प्रत्यक्ष नहीं

देखा है, तथापि प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ देखा है, इसलिए उसे प्रत्यक्ष कह देते हैं; इसी प्रकार अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है।''

प्रश्न - श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार परमागम में इस सम्बन्ध में क्या कहा है?

उत्तर - (१) श्री समयसार की ४९वीं गाथा की टीका में इस प्रकार कहा है - 'इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचर मात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिङ्ग ग्रहण कहा जाता है।'

''अपने अनुभव में आनेवाले चेतना गुण के द्वारा सदा अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, इसलिए (जीव) चेतना गुणवाला है।''

(२) श्री समयसार की १४३वीं गाथा की टीका में इस प्रकार कहा है -

टीका - जैसे केवली भगवान विश्व के साक्षीपन के कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं, किन्तु निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तत्व के द्वारा (श्रुतज्ञान की भूमिका को उल्लंघन कर चुकने से) समस्त नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते; उसी प्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), जिसकी उत्पत्ति क्षयोपशम से होती है, ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्पों के उत्पन्न होते हुए भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त होने से, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं, किन्तु तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किए गए निर्मल, नित्य, उदित, चिन्मय समय से प्रतिबद्धता के कारण (चैतन्यमय आत्मा के अनुभव से) उस समय (अनुभव के समय) स्वयं ही विज्ञानघन होने से, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पों से परे, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ - जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभव करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही होते हैं। एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाय तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त चारित्रमोह का राग रहता है; प्रयोजन के वश

एक नय को प्रधान करके उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के साथ मिश्रित राग होता है और जब नय पक्ष को छोड़कर केवल वस्तुस्वरूप को जानता है, तब श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग के समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) श्री समयसार की ५वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि ''उस एकत्वविभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज-वैभव के द्वारा दिखाता हूँ, यदि मैं उसे दिखाऊँ तो प्रमाण करना। उसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि 'यों जिस प्रकार से मेरा ज्ञान का वैभव है, उस समय वैभव से दिखलाता हूँ। यदि दिखाऊँ तो स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण कर लेना।' आगे जाकर भावार्थ में बताया है कि 'आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन - इन चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं। उसे सुननेवाले हे श्रोताओ! अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो।'' इससे सिद्ध होता है कि अपने को जो सम्यक्त्व होता है, उसकी स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से श्रुतप्रमाण (सच्चे ज्ञान) के द्वारा अपने को खबर हो जाती है।

(४) कलश ९ में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि -

मालिनी

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकऽषेस्मि-
अनुभवमुपयति भाति न द्वैतमेव॥९॥

अर्थ - आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय विषयभूत चैतन्यचमत्कार मात्र तेजपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती। प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ - शुद्ध अनुभव होने पर द्वैत ही भासित नहीं होता, केवल एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थान में भी आत्मा को स्वयं अपने भावश्रुत के

द्वारा शुद्ध अनुभव होता है। समयसार में लगभग प्रत्येक गाथा में यह अनुभव होता है, ऐसा बतलाकर अनुभव करने का उपदेश दिया है।

सम्यक्त्व सूक्ष्म पर्याय है, यह ठीक है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुतज्ञान हुआ है और इससे श्रुतज्ञान में यह निश्चय करता है कि उसका (सम्यग्ज्ञान का) अविनाभावी सम्यग्दर्शन मुझे हुआ है। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान सम्यग्दर्शन को प्रत्यक्ष जान सकता है, इतना ही मात्र अन्तर है।

पञ्चाध्यायी अ० २ की गाथा १९६-१९७-१९८ की हिन्दी टीका (पं० मक्खनलालजी कृत) में कहा है कि 'ज्ञान शब्द से आत्मा समझना चाहिए, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है; वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जाना जाता है, उसका नाम ज्ञानचेतना है अर्थात् जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्था को प्राप्त होता है - **केवल शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उस समय उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है।** ज्ञानचेतना निश्चय से सम्यग्दृष्टि को ही होती है, मिथ्यादृष्टि को कभी नहीं हो सकती।' *(पृष्ठ ६३-६४)*

सम्यक्मति और सम्यक्श्रुतज्ञान कथञ्चित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाता है और सम्पूर्ण ज्ञान जो केवलज्ञान है, वह यद्यपि छद्मस्थ को प्रत्यक्ष नहीं है, तथापि शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानरूप को परोक्ष बतलाता है। *(श्री समयसार गाथा १४ के नीचे का भावार्थ)*

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का यथार्थज्ञान सम्यक्मति और श्रुतज्ञान के अनुसार हो सकता है।

(२०) कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्न - जब ज्ञानगुण आत्माभिमुख होकर आत्मलीन हो जाता है, तब उस ज्ञान की विशेष अवस्था को सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्या यह ठीक है ?

उत्तर - नहीं, यह ठीक नहीं; सम्यग्दर्शन दर्शन (श्रद्धा) गुण की पर्याय है, वह ज्ञान की विशेष पर्याय नहीं है। ज्ञान की आत्माभिमुख अवस्था के समय सम्यग्दर्शन होता है, यह सही है, किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान की पर्याय नहीं है।

(२) प्रश्न - क्या सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्र की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर - वह निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, उसे वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है, क्योंकि वहाँ रागमिश्रित विचार है।

(३) प्रश्न - क्या व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन का सच्चा कारण है ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि निश्चय भावश्रुतज्ञान परिणमित हुए बिना, निश्चय और व्यवहार होता नहीं, किन्तु व्यवहाराभास होता है, इसलिए वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। व्यवहारसम्यग्दर्शन (आभासरूप हो या सच्चा हो) विकार (अशुद्ध पर्याय) है और निश्चय-सम्यग्दर्शन अविकार-शुद्ध पर्याय है। विकार, अविकार का कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहाराभास का व्यय (अभाव) होकर निश्चयसम्यग्दर्शन का उत्पाद सुपात्र जीव को अपने पुरुषार्थ से ही होता है। (व्यवहाराभास को संक्षेप में व्यवहार कहा जाता है।)

जहाँ शास्त्र में व्यवहारसम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण कहा है, वहाँ यह समझना चाहिए कि व्यवहारसम्यग्दर्शन को **अभावरूप** कारण कहा है। कारण के दो प्रकार हैं - (१) निश्चय और (२) व्यवहार। निश्चय कारण तो अवस्थारूप से होनेवाला द्रव्य स्वयं है और व्यवहार कारण पूर्व की पर्याय का व्यय होता है।

(४) प्रश्न - श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदि जितने गुण हैं, वे सब सम्यक्त्व नहीं किन्तु ज्ञान की पर्याय हैं - ऐसा पञ्चाध्यायी अध्याय २ गाथा ३८६-३८७ में कहा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर - जब आत्मा जीवादि सात तत्त्वों का विचार करता है, तब उसके ज्ञान में राग से भेद होता है, इसलिए वे ज्ञान की पर्याय हैं और वे सम्यक् नहीं हैं, ऐसा कहा है।

सात तत्त्व और नव पदार्थों का निर्विकल्प ज्ञान निश्चयसम्यग्दर्शन सहित का ज्ञान है।

(पञ्चाध्यायी अध्याय २, श्लोक १८६-१८९)

श्लोक ३८६ के भावार्थ में कहा है कि 'परन्तु वास्तव में ज्ञान भी यही है कि जैसे को तैसा जानना और **सम्यक्त्व भी यही है कि जैसा का तैसा श्रद्धान करना।'**

(पण्डित मक्खनलालजी कृत पञ्चाध्यायी, अध्याय २, पृष्ठ ११०)

इससे समझना चाहिए कि रागमिश्रित श्रद्धा, ज्ञान की पर्याय है। रागरहित तत्त्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे सम्यक् मान्यता अथवा सम्यक् प्रतीति भी कहते हैं। गाथा ३८७ में कहा है कि ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शन का लक्षण है, इसका यह अर्थ है कि अनुभूति स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु जब वह होती है, तब सम्यग्दर्शन अविनाभावीरूप होता है; इसलिए उसे बाह्य लक्षण कहा है। (पञ्चाध्यायी अध्याय २ गाथा ४०१-४०३)। सम्यग्दर्शन

के प्रगट होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है और आत्मानुभूति होती है अर्थात् ज्ञान स्वज्ञेय में स्थिर होता है; किन्तु वह स्थिरता कुछ समय ही रहती है और राग होने से ज्ञान स्व में से छूटकर पर की ओर जाता है, तब भी सम्यग्दर्शन होता है और यद्यपि ज्ञान का उपयोग दूसरे के जानने में लगा हुआ है, तथापि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उस समय अनुभूति उपयोगरूप नहीं है, फिर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि लब्धिरूप अनुभूति है।

(५) प्रश्न – 'सम्यग्दर्शन का एक लक्षण ज्ञानचेतना है' क्या यह ठीक है ?

उत्तर – ज्ञानचेतना के साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता ही है, इसलिए वह व्यवहार अथवा बाह्य लक्षण है।

(६) प्रश्न – 'अनुभूति का नाम चेतना है' क्या यह ठीक है ?

उत्तर – ज्ञान की स्थिरता अर्थात् शुद्धोपयोग (अनुभूति) को उपयोगरूप ज्ञानचेतना कहा जाता है।

(७) प्रश्न – यदि सम्यक्त्व का विषय सभी के एकसा है, तो फिर सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक – ऐसे भेद क्यों किए हैं ?

उत्तर – दर्शनमोहनीय कर्म के अनुभागबन्ध की अपेक्षा से वे भेद नहीं हैं, किन्तु स्थितिबन्ध की अपेक्षा से हैं। उनके कारण से उनमें आत्मा की मान्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्येक प्रकार के सम्यग्दर्शन में आत्मा की मान्यता एक ही प्रकार की है। आत्मा के स्वरूप की जो मान्यता औपशमिक सम्यग्दर्शन में होती है, वही क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन में होती है। केवली भगवान को परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है, उनके भी आत्मस्वरूप की उसी प्रकार की मान्यता होती है। इस प्रकार सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के आत्मस्वरूप की मान्यता एक ही प्रकार की होती है। *(पञ्चाध्यायी, अध्याय २, गाथा १३४-१३८)*

(२१) ज्ञानचेतना के विधान में अन्तर क्यों है ?

प्रश्न – पञ्चाध्यायी और पञ्चास्तिकाय में ज्ञानचेतना के विधान में अन्तर क्यों है ?

उत्तर – पञ्चाध्यायी में चतुर्थ गुणस्थान से ज्ञानचेतना का विधान किया है। (अध्याय २, गाथा ८५४) और पञ्चास्तिकाय में तेरहवें गुणस्थान से ज्ञानचेतना को स्वीकार किया है, किन्तु इससे उसमें विरोध नहीं आता। सम्यग्दृष्टि जीव के शुभाशुभभाव का स्वामित्व नहीं है, इस अपेक्षा से पञ्चाध्यायी में चतुर्थ गुणस्थान से ज्ञानचेतना कही है। भगवान श्री

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने क्षायोपशमिकभाव में कर्म निमित्त होता है, इस अपेक्षा से नीचे के गुणस्थान में उसे स्वीकार नहीं किया है। दोनों कथन विवक्षाधीन होने से सत्य हैं।

(२२) इस सम्बन्ध में विचारणीय नव विषय -

(१) प्रश्न - गुण के समुदाय को द्रव्य कहा है और सम्पूर्ण गुण द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में रहते हैं, इसलिए यदि आत्मा का एक गुण (सम्यग्दर्शन) क्षायिक हो जाय तो सम्पूर्ण आत्मा ही क्षायिक हो जाना चाहिए और उसी क्षण उसकी मुक्ति हो जानी चाहिए - ऐसा क्यों नहीं होता?

उत्तर - जीवद्रव्य में अनन्त गुण हैं, वे प्रत्येक गुण असहाय और स्वाधीन हैं, इसलिए एक गुण की पूर्ण शुद्धि होने पर दूसरे गुण की पूर्ण शुद्धि होनी ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। आत्मा अखण्ड है; इसलिए एक गुण दूसरे गुण के साथ अभेद है - प्रदेशभेद नहीं है, किन्तु पर्यायापेक्षा से प्रत्येक गुण की पर्याय के भिन्न-भिन्न समय में पूर्ण शुद्ध होने में कोई दोष नहीं है; जब द्रव्यापेक्षा से सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट हो, तब द्रव्य की सम्पूर्ण शुद्धि प्रगट हुई मानी जाय, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन के होने पर सम्पूर्ण आत्मा क्षायिक होना चाहिए और तत्काल मुक्ति होनी चाहिए, ऐसा मानना ठीक नहीं है।

(२) प्रश्न - एक गुण सर्व गुणात्मक है और सर्व गुण एक गुणात्मक है; इसलिए एक गुण के सम्पूर्ण प्रगट होने से अन्य सम्पूर्ण गुण भी पूर्ण रीति से उसी समय प्रगट होना चाहिए, क्या यह ठीक है?

उत्तर - यह मान्यता ठीक नहीं है। गुण और गुणी अखण्ड हैं, इस अभेदापेक्षा से गुण अभेद हैं, किन्तु इसीलिए एक गुण दूसरे सभी गुणरूप है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहने पर प्रत्येक द्रव्य एक ही गुणात्मक हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। भेद की अपेक्षा से प्रत्येक गुण भिन्न, स्वतन्त्र, असहाय है, एक गुण में दूसरे गुण की नास्ति है, वस्तु का स्वरूप भेदाभेद है - ऐसा न माना जाय तो द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न हो जायेंगे। एक गुण का दूसरे गुण के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है - इस अपेक्षा से एक गुण को दूसरे गुण का सहायक कहा जाता है। (जैसे सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है।)

(३) प्रश्न - आत्मा के एक गुण का घात होने में उस गुण के घात में निमित्तरूप जो कर्म है, उसके अतिरिक्त दूसरे कर्म निमित्तरूप घातक हैं या नहीं?

उत्तर – नहीं।

प्रश्न – अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है, इसलिए वह चारित्र के घात में निमित्त हो सकती है, किन्तु वह सम्यग्दर्शन के घात में निमित्त कैसे मानी जाती है ?

उत्तर – अनन्तानुबन्धी के उदय में युक्त होने पर क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं, किन्तु कहीं अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता, इसलिए वह चारित्र के घात का ही निमित्त होता है, किन्तु सम्यक्त्व के घात में वह निमित्त नहीं है। परमार्थ से तो ऐसा ही है, किन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय से जैसे क्रोधादिक होते हैं, वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्व के सद्भाव में नहीं होते – ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिए उपचार से अनन्तानुबन्धी में सम्यक्त्व की घातकता कही जाती है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३८-३३९)*

(४) प्रश्न – संसार में ऐसा नियम है कि प्रत्येक गुण का क्रमिक विकास होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन का भी क्रमिक विकास होना चाहिए। क्या यह ठीक है ?

उत्तर – ऐसा एकान्त सिद्धान्त नहीं है। विकास में भी अनेकान्तरूप लागू होता है अर्थात् आत्मा का श्रद्धागुण उसके विषय की अपेक्षा से एक साथ प्रगट होता है और आत्मा के ज्ञानादि कुछ गुणों में क्रमिक विकास होता है।

अक्रमिक विकास का दृष्टान्त

मिथ्यादर्शन के दूर होने पर एक समय में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसमें क्रम नहीं पड़ता। जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तभी से वह अपने विषय के प्रति पूर्ण और क्रमरहित होता है।

क्रमिक विकास का दृष्टान्त

सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र में क्रमशः विकास होता है। इस प्रकार विकास में क्रमिकता और अक्रमिकता आती है। इसलिए विकास का स्वरूप अनेकान्त है, ऐसा समझना चाहिए।

(५) प्रश्न – सम्यक्त्व के आठ अङ्ग कहे हैं, उनमें एक अङ्ग 'निःशङ्कित' है, जिसका अर्थ निर्भयता है। निर्भयता आठवें गुणस्थान में होती है, इसलिए क्या वह समझना ठीक है कि जब तक भय है, तब तक पूर्ण सम्यग्दर्शन नहीं होता ? यदि सम्यग्दर्शन पूर्ण होता तो श्रेणिक राजा जो कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, वे अपघात नहीं करते – यह ठीक है या नहीं ?

उत्तर – यह ठीक नहीं है, सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के विषय की मान्यता पूर्ण ही

होती है, क्योंकि उसका विषय अखण्ड शुद्धात्मा है। सम्यग्दृष्टि के शङ्का-काँक्षा-विचिकित्सा का अभाव द्रव्यानुयोग में कहा है और करणानुयोग में भय का आठवें गुणस्थान तक, लोभ का दसवें गुणस्थान तक और जुगुप्सा का आठवें गुणस्थान तक सद्भाव कहा है, इसमें विरोध नहीं है, क्योंकि श्रद्धानपूर्वक तीव्र शङ्कादि का सम्यग्दृष्टि के अभाव हुआ है अथवा मुख्यतया सम्यग्दृष्टि शङ्कादि नहीं करता - इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि के शङ्कादि का अभाव कहा है, किन्तु सूक्ष्म शक्ति की अपेक्षा से भयादि का उदय आठवें आदि गुणस्थान तक होता है, इसलिए करणानुयोग में वहाँ तक सद्भाव कहा है। *(देहलीवाला मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४३३)*

सम्यग्दृष्टि के 'निर्भयता' कही है, इसका अर्थ यह है कि अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ जिस प्रकार भय होता है, उस प्रकार का भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता अर्थात् अज्ञानदशा में जीव जो यह मान रहा था कि 'परवस्तु से मुझे भय होता है' यह मान्यता सम्यग्दृष्टि हो जाने पर दूर हो जाती है। उसके बाद भी जो भय होता है, वह अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण होता है अर्थात् भय में अपनी वर्तमान पर्याय का दोष है - परवस्तु का नहीं, ऐसा वह मानता है।

श्रेणिक राजा को जो भय उत्पन्न हुआ था, सो वह अपने चारित्र की कमजोरी के कारण हुआ था, ऐसी उसकी मान्यता होने से सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से वह निर्भय था। चारित्र की अपेक्षा से अल्प भय होने पर उसे आत्मघात का विकल्प हुआ था।

(६) प्रश्न - क्षायिक लब्धि की स्थिति रखने के लिए वीर्यान्तराय कर्म के क्षय की आवश्यकता होगी, क्योंकि क्षायिक शक्ति के बिना कोई भी क्षायिक लब्धि नहीं रह सकती। क्या यह मान्यता ठीक है ?

उत्तर - यह मान्यता ठीक नहीं है, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के निमित्त से अनेक प्रकार की क्षायिक पर्यायें प्रगट होती हैं। १- क्षायिक सम्यग्दर्शन (चौथे से सातवें गुणस्थान में) २- क्षायिक यथाख्यातचारित्र (बारहवें गुणस्थान में) ३- क्षायिक क्षमा[१] (दसवें गुणस्थान में), ४- क्षायिक निर्मानता (दसवें गुणस्थान में), ५- क्षायिक निष्कपटता (दसवें गुणस्थान में) और ६- क्षायिक निर्लोभता (बारहवें गुणस्थान में) होती है। बारहवें गुणस्थान में वीर्य क्षयोपशमरूप होता है, फिर भी कषाय का क्षय है।

अन्य प्रकार से देखा जाय तो तेरहवें गुणस्थान में क्षायिक अनन्तवीर्य और सम्पूर्ण ज्ञान

१- **द्रव्य क्रोध की नववें गुणस्थान के सातवें भाग में व्युच्छित्ति होती है। द्रव्य मान की नववें गुणस्थान के आठवें भाग में व्युच्छित होती है। द्रव्य माया की नववें गुणस्थान के नववें भाग में व्युच्छित होती है।**

प्रगट होता है, तथापि योगों का कम्पन और चार प्रतिजीवी गुणों की शुद्ध पर्याय की अप्रगटता (विभाव पर्याय) होती है। चौदहवें गुणस्थान में कषाय और योग दोनों क्षयरूप हैं, फिर भी असद्भित्व है, उस समय भी जीव की अपने पूर्ण शुद्धतारूप उपादान की कचास के कारण कर्मों के साथ का सम्बन्ध और संसारीपन है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि भेद की अपेक्षा से प्रत्येक गुण स्वतन्त्र है, यदि ऐसा न हो तो एक गुण दूसरे गुणरूप हो जाय और उस गुण का अपना स्वतन्त्र कार्य न रहे। द्रव्य की अपेक्षा से सभी गुण अभिन्न हैं, यह ऊपर कहा गया है।

(७) प्रश्न – ज्ञान और दर्शन चेतनागुण के विभाग हैं, उन दोनों के घात में निमित्तरूप से भिन्न-भिन्न कर्म माने गए हैं, किन्तु सम्यक्त्व और चारित्र दोनों भिन्न-भिन्न गुण हैं, तथापि उन दोनों के घात में निमित्त कर्म एक मोह ही माना गया है, इसका क्या कारण है ?

प्रश्न का विस्तार

इस प्रश्न पर से निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं

१- जबकि मोहनीय कर्म, सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुणों के घात में निमित्त है, तब मूल प्रकृतियों में उसके दो भेद मानकर ९ कर्म कहना चाहिए, आठ ही क्यों कहे गए हैं ?

२- जबकि मोहनीय कर्म दो गुणों के घातने में निमित्त है, तब चार घातिया कर्म चार ही गुणों के घातने में निमित्त क्यों बताए गए हैं ? पाँच गुणों का घात क्यों नहीं माना गया ?

३- शुद्ध जीवों के कर्म नष्ट होने पर प्रगट होने के जो आठ गुण कहे हैं, उनमें चारित्र को न कहकर सम्यक्त्व को ही कहा है, इसका क्या कारण है ? वहाँ चारित्र को क्यों छोड़ दिया है ?

४- कहीं कहीं चारित्र अथवा सम्यक्त्व में से एक को भी न कहकर सुखगुण का ही उल्लेख किया गया है, सो ऐसा क्यों ?

उत्तर – जब जीव अपना निजस्वरूप प्रगट न करे और सांसारिक दशा को बढ़ाए, तब मोहनीय कर्म निमित्त है किन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है कि कर्म जीव का कुछ कर सकते हैं। सांसारिक दशा का अर्थ यह है कि जीव में आकुलता हो, अशान्ति हो, क्षोभ हो। इस

अशान्ति के तीन भाग किए जा सकते हैं – १– अशान्तिरूप वेदन का ज्ञान, २– उस वेदन की ओर जीव झुके तब निमित्तकारण और ३– अशान्तिरूप वेदन। उस वेदन का ज्ञान ज्ञानगुण में गर्भित हो जाता है। उस ज्ञान के कारण में ज्ञानावरण का क्षयोपशम निमित्त है। जब जीव उस वेदन की ओर लगता है, तब वेदनीय कर्म उस कार्य में निमित्त होता है और वेदन में मोहनीय निमित्त है। अशान्ति, मोह, आत्मज्ञानपराङ्मुखता तथा विषयासक्ति – यह सब मोह के ही कार्य हैं। **कारण के नाश से कार्य भी नष्ट हो जाता है, इसलिए विषयासक्ति को घटाने से पूर्व ही आत्मज्ञान उत्पन्न करने का उपदेश भगवान ने दिया है।**

मोह के कार्य को दो प्रकार से विभक्त कर सकते हैं – १– दृष्टि की विमुखता और २– चारित्र की विमुखता। दोनों में विमुखता सामान्य है। वे दोनों सामान्यतया 'मोह' के नाम से पहिचानी जाती हैं, इसलिए उन दोनों को अभेदरूप से एक कर्म बतलाकर उसके दो उपविभाग 'दर्शनमोह' और 'चारित्रमोह' कहे हैं। दर्शनमोह अपरिमित मोह है और चारित्रमोह परिमित। मिथ्यादर्शन संसार की जड़ है, सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही मिथ्यादर्शन का अभाव हो जाता है। मिथ्यादर्शन में दर्शनमोह निमित्त है, दर्शनमोह का अभाव होने पर उसी समय चारित्रमोह का एक उपविभाग जो कि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ है, उसका एक ही साथ अभाव हो जाता है और तत्पश्चात् क्रमशः वीतरागता के बढ़ने पर चारित्रमोह का क्रमशः अभाव होता जाता है, इसलिए दर्शन[१] को कारण और चारित्र को कार्य भी कहा जाता है। इस प्रकार भेद की अपेक्षा से वे पृथक् हैं, इसलिए प्रथम अभेद की अपेक्षा से 'मोह' एक होने से उसे एक कर्म मानकर, फिर उसके दो उपविभाग–दर्शनमोह और चारित्रमोह माने गए हैं।

चार घातिया कर्मों को चार गुणों के घात में निमित्त कहा है, इसका कारण यह है कि मोहकर्म को अभेद की अपेक्षा से जब एक माना है, तब श्रद्धा और चारित्रगुण को अभेद की अपेक्षा से शान्ति (सुख) मानकर चार गुणों के घात में चार घातिया कर्मों को निमित्तरूप कहा है।

शङ्का – यदि मिथ्यात्व और कषाय एक ही हो तो मिथ्यात्व का नाश होने पर कषाय का भी अभाव होना चाहिए, जिस कषाय के अभाव को चारित्र की प्राप्ति कहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं होता और सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर भी चौथे गुणस्थान में चारित्र प्राप्त नहीं होता,

१– श्री दर्शनपाहुड़ गाथा ३१

इसलिए चौथे गुणस्थान को अव्रतरूप कहा जाता है। अणुव्रत के होने पर पाँचवाँ गुणस्थान होता है और पूर्ण व्रत के होने पर 'व्रती' संज्ञा होने पर भी यथाख्यातचारित्र प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार विचार करने से मालूम होगा कि सम्यक्त्व के क्षायिकरूप पूर्ण होने पर भी चारित्र की प्राप्ति में अथवा पूर्णता में विलम्ब होता है, इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र अथवा मिथ्यात्व और कषायों में एकता तथा कार्य-कारणता कैसे ठीक हो सकती है?

समाधान - मिथ्यात्व के न रहने से जो कषाय रहती है, वह मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली अति तीव्र अनन्तानुबन्धी कषायों के समान नहीं होती, किन्तु अति मन्द हो जाती है, इसलिए वह कषाय चाहे जैसा बन्ध करे, तथापि वह बन्ध दीर्घ संसार का कारणभूत नहीं होता और इससे ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शन के होते ही प्रारम्भ हो जाती है, जो कि बन्ध के नाश का कारण है, इसलिए जब प्रथम मिथ्यात्व होता है तथा जो चेतना होती है, वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है जो कि पूर्ण बन्ध का कारण है। इसका सारांश यह है कि कषाय तो सम्यग्दृष्टि के भी शेष रहती है, किन्तु मिथ्यात्व का नाश होने से अति मन्द हो जाती है और उससे सम्यग्दृष्टि जीव कुछ अंशों में अबन्ध रहता है और निर्जरा करता है; इससे मिथ्यात्व और कषाय का कुछ अविनाभाव अवश्य है।

अब शङ्का की बात यह रह जाती है कि मिथ्यात्व के नाश के साथ ही कषाय का पूर्ण नाश क्यों नहीं होता? इसका समाधान यह है कि मिथ्यात्व और कषाय सर्वथा एक वस्तु तो नहीं है। सामान्य स्वभाव दोनों का एक है, किन्तु विशेष की अपेक्षा से कुछ भेद है। विशेष-सामान्य की अपेक्षा से भेद-अभेद दोनों को यहाँ मानना चाहिए। यह भाव दिखाने के लिए ही शास्त्रकार ने सम्यक्त्व और आत्मशान्ति के घात का निमित्त मूल प्रकृति एक 'मोह' रखी है और उत्तर प्रकृति में दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय - दो भेद किए हैं। (इस स्पष्टीकरण में पहिली और दूसरी शङ्का का समाधान हो जाता है) जबकि उत्तर प्रकृति में भेद है, तब उसके नाश का पूर्ण अविनाभाव कैसे हो सकता है? (नहीं हो सकता) हाँ, मूल कारण के न रहने पर चारित्रमोहनीय की स्थिरता भी अधिक नहीं रहती। दर्शनमोहनीय के साथ न सही, तो भी थोड़े ही समय में चारित्रमोहनीय भी नष्ट हो जाता है।

अथवा सम्यक्त्व के हो जाने पर भी ज्ञान सदा स्वानुभूति में ही तो नहीं रहता, जब ज्ञान का बाह्य लक्ष हो जाता है, तब स्वानुभूति से हट जाने के कारण सम्यग्दृष्टि भी विषयों में अल्प तन्मय हो जाता है; किन्तु यह छद्मस्थज्ञान की चञ्चलता का दोष है और उसका

कारण भी कषाय ही है। उस ज्ञान की केवल कषाय-नैमित्तिक चञ्चलता कुछ समय तक ही रह सकती है और वह भी तीव्र बन्ध का कारण नहीं होती।

भावार्थ - यद्यपि सम्यक्त्व की उत्पत्ति से संसार की जड़ कट जाती है, किन्तु दूसरे कर्मों का उसी क्षण सर्वनाश नहीं हो जाता। कर्म अपनी-अपनी योग्यतानुसार बँधते हैं और उदय में आते हैं। जैसे - मिथ्यात्व के साथी चारित्रमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर की होती है, इससे यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व ही समस्त दोषों में अधिक बलवान दोष है और वही दीर्घसंसार की स्थापना करता है, इसलिए यह समझना चाहिए कि उसका नाश किया और संसार का किनारा आ गया। किन्तु साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मोह तो दोनों हैं, उनमें से एक (दर्शनमोह) अमर्यादित है और दूसरा (चारित्रमोह) मर्यादित है, किन्तु दोनों संसार के ही कारण है।

यदि संसार का संक्षेप में स्वरूप कहा जाए तो वह दु:खमय है, इसलिए आनुषङ्गिकरूप से दूसरे कर्म भी भले ही दु:ख के निमित्तकारण हों, किन्तु मुख्य निमित्तकारण तो मोहनीयकर्म ही हैं। जब कि सर्वदु:ख का कारण (निमित्तरूप से) मोहनीय कर्ममात्र हैं तो मोह के नाश को सुख कहना चाहिए। जो ग्रन्थकार मोह के नाश को सुख गुण की प्राप्ति मानते हैं, उनका मानना मोह के संयुक्त कार्य की अपेक्षा से ठीक है। वैसा मानना अभेद-व्यापक-दृष्टि से है, इसलिए जो सुख को अनन्त चतुष्टय में गर्भित करते हैं, वे चारित्र तथा सम्यक्त्व को भिन्न नहीं गिनते, क्योंकि सम्यक्त्व तथा चारित्र के सामुदायिक स्वरूप को सुख कहा जा सकता है।

चारित्र और सम्यक्त्व दोनों का समावेश सुखगुण में अथवा स्वरूपलाभ में ही होता है, इसलिए चारित्र और सम्यक्त्व का अर्थ सुख भी हो सकता है। जहाँ सुख और वीर्यगुण का उल्लेख अनन्य चतुष्टय में किया गया है, वहाँ उन गुणों की मुख्यता मानकर कहा है और दूसरों को गौण मानकर नहीं कहा है, तथापि उन्हें संगृहीत हुआ समझ लेना चाहिए, क्योंकि वे दोनों सुखगुण के विशेषाकार हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म किस गुण के घात में निमित्त है और इससे वेदनीय को अघातकता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि वेदनीय किसी के घातने में निमित्त नहीं है, मात्र घात हुए स्वरूप का जीव जब अनुभव करता है, तब निमित्तरूप होता है। (इस स्पष्टीकरण में तीसरी और चौथी शङ्का का समाधान हो जाता है।)

(श्री तत्त्वार्थसार अध्याय ५, पृष्ठ ३०० से ३०५ सनातन ग्रन्थमाला वीर निर्वाण २०४५)

यह बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिए कि जीव में होनेवाले विकारभावों को जीव

जब स्वयं करता है, तब कर्म का उदय उपस्थितरूप में निमित्त होता है, किन्तु उस कर्म के रजकणों ने जीव का कुछ भी किया है या कोई असर पहुँचाया है, यह मानना सर्वथा मिथ्या है। इसी प्रकार जीव जब विकार करता है, तब पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमित होती है – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव को विकारीरूप में कर्म परिणमित करता है और कर्म को जीव परिणमित करता है – इस प्रकार सम्बन्ध बतानेवाला व्यवहार कथन है। वास्तव में जड़ को कर्मरूप में जीव परिणमित नहीं कर सकता और जीव को कर्म विकारी नहीं कर सकता। गोम्मटसार आदि कर्मशास्त्रों का इस प्रकार अर्थ करना ही न्यायपूर्ण है।

प्रश्न – बन्ध के कारणों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-ये पाँचों मोक्षशास्त्र में कहे हैं और दूसरे आचार्य कषाय तथा योग दो ही बतलाते हैं, इस प्रकार वे मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद को कषाय का भेद मानते हैं। कषाय, चारित्रमोहनीय का भेद है, इससे यह प्रतीत होता है कि चारित्रमोहनीय ही सभी कर्मों का कारण है। क्या यह कथन ठीक है?

उत्तर – मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद, कषाय के उपभेद हैं, किन्तु इससे यह मानना ठीक नहीं है कि कषाय चारित्रमोहनीय का भेद है। मिथ्यात्व महा कषाय है। जब 'कषाय' को सामान्य अर्थ में लेते हैं, तब दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों रूप माने जाते हैं, क्योंकि कषाय में मिथ्यादर्शन का समावेश हो जाता है। जब कषाय को विशेष अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, तब वह चारित्रमोहनीय का भेद कहलाता है। चारित्रमोहनीय कर्म उन सब कर्मों का कारण नहीं है, किन्तु जीव का मोहभाव उन सात अथवा आठ कर्मों के बन्ध का निमित्त है।

(श्री तत्त्वार्थसार अध्याय ६, पृष्ठ २१४, सनातन ग्रन्थमाला वीर निर्वाण सं० २०४५)

(९) प्रश्न – सात प्रकृतियों का क्षय अथवा उपशमादि होता है, सो वह व्यवहार-सम्यग्दर्शन है या निश्चयसम्यग्दर्शन?

उत्तर – वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। *(श्रीसमयसार जयसेनाचार्यकृत गाथा ८५-३२० की टीका तथा श्री षट्खण्डागम धवल टीका सूत्र १४५ व टीका)*

प्रश्न – सिद्ध भगवान के व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है या निश्चयसम्यग्दर्शन?

उत्तर – सिद्धों के निश्चयसम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न – व्यवहारसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है?

उत्तर – जीवादि नव तत्त्व और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की सविकल्प श्रद्धान को

व्यवहारसम्यक्त्व कहते हैं। जो जीव उस विकल्प का अभाव करके अपने शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसे पहिले व्यवहारसम्यक्त्व था, ऐसा कहा जाता है। जो जीव निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करता, उसका वह व्यवहाराभाससम्यक्त्व है। जो उसी का अभाव करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसके व्यवहारसम्यग्दर्शन उपचार से (अर्थात् व्ययरूप में-अभावरूप में) निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को विपरीताभिनिवेश रहित जो आत्मा का श्रद्धान है, सो निश्चय-सम्यग्दर्शन है और देव, गुरु, धर्मादि का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है; इस प्रकार एक काल में सम्यग्दृष्टि के दोनों सम्यग्दर्शन होते हैं। कुछ मिथ्यादृष्टियों को, द्रव्यलिङ्गी मुनियों को और कुछ अभव्य जीवों को देव-गुरु-धर्मादि का श्रद्धान होता है, किन्तु वह आभासमात्र होता है, क्योंकि उनके निश्चयसम्यक्त्व नहीं है, इसलिए उनका व्यवहारसम्यक्त्व भी आभासरूप है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३०-३३३)*

देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान में प्रवृत्ति की मुख्यता है। जो प्रवृत्ति में अरहन्तादि को देवादि मानता है और अन्य को नहीं मानता, उसे देवादि का श्रद्धानी कहा जाता है। तत्त्वश्रद्धान में विचार की मुख्यता है। जो ज्ञान में जीवादि तत्त्वों का विचार करता है, उसे तत्त्वश्रद्धानी कहा जाता है। इन दोनों को समझने के बाद कोई जीव स्वोन्मुख होकर राग का आँशिक अभाव करके सम्यक्त्व को प्रगट करता है, इसलिए यह दोनों (व्यवहारश्रद्धान) उसी जीव को सम्यक्त्व के (उपचार से) कारण कहे जाते हैं, किन्तु उसका सद्भाव मिथ्यादृष्टि के सम्भव है, इसलिए वह श्रद्धान व्यवहाराभास है।

(२३) सम्यग्दर्शन और ज्ञानचेतना में अन्तर

प्रश्न - जब तक आत्मा की शुद्धोपलब्धि है, तब तक ज्ञान ज्ञानचेतना है और उतना ही सम्यग्दर्शन है, क्या यह ठीक है?

उत्तर - आत्मा के अनुभव को शुद्धोपलब्धि कहते हैं, वह चारित्रगुण की पर्याय है। जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धोपयोग में युक्त होता है अर्थात् स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करता है, तब उसे सम्यक्त्व होता है और जब शुद्धोपयोग में युक्त नहीं होता, तब भी उसे ज्ञानचेतना लब्धरूप होती है। जब ज्ञानचेतना अनुभवरूप होती है, तभी सम्यग्दर्शन होता है और जब अनुभवरूप नहीं होती, तब नहीं होता - इस प्रकार मानना बहुत बड़ी भूल है।

क्षायिक सम्यक्त्व में भी जीव शुभाशुभरूप प्रवृत्ति करे या स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करे,

किन्तु सम्यक्त्वगुण तो सामान्य प्रवर्तनरूप ही है। *(पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी)*

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है। वह क्रमशः विकसित नहीं होता, किन्तु अक्रम से एक समय में प्रगट हो जाता है और सम्यग्ज्ञान में तो हीनाधिकता होती है, किन्तु विभावभाव नहीं होता। चारित्रगुण भी क्रमशः विकसित होता है। वह अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध (राग-द्वेषवाला) निम्नदशा में होता है, अर्थात् इस प्रकार से तीनों गुणों की शुद्ध पर्याय के विकास में अन्तर है।

(२४) सम्यक् श्रद्धा करनी ही चाहिए चारित्र न पले, फिर भी उसकी श्रद्धा करना चाहिए

दर्शनपाहुड़ की २२वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि 'यदि (हम कहते हैं वह) करने को समर्थ हो तो करना और यदि करने में समर्थ न हो तो सच्ची श्रद्धा अवश्य करना, क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धा करनेवाले को सम्यक्त्व कहा है।'

यह गाथा बतलाती है कि जिसने निजस्वरूप को उपादेय जानकर श्रद्धा की उसका मिथ्यात्व मिट गया, किन्तु पुरुषार्थ की हीनता से चारित्र अङ्गीकार करने की शक्ति न हो तो जितनी शक्ति हो उतना ही करे और शेष के प्रति श्रद्धा करे। ऐसी श्रद्धा करनेवाले के भगवान ने सम्यक्त्व कहा है। *(अष्टपाहुड़-दर्शनपाहुड़, गाथा २२)*

इसी आशय की बात नियमसार की गाथा १५४ में भी कही गई है, क्योंकि सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है।

(२५) निश्चय सम्यग्दर्शन का दूसरा अर्थ

मिथ्यात्वभाव के दूर होने पर सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में प्रगट होता है। वह श्रद्धा-गुण की शुद्ध पर्याय होने से निश्चयसम्यक्त्व है। किन्तु यदि उस सम्यग्दर्शन के साथ के चारित्रगुण की पर्याय का विचार किया जाए तो चारित्रगुण की रागवाली पर्याय हो या स्वानुभवरूप निर्विकल्प पर्याय हो, वहाँ चारित्रगुण की निर्विकल्प पर्याय के साथ के निश्चय सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है और सविकल्प (रागसहित) पर्याय के साथ के निश्चयसम्यग्दर्शन को सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस सम्बन्ध में (८वें विभाग में) कहा जा चुका है।

जब सातवें गुणस्थान में और उससे आगे बढ़नेवाली दशा में निश्चयसम्यग्दर्शन और

वीतरागचारित्र का अविनाभावीभाव होता है, तब उस अविनाभावीभाव को बताने के लिए दोनों गुण का एकत्व लेकर उस समय के सम्यग्दर्शन को उस एकत्व की अपेक्षा 'निश्चयसम्यक्त्व' कहा जाता है और निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ की विकल्प दशा बताने के लिए, उस समय यद्यपि निश्चयसमयग्दर्शन है, फिर भी उस निश्चयसम्यग्दर्शन को 'व्यवहारसम्यक्त्व' कहा जाता है। इसलिए जहाँ 'निश्चयसम्यग्दर्शन' शब्द आया हो, वहाँ वह श्रद्धा और चारित्र की एकत्वापेक्षा से है या मात्र श्रद्धागुण की अपेक्षा से है, यह निश्चय करके उसका अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्न - कुछ जीवों को गृहस्थदशा में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे कैसा सम्यग्दर्शन समझना चाहिए?

उत्तर - केवल श्रद्धागुण की अपेक्षा से निश्चयसम्यग्दर्शन और श्रद्धा तथा चारित्रगुण की एकत्व की अपेक्षा से व्यवहारसम्यग्दर्शन समझना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थदशा में जो निश्चयसम्यग्दर्शन है, वह कथञ्चित् निश्चय और कथञ्चित् व्यवहारसम्यग्दर्शन है - ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न - उस निश्चयसम्यग्दर्शन को श्रद्धा और चारित्र की एकत्वापेक्षा से व्यवहार -सम्यग्दर्शन क्यों कहा है?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि जीव, शुभराग को तोड़कर वीतरागचारित्र के साथ अल्प काल में तन्मय हो जाएगा, इतना सम्बन्ध बताने के लिए उस निश्चयसम्यग्दर्शन को श्रद्धा और चारित्र की एकत्व-अपेक्षा से व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

सातवें और आगे के गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की एकता होती है, इसलिए उस समय के सम्यक्त्व में निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद नहीं होते, इसलिए वहाँ जो सम्यक्त्व होता है, उसे 'निश्चयसम्यग्दर्शन' ही कहा जाता है।

(परमात्मप्रकाश अध्याय १ गाथा ८५ नीचे की संस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ ९० तथा परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा १७-१८ के नीचे की संस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ १४६-१४७ और हिन्दी समयसार में श्री जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका गाथा १२१-१२५ के नीचे पृष्ठ १८६ तथा हिन्दी समयसार की टीका में श्री जयसेनाचार्य की टीका का अनुवाद, पृष्ठ ११६, ब्र० शीतलप्रसाद की)

— अन्त में —

पुण्य से धर्म होता है और आत्मा परद्रव्य का कुछ भी कर सकता है - यह बात श्री वीतरागदेव के द्वारा प्ररूपित धर्म की मर्यादा के बाहर है। ●●

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

(२)

निश्चय सम्यग्दर्शन

निश्चय सम्यग्दर्शन क्या है और उसे किसका अवलम्बन है ?

वह सम्यग्दर्शन स्वयं आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्मा के लक्ष से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलम्बन नहीं है, किन्तु निर्विकल्प स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्वसुख का मूल है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बन्ध रहित हूँ' ऐसा विकल्प करना भी शुभराग है, उस शुभराग का अवलम्बन भी सम्यग्दर्शन को नहीं है, उस शुभ विकल्प का अतिक्रम करने पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं रागादि विकल्परहित निर्मल पर्याय है। उसे किसी निमित्त या विकार का अवलम्बन नहीं है, किन्तु पूर्णरूप आत्मा का अवलम्बन है – वह सम्पूर्ण आत्मा को स्वीकार करता है।

एक बार निर्विकल्प होकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में लिया कि वहाँ सम्यक् प्रतीति हो जाती है। अखण्ड स्वभाव का लक्ष ही स्वरूप की शुद्धि के लिए कार्यकारी है। अखण्ड सत्य स्वरूप को जाने बिना, श्रद्धा किए बिना, 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्धस्पृष्अ हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धि के लिए कार्यकारी नहीं हैं। एक बार अखण्ड ज्ञायक-स्वभाव का संवेदन लक्ष किया कि फिर जो वृत्ति उठती हैं, वे शुभाशुभ वृत्तियाँ अस्थिरता का कार्य करती हैं, किन्तु वे स्वरूप के रोकने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि श्रद्धा तो नित्य विकल्प रहित होने से जो वृत्ति उद्भूत हाती है, वह श्रद्धा को नहीं बदल सकती.... यदि विकल्प में ही रुक गया तो वह मिथ्यादृष्टि है।

विकल्प रहित होकर अभेद का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। इस सम्बन्ध में समयसार में कहा है कि –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं त जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥१४२॥

'आत्मा कर्म से बद्ध है या अबद्ध' ऐसे दो प्रकार के भेदों के विचार में रुकना, सो नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ, पर से भिन्न हूँ' ऐसा विकल्प भी राग है, इस राग की वृत्ति का-नय का-उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो। 'मैं बद्ध हूँ अथवा बन्ध रहित मुक्त हूँ' ऐसी

विचार श्रेणी को लाँघकर जो आत्मानुभव करता है, वही सम्यग्दृष्टि है और वही शुद्धात्मा है।

'मैं अबन्ध हूँ, बन्ध मेरा स्वरूप नहीं' ऐसे भङ्ग की विचारश्रेणी के कार्य में रुकना, सो अज्ञान है और उस भङ्ग के विचार को लाँघकर अभङ्गस्वरूप को स्पर्श कर लेना (अनुभव कर लेना) ही पहला आत्म-धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रय रहित, अबन्ध, शुद्ध हूँ' निश्चयनय के पक्ष का विकल्प राग है और जो उस राग में अटक जाता है (राग को ही सम्यग्दर्शन मान ले और राग रहित स्वरूप का अनुभव न करे), सो वह मिथ्यादृष्टि है।

भेद के विकल्प उठते तो हैं किन्तु उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादि काल से आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है, इसलिए आत्मानुभव करते समय तत्सम्बन्धी विकल्प आए बिना नहीं रहते। अनादि काल से आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं है, इसलिए वृत्तियों का उद्भव होता है कि 'मैं आत्मा कर्मों के साथ सम्बन्धवाला हूँ या कर्मों के सम्बन्ध से रहित हूँ' इस प्रकार नयों के दो विकल्प उठते हैं, परन्तु 'कर्मों के साथ सम्बन्धवाला या कर्मों के सम्बन्ध से रहित अर्थात् बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ' ऐसे दो प्रकार के भेदों का भी एक स्वरूप में कहाँ अवकाश है? स्वरूप तो नयपक्ष की अपेक्षाओं से परे हैं। एक प्रकार के स्वरूप में दो प्रकार की अपेक्षाएँ नहीं होतीं। मैं शुभाशुभभाव से रहित हूँ - ऐसे विचार में उलझना भी पक्ष है। उससे भी परे स्वरूप है और स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त हूँ, वही सम्यग्दर्शन का विषय है, अर्थात् उसी के लक्ष से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; उसके अतिरिक्त दूसरा कोई सम्यग्दर्शन का उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है? किसी शारीरिक क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता, जड़ कर्मों से भी नहीं होता और अशुभराग या शुभराग के लक्ष से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता तथा 'मैं पुण्य-पाप के परिणामों से रहित ज्ञायकस्वरूप हूँ' ऐसा विचार भी स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे विचार में उलझा कि भेद के विचार में उलझ गया किन्तु स्वरूप तो ज्ञातादृष्टा है, उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है, भेद के विचार में उलझना सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है, सो स्वत: परिपूर्ण स्वभाव से भरी हुई है। आत्मा का स्वभाव परापेक्षा से रहित एकरूप है। मैं कर्म-सम्बन्धवाला हूँ या कर्मों के सम्बन्ध से रहित हूँ, ऐसी अपेक्षाओं से उस स्वभाव का आश्रय नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है, किन्तु 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्प को भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञातादृष्टा निरपेक्ष स्वभाव का आश्रय करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्मा की प्रभुता की महिमा भीतर परिपूर्ण है, अनादि काल से उसकी सम्यक् प्रतीति के बिना उसका अनुभव नहीं हुआ अनादि काल से परलक्ष किया है, किन्तु स्वभाव का लक्ष नहीं किया। शरीरादि में आत्मा का सुख नहीं है, शुभराग में भी सुख नहीं है और 'मेरा स्वरूप शुभराग से रहित है' ऐसे भेद के विचार में भी आत्मा का सुख नहीं है। इसलिए उस भेद के विचार में उलझना भी अज्ञानी का कार्य है। इसलिए उस नयपक्ष के भेद का आश्रय छोड़कर अभेद ज्ञातास्वभाव का आश्रय करना ही सम्यग्दर्शन है और उसी में सुख है। अभेद स्वभाव का आश्रय कहो या ज्ञाता स्वरूप का अनुभव कहो अथवा सुख कहो, धर्म कहो या सम्यग्दर्शन कहो – सब यही है।

विकल्प को रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता

अखण्डानन्द अभेद आत्मा का लक्ष नयपक्ष द्वारा नहीं होता। नयपक्ष की विकल्परूपी मोटर चाहे जितनी दौड़ाई जाए 'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ,' ऐसे विकल्प करें, फिर भी वे विकल्प स्वरूप के आँगन तक ही ले जाएंगे, किन्तु स्वरूपानुभव के समय तो वे सब विकल्प छोड़ ही देने पड़ेंगे। विकल्प को साथ लेकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्षों का ज्ञान स्वरूप को आँगन तक पहुँचाने में बीच में आता है। 'मैं स्वाधीन ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, कर्म जड़ हैं, जड़ कर्म मेरे स्वरूप को नहीं रोक सकते, यदि मैं विकार करूँ तो कर्म निमित्त कहलाते हैं, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते, क्योंकि कर्म और आत्मा में परस्पर अत्यन्त अभाव होने से दोनों द्रव्य भिन्न हूँ, वे कोई एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। किसी अपेक्षा मैं जड़ का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करते, जो राग-द्वेष होते हैं, उन्हें भी कर्म नहीं कराता तथा वे परवस्तु में नहीं होते किन्तु मेरी अवस्था में होते हैं, वे राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है; निश्चय से मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञानस्वरूप है' – इस प्रकार सभी पहलुओं (नयों) का ज्ञान पहले करना चाहिए, किन्तु इतना करने तक भी भेद का आश्रय है, भेद के आश्रय से अभेद आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं होता, फिर भी पहिले उन भेदों को जानना चाहिए। जब इतना जान लेता है, तब वह स्वरूप के आँगन तक पहुँचा हुआ कहलाता है। उसके बाद जब स्वसन्मुख अनुभव द्वारा अभेद का आश्रय करता है, तब भेद का आश्रय छूट जाता है। प्रत्यक्ष स्वरूपानुभव होने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस प्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्ष के विचार होते हैं, किन्तु उस नयपक्ष के कोई भी विचार स्वरूपानुभव में सहायक नहीं हैं।

प्रश्न- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध किसके साथ है ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है, उसका मात्र निश्चय -अखण्ड स्वभाव के साथ ही सम्बन्ध है। अखण्ड द्रव्य जो कि भङ्गभेद रहित है, वही सम्यग्दर्शन को मान्य है; सम्यग्दर्शन, पर्याय को स्वीकार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ रहनेवाले सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध निश्चय-व्यवहार दोनों के साथ है अर्थात् निश्चय-अखण्ड स्वभाव को तथा व्यवहार में पर्याय के भङ्ग-भेद होते हैं, उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है, किन्तु 'मैं एक निर्मल पर्याय हूँ' इस प्रकार सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को नहीं जानता। सम्यग्दर्शन का अखण्ड विषय एक द्रव्य ही है, पर्याय नहीं।

प्रश्न- जबकि सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड है और वह पर्याय को स्वीकार नहीं करता, तब फिर सम्यग्दर्शन के समय पर्याय कहाँ चली जाती है ? सम्यग्दर्शन स्वयं ही पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्य से पृथक हो गई ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषय द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद नहीं हैं, द्रव्य-गुण-पर्याय से अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शन को मान्य है। (अभिन्न वस्तु का लक्ष करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह सामान्य वस्तु के साथ अभिन्न हो जाती है)। सम्यग्दर्शनरूप पर्याय को भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, एक समय में अभिन्न परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन को मान्य है, एकमात्र पूर्णरूप आत्मा को सम्यग्दर्शन प्रतीति में लेता है.... परन्तु सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य-विशेष सबको जानता है, सम्यग्ज्ञान, पर्याय को और निमित्त को भी जानता है। सम्यग्दर्शन को भी जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुए ?

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव कोई भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, क्योंकि वे सब पर्याय हैं। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, पर्याय को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, जब अकेली वस्तु का लक्ष किया जाता है, तब श्रद्धा सम्यक् होती है।

प्रश्न - उस समय होनेवाला सम्यग्ज्ञान कैसा होता है ?

उत्तर - ज्ञान का स्वभाव, सामान्य-विशेष सब को जानना है। जब ज्ञान ने सम्पूर्ण द्रव्य को, विकसित पर्याय को और विकार को, ज्यों का त्यों जानकर, यह विवेक किया कि 'जो परिपूर्ण स्वभाव है, सो मैं हूँ और जो विकार रह गया है, सो मैं नहीं हूँ' तब वह सम्यक् कहलाया। सम्यग्दर्शनरूप विकसित पर्याय को, सम्यग्दर्शन की विषयभूत परिपूर्ण वस्तु को और अवस्था की कमी को - इन तीनों को सम्यग्ज्ञान यथावत् जानता है; अवस्था की स्वीकृति ज्ञान में है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन एक निश्चय को ही (अभेदस्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान, निश्चय तथा व्यवहार दोनों को यथावत् जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान, प्रमाण (सम्यक्) नहीं होता। यदि व्यवहार का आश्रय करे तो दृष्टि मिथ्या सिद्ध होती है और यदि व्यवहार को जाने ही नहीं तो ज्ञान, मिथ्या सिद्ध होता है। ज्ञान, निश्चय-व्यवहार का विवेक करता है, तब वह सम्यक् कहलाता है और दृष्टि व्यवहार का आश्रय छोड़कर, निश्चय को अङ्गीकार करे, तो वह सम्यक् कहलाती है।

सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ?
मोक्ष का परमार्थ कारण क्या है ?

सम्यग्दर्शन के विषय में मोक्षपर्याय और द्रव्य, ऐसे भेद ही नहीं हैं। परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन को मान्य है। बन्ध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शन को मान्य नहीं है। बन्ध-मोक्ष की पर्याय, साधकदशा के भङ्ग-भेद इत्यादि सबको सम्यक्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शन का विषय, परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है। पञ्च महाव्रतादि या विकल्प को मोक्ष का कारण कहना, स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना भी व्यवहार है, क्योंकि उस साधक अवस्था का भी अब अभाव होता है, तब मोक्षदशा प्रगट होती है, अर्थात् वह भी अभावरूप कारण है; इसलिए व्यवहार है। त्रैकालिक अखण्ड वस्तु ही मोक्ष का निश्चय कारण है। परमार्थ से वस्तु में कारण-कार्य के भेद भी नहीं है; कार्य-कारण का भेद भी व्यवहार है। एक अखण्ड वस्तु में कार्य-कारण के भेद के विचार से विकल्प होता है; इसलिए वह भी व्यवहार है, फिर भी व्यवहाररूप से भी कार्य-कारण के भेद, सर्वथा नहीं ही हो तो मोक्षदशा को प्रगट करने की बात भी नहीं कही जा सकती, अर्थात् अवस्था में साधक-साध्य के भेद हैं किन्तु अभेद के आश्रय के समय, व्यवहार का आश्रय नहीं होता, क्योंकि व्यवहार के आश्रय में भेद होता

है और भेद के आश्रय में परमार्थ-अभेदस्वरूप लक्ष्य में नहीं आता; इसलिए सम्यग्दर्शन के विषय में भेद नहीं होते; एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शान्ति का उपाय है

अनादिकाल से आत्मा के अखण्डरस को सम्यग्दर्शन के द्वारा नहीं जाना है, इसलिए जीव पर में और विकल्प में रस मान रहा है किन्तु मैं अखण्ड एकरूप स्वभाव हूँ, उसी में मेरा रस है; पर में कहीं मेरा रस नहीं है – इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल से एक बार सबको नीरस बना दे! तुझे सहजानन्दस्वरूप के अमृतरस की अपूर्व शान्ति का अनुभव प्रगट होगा। उसका उपाय, सम्यग्दर्शन ही है।

संसार का अभाव, सम्यग्दर्शन से ही होता है

अनन्त काल से अनन्त जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्त काल में अनन्त जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। जीवों ने संसार का पक्ष तो अनादिकाल से ग्रहण किया है, किन्तु सिद्धों का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया। अब सिद्धों का पक्ष ग्रहण करके, अपने सिद्धस्वरूप को जानकर, संसार का अभाव करने का अवसर आया है..... **और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है।**

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

(३)

जिज्ञासु को धर्म किस प्रकार करना चाहिए ?

जो जीव, जिज्ञासु होकर स्वभाव को समझना चाहता है, वह अपने सुख को प्राप्त (प्रगट अनुभवरूप) करना चाहता है और दु:ख को दूर करना चाहता है तो सुख अपना नित्य स्वभाव है और वर्तमान में जो दु:ख है, सो क्षणिक है; इसलिए वह दूर हो सकता है। वर्तमान दु:ख-अवस्था को दूर करके, स्वयं सुखरूप अवस्था को प्रगट कर सकता है, इतना तो जो सत् को समझना चाहता है, उसने स्वीकार कर ही लिया है। आत्मा को अपने भाव में अपूर्व तत्त्वविचाररूप पुरुषार्थ करके, विकाररहित स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। वर्तमान विकार के होने पर भी, विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा की जा सकती है, अर्थात् यह विकार और दु:ख मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा निश्चय हो सकता है।

पात्र जीव का लक्षण—जिज्ञासु जीवों को स्वरूप का निर्णय करने के लिए शास्त्रों ने पहिले ही ज्ञानक्रिया बतलायी है। स्वरूप का निर्णय करने के लिए, दूसरा कोई दान-पूजा-भक्ति-व्रत-तपादि करने को नहीं कहा है, किन्तु श्रुतज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करने को ही कहा है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र की ओर का आदर और उस ओर का झुकाव तो हट ही जाना चाहिए तथा विषयादि परवस्तु में से सुख-बुद्धि दूर हो जानी चाहिए। सब ओर से रुचि हटकर, अपनी ओर ढलनी चाहिए और देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थतया पहिचानकर, उस ओर आदर करे और यह सब यदि स्वभाव के लक्ष्य से हुआ हो तो उस जीव की पात्रता हुई कहलाती है। इतनी पात्रता तो अभी सम्यग्दर्शन का मूलकारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूलकारण चैतन्यस्वभाव का आश्रय करना है, किन्तु पहिले कुदेवादि का सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सत्समागम का प्रेम, पात्र जीवों के होता ही है, ऐसे पात्र हुए जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिए क्या करना चाहिए, सो यहाँ स्पष्ट बताया है।

सम्यग्दर्शन के उपाय के लिए ज्ञानियों के द्वारा बतायी गयी क्रिया

'पहिले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके, फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारण जो इन्द्रियों के द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं, उन्हें मर्यादा में लाकर, जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है, ऐसा तथा नाना प्रकार के पक्षों के आलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा

आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मान-मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्परहित होकर, तत्काल.... परमात्मस्वरूप आत्मा को जब आत्मा अनुभव करता है, उसी समय सम्यक्तया दिखायी देता है (अर्थात्, श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है, वही समयग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।'

(श्री समयसार, गाथा १४४ की टीका)

उपरोक्त कथन का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है -

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए?—'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए।' ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए? सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान, अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तुस्वरूप को सिद्ध करता है। जो अनेकान्तस्वरूप वस्तु को 'स्वरूप से है और पररूप से नहीं है' इस प्रकार वस्तु को स्वतन्त्र सिद्ध करता है, वह श्रुतज्ञान है।

एक वस्तु निजरूप से है और वह वस्तु अनन्त परद्रव्यों से पृथक् है, इस प्रकार अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करके, जो वस्तुस्वरूप को बतावे - सिद्ध करे सो अनेकान्त है और वही श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्वापेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं! इसमें वस्तु की नित्यता और स्वतन्त्रता सिद्ध की है।

श्रुतज्ञान का वास्तविक लक्षण-अनेकान्त—एक वस्तु में 'है' और 'नहीं' - ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रकाशित करके, जो वस्तुस्वरूप को पर से भिन्न बताए, सो श्रुतज्ञान है। आत्मा, सर्व परद्रव्यों से भिन्न वस्तु है, ऐसा पहिले श्रुतज्ञान से निश्चित करना चाहिए।

अनन्त परवस्तुओं से यह आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध होने पर, अब अपने द्रव्य-पर्याय में देखना है। मेरा त्रैकालिक द्रव्य, एक समयमात्र की अवस्थारूप नहीं है, एवं विकार, क्षणिक पर्यायरूप से है और त्रैकालिक स्वरूप से विकार नहीं है - इस प्रकार विकाररहित स्वभाव की सिद्धि भी अनेकान्त के द्वारा ही होती है। भगवान के द्वारा कहे गए शास्त्रों की महत्ता अनेकान्त से ही है। भगवान ने परजीवों की दया पालने को कहा है या अहिंसा बतलायी है अथवा कर्मों का वर्णन किया है, इस प्रकार मानना, न तो भगवान को पहिचानने का वास्तविक लक्षण है और न भगवान द्वारा कहे गए शास्त्रों को ही पहिचानने का।

भगवान भी दूसरे का कुछ नहीं कर सके—भगवान ने अपना कार्य भलीभाँति किया, किन्तु वे दूसरों का कुछ नहीं कर सके; क्योंकि एक तत्त्व स्वापेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं है; इसलिए कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य, पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र है, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार समझ लेना ही भगवान के द्वारा कहे गए शास्त्रों की पहिचान है और वही श्रुतज्ञान है।

प्रभावना का सच्चा स्वरूप—कोई जीव परद्रव्य की प्रभावना नहीं कर सकता, किन्तु जैनधर्म जो कि आत्मा का वीतरागस्वभाव है, उसकी प्रभावना, धर्मी जीव करते हैं। आत्मा को जाने बिना, आत्मस्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना कैसे की जा सकती है ? प्रभावना करने का जो विकल्प उठता है, सो भी पर के कारण से नहीं। दूसरे के लिए कुछ भी अपने में होता है, यह कहना जैनशासन की मर्यादा में नहीं है। जैनशासन तो वस्तु को स्वतन्त्र, स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवान के द्वारा कथित सच्ची दया-अहिंसा का स्वरूप—यह बात मिथ्या है कि भगवान ने दूसरे जीवों की दया स्थापित की है जबकि यह जीव, पर जीवों की क्रिया कर ही नहीं सकता, तब फिर उसे बचा सकने की बात भगवान कैसे कहें ? भगवान ने तो आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर, ज्ञातामात्र भाव की श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा कषायभाव से अपने आत्मा को बचाने की बात कही है और यही सच्ची दया है। अपने आत्मा का निर्णय किए बिना, जीव क्या कर सकता है ? भगवान के श्रुतज्ञान में तो यह कहा है कि तू स्वत: परिपूर्ण वस्तु है, प्रत्येक तत्त्व स्वत: स्वतन्त्र है; किसी तत्त्व को, दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं है, इस प्रकार वस्तुस्वरूप को पृथक् स्वतन्त्र जानना, सो अहिंसा है और वस्तु को पराधीन मानना कि एक, दूसरे का कुछ कर सकता है तथा राग से धर्म मानना, सो हिंसा है। सरागी को दूसरे जीव को बचाने का राग तो होता है, किन्तु उस शुभ राग से पुण्य-बन्ध होता है; धर्म नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए।

आनन्द को प्रगट करनेवाली भावनावाला क्या करे ?—जगत के जीवों को सुख चाहिए है और सुख का दूसरा नाम, धर्म है। धर्म करना है, अर्थात् आत्मशान्ति चाहिए है अथवा अच्छा करना है और वह अच्छा कहाँ करना है ? आत्मा की अवस्था में दु:ख का नाश करके, वीतरागी आनन्द प्रगट करना है। वह आनन्द ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो - जिसके लिए पर का अवलम्बन न हो। ऐसा आनन्द प्रगट करने की जिसकी यथार्थ भावना

हो, वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु पहिले यह देखता है कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ है ? अपने को अभी ऐसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ है, किन्तु अपने को जिसकी चाह है, ऐसा आनन्द अन्य किसी को प्रगट हुआ है और जिन्हें वह आनन्द प्रगट हुआ है, उनके निमित्त से स्वयं उस आनन्द को प्रगट करने का सच्चामार्ग जान ले और ऐसा जान ले तो उसमें सच्चे निमित्तों की पहिचान भी आ गयी। जब तक इतना करता है, तब तक वह जिज्ञासु है।

अपनी अवस्था में अधर्म-अशान्ति है, उसे दूर करके धर्म-शान्ति प्रगट करना है। वह शान्ति, अपने आधार से और परिपूर्ण होनी चाहिए। जिसे ऐसी जिज्ञासा होती है, वह पहिले यह निश्चय करता है कि मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी और के प्रगट हुआ होना चाहिए। यदि परिपूर्ण सुख-आनन्द प्रगट न हो तो दु:खी कहलाये, जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट होता है, वह सम्पूर्ण सुखी है और ऐसे सर्वज्ञ वीतराग हैं। इस प्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करता है। दूसरे का कुछ करने-धरने की बात तो है ही नहीं। जब पर से कुछ पृथक् हुआ है, तभी तो आत्मा को जिज्ञासा हुई है, जिसे पर से हटकर आत्महित करने की तीव्र आकाँक्षा जाग्रत हुई है, ऐसे जिज्ञासु जीव की यह बात है। परद्रव्य के प्रति सुखबुद्धि और रुचि को दूर किया, वह पात्रता है और स्वभाव की रुचि तथा पहिचान होना, सो पात्रता का फल है।

दु:ख का मूल, भूल है। जिसने अपनी भूल से दु:ख उत्पन्न किया है, वह अपनी भूल को दूर करे तो उसका दु:ख दूर हो; अन्य किसी ने भूल नहीं करायी; इसलिए दूसरा कोई अपना दु:ख दूर करने में समर्थ नहीं है।

श्रुतज्ञान का अवलम्बन ही पहली क्रिया है—जो आत्मकल्याण करने को तैयार हुआ है, ऐसे जिज्ञासु को पहिले क्या करना चाहिए - यह बतलाया जाता है। आत्मकल्याण कहीं अपने आप नहीं हो जाता, किन्तु वह अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से होता है। अपना कल्याण करने के लिए पहले अपने ज्ञान में यह निर्णय करना होगा कि जिन्हें पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है, वे कौन हैं और वे क्या कहते हैं तथा उन्होंने पहले क्या किया था। अर्थात्, सर्वज्ञ का स्वरूप जानकर, उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलम्बन से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिए, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलम्बन से धर्म प्रगट नहीं होता, फिर भी जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब सन्मुख निमित्तरूप से सच्च देव-गुरु ही होते हैं।

इस प्रकार प्रथम ही निर्णय यह हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष, सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुख का पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है। स्वयं उसे समझकर, अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और स्वयं जब समझता है, तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्तरूप होते हैं। जिसे स्त्री, पुत्र, पैसा इत्यादि की, अर्थात् संसार के निमित्तों के ओर की तीव्र रुचि होगी, उसे धर्म के निमित्तभूत देव-शास्त्र-गुरु के प्रति रुचि नहीं होगी, अर्थात् उसे श्रुतज्ञान का अवलम्बन नहीं रहेगा और श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना, आत्मा का निर्णय नहीं होगा। क्योंकि आत्मा के निर्णय में सत् निमित्त ही होते हैं; कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र इत्यादि कोई भी आत्मा के निर्णय में निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादि को मानता है, उसे आत्मनिर्णय हो ही नहीं सकता।

जिज्ञासु की यह मान्यता तो हो ही नहीं सकती कि दूसरे की सेवा करेंगे तो धर्म होगा। किन्तु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है, इसके लिए पहिले पूर्णज्ञानी भगवान और उनके कथित शास्त्रों के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करने के लिए उद्यमी होगा। अनन्त भव में जीव ने धर्म के नाम पर मोह किया, किन्तु धर्म की कला को समझा ही नहीं है। यदि धर्म की एक कला ही सीख ले तो उसका मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा।

जिज्ञासु जीव, पहले कुदेवादि का और सुदेवादि का निर्णय करके, कुदेवादि को छोड़ता है और फिर उसे सच्चे देव-गुरु की ऐसी लगन लग जाती है कि उसका एकमात्र यही लक्ष्य हो जाता है कि सत्पुरुष क्या कहते हैं, उसे समझा जाए, अर्थात् वह अशुभ से तो अलग हो ही जाता है। यदि कोई सांसारिक रुचि से पीछे न हटे तो वह श्रुतावलम्बन में टिक नहीं सकेगा।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है ?—बहुत से जिज्ञासुओं को यही प्रश्न होता है कि धर्म के लिए पहिले क्या करना चाहिए? क्या पर्वत पर चढ़ना चाहिए या सेवा-पूजा-ध्यान करते रहना चाहिए, या गुरु की भक्ति करके, उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए अथवा दान देना चाहिए? - इन सबका उत्तर यह है कि इसमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है। धर्म तो अपना स्वभाव है; धर्म पराधीन नहीं है। किसी के अवलम्बन से धर्म नहीं होता। धर्म, किसी के द्वारा दिया नहीं जाता किन्तु अपनी पहिचान से ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिए है उसे यह निश्चित करना चाहिए कि पूर्णानन्द का स्वरूप क्या है और वह किसे प्रगट हुआ है? जो आनन्द मैं चाहता हूँ, वह पूर्ण अबाधित आनन्द चाहता हूँ। अर्थात्, कोई आत्मा वैसी पूर्णानन्ददशा को प्राप्त हुए हैं और उन्हें पूर्णानन्ददशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है,

क्योंकि यदि ज्ञान पूर्ण न हो तो राग-द्वेष रहेगा, उसके रहने से दु:ख रहेगा और जहाँ दु:ख होता है, वहाँ पूर्णानन्द नहीं हो सकता; इसलिए जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं, उनका और वे क्या कहते हैं, उसका जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिए; इसीलिए कहा है कि 'पहिले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा के-पूर्णरूप का निर्णय करना चाहिए.....' इसमें उपादान-निमित्त की सन्धि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है, सत् बात कौन कहता है, यह सब निश्चय करने के लिए निवृत्ति लेनी चाहिए। यदि स्त्री-कुटुम्ब, लक्ष्मी का प्रेम और संसार की रुचि में कमी न आए तो वह सत्-समागम के लिए निवृत्ति नहीं ले सकेगा। जहाँ श्रुत का अवलम्बन लेने को कहा है, वहीं तीव्र अशुभभाव का त्याग आ गया और सच्चे निमित्तों की पहिचान करना भी आ गया।

सुख का उपाय, ज्ञान और सत्-समागम—तुझे तो सुख चाहिए है ? यदि तुझे सुख चाहिए है तो पहले यह निर्णय कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है। इसका ज्ञान किए बिना (बाह्याचार करके यदि) सूख चाहे, तब भी सुख नहीं मिलता-धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित श्रुतज्ञान के अवलम्बन से यह निर्णय होता है और इस निर्णय का करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो वह धर्मी को पहचानकर वे क्या कहते हैं, इसका निर्णय करने के लिये सत्-समागम करे। सत्-समागम से जिसे श्रुतज्ञान का अवलम्बन प्राप्त हुआ है कि अहो! परिपूर्ण आत्मवस्तु ही उत्कृष्ट महिमावान है, मैंने ऐसा परमस्वरूप अनन्त काल में पहले कभी नहीं सुना था - ऐसा होने पर उसे स्वरूप की रुचि जागृत होती है और सत्समागम का रङ्ग लग जाता है, अर्थात् उसे कुदेवादि या संसार के प्रति रुचि हो ही नहीं सकती।

यदि अपनी वस्तु को पहचाने तो प्रेम जागृत हो और उस तरफ का पुरुषार्थ ढले। आत्मा, अनादिकाल से स्वभाव को भूलकर, पुण्य-पापमय परभावरूपी परदेश में परिभ्रमण करता है। स्वरूप से बाहर संसार में परिभ्रमण करते-करते, परमपिता सर्वज्ञदेव और परम हितकारी श्री परमगुरु से भेंट हुई और वे उनका पूर्ण हित कैसे होता है, यह सुनाते हैं तथा आत्मस्वरूप की पहिचान कराते हैं। अपने स्वरूप को सुनते हुए किस धर्मी को उल्लास नहीं होता ? आत्म-स्वभाव की बात सुनते ही जिज्ञासु जीवों को महिमा आती ही है कि अहो! अनन्त काल से यह अपूर्वज्ञान नहीं हुआ; स्वरूप के बाहर परभाव में भ्रमित होकर अनन्त काल तक दु:खी हुआ, यदि यह अपूर्वज्ञान पहले किया होता तो यह दु:ख नहीं होता। इस प्रकार स्वरूप की चाह जागृत हो, रस आए, महिमा जागे और उस महिमा को

यथार्थतया रटते हुए स्वरूप का निर्णय करे; इस प्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो, उसे पहले श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

भगवान की श्रुतज्ञानरूपी डोरी को दृढ़तापूर्वक पकड़कर, उसके अवलम्बन से स्वरूप में पहुँच जाता है। श्रुतज्ञान के अवलम्बन का अर्थ क्या है? सच्चे श्रुतज्ञान का ही रस है; अन्य कुश्रुतज्ञान का रस नहीं है, संसार की बातों का तीव्र रस टल गया है और श्रुतज्ञान का तीव्र रस आने लगा है; इस प्रकार श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्म का निर्णय करने के लिए जो तैयार हुआ है, उसे अल्पकाल में आत्म-प्रतीति होगी..। संसार का तीव्र लोहरस जिसके हृदय में घुल रहा हो, उसे परम शान्तस्वभाव की बात समझने की पात्रता ही जागृत नहीं होती..। यहाँ जो 'श्रुत का अवलम्बन' शब्द दिया है, सो वह अवलम्बन स्वभाव के लक्ष्य से है, पीछे न हटने के लक्ष्य से है। जिसने ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करने के लिए श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह आत्मस्वभाव का निर्णय करता ही है। उसके पीछे हटने की बात शास्त्र में नहीं ली गयी है।

संसार की रुचि को घटाकर, आत्मनिर्णय करने के लक्ष्य से जो यहाँ तक आया है, उसे श्रुतज्ञान के अवलम्बन से निर्णय अवश्य होगा; यह हो ही नहीं सकता कि निर्णय न हो। सच्चे साहूकार के बहीखाते में दिवाले की बात ही नहीं हो सकती; उसी प्रकार यहाँ दीर्घ संसारी की बात ही नहीं है, यहाँ तो सच्चे जिज्ञासु जीवों ही की बात है। सभी बातों की हाँमें हाँ भरे और एक भी बात का अपने ज्ञान में निर्णय न करे, ऐसे 'ध्वजपुच्छ' जैसे जीवों की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो निश्चल और स्पष्ट बात है, जो अनन्त कालीन संसार का अन्त करने के लिए, पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करने को निकले हैं, ऐसे जीवों का प्रारम्भ किया हुआ कार्य फिर पीछे नहीं हटता - ऐसे जीवों की ही यहाँ बात है, यह तो अप्रतिहतमार्ग है। **'पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारम्भ ही वास्तविक प्रारम्भ है।'** पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारम्भ, पीछे नहीं हटता; पूर्णता के लक्ष्य से, पूर्णता अवश्य होती है।

जिस ओर की रुचि, उसी ओर की रटन—एक की एक बात ही पुनः पुनः (अदल बदलकर) कही जा रही है, किन्तु रुचिवान जीव को उकताहट नहीं होती। नाटक का रुचिवान मनुष्य, नाटक में 'वन्स मोर' कहकर अपनी रुचिवाली वस्तु को बारम्बार देखता है। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मरुचि हुई है और जो आत्मकल्याण करने को निकले हैं, वे बारम्बार रुचिपूर्वक प्रति समय खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते,

बोलते-चालते हुए निरन्तर श्रुत का ही अवलम्बन स्वभाव के लक्ष्य से करते हैं, उसमें किसी काल या क्षेत्र की मर्यादा नहीं करते। उन्हें श्रुतज्ञान की रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी नहीं हटती। ऐसा नहीं कहा है कि अमुक समय तक अवलम्बन करना चाहिए और फिर छोड़ देना चाहिए, किन्तु श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करने को कहा है। जिसे सच्ची तत्त्व की रुचि हुई है, वह दूसरे सब कार्यों की प्रीति को गौण कर देता है।

प्रश्न - तब क्या सत् की प्रीति होती है; इसलिए खाना-पीना और व्यापार-धन्धा सब छोड़ देना चाहिए और श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिए? किन्तु उसे सुनकर भी क्या करना है?

उत्तर - सत् की प्रीति होती है; इसलिए तत्काल खाना-पीना सब छूट ही जाए - ऐसा नियम नहीं है, किन्तु उस ओर की रुचि तो अवश्य कम हो ही जाती है। पर में से सुखबुद्धि उड़ जाये और सब में एक आत्मा ही आगे रहे। इसका अर्थ यह है कि निरन्तर आत्मा ही की तीव्राकांक्षा और चाह होती है; ऐसा नहीं कहा है कि मात्र श्रुतज्ञान को सुना ही करे, किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

श्रुतावलम्बन की धुन लगने पर, वहाँ देव-गुरु-शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, इत्यादि अनेक प्रकार से बातें आती हैं, उन सब प्रकारों को जानकर, एक ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिए। उसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं - इस सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, ज्ञान के अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं और उन्हें पहिचानकर उनका अवलम्बन करनेवाला स्वयं क्या समझा है - यह इसमें बताया है। 'तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानना ही है, कुछ पर का करना या पुण्य-पाप के भाव करना, तेरा स्वभाव नहीं है।' इस प्रकार जो बताते हों, वे सच्च देव-गुरु-शास्त्र हैं और इस प्रकार जो समझता है, वही देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से श्रुतज्ञान को समझा है किन्तु जो राग से-निमित्त से धर्म मनवाते हों और जो यह मनवाते हों कि आत्मा शरीराश्रित क्रिया करता है, जड़कर्म आत्मा को हैरान करते हैं, वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

जो शरीरादि सर्व पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वरूप बतलाता हो और यह बतलाता हो कि पुण्य-पाप का कर्तव्य आत्मा का नहीं है, वही सत् श्रुत है, वही सच्चा देव है और वही सच्चा गुरु है और जो पुण्य से धर्म बताए, शरीर की क्रिया का कर्ता, आत्मा को

बताए और राग से धर्म बताए, वह कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र है क्योंकि वे यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञाता नहीं हैं। प्रत्युत उल्टा स्वरूप बतलाते हैं। जो वस्तुस्वरूप को यथावत् नहीं बतलाते और किञ्चिन्मात्र भी विरुद्ध बतलाते हैं, वे कोई देव, गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

श्रुतज्ञान के अवलम्बन का फल-आत्मानुभव—'मैं आत्मा ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप की प्रवृत्तियाँ मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से पृथक् हैं,' इस प्रकार पहले विकल्प के द्वारा, देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करना चाहिए। यह तो अभी ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं हुआ, उससे पहले की बात है, जिससे स्वभाव के लक्ष्य से श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह अल्पकाल में आत्मानुभव अवश्य करेगा। प्रथम विकल्प में जिसने यह निश्चय किया कि मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही लाभ है; देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलम्बन परमार्थ से नहीं है, मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभाव हूँ, इस प्रकार निर्णय करनेवाले को अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा।

पुण्य-पाप, मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ - इस प्रकार जिसने निर्णय के द्वारा स्वीकार किया है, उसका परिणमन पुण्य-पाप की ओर से पीछे हटकर, ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है, अर्थात् उसे पुण्य-पाप का आदर नहीं रहा; इसलिए वह अल्पकाल में ही पुण्य-पापरहित स्वभाव का निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके, वीतराग होकर पूर्ण हो जायेगा। यहाँ पूर्णता की बात है - प्रारम्भ और पूर्णता के बीच कोई भेद ही नहीं किया, क्योंकि जो प्रारम्भ हुआ है, वह पूर्णता को लक्ष्य में लेकर ही हुआ है। सत्य को सुनानेवाले और सुननेवाले दोनों की पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभाव की बात करते हैं, वे देव-गुरु और शास्त्र - तीनों पवित्र ही हैं, उनके अवलम्बन से जिसने हाँ कही है, वह भी पूर्ण पवित्र हुए बिना नहीं रह सकता.... जो पूर्ण की हाँ कहकर आया है, वह पूर्ण होगा ही.... इस प्रकार उपादान-निमित्त की सन्धि साथ ही है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व.....—आत्मानन्द प्रगट करने के लिए पात्रता का स्वरूप क्या है? तुझे तो धर्म करना है न! तो तू अपने को पहिचान। सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे तू है कौन? क्या क्षणिक पुण्य-पाप का करनेवाला तू है? नहीं, नहीं। तू तो ज्ञान का करनेवाला, ज्ञानस्वभाव है, तू पर को ग्रहण करनेवाला या छोड़नेवाला नहीं है; तू तो केवलज्ञान जाननेवाला ही है। ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रारम्भ का (सम्यग्दर्शन का) उपाय है। प्रारम्भ में, अर्थात् सम्यग्दर्शन से पूर्व यदि ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में भी नहीं

है। मेरा सहजस्वभाव जानने का है - ऐसा श्रुत के अवलम्बन से जो निर्णय करता है, वह पात्र जीव है, जिसे पात्रता प्रगट हुई है, उसे आन्तरिक अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जिज्ञासु जीव—धर्म सन्मुख हुआ जीव—सत्समागम में आया हुआ जीव, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव का—आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभाव जाननेवाला हूँ। मेरा ज्ञानस्वभाव ऐसा नहीं है कि ज्ञेय में कहीं राग-द्वेष करके अटक जाए; पर पदार्थ चाहे जैसा हो, मैं तो उसका मात्र ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञातास्वभाव पर का कुछ करनेवाला नहीं है। मैं जैसा ज्ञानस्वभाव हूँ, उसी प्रकार जगत के सभी आत्मा ज्ञानस्वभाव हैं, वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय (करना) चूक गए हैं; इसलिए दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो, मैं किसी को बदलने में समर्थ नहीं हूँ पर जीवों का दुःख दूर नहीं कर सकता, क्योंकि उन्होंने दुःख अपनी भूल से किया है। यदि वे अपनी भूल को दूर करें तो उनका दुःख दूर हो।

पहले श्रुत का अवलम्बन बताया है, उसमें पात्रता हुई, अर्थात् श्रुतावलम्बन से आत्मा का अव्यक्त निर्णय हुआ है, तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है, यह नीचे कहा जा रहा है -

सम्यग्दर्शन के पूर्व, श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बल से आत्मा के ज्ञानस्वभाव को-अव्यक्तरूप से लक्ष्य में लिया है। अब प्रगटरूप लक्ष्य में लेता है-अनुभव करता है-आत्म-साक्षात्कार, अर्थात् सम्यग्दर्शन करता है, वह किस प्रकार से? उनकी रीति यह है कि '.....बाद में आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, पर पदार्थ की प्रसिद्धि के कारणभूत जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लाकर, जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (मतिज्ञान के-स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है, ऐसा..।' अप्रगटरूप निर्णय हुए थे, वह अब प्रगटरूप कार्य में लाता है, जो निर्णय किया था, उनका फल प्रगट होता है।

इस निर्णय को जगत के सब संज्ञी आत्मा कर सकते हैं। सभी आत्मा, परिपूर्ण भगवान ही हैं; इसलिए सब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्महित करना चाहता है, उसे वह हो सकता है, किन्तु अनादिकाल से अपनी चिन्ता नहीं की है। अरे भाई! तू कौन वस्तु है, यह जाने बिना तू क्या करेगा? पहले इस ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए। इसके निर्णय होने पर, अव्यक्तरूप से आत्मा का लक्ष्य हो जाता है और फिर पर के लक्ष्य से तथा विकल्प से हटकर, स्व स्वरूप की प्रतीति, अनुभवरूप से प्रगट करना चाहिए।

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए इन्द्रिय और मन से जो पर पे लक्ष्य जाता है, उसे बदलकर उस मतिज्ञान को निज में एकाग्र करने पर, आत्मा का लक्ष्य होता है, अर्थात् आत्मा की प्रगटरूप से प्रसिद्धि होती है। शुद्ध आत्मा का प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही धर्म है।

धर्म के लिए पहले क्या करना चाहिए?—कई लोग कहा करते हैं कि यदि आत्मा के सम्बन्ध में कुछ समझ न आए तो पुण्य-शुभभाव करना चाहिए या नहीं? इसका उत्तर यह है कि पहले आत्मस्वभाव को समझना ही धर्म है। धर्म से ही संसार का अन्त होता है। शुभभाव से धर्म नहीं होता और धर्म के बिना, संसार का अन्त नहीं होता। धर्म तो अपना स्वभाव है; इसलिए पहले स्वभाव ही समझना चाहिए।

प्रश्न - यदि स्वभाव समझ में न आए तो क्या करना चाहिए और यदि उसके समझने में देर लगे तो क्या अशुभभाव करके दुर्गति का बन्ध करना चाहिए? क्योंकि आप शुभभावों से धर्म होना तो मानते नहीं - उसका निषेध करते हैं।

उत्तर - पहले तो यह हो ही नहीं सकता कि यह बात समझ में न आए। हाँ, यदि समझने में देर लगे तो वहाँ निरन्तर समझने का लक्ष्य मुख्य रखकर, अशुभभावों को दूर करके, शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु मिथ्याश्रद्धा का निषेध है। यह समझना चाहिए कि शुभभाव से कभी धर्म नहीं होता। जब तक जीव, किसी भी जड़ वस्तु की क्रिया को और राग की क्रिया को अपनी मानता है तथा प्रथम व्यवहार करते-करते, बाद में निश्चय धर्म होगा, ऐसा मानता है, तब तक वह यथार्थ समझ के मार्ग पर नहीं है किन्तु विरुद्ध में है।

सुख का मार्ग, सच्ची समझ; विकार का फल, जड़—यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो समझ का मार्ग लिए बिना न रहे, यदि सत्य चाहिए हो, सुख चाहिए हो, तो यही मार्ग है। समझने में भले देर लगे किन्तु सच्ची समझ का मार्ग तो ग्रहण करना ही चाहिए। यदि सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझ में आए बिना रह ही नहीं सकता। यदि इस मनुष्य देह में और सत्समागम के इस सुयोग में भी सत्य न समझे तो फिर ऐसे सत्य का सुअवसर नहीं मिलेगा। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ और यहाँ पर भी स्वरूप की चूककर जाता है, वह अन्यत्र जहाँ जाएगा, वहाँ क्या करेगा? शान्ति कहाँ से लाएगा? कदाचित् शुभभाव किए हों तो उस शुभ का फल, जड़ में जाता है; आत्मा में पुण्य का फल नहीं पहुँचता। जिसने आत्मा की चिन्ता नहीं की और जो यहीं से मूढ़ हो गया है; इसलिए

उन रजकणों के फल में भी रजकणों का संयोग ही मिलेगा, उन रजकणों के संयोग में आत्मा का क्या लाभ है ? आत्मा की शान्ति तो आत्मा में ही है, किन्तु उसकी चिन्ता की नहीं है।

असाध्य कौन है और शुद्धात्मा कौन है ?—अज्ञानी जीव, जड़ का लक्ष्य करके जड़वत् हो गया है, इसलिए मरते समय अपने को भूलकर संयोग दृष्टि को लेकर मरता है; असाध्यतया प्रवृत्ति करता है, अर्थात् जिसे चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है, वह जीते जी ही असाध्य ही है। भले शरीर हिले-डुले, बोले-चाले, किन्तु यह तो जड़ की क्रिया है, उसका स्वामी हो गया किन्तु अन्तरङ्ग में साध्यभूत ज्ञानस्वरूप की जिसे खबर नहीं है, वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है। यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान से वस्तुस्वभाव को यथार्थतया न समझे तो जीव को स्वरूप का किञ्चित् लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के द्वारा स्वरूप की पहचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ, उसी को 'शुद्धात्मा' नाम मिलता है और शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा विकल्प छूटकर, मात्र आत्मानुभव रह जाए, सो यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; वे कहीं आत्मा से भिन्न नहीं हैं।

जिसे सत्य चाहिए हो, ऐसे जिज्ञासु-समझदार जीव को यदि कोई असत्य बतलाए तो वह असत्य को स्वीकार नहीं कर लेता। जिसे सत्स्वभाव की चाह है, वह स्वभाव से विरुद्ध-भाव को स्वीकार नहीं करता। वस्तु का स्वरूप, शुद्ध है, इसका ठीक निर्णय किया और वृत्ति छूट गयी, इसके बाद जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ, वही धर्म है। ऐसा धर्म, किस प्रकार होता है और धर्म करने के लिए पहले क्या करना चाहिए ? तत्सम्बन्धी यह कथन चल रहा है।

धर्म की रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ?—धर्म के लिए सर्व प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर, श्रवण-मनन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिए कि मैं एक ज्ञानस्वभाव हूँ। ज्ञानस्वभाव में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई करने-धरने का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार सत् के समझने में जो काल व्यतीत होता है, वह भी अनन्त काल में पहले कभी नहीं किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीव को सत् की ओर की रुचि होती है, इसलिए वैराग्य जागृत होता है और समस्त संसार के ओर की रुचि उड़ जाती है, चौरासी के अवतार के प्रति त्रास जागृत हो जाता है कि यह कैसी विडम्बना है ? एक तो स्वरूप की प्रतीति नहीं है और उधर प्रतिक्षण पराश्रयभाव में रचे-पचे रहते हैं, भला यह भी कोई मनुष्य का जीवन है ? तिर्यञ्च इत्यादि के दु:खों की तो बात ही क्या, किन्तु इस नर-देह में भी ऐसा जीवन और मरण समय, स्वरूप का भानरहित असाध्य होकर ऐसा दयनीय मरण ? इस प्रकार संसार

सम्बन्धी त्रास उत्पन्न होने पर, स्वरूप को समझने की रुचि उत्पन्न होती है। वस्तु को समझने के लिए जो काल व्यतीत होता है, वह भी ज्ञान की क्रिया है, सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओं को पहले ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए कि 'मैं सदा एक ज्ञाता हूँ; मेरा स्वभाव है, वह जाननेवाला है; पुण्य-पाप के भाव या स्वर्ग-नरक आदि कोई मेरा स्वभाव नहीं है।' इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कारण-कार्य—१- सच्चे श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना, और २- श्रुतज्ञान से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय किए बिना, आत्मा अनुभव में नहीं आता। इसमें आत्मा का अनुभव करना कार्य है। आत्मा का निर्णय करना, उपादानकारण है और श्रुत का अवलम्बन, निमित्तकारण है। श्रुत के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया, उसका फल उस निर्णय के अनुसार आचरण, अर्थात् अनुभव करना है। आत्मा का निर्णय, कारण और आत्मा का अनुभव, कार्य है, इस प्रकार यहाँ लिया गया है, अर्थात् जो निर्णय करता है, उसे अनुभव होता ही है - ऐसी बात कही है।

अन्तरङ्ग अनुभव का उपाय, अर्थात् ज्ञान की क्रिया—अब यह बतलाते हैं कि आत्मा का निर्णय करने के बाद, उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिए? निर्णयानुसार श्रद्धा का आचरण अनुभव है। प्रगट अनुभव में शान्ति का वेदन लाने के लिए, अर्थात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारणों को छोड़ देना चाहिए। पहिले 'मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ' ऐसा निश्चय करने के बाद, आत्मा के आनन्द का प्रगट भोग करने के लिए (वेदन या अनुभव करने के लिए) परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण, जो इन्द्रिय और मन के द्वारा पराश्रय में प्रवर्तमान ज्ञान है, उसे स्व की ओर लाना। देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि परपदार्थों की ओर का लक्ष्य तथा मन के अवलम्बन से प्रवर्तमान बुद्धि, अर्थात् मतिज्ञान को संकुचित करके-मर्यादा में लाकर, स्वात्माभिमुख करना सो आन्तरिक अनुभव का पन्थ है, सहज शीतलस्वरूप अनाकुलस्वभाव की छाया में प्रवेश करने की पहली सीढ़ी है।

प्रथम, आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा भलीभाँति निश्चय करके, फिर प्रगट अनुभव करने के लिए, पर की ओर जानेवाले भाव जो मति और श्रुतज्ञान हैं, उन्हें अपनी ओर एकाग्र करना चाहिए। **जो ज्ञान, पर में विकल्प करके रुक जाता है, अथवा मैं ज्ञान हूँ व मेरे ज्ञानादि हैं, ऐसे विकल्प में रुक जाता है, उसी ज्ञान को वहाँ से हटाकर, स्वभाव की ओर लाना चाहिए।** मति और श्रुतज्ञान के जो भाव हैं, वे तो ज्ञान में ही रहते हैं, किन्तु पहले

वे भाव पर की ओर जाते थे, अब उन्हें आत्मोन्मुख करने पर स्वभाव का लक्ष्य होता है। आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होने की यह क्रमिक सीढ़ी है।

ज्ञान में भव नहीं है।—जिसने मन के अवलम्बन से प्रवर्तमान ज्ञान को मन से छुड़ाकर, अपनी ओर किया है, अर्थात् पर पदार्थ की ओर जाते हुए मतिज्ञान को मर्यादा में लाकर, आत्म-सन्मुख किया है, उसके ज्ञान में अनन्त संसार का नास्तिभाव और पूर्ण ज्ञानस्वभाव का अस्तिभाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करने में अनन्त पुरुषार्थ है। स्वभाव में भव नहीं है; इसलिए जिसका स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ उदित हुआ है, उसे भव की शङ्का नहीं रहती। जहाँ भव की शङ्का है, वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ भव की शङ्का नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और भव की एक दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थ के द्वारा सत्समागम से अकेले ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करने के बाद 'मैं अबन्ध हूँ या बन्धवान; शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ,' ऐसी जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनमें भी आत्मशान्ति नहीं है; वे वृत्तियाँ आकुलतामय आत्मशान्ति की विरोधिनी हैं। नयपक्षों के अवलम्बन से होनेवाले मन सम्बन्धी अनेक प्रकार के विकल्पों को भी मर्यादा में लाकर, अर्थात् उन विकल्पों को रोकने के पुरुषार्थ से श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करने पर, शुद्धात्मा का अनुभव होता है। इस प्रकार मति और श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से जो मतिज्ञान शब्दादि विषयों में प्रवृत्ति कर रहा था, उसे और मन के अवलम्बन से; जो श्रुतज्ञान अनेक प्रकार के नयपक्षों के विकल्पों में उलझ रहा था, उसे, अर्थात् परावलम्बन से प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर-अन्तरस्वभाव सन्मुख करके, उन ज्ञानों के द्वारा एक ज्ञानस्वभाव को पकड़कर (लक्ष्य में लेकर) निर्विकल्प होकर, तत्काल निज रस से ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिए। वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार अनुभव में आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है?—शुद्धात्मा आदि मध्य और अन्तरहित त्रिकाल एकरूप पूर्ण ज्ञानघन है; उसमें बन्ध मोक्ष नहीं है, वह अनाकुलतास्वरूप है, 'मैं शुद्ध हूँ, या अशुद्ध हूँ' ऐसे विकल्पों से होनेवाली आकुलता से रहित है। लक्ष्य में से पुण्य-पाप का आश्रय छूटकर, मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है। केवल एक ज्ञानमात्र आत्मा में पुण्य-पाप के कोई भाव नहीं हैं। मानों सम्पूर्ण विश्व के ऊपर तैर रहा हो, अर्थात् समस्त विभावों से पृथक् हो गया हो, ऐसा चैतन्यस्वभाव पृथक् अखण्ड प्रतिभासमय अनुभव में

आता है। आत्मा का स्वभाव, पुण्य-पाप के ऊपर तैरता है, अर्थात् उनमें मिल नहीं जाता, एकमेक नहीं हो जाता या तद्रूप नहीं हो जाता, किन्तु उनसे अलग का अलग रहता है। वह अनन्त है, अर्थात् उसके स्वभाव का कभी अन्त नहीं है; पुण्य-पाप अन्तवाले हैं और ज्ञानस्वरूप अनन्त है तथा विज्ञानघन है, मात्र ज्ञान का ही पिण्ड है। मात्र ज्ञानपिण्ड में राग-द्वेष किञ्चित्मात्र भी नहीं हैं। अज्ञानभाव से रागादि का कर्ता था किन्तु स्वभाव से राग का कर्ता नहीं है। अखण्ड आत्मस्वभाव का अनुभव होने पर, जो-जो अस्थिरता के विभाव थे, उन सबसे पृथक् होकर, जब यह आत्मा विज्ञानघन, अर्थात् जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकते, ऐसे ज्ञान के निविड़ पिण्डरूप परमात्मस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है, तब वह स्वयं ही सम्यग्दर्शनरूप है।

निश्चय और व्यवहार—इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखण्ड विज्ञानघनरूप ज्ञानस्वभाव आत्मा निश्चय है और परिणति को स्वभाव-सम्मुख करना, व्यवहार है। मति-श्रुतज्ञान को अपनी ओर लगा लेने की पुरुषार्थरूप जो पर्याय है, सो व्यवहार है और अखण्ड आत्मस्वभाव निश्चय है। जब मति-श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख किया और आत्मानुभव किया कि उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखायी देता है - उसकी श्रद्धा की जाती है। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय की बात है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है?—सम्यग्दर्शन के होने पर, स्वरस का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है। आत्मा का सहज आनन्द प्रगट होता है। आत्मिक आनन्द उछलने लगता है। अन्तरङ्ग में अपूर्व आत्मशान्ति का वेदन होता है। आत्मा का जो सुख अन्तरङ्ग में है, वह अनुभव में आता है। इस अपूर्व सुख का मार्ग, सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप हूँ' इस प्रकार जो निर्विकल्प शान्तरस अनुभव में आता है, वही शुद्धात्मा, अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ सम्यग्दर्शन और आत्मा, दोनों अभेदरूप लिए गए हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए—सर्व प्रथम आत्मा का निर्णय करके, फिर अनुभव करने को कहा है। सबसे पहले जब तक यह निर्णय नहीं होता कि 'मैं निश्चय ज्ञानस्वरूप हूँ, दूसरा कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है,' तब तक सच्चे श्रुतज्ञान को पहचान कर, उसका परिचय करना चाहिए।

सत् श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करने के बाद, मति-श्रुतज्ञान

को उस ज्ञानस्वभाव की ओर ले जाने का प्रयत्न करना, निर्विकल्प होने का प्रयत्न करना ही प्रथम, अर्थात् सम्यग्दर्शन का मार्ग है। इसमें तो बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का प्रयास ही करना है, बाह्य में कुछ करने की बात नहीं है, किन्तु ज्ञान में ही समझ और एकाग्रता का प्रयास करने की बात है। ज्ञान में अभ्यास करते-करते एकाग्र हुआ, वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप से यह आत्मा प्रगट होता है। यही जन्म-मरण को दूर करने का उपाय है। एकमात्र ज्ञातास्वभाव है, उसमें दूसरा कुछ करने का स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव होने से पूर्व, ऐसा निश्चय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो समझना चाहिए कि उसे व्यवहार से भी आत्मा का निश्चय नहीं है। अनन्त उपवास करने पर भी आत्मज्ञान नहीं होता, बाहर की दौड़-धूप से भी ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभाव की पकड़ से ही ज्ञान होता है। आत्मा की ओर लक्ष्य और श्रद्धा किए बिना, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहाँ से हो सकता है? पहले देव-गुरु-शास्त्र के निमित्तों से अनेक प्रकार से श्रुतज्ञान जानता है और उन सबमें से एक आत्मा को निकाल लेता है और फिर उसका लक्ष्य करके प्रगट अनुभव करने के लिए, मति-श्रुतज्ञान के बाहर झुकनेवाली पर्यायों को, स्वसन्मुख करता हुआ, तत्काल निर्विकल्प निजस्वभाव-रस आनन्द का अनुभव होता है। जब आत्मा परमात्मस्वरूप का अनुभव करता है, उसी समय आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है। उसे बाद में विकल्प उठने पर भी, उसकी प्रतीति बनी रहती है, अर्थात् आत्मानुभव के बाद विकल्प उठे तो उससे सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। निजस्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करने के बाद भी शुभभाव आते तो हैं, किन्तु आत्महित तो ज्ञानस्वभाव का निश्चय और आश्रय करने से ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही शुभभाव भी हटते जाते हैं। परोन्मुखता से जो वेदन होता है, वह सब दु:खरूप है, अन्तरङ्ग में शान्तरस की ही मूर्ति आत्मा है। उसके अभेद लक्ष्य से जो वेदन होता है, वही सुख है। सम्यग्दर्शन, आत्मा का गुण है; गुण, गुणी से अलग नहीं होता। ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का नि:शङ्क अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अन्तिम अभिप्राय

यह आत्मकल्याण का छोटे से छोटा (जिस सब कर सकें ऐसा) उपाय है। दूसरे सब उपाय छोड़कर, यही एक करना है। हित का साधन बाह्य में किञ्चित्मात्र नहीं है। सत्समागम

से एक आत्मा का ही निश्चय करना चाहिए। वास्तविक तत्त्व की श्रद्धा के बिना, आन्तरिक वेदन का आनन्द नहीं आ सकता। पहले भीतर से सत् की स्वीकृति आए बिना, सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और सत्स्वरूप के ज्ञान के बिना, भवबन्धन की बेड़ी नहीं टूटती। भवबन्धन का अन्त आए बिना, यह जीवन किस काम का? भव के अन्त की श्रद्धा के बिना, कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद या इन्द्रपद मिलता है, किन्तु उसमें आत्मा को क्या है? आत्मप्रतीति के बिना, व्रत-तप की प्रवृत्ति, सब पुण्य और इन्द्रपद आदि व्यर्थ हैं, उसमें आत्मशान्ति का अंश तक नहीं होता; इसलिए पहिले श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वभाव का दृढ़ निश्चय करना चाहिए, फिर प्रतीति में भव की शङ्का ही नहीं रहती और जितनी ज्ञान की दृढ़ता होती है, उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

प्रभो! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, यह तू नहीं जान पाया। अपनी प्रभुता की प्रतीति किए बिना, तू बाह्य में चाहे जिसके गीत गाता फिरे तो इससे कहीं तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं हो सकता। अभी तक दूसरे के गीत गाए हैं, किन्तु अपने गीत नहीं गाए। तू भगवान की प्रतिमा के सन्मुख खड़ा होकर कहता है कि हे भगवान! हे नाथ! आप अनन्त ज्ञान के धनी हो, वहाँ सामने से भी ऐसी ही आवाज आती है - ऐसी ही प्रतिध्वनि होती है कि 'हे भगवान्! हे नाथ! आप अनन्त ज्ञान के धनी हैं' ....यदि अन्तरङ्ग में पहचान हो तभी तो उसे समझेगा? बिना पहिचान के भीतर में सच्ची प्रतिध्वनि (निःशङ्कतारूप) नहीं पड़ती।

शुद्धात्मस्वरूप का वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो - जो कहो, सो यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ है, सो यह एक आत्मा ही है, उसी को भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद या साधुपद यह सब एक आत्मा में ही समाविष्ट होते हैं। समाधिमरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूप की स्थिरता ही हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है, और यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है, सम्यग्दर्शन ही आत्मा का धर्म है।

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[४]

मोक्षशास्त्र अध्याय एक (१), सूत्र २ में 'तत्त्वार्थश्रद्धान' को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है; उस लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भवदोष का परिहार।

अव्याप्तिदोष का परिहार

(१) प्रश्न – तिर्यञ्चादि कितने ही तुच्छज्ञानी जीव, सात तत्त्वों के नाम तक नहीं जान सकते तथापि उनके भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति शास्त्रों में कही गयी है; इसलिए आपने जो सम्यग्दर्शन का लक्षण, तत्त्वार्थश्रद्धान (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्) कहा है, उसमें अव्याप्तिदोष आता है।

उत्तर – जीव-अजीवादि के नामादि को जाने या न जाने अथवा अन्यथा जाने, किन्तु उनके स्वरूप को यथार्थ जानकर, श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है। उसमें कोई तो सामान्यस्वरूप को पहचानकर श्रद्धान करता है और कोई विशेषस्वरूप को पहचानकर श्रद्धान करता है। तिर्यञ्चादि तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि, जीवादि के नाम भी नहीं जानते तथापि वे सामान्यरूप से उसका स्वरूप पहचानकर श्रद्धान करते हैं; इसलिए उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जैसे, कोई तिर्यञ्च अपना या दूसरों का नामादि तो नहीं जानता, किन्तु अपने में ही अपनापन तथा अन्य को पर मानता है; इसी प्रकार तुच्छज्ञानी, जीव-अजीव के नाम न जाने फिर भी वह अनादिस्वरूप आत्मा में स्वत्व मानता है, तथा शरीरादि को पर मानता है, ऐसा श्रद्धान उसे होता है और यही जीव-अजीव का श्रद्धान है और फिर जैसे वही तिर्यञ्च, सुखादि के नामादि तो नहीं जानता, तथापि सुखावस्था को पहचानकर, तदर्थ भावी दु:खों के कारणों को पहचानकर, उनका त्याग करना चाहता है तथा वर्तमान में जो दु:ख के कारण बने हुए हैं, उनके अभाव का उपाय करता है; इसी प्रकार तुच्छज्ञानी, मोक्षादि के नाम नहीं जानता फिर भी सर्वथा सुखरूप मोक्ष अवस्था का श्रद्धान करके, उसके लिए भाविबन्धन के कारणरूप रागादि आस्रवभाव के त्यागरूप संवर को करना चाहता है तथा जो संसार-दु:ख के कारण हैं, उसकी शुद्धभाव से निर्जरा करना चाहता है। इस प्रकार उसे आस्रवादि का श्रद्धान है। इसी प्रकार उसे भी सात तत्त्वों का श्रद्धान होता है। यदि उसे ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादि को छोड़कर, शुद्धभाव करने की इच्छा नहीं हो सकती। सो ही यहाँ कहने में आता है।

यदि जीव की जाति को न जाने - स्व-पर को न पहचाने तो वह पर में रागादि क्यों न करे? यदि रागादि को न पहचाने तो वह उनका त्याग क्यों करना चाहेगा और रागादि ही आश्रय है, तथा रागादि का फल बुरा है, यह न जाने तो वह रागादि को क्यों छोड़ना चाहेगा? रागादि का फल ही बन्ध है। यदि रागादि रहित परिणामों को पहचानेगा तो तद्रूप होना चाहेगा। रागादि रहित परिणाम का नाम ही संवर है और पूर्व संसारावस्था का जो कारण, विभाव है, उसकी हानि को वह पहचानता है और तदर्थ वह शुद्धभाव करना चाहता है। पूर्व संसारावस्था का कारण, विभावभाव है, और उसकी हानि होना ही निर्जरा है। यदि संसारावस्था के अभाव को न पहचाने तो वह संवर-निर्जरारूप प्रवृत्ति क्यों करे और संसारावस्था का अभाव ही मोक्ष है। इस प्रकार सातों तत्त्वों का श्रद्धान होते ही रागादि को छोड़कर, शुद्धभावरूप होने की इच्छा उत्पन्न होती है। यदि इनमें से एक भी तत्त्व का श्रद्धान न हो तो ऐसी इच्छा न हो। ऐसी इच्छा उन तुच्छज्ञानी तिर्यञ्चादिक सम्यग्दृष्टियों के अवश्य होती है; इसलिए यह निश्चय समझना चाहिए कि उनके सात तत्त्वों का श्रद्धान होता है। यद्यपि ज्ञानावरण का क्षयोपशम अल्प होने से उन्हें विशेषरूप से तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता, फिर भी मिथ्यादर्शन के उपशमादि से सामान्यतया तत्त्वश्रद्धान की शक्ति प्रगट होती है। इस प्रकार इस लक्षण में अव्याप्तिदोष नहीं आता।

(२) प्रश्न - जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव, विषय-कार्यों में प्रवृत्ति करता है, उस समय उसे सात तत्त्वों का विचार ही नहीं होता, तब फिर वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भव है और सम्यक्त्व तो उसे रहता ही है; इसलिए इस लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है।

उत्तर - विचार तो उपयोगाधीन होता है। जहाँ उपयोग जुड़ता है, उसी का विचार होता है, किन्तु श्रद्धान तो निरन्तर शुद्ध प्रतीतिरूप है; इसलिए अन्य ज्ञेय का विचार होने पर, शयनादि क्रिया होने पर यद्यपि तत्त्वों का विचार नहीं होता, तथापि उसकी प्रतीति तो सदा स्थिर बनी ही रहती है, नष्ट नहीं होती; इसलिए उसके सम्यक्त्व का सद्भाव है। जैसे किसी रोगी पुरुष को यह प्रतीति है कि 'मैं मनुष्य हूँ, तिर्यञ्च नहीं; मुझे अमुक कारण से रोग हुआ है और अब मुझे यह कारण मिटाकर रोग को कम करके निरोग होना चाहिए।' वही मनुष्य जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है, तब उसे ऐसा विचार नहीं होता, किन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही बना रहता है। इसी प्रकार इस आत्मा को ऐसी प्रतीति तो है कि 'मैं आत्मा हूँ, पुद्गलादि नहीं। मुझे आस्रव से बन्ध हुआ है, किन्तु अब मुझे संवर के द्वारा निर्जरा करके

मोक्षरूप होना है।' अब वही आत्मा जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है, तब उसे वैसा विचार नहीं होता, किन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही रहा करता है।

प्रश्न – यदि उसे ऐसा श्रद्धान रहता है तो फिर वह बन्ध होने के कारणों में क्यों प्रवृत्त होता है ?

उत्तर – जैसे, कोई मनुष्य किसी कारण से रोग बढ़ने के कारणों में भी प्रवृत्त होता है; व्यापारादि कार्य या क्रोधादि कार्य करता है, फिर भी उसके उस श्रद्धान का नाश नहीं होता; इसी प्रकार यह आत्मा, पुरुषार्थ की अशक्ति के वशीभूत होने से बन्ध होने के कारणों में भी प्रवृत्त होता है, विषय सेवनादि तथा क्रोधादि कार्य करता है, तथापि उसके उस श्रद्धान का नाश नहीं होता, इस प्रकार सात तत्त्वों का विचार न होने पर भी उनमें श्रद्धान का सद्भाव है; इसलिए वहाँ अव्याप्तिदोष नहीं आता।

प्रश्न – जहाँ उच्च दशा में निर्विकल्प आत्मानुभव होता है, वहाँ सात तत्त्वादि के विकल्प का भी निषेध किया है। तब सम्यक्त्व के लक्षण का निषेध करना कैसे सम्भव है और यदि वहाँ निषेध सम्भव है, तो अव्याप्तिदोष आ जायेगा।

उत्तर – निम्न दशा में सात तत्त्वों के विकल्प में उपयोग लगाकर प्रतीति को दृढ़ किया तथा उपयोग को विषयादि से छुड़ाकर रागादिक कम किए, अब उस कार्य के सिद्ध होने पर उन्हीं कारणों का निषेध करते हैं, क्योंकि जहाँ प्रतीति भी दृढ़ हो गयी तथा रागादि भी दूर हो गए, वहाँ अब उपयोग को घुमाने का खेद क्यों किया जाए ? इसलिए वहाँ इन विकल्पों का निषेध किया है और फिर सम्यक्त्व का लक्षण तो प्रतीति ही है, उसका (उस प्रतीति का) वहाँ निषेध तो किया नहीं है। यदि प्रतीति छुड़ाई होती तो उस लक्षण का निषेध किया कहलाता, किन्तु ऐसा तो है नहीं। तत्त्वों की प्रतीति वहाँ भी स्थिर बनी रहती है; इसलिए यहाँ अव्याप्तिदोष नहीं आता।

(४) प्रश्न – छद्मस्थ के प्रतीति–अप्रतीति कहना सम्भवित है; इसलिए वहाँ सात तत्त्वों की प्रतीति को सम्यक्त्व का लक्षण कहा है, जिसे हम मानते हैं किन्तु केवली और सिद्ध भगवान को तो सबका ज्ञातृत्व समानरूप से है; इसलिए वहाँ सात तत्त्वों की प्रतीति कहना सम्भावति नहीं होती और उनके सम्यक्त्वगुण तो होता ही है; इसलिए वहाँ इस लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है।

उत्तर – जैसे, छद्मस्थ को श्रुतज्ञान के अनुसार प्रतीति होती है, उसी प्रकार केवली और

सिद्धभगवान को केवलज्ञान के अनुसार ही प्रतीति होती है। जिन सात तत्त्वों का स्वरूप पहिले निर्णीत किया था, वही अब केवलज्ञान के द्वारा जाना है; इसलिए वहाँ प्रतीति में परम अवगाढ़त्व हुआ, इसलिए वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है, किन्तु पहले जो श्रद्धान किया था, उसे यदि झूठा जाना हो तो वहाँ अप्रतीति होती, किन्तु जैसे सात तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थ को हुआ था, वैसा ही केवली, सिद्ध भगवान को भी होता है; इसलिए ज्ञानादि की हीनाधिकता होने पर भी तिर्यञ्चादिक और केवली सिद्ध भगवान के सम्यक्त्वगुण तो समान ही कहा है और पूर्वावस्था में वह यह मानता था कि 'संवर-निर्जरा के द्वारा मोक्ष का उपाय करना चाहिए' और अब मुक्तावस्था होने पर यह मानने लगा कि 'संवर-निर्जरा के द्वारा मुझे मुक्तावस्था प्राप्त हुई है।' पहले ज्ञान की हीनता से जीवादि के थोड़े भेदों को जानता था और अब केवलज्ञान होने पर उसके सर्व भेदों को जानता है, किन्तु मूलभूत जीवादि के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली को भी होता है। यद्यपि केवली-सिद्ध भगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीतिसहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं; इसलिए सम्यक्त्वगुण में सात तत्त्वों का श्रद्धान ही ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते और संसारावस्था को नहीं चाहते, सो यह श्रद्धान का ही बल समझना चाहिए।

प्रश्न - जबकि सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग कहा है, तब फिर सद्भाव मोक्ष में कैसे हो सकता है ?

उत्तर - कोई कारण ऐसे भी होते हैं जो कार्य के सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होते; जैसे, किसी वृक्ष की एक शाखा से अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई हो, तो उसके होने पर भी वह एक शाखा नष्ट नहीं होती; इसी प्रकार किसी आत्मा को सम्यक्त्वगुण के द्वारा अनेक गुणयुक्त मोक्ष अवस्था प्रगट हुई, किन्तु उसके होने पर भी सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता; इस प्रकार केवली सिद्ध भगवान के भी तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण होता ही है; इसलिए वहाँ अव्याप्तिदोष नहीं आता।

अतिव्याप्तिदोष का परिहार

प्रश्न - शास्त्रों में यह निरूपण किया गया है कि मिथ्यादृष्टि के भी तत्त्वार्थश्रद्धान-लक्षण होता है और श्री प्रवचनसार में आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है। इसलिए सम्यक्त्व का जो लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धान' कहा है, उसमें अव्याप्तिदोष आता है।

उत्तर - मिथ्यादृष्टि को जो तत्त्वार्थश्रद्धान बताया है, वह मात्र नामनिक्षेप से है। जिसमें तत्त्वश्रद्धान का गुण तो नहीं है किन्तु व्यवहार में जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहते हैं, वह मिथ्यादृष्टि के होता है अथवा आगमद्रव्यनिक्षेप से होता है, अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास है किन्तु उसके स्वरूप का निश्चय करने में उपयोग नहीं लगाता - ऐसा जानना चाहिए और **यहाँ जो सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है सो वह तो भावनिक्षेप से कहा है,** अर्थात् गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टि के कभी भी नहीं होता और जो आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, वहाँ भी यही अर्थ समझना चाहिए, क्योंकि जिसे जीव-अजीवादि का सच्चा श्रद्धान होता है, उसे आत्मज्ञान क्यों न होगा? अवश्य होगा। इस प्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टि को सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान सर्वथा नहीं होता; इसलिए इस लक्षण में अतिव्याप्तिदोष नहीं आता।

असम्भवदोष का परिहार—और जो यह 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लक्षण कहा है, सो असम्भवदूषणयुक्त भी नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है और उसका लक्षण इससे विपरीततायुक्त है।

इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भवदोषों से रहित, तत्त्वार्थश्रद्धान सभी सम्यग्दृष्टियों के होता है और किसी भी मिथ्यादृष्टि के नहीं होता; इसलिए सम्यग्दर्शन का यथार्थ लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान ही है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३२१-३२५)*

विशेष स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न - यहाँ सात तत्त्वों के श्रद्धान का नियम कहा है किन्तु वह ठीक नहीं बैठता, क्योंकि कहीं-कहीं पर से भिन्न अपने श्रद्धान को भी (आत्मश्रद्धान को भी) सम्यक्त्व कहा है। श्री समयसार में 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि कलश में यह कहा है कि - 'आत्मा का परद्रव्य से भिन्न अवलोकन ही नियमत: सम्यग्दर्शन है; इसलिए नव तत्त्व की सन्तति को छोड़कर, हमें तो यह एक आत्मा ही प्राप्त हो।' और कहीं-कहीं एक आत्मा के निश्चय को ही सम्यक्त्व कहा है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'दर्शनमात्मविनिश्चिति:' ऐसा पद है, उसका भी यही अर्थ है; इसलिए जीव-अजीव का ही या केवल जीव का ही श्रद्धान होने पर भी सम्यक्त्व होता है। यदि सात तत्त्वों के श्रद्धान का ही नियम होता तो ऐसा क्यों लिखते?

उत्तर - पर से भिन्न जो अपना श्रद्धान होता है, वह आस्रवादि के श्रद्धान से रहित होता है या सहित होता है? यदि रहित होता है तो मोक्ष के श्रद्धान के बिना, वह किस प्रयोजन के

लिए ऐसा उपाय करता है ? संवर-निर्जरा के श्रद्धान के बिना, रागादि रहित होकर अपने स्वरूप में उपयोग लगाने का उद्यम क्यों करता है ? आस्रव-बन्ध के श्रद्धान के बिना, वह पूर्वावस्था को क्यों छोड़ता है ? क्योंकि आस्रवादि के श्रद्धान से रहित, स्व-पर का श्रद्धान करना सम्भवित नहीं है और यदि आस्रवादि के श्रद्धान से युक्त है तो वहाँ स्वयं सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम हुआ और जहाँ केवल आत्मा का निश्चय है, वहाँ भी पर का पररूपश्रद्धान हुए बिना, आत्मा का श्रद्धान नहीं होता; इसलिए अजीव का श्रद्धान होते ही, जीव का श्रद्धान होता है और पहले कहे अनुसार आस्रवादि का श्रद्धान भी वहाँ अवश्य होता है; इसलिए यहाँ भी सातों तत्त्वों के ही श्रद्धान का नियम समझना चाहिए।

दूसरे, आस्रवादि के श्रद्धान बिना, स्व-पर का श्रद्धान अथवा केवल आत्मा का श्रद्धान सच्चा नहीं होता, क्योंकि आत्मद्रव्य शुद्ध-अशुद्ध पर्यायसहित है; इसलिए जैसे तन्तु के अवलोकन के बिना, पट का अवलोकन नहीं होता; उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्याय को पहले पहचाने बिना, आत्मद्रव्य का श्रद्धान भी नहीं हो सकता और शुद्ध-अशुद्ध अवस्था की पहचान आस्रवादि की पहचान से होती है। आस्रवादि के श्रद्धान के बिना, स्व-पर का श्रद्धान या केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है, क्योंकि ऐसा श्रद्धान करो या न करो, जो स्व है, सो स्व ही है और जो पर है, सो पर ही है और आस्रवादि का श्रद्धान हो तो आस्रव-बन्ध का अभाव करके, संवर-निर्जरारूप उपाय से वह मोक्षपद को प्राप्त हो। जो स्व-पर का श्रद्धान कराया जाता है, वह भी इसी प्रयोजन के लिये कराया जाता है। इसलिए आस्रवादि के श्रद्धान से युक्त स्व-पर का जानना या स्व का जानना कार्यकारी है।

(२) **प्रश्न** - यदि ऐसा है तो शास्त्रों में जो स्व-पर के श्रद्धान को या केवल आत्मा के श्रद्धान को ही सम्यक्त्व कहा है और कार्यकारी कहा है और कहा है कि नव तत्त्वों की सन्तति को छोड़कर, हमें तो एक आत्मा ही प्राप्त हो, सो ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर - जिसे स्व-पर का या आत्मा का सत्य श्रद्धान होता है, उसे सातों तत्त्वों का श्रद्धान अवश्य होता है और जिसे सातों तत्त्वों का सत्य श्रद्धान होता है, उसे स्व-पर का तथा आत्मा का श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध जानकर, स्व-पर के श्रद्धान को तथा आत्मश्रद्धान होने को सम्यक्त्व कहा है, किन्तु यदि कोई सामान्यतया स्व-पर को जानकर या आत्मा को जानकर कृत-कृत्यता समझ ले तो यह उसका कोरा भ्रम है, क्योंकि ऐसा कहा है कि 'निर्विशेषो हि सामान्ये भवेत्खरविषाणवत्' अर्थात्, विशेषरहित

सामान्य गधे के सींङ्ग के समान है; इसलिए प्रयोजनभूत आस्रवादि विशेषों से युक्त, स्व-पर का या आत्मा का श्रद्धान करना योग्य है, अथवा सातों तत्त्वार्थों के श्रद्धान से जो रागादि को मिटाने के लिए परद्रव्यों को भिन्न चिन्तवन करता है या अपने आत्मा का चिन्तवन करता है, उसे प्रयोजन की सिद्धि होती है; इसलिए मुख्यतया भेदविज्ञान को या आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है। तत्त्वार्थश्रद्धान किए बिना, सब कुछ जानना कार्यकारी नहीं है क्योंकि प्रयोजन तो रागादि को मिटाना है; इसलिए आस्रवादि के श्रद्धान के बिना, जब यह प्रयोजन भासित नहीं होता, तब केवल जानने से मान को बढ़ाए और रागादि को छोड़े तो उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा? दूसरे, जहाँ नव तत्त्व की सन्तति छोड़ने को कहा है, वहाँ पहले नव तत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन हुआ और फिर निर्विकल्पदशा होने के लिए नव तत्त्वों का विकल्प भी छोड़ने की इच्छा की, किन्तु जिसे पहले से ही नव तत्त्वों का विचार नहीं है, उसे उन विकल्पों को छोड़ने का क्या प्रयोजन है? इससे तो अपने को जो अनेक विकल्प होते हैं, उन्हीं का त्याग करो। इस प्रकार स्व-पर के श्रद्धान में या आत्म-श्रद्धान में अथवा नव तत्त्वों के श्रद्धान में सात तत्त्वों के श्रद्धान की सापेक्षता होती है; इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण है।

(३) प्रश्न - तब फिर जो कहीं-कहीं शास्त्रों में अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ और हिंसादि रहित धर्म के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, सो कैसे?

उत्तर - अरहन्त देवादि का श्रद्धान होने से और कुदेवादि का श्रद्धान दूर होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से उसे सम्यग्दृष्टि कहा है, किन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा लक्षण यह नहीं है, क्योंकि द्रव्यलिङ्गी मुनि आदि व्यवहारधर्म के धारक मिथ्यादृष्टियों को भी ऐसा श्रद्धान होता है। अरहन्त देवादि का श्रद्धान होने पर, सम्यक्त्व हो या न हो किन्तु अरहन्तादि का श्रद्धान हुए बिना, तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी भी नहीं होता; इसलिए अरहन्तादि के श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानकर, कारण में कार्य का उपचार करके इस श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है और इसीलिए उसका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है। अथवा जिसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उसे सच्चे अरहन्तादि के स्वरूप का श्रद्धान अवश्य होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान के बिना अरहन्तादि का श्रद्धान पक्ष से करे तथापि यथावत् स्वरूप की पहचानसहित श्रद्धान नहीं होता, तथा जिसे सच्चे अरहन्तादि के स्वरूप का श्रद्धान हो, उसे तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य ही होता है, क्योंकि अरहन्तादि के स्वरूप को पहचानने पर, जीव-अजीव आस्रवादि की पहचान होती है। इस प्रकार उसे परस्पर अविनाभावी जानकर, कहीं-कहीं अरहन्तादि के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।

(४) प्रश्न – नरकादि के जीवों को देव-कुदेवादि का व्यवहार नहीं है फिर भी उनको सम्यक्त्व होता है; इसलिए सम्यक्त्व के होने पर, अरहन्तादि का श्रद्धान होता ही है, ऐसा नियम सम्भवित नहीं है।

उत्तर – सात तत्त्वों के श्रद्धान में अरहन्तादि का श्रद्धान गर्भित है, क्योंक वह तत्त्व-श्रद्धान में मोक्ष तत्त्व को सर्वोत्कृष्ट मानता है और मोक्षतत्त्व, अरहन्त सिद्ध का ही लक्षण है तथा जो लक्षण को उत्कृष्ट मानता है, वह उसके लक्ष्य को भी उत्कृष्ट अवश्य मानेगा। इसलिए उन्हीं को सर्वोत्कृष्ट माना और अन्य को नहीं माना, यही उसे देव का श्रद्धान हुआ कहलाया। और मोक्ष का कारण संवर-निर्जरा है; इसलिए उसे भी वह उत्कृष्ट मानता है तथा संवर-निर्जरा के धारक मुख्यतया मुनिराज हैं; इसलिए वह मुनिराज को उत्तम मानता है और अन्य को उत्तम नहीं मानता, यही उसका गुरु का श्रद्धान है और रागादि रहित भाव का नाम अहिंसा है, उसे वह उपादेय मानता है तथा अन्य को नहीं मानता, यही उसका धर्म का श्रद्धान है। इस प्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान में अरहन्त देवादि का श्रद्धान भी गर्भित है अथवा जिस निमित्त से उसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उसी निमित्त से अरहन्तादेवादि का भी श्रद्धान होता है; इसलिए सम्यग्दर्शन में देवादि के श्रद्धान का नियम है।

(५) प्रश्न – कोई जीव अरहन्तादि का श्रद्धान करता है, उनके गुणों को पहचानता है फिर भी उसे तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता; इसलिए जिसे सच्चे अरहन्तादिक का श्रद्धान होता है, उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य होता ही है, ऐसा नियम सम्भवित नहीं होता।

उत्तर – तत्त्वश्रद्धान के बिना, वह अरिहन्तादि के ४६ आदि गुणों को जानता है, वहाँ पर्यायाश्रित गुणों को भी नहीं जानता, क्योंकि जीव-अजीव की जाति को पहचाने बिना, अरहन्तादि के आत्माश्रित और शरीराश्रित गुणों को वह भिन्न नहीं जानता, यदि जाने तो वह अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न क्यों न माने? इसलिए श्री प्रवचनसार में कहा है कि –

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

अर्थ – जो अरहन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है; इसलिए जिसे जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसे अरहन्तादि का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है और वह मोक्षादि तत्त्वों के श्रद्धान के बिना, अरहन्तादि का माहात्म्य भी यथार्थ नहीं जानता। मात्र लौकिक अतिशयादि से अरहन्त

का, तपश्चरणादि से गुरु का और परजीवों की अहिंसादि से धर्म का माहात्म्य जानता है, किन्तु यह तो पराश्रितभाव है और अरहन्तादि का स्वरूप तो आत्माश्रित भावों द्वारा तत्त्वश्रद्धान होते ही ज्ञात होता है; इसलिए जिसे अरहन्तादि का सच्चा श्रद्धान होता है, उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा नियम समझना चाहिए। इस प्रकार सम्यक्त्व का लक्षण-निर्देश किया है।

प्रश्न ६ - यथार्थ तत्त्वार्थश्रद्धान, स्व-पर का श्रद्धान, आत्मश्रद्धान तथा देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान, सम्यक्त्व का लक्षण कहा है और इन सब लक्षणों की परस्पर एकता भी बतायी है, सो वह जान लिया, किन्तु इस प्रकार अन्य-अन्य प्रकार से लक्षण करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - जो चार लक्षण कहे हैं, उनमें सच्ची दृष्टिपूर्वक कोई एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण होता है, तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न समझकर, अन्य-अन्य प्रकार से यह लक्षण कहे हैं।

१- **जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ** यह प्रयोजन है कि यदि इन तत्त्वों को पहिचाने तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का व हिताहित का श्रद्धान करके, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करे।

२- जहाँ **स्व-पर भिन्नता का श्रद्धानरूप लक्षण कहा है, वहाँ** जिससे तत्त्वार्थ-श्रद्धान प्रयोजन सिद्ध हो, उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है, क्योंकि जीव-अजीव के श्रद्धान का प्रयोजन, स्व-पर का भिन्न श्रद्धान करना है और आस्रवादि के श्रद्धान का प्रयोजन, रागादि छोड़ना है, अर्थात् स्व-पर की भिन्नता का श्रद्धान होने पर, परद्रव्यों में रागादि न करने का श्रद्धान होता है। इस प्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन, स्व-पर के भिन्न श्रद्धान से सिद्ध हुआ जानकर यह लक्षण कहा है।

३- **जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ स्व-पर के भिन्न श्रद्धान का प्रयोजन** इतना ही है कि अपने को अपनेरूप जानना। अपने को अपनेरूप जानने पर, पर का भी विकल्प कार्यकारी नहीं है, ऐसे मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर, आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। तथा -

४- **जहाँ देव-गुरु-धर्म की श्रद्धारूप लक्षण कहा है, वहाँ** बाह्य साधन की प्रधानता की है, क्योंकि अरहन्त देवादि का श्रद्धान, सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण है तथा कुदेवादि का श्रद्धान, कल्पित अतत्त्वार्थ श्रद्धान का कारण है। इस बाह्य कारण की प्रधानता से कुदेवादि का श्रद्धान छुड़ाकर, सुदेवादि का श्रद्धान कराने के लिए देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की मुख्यता से भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं।

(७) प्रश्न - यह जो भिन्न-भिन्न चार लक्षण कहे हैं, उनमें से इस जीव को कौन से लक्षण को अङ्गीकार करना चाहिए ?

उत्तर - जहाँ पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर, विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है, वहाँ यह चारों लक्षण एक साथ होते हैं तथा विचार-अपेक्षा से मुख्यतया तत्त्वार्थों का विचार करता है या स्व-पर का भेद-विज्ञान करता है, या आत्मस्वरूप को ही सँभालता है, अथवा देवादि के स्वरूप का विचार करता है। इस प्रकार ज्ञान में नाना प्रकार के विचार होते हैं, किन्तु श्रद्धान में सर्वत्र परस्पर सापेक्षता होती है। जैसे, तत्त्वविचार करता है तो भेदविज्ञानादि के अभिप्रायसहित करता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में चारों लक्षणों का अङ्गीकार है किन्तु जिसे विपरीताभिनिवेश होता है, उसे यह लक्षण आभासमात्र होते हैं; यथार्थ नहीं होते। वह जिनमत के जीवादि तत्त्वों को मानता है, अन्य के नहीं तथा उनके नाम, भेदादि को सीखता है। इस प्रकार उसे तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है किन्तु उसके यथार्थभाव का श्रद्धान नहीं होता और वह स्व-पर के भिन्नत्व की बातें करता है तथा वस्त्रादि में परबुद्धि का चिन्तवन करता है, परन्तु उसे जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है तथा वस्त्रादि में परबुद्धि है, वैसी आत्मा में अहंबुद्धि और शरीर में परबुद्धि नहीं होती। वह आत्मा का जिनवचनानुसार चिन्तवन करता है किन्तु प्रतीतरूप से निज को निजरूप श्रद्धान नहीं करता तथा वह अरहन्तादि के अतिरिक्त अन्य कुदेवादि को नहीं मानता, किन्तु उनके स्वरूप को यथार्थ पहचान कर श्रद्धान नहीं करता। इस प्रकार यह लक्षणाभास मिथ्यादृष्टि के होते हैं। उसमें कोई हो या न हो, किन्तु उसे यहाँ भिन्नत्व भी सम्भवित नहीं है।

दूसरे, इन लक्षणाभासों में इतनी विशेषता है कि पहले तो देवादि का श्रद्धान होता है, फिर तत्त्वों का विचार होता है, पश्चात् स्व-पर का चिन्तवन करता है और फिर केवल आत्मा का चिन्तवन करता है। यदि इस क्रम से जीव साधन करे तो परम्परा से सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर, सिद्धपद को भी प्राप्त कर ले और **जो इस क्रम का उल्लंघन करता है, उसे देवादि की मान्यता का भी कोई ठिकाना नहीं रहता।** इसलिए जो जीव अपना भला करना चाहता है, उसे जहाँ तक सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, वहाँ तक इसे भी क्रमशः अङ्गीकार करना चाहिए।

(सम्यग्दर्शन के लिए अभ्यास का क्रम) पहले आज्ञादि के द्वारा या किसी परीक्षा के द्वारा कुदेवादि की मान्यता को छोड़कर, अरहन्त देवादि का श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि

इनका श्रद्धान होने पर, गृहीतमिथ्यात्व का अभाव होता है; कुदेवादि का निमित्त दूर होता है और अरहन्त देवादि का निमित्त मिलता है; इसलिए पहले देवादि का श्रद्धान करना चाहिए और फिर जिनमत में कहे गए जीवादि तत्त्वों का विचार करना चाहिए। उनके नाम-लक्षणादि सीखना चाहिए, क्योंकि इसके अभ्यास से तत्त्वश्रद्धान की प्राप्ति होती है। इसके बाद जिससे स्व-पर का भिन्नत्व भासित हो, ऐसे विचार करते रहना चाहिए, क्योंकि इस अभ्यास से भेदविज्ञान होता है। इसके बाद एक निजत्व मानने के लिए स्वरूप का विचार करते रहना चाहिए क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। इस प्रकार क्रमशः उन्हें अङ्गीकार करके, फिर उसमें से ही कभी देवादि के विचार में, कभी तत्त्वविचार में, कभी स्व-पर के विचार में तथा कभी आत्मविचार में उपयोग को लगाना चाहिए। **इस प्रकार अभ्यास से सत्य सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।**

(८) प्रश्न - सम्यक्त्व के लक्षण अनेक प्रकार के कहे गये हैं, उनमें से यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को ही मुख्य कहा है, सो इसका क्या कारण है ?

उत्तर - तुच्छ बुद्धिवाले को अन्य लक्षणों में उसका प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता या भ्रम उत्पन्न होता है तथा इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में प्रयोजन प्रगटरूप से भासित होता है और कोई भी भ्रम उत्पन्न नहीं होता; इसलिए इस लक्षण को मुख्य किया है। यही यहाँ दिखाया जा रहा है -

देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान में तुच्छबुद्धि को ऐसा भासित होता है कि अरहन्तदेवादि को ही मानना चाहिए और अन्य को नहीं मानना चाहिए, इतना ही सम्यक्त्व है किन्तु वहाँ उसे जीव-अजीव के बन्ध-मोक्ष के कारण-कार्य का स्वरूप भासित नहीं होता और उसमें मोक्षमार्गरूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है और जीवादि का श्रद्धान हुए बिना, मात्र इसी श्रद्धान में सन्तुष्ट होकर अपने को सम्यग्दृष्टि माने या एक कुदेवादि के प्रति द्वेष तो रखे, किन्तु अन्य रागादि छोड़ने का उद्यम न करे, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

और स्वपर के श्रद्धान में तुच्छ बुद्धिवाले को ऐसा भासित होता है कि -

एक स्व-पर को जानना ही कार्यकारी है और उसी से सम्यक्त्व होता है किन्तु उसमें आस्रवादि का स्वरूप भासित नहीं होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं होती और आस्रवादि का श्रद्धान हुए बिना, मात्र इतना ही जानने में सन्तुष्ट होकर अपने को

सम्यग्दृष्टि मानकर स्वछन्दी हो जाता है किन्तु रागादि के छोड़ने का उद्यम नहीं करता; ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

तथा आत्मश्रद्धान लक्षण में तुच्छबुद्धि वाले को ऐसा भासित होता है कि - एक आत्मा का ही विचार कार्यकारी है और उसी से सम्यक्त्व होता है किन्तु वहाँ जीव-अजीवादि के विशेष तथा आस्रवादि का स्वरूप भासित नहीं होता और इसलिए मोक्षमार्गरूप प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं होती और जीवादि के विशेषों का तथा आस्रवादि के स्वरूप का श्रद्धान हुए बिना, मात्र इतने ही विचार से अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्दी होकर रागादि को छोड़ने का उद्यम नहीं करता; ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

ऐसा जानकर इन लक्षणों को मुख्य नहीं किया।

और तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में - जीव-अजीवादि व आस्रवादि का श्रद्धान हुआ, वहाँ यदि उन सबका स्वरूप ठीक-ठीक भासित हो तो मोक्षमार्गरूप प्रयोजन की सिद्धि हो और इन श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन के होने पर भी स्वयं सन्तुष्ट नहीं होता, परन्तु आस्रवादि का श्रद्धान होने से रागादि को छोड़कर, मोक्ष का उद्यम करता है। **इस प्रकार उसे भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है।**

अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में देवादि का श्रद्धान, स्व-पर का श्रद्धान, तथा आत्मश्रद्धान गर्भित होता है और वह तुच्छबुद्धिवाले को भी भासित होता है किन्तु अन्य लक्षणों में तत्त्वार्थश्रद्धान गर्भित है, यह विशेष बुद्धिमान को ही भासित होता है; तुच्छबुद्धिवाले को नहीं; इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है। तथा मिथ्यादृष्टि को यह आभासमात्र होता है, वहाँ तत्त्वार्थों का विचार, विपरीताभिनिवेश को दूर करने में शीघ्र कारणरूप होता है किन्तु अन्य लक्षण, शीघ्र कारणरूप नहीं होते या विपरीताभिनिवेश के भी कारण हो जाते हैं; इसलिए वहाँ सर्व प्रकार से प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यक्त्व का लक्षण है, ऐसा निर्देश किया है। ऐसा लक्षण जिस आत्मा के स्वभाव में हो, उसी को सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

मोक्षशास्त्र का प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

(५)

केवलज्ञान का स्वरूप

(१) षट्खण्डागम-धवला टीका, पुस्तक १३, सूत्र ८१-८२ द्वारा आचार्यदेव ने कहा है कि -

'वह केवलज्ञान सकल है, सम्पूर्ण है और असपत्न है॥ ८१ ॥'

अखण्ड होने से वह सकल है।

शङ्का - यह अखण्ड कैसे है ?

समाधान - समस्त बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होने पर, ज्ञान में खण्डपना आता है, सो वह इस ज्ञान में सम्भव नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान के विषय त्रिकालगोचर अवशेष बाह्य पदार्थ हैं।

अथवा द्रव्य, गुण और पर्यायों के भेद का ज्ञान अन्यथा नहीं बन सकने के कारण जिनका अस्तित्व निश्चित है, ऐसे ज्ञान के अवयवों का नाम कला है; इन कलाओं के साथ वह अवस्थित रहता है, इसलिए सकल है। 'सम' का अर्थ सम्यक् है। सम्यक्, अर्थात् परस्पर परिहार अथवा विरोध के होने पर भी सहानअवस्थान लक्षण विरोधक के न होने से चूँकि वह अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, विरति एवं क्षायिकसम्यक्त्व आदि अनन्त गुणों से पूर्ण है; इसीलिए इसे सम्पूर्ण कहा जाता है। वह सकल गुणों का निधान है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सपत्न का अर्थ शत्रु है। केवलज्ञान के शत्रु, कर्म हैं। वे इसके नहीं रहे हैं; इसलिए केवलज्ञान असपत्न है। उसने अपने प्रतिपक्षी घातिचतुष्क का समूल नाश कर दिया है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यह केवलज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है, इस बात का भान कराने के लिए और उसके विषय का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

'स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन से युक्त भगवान, देवलोक और असुरलोक के साथ मनुष्यलोक की आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह:कर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं ॥८२॥'

ज्ञान-धर्म के माहात्म्यों का नाम भग है, वह जिनके हैं, वे भगवान कहलाते हैं। उत्पन्न

हुए ज्ञान के द्वारा देखना जिसका स्वभाव है, उसे उत्पन्न ज्ञानदर्शी कहते हैं। उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन स्वभाववाले भगवान, सब लोक को जानते हैं।

शङ्का - ज्ञान की उत्पत्ति स्वयं कैसे हो सकती है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि कार्य और कारण का एकाधिकरण होने से इनमें कोई भेद नहीं है।

(देवादि लोक में जीव की गति, अगति तथा चयन और उपपाद को भी सर्वज्ञ भगवान जानते हैं -)

सौधर्मादिक देव और भवनवासी असुर कहलाते हैं। यहाँ देवासुर वचन देशामर्शक हैं; इसलिए इससे ज्योतिषी, व्यन्तर और तिर्यञ्चों का भी ग्रहण करना चाहिए। देवलोक और असुरलोक के साथ मनुष्यलोक की आगति को जानते हैं। अन्य गति से, इच्छित गति में आना आगति है। इच्छित गति से, अन्य गति में जाना, गति है। सौधर्मादिक देवों का अपनी सम्पदा से विरह होना, चयन है। विवक्षित गति से, अन्य गति में उत्पन्न होना, उपपाद है। जीवों के विग्रह के साथ तथा बिना विग्रह के आगमन, गमन, चयन और उपपाद को जानते हैं।

(पुद्गलों के आगमन, गमन, चयन और उपपाद सम्बन्धी)

तथा पुद्गलों के आगमन, गमन, चयन और उपपाद को जानते हैं। पुद्गलों में विवक्षित पर्याय का नाश होना, चयन है। अन्य पर्यायरूप से परिणमना, उपपाद है।

(धर्म, अधर्म, काल और आकाश के चयन और उपपाद)

धर्म, अधर्म, काल और आकाश के चयन और उपपाद को जानते हैं, क्योंकि इनका गमन और आगमन नहीं होता। जिसमें जीवादि पदार्थ लोके जाते हैं, अर्थात् उपलब्ध होते हैं, उसकी लोक संज्ञा है। यहा 'लोक' शब्द से आकाश लिया गया है। इसलिए आधेय में आधार का उपचार करने से धर्मादिक भी लोक सिद्ध होते हैं।

(बन्ध को भी भगवान जानते हैं)

बन्धने का नाम बन्ध है अथवा जिसके द्वारा या जिसमें बन्धते हैं, उसका नाम बन्ध है। वह बन्ध तीन प्रकार का है - जीवबन्ध, पुद्गलबन्ध और जीव-पुद्गलबन्ध (उभय बन्ध)। एक शरीर में रहनेवाले अनन्तानन्त निगोद जीवों का जो परस्पर बन्ध है, वह जीवबन्ध कहलाता है। दो तीन आदि पुद्गलों का जो समवाय सम्बन्ध होता है, वह

पुद्गलबन्ध कहलाता है तथा औदारिक वर्गणाएँ, वैक्रियिक वर्गणाएँ, आहारक वर्गणाएँ, तैजस वर्गणाएँ और कार्मण वर्गणाएँ, इनका और जीवों का जो बन्ध होता है, वह जीव-पुद्गलबन्ध कहलाता है। जिस कर्म के कारण, अनन्तानन्त जीव एक शरीर में रहते हैं, उस कर्म की जीवबन्ध संज्ञा है। जिस स्निग्ध और रूक्ष आदि गुणों के कारण, पुद्गलों का बन्ध होता है, उसकी पुद्गलबन्ध संज्ञा है। जिन मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग आदि के निमित्त से जीव और पुद्गलों का बन्ध होता है, वह जीव-पुद्गलबन्ध कहलाता है। इस बन्ध को भी वे भगवान जानते हैं।

(मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति तथा युति और उनके कारणों को भी जानते हैं)

छूटने का नाम मोक्ष है अथवा जिसके द्वारा या जिसमें मुक्त होते हैं, वह मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष तीन प्रकार का है - जीवमोक्ष, पुद्गलमोक्ष और जीव-पुद्गलमोक्ष।

इसी प्रकार मोक्ष का कारण भी तीन प्रकार का कहना चाहिए। बन्ध, बन्ध का कारण, बन्धप्रदेश, बद्ध एवं बध्यमान जीव और पुद्गल तथा मोक्ष, मोक्ष का कारण, मोक्षप्रदेश, मुक्त एवं मुच्यमान जीव और पुद्गल, इन सब त्रिकाल विषयक अर्थों को जानते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

भोग और उपभोगरूप घोड़ा, हाथी, मणि व रत्न, रूप, सम्पदा तथा उस सम्पदा की प्राप्ति के कारण का नाम, ऋद्धि है। तीन लोक में रहनेवाली सब सम्पदाओं को तथा देव, असुर और मनुष्यभव की सम्प्राप्ति से कारणों को भी जानते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। छह द्रव्यों का विवक्षितभाव से अवस्थान और अवस्थान के कारण का नाम, स्थिति है। द्रव्यस्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, भवस्थिति और भावस्थिति आदि स्थिति को सकारण जानते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

(त्रिकाल विषयक सब प्रकार के संयोग या समीपता के सब भेदों को जानते हैं -)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के साथ जीवादि द्रव्यों के सम्मेलन का नाम युति है।

शङ्का - युति और बन्ध में क्या भेद है?

समाधान - एकीभाव का नाम, बन्ध है और समीपता या संयोग का नाम, युति है।

यहाँ द्रव्ययुति तीन प्रकार की है - जीवयुति, पुद्गलयुति और जीवपुद्गलयुति।

इनमें से एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवी में जीवों का मिलना, जीवयुति है। वायु के कारण हिलनेवाले पत्तों के समान एक स्थान पर पुद्गलों का मिलना, पुद्गलयुति है। जीव और पुद्गलों का मिलना, जीव-पुद्गलयुति है अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, इनके एक आदि संयोग के द्वारा द्रव्युति उत्पन्न करनी चाहिए। जीवादि द्रव्यों का नारकादि क्षेत्रों के साथ मिलना, क्षेत्रयुति है। उन्हीं द्रव्यों का दिन, महीना और वर्ष आदि कालों के साथ मिलाप होना, कालयुति है। क्रोध, मान, माया और लोभादिक के साथ उनका मिलाप होना, भावयुति है। त्रिकालविषयक इन सब युतियों के भेद को, वे भगवान जानते हैं।

(छह द्रव्यों के अनुभाग तथा.... घटोत्पादनरूप अनुभाग को भी जानते हैं)

छह द्रव्यों की शक्ति का नाम, अनुभाग है, वह अनुभाग छह प्रकार का है - जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशस्तिकायानुभाग, और कालद्रव्यानुभाग। इनमें से समस्त द्रव्यों का जानना, जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ट और क्षयादि का विनाश करना और उनका उत्पन्न कराना, इसका नाम पुद्गलानुभाग है। योनि प्राभृत में कहे गए मन्त्र-तन्त्ररूप शक्तियों का नाम, पुद्गलानुभाग है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। जीव और पुद्गलों के गमन और आगमन में हेतु होना, धर्मास्तिकायानुभाग है। उन्हीं के अवस्थान में हेतु होना, अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्यों का आधार होना, आकाशस्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्यों के क्रम और अक्रम से[१] परिणमन में हेतु होना, कालद्रव्यानुभाग है; इसी प्रकार द्विसंयोगादिरूप से अनुभाग का कथन करना चाहिए। जैसे - मृत्तिकापिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार आदि का घटोत्पादनरूप अनुभाग। इस अनुभाग को भी जानते हैं।

(तर्क, कला, मन, मानसिक, ज्ञान और मन से चिन्तित पदार्थों को भी जानते हैं।)

तर्क, हेतु और ज्ञायक, ये एकार्थवाची शब्द हैं। इसे भी जानते हैं। चित्रकर्म और पत्र छेदन आदि का नाम, कला है। कला को भी वे जानते हैं। मनोवर्गणा से बने हुए हृदय-कमल का नाम, मन है, अथवा मन से उत्पन्न हुए ज्ञान को मन कहते हैं। मन से चिन्तित पदार्थों का नाम, मानसिक है। उन्हें भी जानते हैं।

---

१. एक साथ अनन्त द्रव्य के अनन्त गुणों के परिणमन को यहाँ अक्रम (युगपत्) कहा है।

(भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं।)

राज्य और महाव्रतादि का परिपालन करने का नाम, भुक्ति है। उस भुक्त को जानते हैं। जो कुछ तीनों ही काल में अन्य के द्वारा निष्पन्न होता है, उसका नाम कृत है। पाँचों इन्द्रियों के द्वारा तीनों ही काल में जो सेवित होती है, उसका नाम प्रतिसेवित है। आद्यकर्म का नाम, आदिकर्म है। अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायरूप से सब द्रव्यों की आदि को जानता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। रहस् शब्द का अर्थ, अन्तर और अरहस् शब्द का अर्थ, अनन्तर है। अरहस् ऐसा जो कर्म, वह अरहःकर्म कहलाता है। उनको जानते हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप से सब द्रव्यों की अनादिता को जानते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सम्पूर्ण लोक में सब जीवों और सब भावों को जानते हैं।

शङ्का – यहाँ 'सर्व जीव' पद को ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि बद्ध और मुक्तपद के द्वारा उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है।

समाधान – नहीं, क्योंकि एक संख्या विशिष्ट बद्ध और मुक्त का ग्रहण वहाँ पर न होवे; इसलिए इसका प्रतिषेध करने के लिए 'सर्व जीव' पद का निर्देश किया है।

जीव दो प्रकार के हैं – संसारी और मुक्त। इनमें मुक्त जीव अनन्त प्रकार के हैं, क्योंकि सिद्धलोक का आदि और अन्त नहीं पाया जाता।

शङ्का – सिद्धलोक के आदि और अन्त का अभाव कैसे है?

समाधान – क्योंकि, उसकी प्रवाहस्वरूप से अनुवृत्ति है तथा 'सब सिद्ध जीव, सिद्धि की अपेक्षा सादि हैं और सन्तान की अपेक्षा अनादि हैं', ऐसा सूत्र वचन भी है।

(सब जीवों को जानते हैं)

संसारी जीव दो प्रकार के हैं – त्रस और स्थावर। त्रस जीव, चार प्रकार के हैं – द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। पञ्चेन्द्रिय जीव, दो प्रकार के हैं – संज्ञी और असंज्ञी। ये सब जीव, त्रस पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। अपर्याप्त जीव, लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। स्थावर जीव, पाँच प्रकार के हैं – पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, इन पाँचों ही स्थावरकायिक जीवों में प्रत्येक दो प्रकार के हैं – बादर और सूक्ष्म। इनमें बादर वनस्पतिकायिक जीव, दो प्रकार के हैं – प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर। यहाँ प्रत्येक

शरीर जीव, दो प्रकार के हैं - बादर निगोद प्रतिष्ठित और बादर निगोद अप्रतिष्ठित। ये सब स्थावरकायिक जीव भी प्रत्येक दो प्रकार के हैं - पर्याप्त और अपर्याप्त। अपर्याप्त, दो प्रकार के हैं - लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त। इनमें से वनस्पतिकायिक, अनन्त प्रकार के और शेष, असंख्यात प्रकार के हैं। केवली भगवान, समस्त लोक में स्थित इन सब जीवों को जानते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

(सर्व भावों को जानते हैं)

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध और मोक्ष के भेद से पदार्थ नौ प्रकार के हैं। उनमें से जीवों का कथन कर आए हैं। अजीव दो प्रकार के हैं - मूर्त और अमूर्त। इनमें से मूर्त पुद्गल, उन्नीस प्रकार के हैं। यथा - एक प्रदेशीवर्गणा, संख्यातप्रदेशीवर्गणा, असंख्यातप्रदेशीवर्गणा, अनन्तप्रदेशीवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, तैजसशरीरवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्रहणवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, कार्मणशरीरवर्गणा, स्कन्धवर्गणा, सान्तर निरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्य-वर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। इन तेईस वर्गणाओं में से चार ध्रुवशून्यवर्गणाओं के निकाल देने पर, उन्नीस प्रकार के पुद्गल होते हैं और वे प्रत्येक अनन्त भेदों को लिए हुए हैं। अमूर्त चार प्रकार के हैं - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय और काल। काल, घनलोक प्रमाण है, शेष एक-एक हैं। आकाश, अनन्तप्रदेशी है; काल, अप्रदेशी है और शेष, असंख्यात प्रदेशी हैं।

(सर्व भावों के अन्तर्गत-शुभाशुभ कर्मप्रकृतियों, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष - इन सबको केवली जानते हैं।)

शुभप्रकृतियों का नाम पुण्य है और अशुभप्रकृतियों का नाम पाप है। यहाँ घातिचतुष्क, पापरूप हैं। अघातिचतुष्क, मिश्ररूप हैं, क्योंकि इनमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियाँ सम्भव हैं। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग, ये आस्रव हैं। इनमें से मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है। असंयम, ब्यालीस प्रकार का है। कहा भी है -

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, मन और चौदह प्रकार के जीव, इनकी अपेक्षा अविरमण, अर्थात् इन्द्रिय व प्राणीरूप असंयम ब्यालीस प्रकार का है॥३॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, सञ्ज्वलन क्रोध, मान, माया और

लोभ; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद के भेद से कषाय पच्चीस प्रकार की है। योग पन्द्रह प्रकार का है। आस्रव के प्रतिपक्ष का नाम, संवर है। ग्यारह भेदरूप गुणश्रेणी के द्वारा कर्मों का गलना निर्जरा है। जीवों और कर्म-पुद्गलों के समवाय का नाम, बन्ध है। जीव और कर्म का नि:शेष विश्लेष होना, मोक्ष है। इन सब भावों को केवली जानते हैं।

समं, अर्थात् अक्रम से (युगपत्)। यहाँ जो 'समं' पद का ग्रहण किया है, वह केवलज्ञान अतीन्द्रिय है और व्यवधान आदि से रहित है, इस बात को सूचित करता है; क्योंकि अन्यथा सब पदार्थों का युगपत् ग्रहण करना नहीं बन सकता; संशय, विपर्यय और अनध्वसाय का अभाव होने से अथवा त्रिकालगोचर समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों का ग्रहण होने से, केवली भगवान सम्यक् प्रकार से जानते हैं।

केवली द्वारा अशेष बाह्य पदार्थों का ग्रहण होने पर भी, उनका सर्वज्ञ होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके स्वरूप परिच्छित्ति, अर्थात् स्वसंवेदन का अभाव है; ऐसी आशंका होने पर सूत्र में 'पश्यति' कहा है, अर्थात् वे त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों से उपचित आत्मा को भी देखते हैं।

केवलज्ञान की उत्पत्ति होने के बाद सब कर्मों का क्षय हो जाने पर, शरीररहित हुए केवली, उपदेश नहीं दे सकते; इसलिए तीर्थ का अभाव प्राप्त होता है। ऐसा कहने पर, सूत्र में 'विहरदि' कहा है, अर्थात् चार अघातिकर्मों का सत्त्व होने से वे कुछ कम एक पूर्व कोटिकाल तक विहार करते हैं।

ऐसा केवलज्ञान होता है॥ ८३॥

इस प्रकार के गुणोंवाला केवलज्ञान होता है।

शङ्का - गुण में गुण कैसे हो सकता है?

समाधान - यहाँ केवलज्ञान के द्वारा केवलज्ञानी का निर्देश किया गया है। इस प्रकार के केवली होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रवचनसार, गाथा ३७ में कहा है -

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं॥३७॥

अर्थ - उन (जीवादि) द्रव्य जातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप से) ज्ञान में वर्तती हैं।

इस श्लोक की श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका में कहा है—

टीका - (जीवादी) समस्त द्रव्य जातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा, तीनों काल की मर्यादा जितनी होने से (वे तीनों काल में उत्पन्न हुआ करती है; इसलिए) उनकी (उन समस्त द्रव्य जातियों की) क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूप सम्पदावाली, (एक के बाद, दूसरी प्रगट होनेवाली) विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमानकालीन) पर्यायों की भाँति, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी, सर्व पर्यायों के विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हो, इस प्रकार एक क्षण में ही ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं।

इस गाथा की संस्कृत टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि '...ज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायें, एक साथ ज्ञात होने पर भी **प्रत्येक पर्याय का विशिष्ट स्वरूप, प्रदेश, काल, आकारादि विशेषताएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं,** संकर-व्यतिकर नहीं होते...'

'उनको (केवली भगवान को) समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से, समक्ष संवेदन की (प्रत्यक्ष ज्ञान की) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।' *(प्रवचनसार, गाथा २१ की टीका)*

'जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे (पर्यायें) वास्तव में अविद्यमान होने पर भी, **ज्ञान के प्रति नियत होने से** (ज्ञान में निश्चित-स्थिर-लगी हुई होने से; ज्ञान में सीधे ज्ञात होने से) ज्ञान प्रत्यक्ष वर्तती हुई, पत्थर के स्तम्भ में अङ्कित भूत और भावी देवों की (तीर्थङ्कर देवों की) भाँति, अपने स्वरूप को अकम्पतया (ज्ञान को) अर्पित करती हुई, (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं।'

(प्रवचनसार, गाथा ३८ की टीका)

(५) 'टीका-क्षायिकज्ञान वास्तव में एक समय में ही सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशों से), वर्तमान में वर्तते तथा भूत-भविष्य काल में वर्तते, उन समस्त पदार्थों को जानता है, जिनमें पृथकरूप[१] से वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण, वैचित्र्य

१. द्रव्यों के भिन्न-भिन्न वर्तनेवाले निज-निज लक्षण - उन द्रव्यों की लक्ष्मीसम्पत्ति-शोभा है।

प्रगट हुआ है और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होनेवाली असमानजातीयता के कारण, वैषम्य प्रगट हुआ है... उन्हें जानता है। ....जिनका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान, अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप) जानना है।' *(प्रवचनसार, गाथा ४७ की टीका)*

(६) 'जो एक ही साथ (युगपत) त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनों काल और तीनों लोक के) पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्यायसहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है।' *(प्रवचनसार, गाथा ४८)*

(७) '.....एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेय को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाले अगाध स्वभाव और गम्भीर[१] समस्त द्रव्यमात्र को-मानों वे द्रव्य, ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गए हों, चित्रित हो गए हों, भीतर घुस गए हों, कीलित हो गए हों, डूब गए हों, समा गए हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, इस प्रकार-एक क्षण में ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है....' *(प्रवचनसार, गाथा २०० की टीका)*

(८) 'घातिकर्म का नाश होने पर, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य, यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। वहाँ अनन्त दर्शन-ज्ञान से तो, छह द्रव्यों से भरपूर जो यह लोक है, उसमें जीव अनन्तानन्त और पुद्गल उनसे भी अनन्तगुने हैं और धर्म, अधर्म तथा आकाश यह तीन द्रव्य एवं असंख्य कालद्रव्य हैं - उन सर्व द्रव्यों की भूत-भविष्य-वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों को भिन्न-भिन्न एक समय में देखते और जानते हैं।' *(अष्टपाहुड़-भावपाहुड़, गाथा १५० की पण्डित जयचन्दजी कृत टीका)*

(९) श्री पञ्चास्तिकाय की श्री जयेसनाचार्य कृत संस्कृत टीका पृष्ठ ८७ गाथा ५ में कहा है कि -

.....णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो-गाथा ५।

'केवली भगवान को ज्ञानाज्ञान नहीं होता, अर्थात् उन्हें किसी विषय में ज्ञान और किसी विषय में अज्ञान वर्तता है - ऐसा नहीं होता, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही वर्तता है।'

(१०) भगवन्त भूतबलि आचार्य प्रणीत महाबन्ध प्रथम भाग.... प्रकृति बन्धाधिकार पृष्ठ २७-२८ में केवलज्ञान का स्वरूप निम्नोक्त कहा है—

१- जिसका स्वभाव अगाध है और गम्भीर है, ऐसे समस्त द्रव्यों को-भूत, वर्तमान तथा भावी काल का क्रम से होनेवाली अनेक प्रकार की अनन्त पर्यायों से युक्त एक समय में ही प्रत्यक्ष जानना आत्मा का स्वभाव है।

'केवली भगवान, त्रिकालावच्छिन्न लोक-अलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण-पर्यायों से समन्वित अनन्त द्रव्यों को जानते हैं।' **ऐसा कोई ज्ञेय नहीं हो सकता है, जो केवली भगवान के ज्ञान का विषय न हो।** ज्ञान का धर्म, ज्ञेय को जानना है और ज्ञेय का धर्म है, ज्ञान का विषय होना। इनमें विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। जब मति और श्रुतज्ञान के द्वारा भी यह जीव, वर्तमान के सिवाय भूत तथा भविष्यत काल की बातों का परिज्ञान करता है, तब केवली भगवान के द्वारा अतीत, अनागत, वर्तमान सभी पदार्थों का ग्रहण (ज्ञान) करना युक्तियुक्त ही है। **....यदि क्रमपूर्वक केवली भगवान अनन्तानन्त पदार्थों को जानते तो सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार न हो पाता।** अनन्त काल व्यतीत होने पर भी पदार्थों की अनन्त गणना, अनन्त ही रहती। आत्मा की असाधारण निर्मलता होने के कारण, एक समय में ही सकल पदार्थों का ग्रहण (ज्ञान) होता है।

जब ज्ञान, एक समय में सम्पूर्ण जगत का या विश्व के तत्त्वों का बोध कर चुकता है, तब आगे वह कार्यहीन हो जायेगा। यह आशंका भी युक्त नहीं है। कारण, कालद्रव्य के निमित्त से तथा अगुरुलघुगुण के कारण, समस्त वस्तुओं में क्षण-क्षण में परिणमन-परिवर्तन होता है। जो कल भविष्यत था, वह आज वर्तमान बनकर आगे अतीत का रूप धारण करता है। इस प्रकार परिवर्तन का चक्र सदा चलने के कारण, ज्ञेय के परिणमन के अनुसार ज्ञान में भी परिणमन होता है। **जगत् के जितने पदार्थ हैं, उतनी ही केवलज्ञान की शक्ति या मर्यादा नहीं है। केवलज्ञान अनन्त है। यदि लोक अनन्त गुणित भी होता, तो केवलज्ञान सिन्धु में, वह बिन्दु तुल्य समा जाता।** ....अनन्त केवलज्ञान के द्वारा अनन्त जीव तथा अनन्त आकाशादि का ग्रहण होने पर भी, वे पदार्थ सान्त नहीं होते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त पदार्थ या पदार्थों को अनन्तरूप में बताता है, इस कारण ज्ञेय और ज्ञान की अनन्तता अबाधित रहती है।

(महाबन्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ २७ तथा धवला पुस्तक १३, पृष्ठ ३४६ से ३५३)

उपरोक्त आधारों से निम्नोक्त मन्तव्य मिथ्या सिद्ध होते हैं -

(१) केवली भगवान, भूत और वर्तमान कालवर्ती पर्यायों को ही जानते हैं और भविष्यत् पर्यायों को वे हों, तब जानते हैं।

(२) सर्वज्ञ भगवान, अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते।

(३) केवली भगवान, भूत-भविष्यत पर्यायों को सामान्यरूप से जानते हैं, किन्तु विशेषरूप से नहीं जानते।

(४) केवली भगवान, भविष्यत् पर्यायों को समग्ररूप से (समूहरूप से) जानते हैं, किन्तु भिन्नरूप से नहीं जानते।

(५) ज्ञान, सिर्फ ज्ञान को ही जानता है।

(६) सर्वज्ञ के ज्ञान में पदार्थ झलकते हैं, किन्तु भूतकाल तथा भविष्यकाल की पर्यायें स्पष्टरूप से नहीं झलकतीं। इत्यादिक मन्तव्य, सर्वज्ञ को अल्पज्ञ मानने समान हैं।

(केवलज्ञान (सर्वज्ञ का ज्ञान), द्रव्य-पर्यायों का शुद्धत्व अशुद्धत्व आदि अपेक्षित धर्मों को भी जानता है।)

(११) श्री समयसारजी में अमृतचन्द्राचार्य कृत कलश नं० २ में केवलज्ञानमय सरस्वती का स्वरूप इस प्रकार है, '.....वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें **अनन्त धर्म** हैं ऐसा और प्रत्येक-परद्रव्यों से, परद्रव्यों के गुण-पर्यायों से भिन्न तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथञ्चित भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा, उसके तत्त्व को, अर्थात् असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निजस्वरूप को पश्यन्ति-देखती है।'

भावार्थ - '.....उनमें अनन्त धर्म कौन-कौन हैं ? उसका उत्तर कहते हैं - जो वस्तु में सत्पना, वस्तुपना, प्रमेयपना, प्रदेशपना, चेतनपना, अचेतनपना, मूर्तिकपना, अमूर्तिकपना इत्यादि धर्म तो गुण हैं और उन गुणों का तीनों कालों में समय समयवर्ती परिणमन होना, पर्याय है, वे अनन्त हैं तथा एकपना, अनेकपना, नित्यपना, अनित्यपना, भेदपना, अभेदपना, शुद्धपना, अशुद्धपना आदि अनेक धर्म हैं, वे सामान्यरूप तो वचनगोचर हैं और विशेषरूप वचन के अविषय हैं, ऐसे वे अनन्त हैं, सो ज्ञानगम्य हैं (अर्थात्, केवलज्ञान के विषय हैं।)'

(श्री रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई से प्रकाशित समयसार पत्र ४)

सर्वज्ञ व्यवहार से पर को जानता है, उसका अर्थ

(१२) परमात्मप्रकाश शास्त्र गाथा ५० की संस्कृत टीका में (पत्र नं०५५) कहा है कि 'यह आत्मा, व्यवहारनय से केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानता है और शरीर में रहने पर भी निश्चयनय से अपने आत्मस्वरूप को जानता है, इस कारण ज्ञान की अपेक्षा से तो व्यवहारनय से सर्वगत है; प्रदेशों की अपेक्षा नहीं है। जैसे, रूपवाले पदार्थों को नेत्र देखते हैं, परन्तु उनसे तन्मयता नहीं होती। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जो व्यवहारनय से लोकालोक को जानता है और निश्चयनय से नहीं, तो सर्वज्ञपना व्यवहारनय से हुआ; निश्चय कर न हुआ ? उसका समाधान करते हैं - जैसे, अपनी आत्मा को तन्मयी होकर जानता है, उसी

तरह परद्रव्य को तन्मयीपने से नहीं जानता; भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनय से कहा, (न च परिज्ञानाभावात्) कुछ **परिज्ञान के अभाव से नहीं कहा।** (ज्ञानकर जानपना तो निज और पर का समान है) यदि जिस तरह निज को तन्मयी होकर निश्चय से जानता है, उसी तरह यदि पर को भी तन्मयी होकर जाने, तो पर के सुख-दुःख, राग-द्वेष के ज्ञान होने पर, सुखी-दुःखी, रागी-द्वेषी होवे, यह बड़ा दूषण प्राप्त हो।'

(१३) इस प्रकार समयसारजी पत्र, ४६६-६७ गाथा ३५६ से ३६५ की संस्कृत टीका में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है '.....यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह यथा स्वकीयं सुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिद्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः। यदि पुनः परकीय सुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि तथा स्वकीय संवेदने सुखी भवति तथा परकीय सुख-दुःख संवेदनकाले सुखी-दुःखी च प्राप्नोति न च तथा। व्यवहारस्तथापि **छद्मस्थ** जनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति।'

केवलज्ञान नामक पर्याय का निश्चयस्वभाव

(१४) पञ्चास्तिकाय शास्त्र की गाथा ४९ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि '....तथा जीवे निश्चयनयेन क्रम करण व्यवधान रहितं त्रिलोक्योदर विवरणवर्ति समस्त **वस्तुगतानन्त धर्मप्रकाशक**-मखण्ड प्रतिभासमयं केवलज्ञानं पूर्वमेव तिष्ठति' तथा गाथा २९ की टीका में भी कहा है कि '...अत्र स्वयं जातमिति वचनेन पूर्वोक्तमेव निरुपाधित्वं समर्थितं। तथा च स्वयमेव सर्वज्ञो जातः सर्वदर्शी च जातो **निश्चयनयेनेति** पूर्वोक्तमेव सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शीत्वं च समर्थितमिति।' तथा गाथा १५४ की टीका में कहा है कि .... 'समस्त वस्तुगतानन्त धर्माणां युगपद्विशेष परिच्छित्ति समर्थ केवलज्ञानम्।'

(१५) परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १०१ की संस्कृत टीका में कहा है कि 'जगत्त्रय कालत्रयवर्ति समस्त द्रव्यगुण पर्यायाणां क्रमकरण व्यवधान रहित्वेन परिच्छित्ति समर्थ विशुद्ध दर्शन ज्ञानं च।'

(१६) समयसारजी शास्त्र में आत्म-द्रव्य की ४७ शक्ति कहीं हैं, उनमें सर्वज्ञत्वशक्ति का स्वरूप ऐसा कहा है कि 'विश्व-विश्व विशेषभाव परिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्तिः। अर्थ - समस्त विश्व के (छहों द्रव्य के) विशेषभावों को जाननेरूप से परिणमित आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति॥ १०॥'

नोट - सर्वज्ञ, मात्र आत्मज्ञ ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि सम्पूर्ण

आत्मज्ञ होनेवाला, परद्रव्यों को भी सर्वथा, सर्व विशेषभावों सहित जानता है। विशेष के लिए देखो – आत्मधर्म मासिक, वर्ष ९ अङ्क नं० ८ सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन; कोई असत् कल्पना द्वारा सर्वज्ञ का स्वरूप अन्यथा मानते हैं, उसका तथा सर्वज्ञ वस्तुओं के अनन्त धर्म को नहीं जानते, ऐसा मानते हैं, उनका उपरोक्त कथन के आधार से निराकरण हो जाता है। ●●

मोक्षशास्त्र

दूसरा अध्याय

पहिले अध्याय में सम्यग्दर्शन के विषय का उपदेश देते हुए प्रारम्भ में [अध्याय १ सूत्र ४ में] जीवादिक तत्त्व कहे थे। उनमें से जीवतत्त्व के भाव, उनका लक्षण और शरीर के साथ के सम्बन्ध का वर्णन, इस दूसरे अध्याय में है। पहिले जीव के स्वतत्त्व (निजभाव) बताने के लिए सूत्र कहते हैं -

जीव के असाधारण भाव

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्यस्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च॥ १॥

अर्थ - [**जीवस्य**] जीव के [**औपशमिकक्षायिकौ**] औपशमिक और क्षायिक [**भावौ**] भाव [**च मिश्रः**] और मिश्र तथा [**औदयिक-पारिणामिकौ च**] औदयिक और पारिणामिक, यह पाँच भाव [**स्वतत्त्वम्**] निजभाव हैं, अर्थात् यह जीव के अतिरिक्त दूसरे में नहीं होते।

टीका - १. पाँच भावों की व्याख्या

(१) औपशमिकभाव - आत्मा के पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धता का प्रगट न होना, अर्थात् दब जाना; आत्मा के इस भाव को औपशमिकभाव कहते हैं। यह जीव की एक समयमात्र की पर्याय है, वह एक-एक समय करके अन्तर्मुहूर्त तक रहती है, किन्तु एक समय में एक ही अवस्था होती है; और उसी समय आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर जड़कर्म का प्रगटरूप फल जड़कर्म में न आना, वह कर्म का उपशम है।

(२) क्षायिकभाव - आत्मा के पुरुषार्थ से किसी गुण की शुद्ध अवस्था का प्रगट होना, वह क्षायिकभाव है। यह भी जीव की एक समयमात्र की अवस्था है। एक-एक समय करके, वह सादि-अनन्त रहती है, तथापि एक समय में एक ही अवस्था होती है। सादि अनन्त-अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलवीर्य युक्त फलरूप अनन्त चतुष्टय के साथ रहनेवाली परम उत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति, जो

कार्यशुद्धपर्याय है, उसे क्षायिकभाव भी कहते हैं; और उसी समय आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर कर्मावरण का नाश होना, वह कर्म का क्षय है।

(३) क्षायोपशमिकभाव - आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर, जो कर्म का स्वयं आँशिक क्षय और आँशिक उपशम, वह कर्म का क्षायोपशम है और क्षायोपशमिकभाव आत्मा की पर्याय है। यह भी आत्मा की एक समय की अवस्था है, वह उसकी योग्यता के अनुसार उत्कृष्ट काल तक भी रहती है, किन्तु प्रति समय बदलकर रहती है।

(४) औदयिकभाव - कर्मों के निमित्त से आत्मा अपने में जो विकारभाव करता है, वह औदयिकभाव है। यह भी आत्मा की एक समय की अवस्था है।

(५) पारिणामिकभाव - 'पारिणामिक' का अर्थ है सहजस्वभाव; उत्पाद-व्यय-रहित ध्रुव-एकरूप स्थिर रहनेवाला भाव, पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव सभी जीवों के सामान्य होता है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक—इन चार भावों से रहित जो भाव है, वह पारिणामिकभाव है। जिसका निरन्तर सद्भाव रहता है, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। मतिज्ञानादि तथा केवलज्ञानादि जो अवस्थाएँ हैं, वे पारिणामिकभाव नहीं हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान (यह अवस्थाएँ) क्षायोपशमिकभाव हैं; केवलज्ञान (अवस्था) क्षायिकभाव है। केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व ज्ञान का विकास का जितना अभाव है, वह औदयिकभाव है। ज्ञान-दर्शन और वीर्यगुण की अवस्था में औपशमिकभाव होता ही नहीं। मोह का ही उपशम होता है, उसमें प्रथम मिथ्यात्व का (दर्शनमोह का) उपशम होने पर जो निश्चयसम्यक्त्व प्रगट होता है, वह श्रद्धागुण का औपशमिकभाव है।

(ज्ञान-दर्शन और वीर्यगुण की पर्याय में पूर्ण विकास का जितना अभाव है, वह भी औदयिकभाव है, वह १२वें गुणस्थान तक है।)

२- यह पाँच भाव क्या बतलाते हैं ?

१- जीव में एक अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, यह पारिणामिकभाव सिद्ध करता है।

२- जीव में अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव होने पर भी, उसकी अवस्था में विकार है—ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है।

३- जड़कर्म के साथ जीव का अनादिकालीन सम्बन्ध है और जीव अपने ज्ञातास्वभाव से च्युत होकर जड़कर्म की ओर झुकाव करता है, जिससे विकार होता है किन्तु कर्म के कारण विकारभाव नहीं होता, यह भी औदयिकभाव सिद्ध करता है।

४- जीव अनादि काल से विकार करता हुआ भी, जड़ नहीं हो जाता और उसके ज्ञान, दर्शन तथा वीर्य का आँशिक विकास सदा बना रहता है, यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

५- आत्मा का स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने परिणामिकभाव का आश्रय लेता है, तब औदयिकभाव का दूर होना प्रारम्भ होता है और पहिले श्रद्धागुण का औदयिकभाव दूर होता है, यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

६- सच्ची समझ के बाद, जीव जैसे-जैसे सत्यपुरुषार्थ को बढ़ाता है, वैसे-वैसे मोह अंशतः दूर होता जाता है, यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

७- यदि जीव प्रतिहतभाव से पुरुषार्थ में आगे बढ़ता है तो चारित्रमोह स्वयं दब जाता है (उपशम को प्राप्त होता है), यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

८- अप्रतिहत पुरुषार्थ से पारिणामिकभाव का अच्छी तरह आश्रय बढ़ाने पर विकार का नाश हो सकता है—ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

९- यद्यपि कर्मों के साथ सम्बन्ध प्रवाह से अनादिकालीन है, तथापि प्रतिसमय पुराने कर्म जाते हैं और नये कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है, इस अपेक्षा से कर्मों के साथ का वह सम्बन्ध सर्वथा दूर हो जाता है, यह क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

१०- कोई निमित्त, विकार नहीं कराता किन्तु जीव स्वयं निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जब जीव, पारिणामिकभावरूप अपने द्रव्यस्वभावसन्मुख हो करके स्वाधीनता को प्रगट करता है, तब अशुद्धता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है—ऐसा औपशमिकभाव, साधकदशा का क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव—तीनों सिद्ध करते हैं।

३. पाँच भावों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्न - भावना के समय इन पाँचों में से कौन सा भाव ध्यान करने योग्य है, अर्थात् ध्येय है ?

उत्तर - भावना के समय पारिणामिकभाव ध्यान करने योग्य है, अर्थात् ध्येय है। ध्येयभूत द्रव्यरूप शुद्धपारिणामिकभाव त्रिकाल रहता है; इसलिए वह ध्यान करने योग्य है।

(२) प्रश्न - पारिणामिकभाव के आश्रय से होनेवाला ध्यान, भावना के समय ध्येय क्यों नहीं है ?

उत्तर - यह ध्यान स्वयं पर्याय है; इसलिए विनश्वर है; पर्याय के आश्रय से शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं होती, इसलिए वह ध्येय नहीं है।

(समयसार की जयेसनाचार्य कृत टीका का अनुवाद, पृष्ठ ३३०-३३१)

(३) प्रश्न - शुद्ध और अशुद्ध भेद से पारिणामिकभाव के दो प्रकार नहीं हैं, किन्तु पारिणामिकभाव शुद्ध ही है—क्या यह कहना ठीक है ?

उत्तर - नहीं, यह ठीक नहीं है। यद्यपि सामान्यरूप से (द्रव्यार्थिकनय से अथवा उत्सर्गकथन से) पारिणामिकभाव शुद्ध है, तथापि विशेषरूप से (पर्यायार्थिकनय से अथवा अपवादकथन से) अशुद्ध पारिणामिकभाव भी है। इसलिए 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस (सातवें सूत्र) से पारिणामिकभाव को जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—तीन प्रकार का कहा है। उनमें से जो शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व है, वह अविनाशी शुद्ध द्रव्याश्रित है; इसलिए उसे शुद्ध द्रव्याश्रित नाम का शुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए और जो दस प्रकार के द्रव्य-प्राणों से पहिचाना जाता है—ऐसा जीवत्व और मोक्षमार्ग की योग्यता-अयोग्यता से भव्यत्व, अभव्यत्व यह तीन प्रकार पर्यायाश्रित हैं; इसलिए उन्हें पर्यायार्थिक नाम के अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए।

(४) प्रश्न - इन तीन भावों की अशुद्धता किस अपेक्षा से है ?

उत्तर - यह अशुद्ध पारिणामिकभाव व्यवहारनय से सांसारिक जीवों में हैं, फिर भी '**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया**' अर्थात् सब जीव शुद्धनय से शुद्ध हैं, इसलिए यह तीनों भाव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से किसी जीव को नहीं है; संसारी जीवों में पर्याय की अपेक्षा अशुद्धत्व है।

(५) प्रश्न - इन शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिकभावों में से कौनसा भाव ध्यान के समय ध्येयरूप है ?

उत्तर - द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव अविनाशी है, इसलिए वह ध्येयरूप है, अर्थात् उस त्रैकालिक शुद्ध पारिणामिकभाव के लक्ष्य से शुद्ध अवस्था प्रगट होती है।

(वृहत्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ३४-३५)

४. औपशमिकभाव कब होता है ?

अध्याय १ सूत्र ३२ में कहा गया है कि जीव के सत् और असत् के विवेक से रहित जो दशा है, वह उन्मत्त जैसी है। मिथ्या अभिप्राय से अपनी ऐसी दशा अनादि काल से है, यह अध्याय १ सूत्र ४ में कथित तत्त्वों का विचार करने पर जीव को ज्ञान में आता है और उसे यह भी ज्ञान में आता है कि जीव का पुद्गलकर्म तथा शरीर के साथ प्रवाहरूप से अनादिकालीन सम्बन्ध है, अर्थात् जीव स्वयं वह का वही है, किन्तु कर्म और शरीर पुराने जाते हैं तथा नये आते हैं और यह संयोग सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। जीव इस संयोग सम्बन्ध को एकरूप (तादात्म्यसम्बन्धरूप से) मानता है और इस प्रकार जीव, अज्ञानता से शरीर को अपना मानता है; इसलिए शरीर के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी उसके साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध मानता है, इसलिए वह यह मानता आ रहा है कि 'मैं शरीर के कार्य कर सकता हूँ और जड़कर्म, शरीरादि मुझको कुछ करता है।' तत्त्वविचार करते-करते जीव को ऐसा लगता है कि यह मेरी भूल है, मैं **जीवतत्त्व** हूँ और शरीर तथा जड़ कर्म, मुझसे सर्वथा भिन्न **अजीवतत्त्व** हैं। मैं अजीव में और अजीव मुझमें नहीं है, इसलिए मैं अजीव का कुछ नहीं कर सकता; मैं अपने ही भाव कर सकता हूँ तथा अजीव अपने भाव (उसी के भाव) कर सकता है, मेरे नहीं।

इस प्रकार जिज्ञासु आत्मा प्रथम रागमिश्रित विचार के द्वारा जीव-अजीवतत्त्वों का स्वरूप जानकर, यह निश्चय करते हैं कि अपने में जो कुछ विकार होते हैं, वे अपने ही दोष के कारण होते हैं। इतना जानने पर उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि अविकारीभाव क्या हैं ?—इस प्रकार विकारभाव (पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध) का तथा अविकारभाव (संवर-निर्जरा-मोक्ष) का स्वरूप वे जिज्ञासु आत्मा निश्चित करते हैं। पहिले रागमिश्रित विचारों के द्वारा इन तत्त्वों का ज्ञान करके, फिर जब जीव उन भेदों की ओर का लक्ष्य दूर करके अपने त्रैकालिक पारिणामिकभाव का / ज्ञायकभाव का यथार्थ आश्रय लेते हैं, तब उन्हें श्रद्धागुण का औपशमिकभाव प्रगट होता है। श्रद्धागुण के औपशमिकभाव को उपशमसम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस निश्चय सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर, जीव के धर्म का प्रारम्भ होता है, तब जीव की अनादि काल से चली आनेवाली श्रद्धागुण की मिथ्यादशा दूर होकर सम्यग्दशा प्रगट होती है। इस औपशमिकभाव से मिथ्यात्वादि के संवर होते हैं।

५. औपशमिकभाव की महिमा

इस औपशमिकभाव, अर्थात् सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है कि जो जीव, पुरुषार्थ के

द्वारा उसे एक बार प्रगट कर लेता है, उसे अपनी पूर्ण पवित्रदशा प्रगट हुए बिना नहीं रह सकती। प्रथम - औपशमिकभाव के प्रगट होने पर, अध्याय १ सूत्र ३२ में कथित 'उन्मत्तदशा' दूर हो जाती है, अर्थात् जीव की मिथ्याज्ञानदशा दूर होकर वह सम्यक्मति-श्रुतज्ञानरूप हो जाती है और यदि उस जीव को पहिले मिथ्या अवधिज्ञान हो तो वह भी दूर होकर सम्यक् अवधिज्ञानरूप हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा बताने के लिए आचार्यदेव ने अध्याय १ के पहिले सूत्र में पहला ही शब्द **सम्यग्दर्शन** कहा है और प्रथम सम्यग्दर्शन, औपशमिकभाव से ही होता है, इसलिए औपशमिकभाव की महिमा बताने के लिए यहाँ भी यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हुए वह भाव पहिले सूत्र के पहिले ही शब्द में बताया है।

६. पाँच भावों के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न - प्रत्येक जीव में अनादि काल से पारिणामिकभाव है, फिर भी उसे औपशमिकभाव, अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यों प्रगट नहीं हुआ?

उत्तर - जीव को अनादि काल से अपने स्वरूप की प्रतीति नहीं है और इसलिए वह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं पारिणामिकभावस्वरूप हूँ। वह अज्ञानदशा में यह मानता रहता है कि 'शरीर मेरा है; और शरीर के अनुकूल ज्ञात होनेवाली परवस्तुएँ मुझे लाभकारी हैं तथा शरीर के प्रतिकूल, ज्ञात होनेवाली वस्तुएँ हानिकारी हैं', इसलिए इसका झुकाव पर वस्तुओं, शरीर, और विकारीभावों की ओर बना ही रहता है। यहाँ जो किसी से उत्पन्न नहीं किया है और कभी किसी से जिसका विनाश नहीं होता—ऐसे पारिणामिकभाव का ज्ञान कराकर, अपने गुण-पर्यायरूप भेदों को और परवस्तुओं को गौण करके आचार्यदेव उन पर से लक्ष्य छुड़वाते हैं। भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा नहीं होती, इसलिए अभेददृष्टि करायी है कि जिससे निर्विकल्पदशा प्रगट हो। औपशमिकभाव भी एक प्रकार की निर्विकल्पदशा है।

(२) प्रश्न - इस सूत्र में कथित पाँच भावों में से किस भाव की ओर के लक्ष्य से धर्म का प्रारम्भ और पूर्णता होती है?

उत्तर - पारिणामिकभाव के अतिरिक्त चारों भाव क्षणिक हैं—एक समयमात्र के हैं, और उनमें भी क्षायिकभाव तो वर्तमान नहीं है, औपशमिकभाव भी होता है तो अल्प समय ही टिकता है और औदयिक, क्षायोपशमिकभाव भी समय-समय पर बदलते रहते हैं; इसलिए उन भावों पर लक्ष्य किया जाए तो वहाँ एकाग्रता नहीं हो सकती और धर्म प्रगट नहीं

हो सकता। त्रैकालिक पूर्ण स्वभावरूप पारिणामिकभाव की महिमा को जानकर उस ओर जीव अपना लक्ष्य करे तो धर्म का प्रारम्भ होता है और उस भाव की एकाग्रता के बल से ही धर्म की पूर्णता होती है।

(३) प्रश्न - पञ्चास्तिकाय में कहा है कि—

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिका भावा निःक्रियाः पारिणामिकाः॥

(गाथा ५६, जयेसनाचार्य कृत टीका)

अर्थ - मिश्र, औपशमिक और क्षायिक—ये तीन भाव, मोक्षकर्ता हैं; औदयिकभाव, बन्ध करते हैं और पारिणामिकभाव, बन्ध-मोक्ष की क्रिया से रहित हैं।

प्रश्न - उपरोक्त कथन का क्या आशय है ?

उत्तर - इस श्लोक में यह नहीं कहा है कि कौन सा भाव उपादेय, अर्थात् आश्रय करने योग्य है, किन्तु इसमें मोक्ष जो कि कर्म के अभावरूप निमित्त की अपेक्षा रखता है, वह भाव जब प्रगट होता है, उसका प्रगट होते समय तथा पूर्व सापेक्ष पर्याय कौन सी थी, इसका स्वरूप बताया है। यह श्लोक बतलाता है कि क्षायिकभाव, मोक्ष को करता है, अर्थात् उस भाव का निमित्त पाकर आत्मप्रदेश से द्रव्यकर्म का स्वयं अभाव होता है। मोक्ष इस अपेक्षा से क्षायिक पर्याय है और क्षायिकभाव जड़कर्म का अभाव सूचित करता है। क्षायिकभाव होने से पूर्व मोह के औपशमिक तथा क्षायोपशमिकभाव होना ही चाहिए और तत्पश्चात् क्षायिकभाव प्रगट होते हैं और क्षायिकभाव के प्रगट होने पर ही कर्मों का स्वयं अभाव होता है तथा ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए यह कहा है कि 'यह तीनों भाव मोक्ष करते हैं।' इस श्लोक में यह प्रतिपादन नहीं किया गया है कि किस भाव के आश्रय से धर्म प्रगट होता है। ध्यान रहे कि पहिले चारों भाव स्व-अपेक्षा से पारिणामिकभाव हैं।

(जयधवल पुस्तक, पृष्ठ ३१९, धवला, भाग ५, पृष्ठ १९७)

(४) प्रश्न - ऊपर के श्लोक में कहा गया है कि औदयिकभाव, बन्ध का कारण है। यदि यह स्वीकार किया जाय तो गति, जाति, आदि नामकर्म सम्बन्धी-औदयिकभाव भी बन्ध के कारण क्यों नहीं होंगे ?

उत्तर - श्लोक में कहे गए औदयिकभाव में सर्व औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं—ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु यह समझना चाहिए कि मात्र मिथ्यात्व, असंयम, कषाय

और योग—यह चार भाव, बन्ध के कारण हैं। *(श्री धवला पुस्तक ७, पृष्ठ ९-१०)*

(५) प्रश्न - 'औदयिका भावा:बंधकारणम्'—ऐसा कहा है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - इसका यही अर्थ है कि यदि जीव, मोह के उदय में युक्त होता है, तो बन्ध होता है। द्रव्यमोह का उदय होने पर भी, यदि जीव शुद्धात्मभावना के बल से **भावमोहरूप** परिणमित न हो तो बन्ध नहीं होता। यदि जीव को कर्मोदय के कारण बन्ध होता हो तो संसारी के सर्वदा कर्मोदय विद्यमान है; इसलिए उसे सर्वदा बन्ध होगा, कभी मोक्ष होगा ही नहीं। इसलिए यह समझना चाहिए कि कर्म का उदय, बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जीव का **भावमोहरूप से परिणमन** होना, बन्ध का कारण है।

(श्री प्रवचनसार, पृष्ठ ५८-५९, जयसेनाचार्य कृत टीका)

(६) प्रश्न - पारिणामिकभाव को कहीं किसी गुणस्थान में पर्यायरूप से वर्णन किया है ?

उत्तर - हाँ, दूसरा गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म की उदय, उपशम, क्षयोपशम, या क्षय, इन चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता, इतना बताने के लिए वहाँ श्रद्धा की पर्याय अपेक्षा से पारिणामिकभाव कहा गया है। यह जीव जो चारित्रमोह के साथ युक्त होता है; अत: वह तो औदयिकभाव है, उस जीव के ज्ञान-दर्शन और वीर्य का क्षायोपशमिकभाव है और सर्व जीवों के (द्रव्यार्थिकनय से) अनादि-अनन्त पारिणामिकभाव होता है, वह इस गुणस्थान में रहनेवाले जीव के भी होता है।

(७) प्रश्न - समयग्दृष्टि जीव, विकारीभावों को-अपूर्णदशा को आत्मा का स्वरूप नहीं मानते और इस सूत्र में ऐसे भावों को आत्मा का स्वतत्व कहा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर - विकारीभाव और अपूर्ण अवस्था, आत्मा की वर्तमान भूमिका में आत्मा के अपने दोष के कारण होती है, किसी जड़कर्म अथवा परद्रव्य के कारण नहीं, यह बताने के लिए इस सूत्र में उस भाव को 'स्वतत्त्व' कहा है।

७- जीव का कर्तव्य

जीव को तत्त्वादि का निश्चय करने का उद्यम करना चाहिए, उससे औपशमिकादि सम्यक्त्व स्वयं होता है। द्रव्यकर्म के उपशमादि पुद्गल की शक्ति (पर्याय) है, जीव उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करना जीव का काम है। जीव को स्वयं तत्त्वनिर्णय

करने में उपयोग लगाना चाहिए। इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय की सिद्धि अपने आप होती है। जब जीव पुरुषार्थ के द्वारा तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास करता है, तब उसकी विशुद्धता बढ़ती है, कर्मों का रस स्वयं हीन होता है और कुछ समय में जब अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रथम औपशमिकभाव से प्रतीति प्रगट करता है, तब दर्शनमोह का स्वयं उपशम हो जाता है। जीव का कर्तव्य तो तत्त्वनिर्णय का अभ्यास है। जब जीव तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाता है, तब दर्शनमोह का उपशम स्वयमेव हो जाता है, कर्म के उपशम में जीव का कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९, पृष्ठ ३१२)*

८- पाँच भावों के सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्मा को सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं, अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते हैं; वर्तमान अवस्था में अशुद्धता के होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते; और कोई आत्मा का स्वरूप सर्वथा आनन्दमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्था में दु:ख होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी वे मान्यताएँ और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बन्ध, मोक्ष और मोक्ष का उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्मा का त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्था का स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्याय से आत्मा का स्वरूप) कैसा होता है, उसे यथार्थतया यह पाँच भाव बतलाते हैं। यदि इन पाँच भावों में से एक भी भाव का अस्तित्व स्वीकार न किया जाए तो आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध स्वरूप का सत्य कथन नहीं होता और उससे ज्ञान में दोष आता है। यह सूत्र, ज्ञान का दोष दूर करके, आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप और निगोद से सिद्ध तक की उसकी समस्त अवस्थाओं को अत्यल्प शब्दों में चमत्कारिक रीति से बतलाता है। उन पाँच भावों में चौदह गुणस्थान तथा सिद्धदशा भी आ जाती है।

इस शास्त्र में अनादि काल से चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नहीं लिया है, किन्तु औपशमिकभाव पहले लिया जाता है; यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्र में स्वरूप को समझने के लिए भेद बतलाए गए हैं, तथापि भेद के आश्रय से, अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावों के आश्रय से विकल्प चालू रहता है, अर्थात् अनादि काल से चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है; इसलिए उन भावों की ओर का आश्रय छोड़कर, ध्रुवरूप पारिणामिकभाव की ओर लक्ष्य करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहले औपशमिकभाव प्रगट होता है और क्रमश: शुद्धता के बढ़ने पर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९- इस सूत्र में नय-प्रमाण की विवक्षा

वर्तमान पर्याय और उसके अतिरिक्त जो द्रव्यसामान्य तथा उसके गुणों की सादृश्यता / त्रिकाल ध्रुवरूप से बने रहना—ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्य में हैं। आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं। उनमें से वर्तमान पर्याय का विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्र में कथित पाँच भावों में से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक—यह चार भाव, पर्यायरूप-वर्तमान अवस्थामात्र के लिए हैं, इसलिए वे पर्यायार्थिकनय के विषय हैं; उस वर्तमान पर्याय को छोड़कर द्रव्यसामान्य तथा उसके अनन्त गुणों का जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं; उस भाव को कारणपरमात्मा, कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है; वह त्रिकाल सादृश्यरूप होने से द्रव्यार्थिकनय का विषय है; यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनय का विषय और द्रव्यार्थिकनय का विषय दोनों) एक होकर सम्पूर्ण जीवद्रव्य है, इसलिए वे दोनों पहलू प्रमाण के विषय हैं।

इन दोनों पहलुओं का नय और प्रमाण के द्वारा यथार्थ ज्ञान करके, जो जीव अपनी वर्तमान पर्याय को अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकभाव की ओर ले जाता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है और वह क्रमशः स्वभाव के अवलम्बन से आगे बढ़कर मोक्षदशारूप क्षायिकभाव को प्रगट करता है॥१॥

भावों के भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम्॥२॥

अर्थ - उपरोक्त पाँच भाव [**यथाक्रमम्**] क्रमशः [**द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः**] दो, नव, अट्ठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदों का वर्णन आगे के सूत्रों के द्वारा करते हैं॥२॥

औपशमिकभाव के दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे॥३॥

अर्थ - [**सम्यक्त्व**] औपशमिकसम्यक्त्व और [**चारित्रे**] औपशमिकचारित्र—इस प्रकार औपशमिकभाव के दो भेद हैं।

टीका—(१) औपशमिकसम्यक्त्व - जब जीव के अपने सत्यपुरुषार्थ से औपशमिकसम्यक्त्व प्रगट होता है, तब जड़कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि मिथ्यात्वकर्म का और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का स्वयं उपशम हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवों के तथा किसी सादिमिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व की एक और अनन्तानुबन्धी की चार, इस प्रकार कुल पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं और शेष सादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति—यह तीन तथा अनन्तानुबन्धी की चार, इस प्रकार कुल सात प्रकृतियों का उपशम होता है। जीव के इस भाव को औपशमिकसम्यक्त्व कहा जाता है।

(२) औपशमिकचारित्र - जीव जिस चारित्रभाव से उपशमश्रेणी के योग्य भाव प्रगट करता है, उसे औपशमिकचारित्र कहते हैं। उस समय मोहनीयकर्म की अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियों का स्वयं उपशम हो जाता है।

प्रश्न - जड़कर्म प्रकृति का नाम 'सम्यक्त्व' क्यों है?

उत्तर - सम्यग्दर्शन के साथ-सहचरित उदय होने से उपचार से कर्मप्रकृति को 'सम्यक्त्व' नाम दिया गया है॥३॥ *(श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ३१)*

क्षायिकभाव के नौ भेद

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च॥ ४॥

अर्थ - **[ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि]** केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य तथा **[च]** च कहने पर, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र—इस प्रकार क्षायिकभाव के नौ भेद हैं।

टीका—जीव जब ये केवलज्ञानादिभाव प्रगट करता है, तब द्रव्यकर्म स्वयं आत्मप्रदेशों से अत्यन्त वियोगरूप हो जाते हैं, अर्थात् कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, इसलिए इन भावों को 'क्षायिकभाव' कहा जाता है।

(१) केवलज्ञान - सम्पूर्ण ज्ञान का प्रगट होना, केवलज्ञान है; तब ज्ञानावरणीय कर्म की अवस्था क्षयरूप स्वयं होती है।

(२) केवलदर्शन - सम्पूर्ण दर्शन का प्रगट होना, केवलदर्शन है; इस समय दर्शनावरणीय कर्म का स्वयं क्षय होता है।

क्षायिक दानादि पाँच भाव - इस प्रकार अपने गुण की निर्मल पर्याय अपने लिए दानादि पाँच भावरूप से-सम्पूर्णतया प्रगटता होती है, उस समय दानान्तराय इत्यादि पाँच प्रकार के अन्तरायकर्म का स्वयं क्षय होता है।

(३) क्षायिकदान - अपने शुद्धस्वरूप का अपने को दान देना, वह उपादानरूप निश्चय क्षायिकदान है और अनन्त जीवों को शुद्धस्वरूप की प्राप्ति में जो निमित्तपने की योग्यता, वह व्यवहार क्षायिक अभयदान है।

(४) क्षायिकलाभ - अपने शुद्धस्वरूप का अपने को लाभ होना, वह निश्चय क्षायिक लाभ है - उपादान है और निमित्तरूप से शरीर के बल को स्थिर रखने में कारणरूप अन्य मनुष्य को न हों, ऐसे अत्यन्त शुभ सूक्ष्म नोकर्मरूप परिणमित होनेवाले अनन्त पुद्गल परमाणुओं का प्रति समय सम्बन्ध होना, क्षायिकलाभ है।

(५) क्षायिकभोग - अपने शुद्धस्वभाव का भोग, क्षायिकभोग है और निमित्तरूप से पुष्पवृष्टि आदिक विशेषों का प्रगट होना, क्षायिकभोग है।

(६) क्षायिक उपभोग - अपने शुद्धस्वरूप का प्रति समय उपभोग होना, वह क्षायिक उपभोग है और निमित्तरूप से छत्र, चमर, सिंहासनादि विभूतियों का होना, क्षायिक उपभोग है।

(७) क्षायिकवीर्य - अपने शुद्धात्मस्वरूप में उत्कृष्ट सामर्थ्यरूप से प्रवृत्ति का होना, वह क्षायिकवीर्य है।

(८) क्षायिकसम्यक्त्व - अपने मूलस्वरूप की दृढ़तम प्रतीतिरूप पर्याय, क्षायिक सम्यक्त्व है; जब वह प्रगट होती है, तब मिथ्यात्व की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार, इस प्रकार कुल सात कर्म-प्रकृतियों का स्वयं क्षय होता है।

(९) क्षायिकचारित्र - अपने स्वरूप का पूर्ण चारित्र प्रगट होना, वह क्षायिकचारित्र है। उस समय मोहनीयकर्म की शेष २१ प्रकृतियों का क्षय होता है। इस प्रकार जब कर्म का स्वयं क्षय होता है, तब मात्र उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीव ने कर्म का क्षय किया है'; परमार्थ से तो जीव ने अपनी अवस्था में पुरुषार्थ किया है, जड़ प्रकृति में नहीं।

इन नव क्षायिकभावों को नवलब्धि भी कहते हैं॥ ४॥

क्षायोपशमिकभाव के १८ भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्ध्यश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ - [**ज्ञान अज्ञान**] मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय, यह चार ज्ञान; तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि - ये तीन अज्ञान [**दर्शन**] चक्षु, अचक्षु और अवधि, ये तीन दर्शन [**लब्धयः**] क्षायोपशमिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य - ये पाँच लब्धियाँ [**चतुःत्रित्रिः भेदाः**] इस प्रकार ४+३+३+५ = (१५) भेद तथा [**सम्यक्त्व**] क्षायोपशमिकसम्यक्त्व [**चारित्र**] क्षायोपशमिकचारित्र [**च**] और [**संयमासंयमाः**] संयमासंयम—इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव के १८ भेद हैं।

टीका—क्षायोपशमिकसम्यक्त्व - मिथ्यात्व की तथा अनन्तानुबन्धी की कर्म-प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय तथा उपशम की अपेक्षा से क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहलाता है और सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय की अपेक्षा से उसी को वेदकसम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षायोपशमिकचारित्र - सम्यग्दर्शनपूर्वक-चारित्र के समय जो राग है, उसकी अपेक्षा से वह सरागचारित्र कहलाता है, किन्तु उसमें जो राग है, वह चारित्र नहीं है; जितना वीरातगभाव है, उतना ही चारित्र है; इस चारित्र को क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

संयमासंयम - इस भाव को देशव्रत, अथवा विरताविरत चारित्र भी कहते हैं।

मतिज्ञान इत्यादि का स्वरूप पहिले अध्याय में कहा जा चुका है।

दान, लाभ इत्यादि लब्धि का स्वरूप ऊपर के सूत्र में कहा गया है। वहाँ क्षायिकभाव से वह लब्धि थी और यहाँ वह लब्धि क्षायोपशमिकभाव से है—ऐसा समझना चाहिए॥५॥

औदयिकभाव के २१ भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या-
चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ - [**गति**] तिर्यञ्च, नरक, मनुष्य और देव, यह चार गतियाँ; [**कषाय**] क्रोध, मान, माया, लोभ, यह चार कषाएँ; [**लिंग**] स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, यह तीन लिङ्ग; [**मिथ्यादर्शन**] मिथ्यादर्शन [**अज्ञान**] अज्ञान [**असंयत**] असंयम [**असिद्ध**] असिद्धत्व

तथा [**लेश्याः**] कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल, यह छह लेश्याएँ—इस प्रकार [**चतुः चतुः त्रि एक एक एक एक षड्भेदाः**] ४+४+३+१+१+१+१+६ (२१) इस प्रकार सब मिलाकर औदयिकभाव के २१ भेद हैं।

टीका—प्रश्न - गति, अघातिकर्म के उदय से होती है, जीव के अनुजीवीगुण के घात का यह निमित्त नहीं है, तथापि उसे औदयिकभाव में क्यों गिना है ?

उत्तर - जीव के जिस प्रकार की गति का संयोग होता है, उसी में वह ममत्व करने लगता है; जैसे—वह यह मानता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ।' इस प्रकार जहाँ **मोहभाव** होता है, वहाँ वर्तमान गति में जीव अपनेपन की कल्पना करता है, इसलिए तथा चारित्रमोह की अपेक्षा से गति को औदयिकभाव में गिन लिया गया है। [मात्र गति को उदयभाव में लिया जाए, तो १४ गुणस्थान तक है।]

लेश्या - कषाय से अनुरञ्जित योग को लेश्या कहते हैं। लेश्या के दो प्रकार हैं—द्रव्यलेश्या तथा भावलेश्या। यहाँ भावलेश्या का विषय है। भावलेश्या छह प्रकार की है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि लेश्या के समय आत्मा में उस-उस प्रकार का रङ्ग होता है, किन्तु जीव के विकारी कार्य भावापेक्षा से ६ प्रकार के होते हैं, उस भाव में विकार का तारतम्य बताने के लिए छह प्रकार कहे हैं। लोक में यदि कोई व्यक्ति खराब काम करता है, तो कहा जाता है कि इसने काला काम किया है, वहाँ उसके काम का रङ्ग काला नहीं होता, किन्तु उस काम में उसका तीव्र बुरा भाव होने से उसे काला कहा जाता है और इस भावापेक्षा से उसे कृष्ण-लेश्या कहते हैं। जैसे-जैसे विकार की तीव्रता में हलकापन होता है, उसी प्रकार भाव को 'नीललेश्या' इत्यादि नाम दिए जाते हैं। शुक्ललेश्या भी शुभ औदयिकभाव में होती है। शुक्ललेश्या कहीं धर्म नहीं है, क्योंकि यह मिथ्यादृष्टियों के भी होती है। पुण्य के तारतम्य में जब उच्च पुण्यभाव होता है, तब शुक्ललेश्या होती है। वह औदयिकभाव है और इसलिए वह संसार का कारण है; धर्म का नहीं।

प्रश्न - भगवान को तेरहवें गुणस्थान में कषाय नहीं होती, फिर भी उनके शुक्ललेश्या क्यों कही है ?

उत्तर - भगवान के शुक्ललेश्या उपचार से कही है। पहिले योग के साथ लेश्या का सहकारित्व था, वह योग तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान होने से वहाँ उपचार से लेश्या भी कह

दी गयी है। लेश्या का कार्य कर्मबन्ध है। भगवान के कषाय नहीं है, फिर भी योग के होने से एक समय का बन्ध है, यह अपेक्षा लक्ष्य में रखकर उपचार से शुक्ललेश्या कही गयी है।

अज्ञान - ज्ञान का अभाव अज्ञान है, इस अर्थ में यहाँ अज्ञान लिया गया है; कुज्ञान को यहाँ नहीं लिया है, कुज्ञान को क्षायोपशमिकभाव में लिया है॥६॥

(औदयिकभाव की विशेष चर्चा देखो - पञ्चाध्यायी भाग २, गाथा ९७७ से १०५२-सि० शास्त्री पण्डित फूलचन्दजी कृत टीका पृष्ठ ३२०-२१, ३०७ से ३२१, तथा पण्डित देवकीनन्दनजी कृत टीका गाथा ९८० से १०५५, पृष्ठ ४१५-४४४)

पारिणामिकभाव के तीन भेद

जीवभव्याभव्यत्वानि च॥ ७॥

अर्थ - [**जीवभव्याभव्यत्वानि च**] जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व — इस प्रकार पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं।

टीका—(१) सूत्र के अन्त में 'च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्यगुणों का भी ग्रहण होता है।

भव्यत्व - मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीव के 'भव्यत्व' होता है।

अभव्यत्व - जो जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नहीं होते, उनको 'अभव्यत्व' कहते हैं।

जीवत्व - चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना, वह जीवन कहलाता है।

पारिणामिक भाव का अर्थ - कर्मोदय की अपेक्षा के बिना आत्मा में जो गुण मूलतः स्वभावमात्र ही हों, उन्हें 'पारिणामिक' कहते हैं। अथवा —

'द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः।'

(पञ्चास्तिकाय गाथा ५३ संस्कृत टीका)

अर्थ - जो वस्तु के निजस्वरूप की प्राप्ति में ही हेतु हो, वह पारिणामिक है।

(सर्वार्थसिद्धि टीका)

२. विशेष स्पष्टीकरण

(१) पाँच भावों में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक—यह चार भाव पर्यायरूप (वर्तमान में विद्यमान दशारूप) हैं और पाँचवाँ शुद्ध पारिणामिकभाव है, वह

त्रिकाल एकरूप ध्रुव है; इसलिए वह द्रव्यरूप है। इस प्रकार आत्मपदार्थ, द्रव्य और पर्याय सहित (जिस समय जो पर्याय हो, उस सहित) है।

(२) जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व – इन तीन पारिणामिकभावों में जो शुद्ध जीवत्वभाव है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से नित्य निरावरण शुद्ध पारिणामिकभाव है और वह बन्ध-मोक्ष पर्याय (परिणति) से रहित है।

(३) जो दस प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व है, उसे वर्तमान में होनेवाले अवस्था से आश्रित होने से (पर्यायार्थिकनय नयाश्रित होने से) अशुद्धपारिणामिकभाव समझना चाहिए। जैसे सर्व संसारी जीव शुद्धनय से शुद्ध हैं, उसी प्रकार यदि अवस्थादृष्टि से भी शुद्ध है—ऐसा माना जाए तो दस प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व का अभाव ही हो जाए।

(४) भव्यत्व और अभव्यत्व में से भव्यत्व नामक अशुद्धपारिणामिक भाव भव्यजीवों के होता है। यद्यपि वह भाव, द्रव्यकर्म की अपेक्षा नहीं रखता, तथापि जीव के सम्यक्त्वादि गुण जब मलिनता में रुके होते हैं, तब उसमें जड़कर्म जो निमित्त है, उसे भव्यत्व की अशुद्धता में उपचार से निमित्त कहा जाता है। वह जीव जब अपनी पात्रता के द्वारा ज्ञानी की देशना को सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और अपने चारित्र में स्थिर होता है, तब उसे भव्यत्वशक्ति प्रगट (व्यक्त) होती है। वह जीव सहज शुद्धपारिणामिकभाव जिसका लक्षण है, ऐसे अपने परमात्मद्रव्यमय सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और अनुवरणरूप अवस्था (पर्याय) को प्रगट करता है।

(श्री समयसार हिन्दी, जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका, पृष्ठ ४२३)

(५) पर्यायार्थिकनय से कहा जानेवाला लाभ-भव्यत्वभाव का अभाव मोक्षदशा में होता है, अर्थात् जीव में सब सम्यग्दर्शनादि गुण की पूर्णता हो जाती है, तब भव्यत्व का व्यवहार मिट जाता है। (अध्याय १०, सूत्र ३)

३. अनादि अज्ञानी जीव के कौन से भाव कभी नहीं हुए?

(१) यह बात लक्ष्य में रखना चाहिए कि जीव के अनादि काल से ज्ञान, दर्शन और वीर्य, क्षायोपशमिकभावरूप से हैं, किन्तु वे कहीं धर्म के कारण नहीं हैं।

(२) अपने स्वरूप की असावधानी जो मिथ्यादर्शनरूप मोह, उसका अभावरूप औपशमिकभाव, अनादि अज्ञानी जीव के कभी प्रगट नहीं हुआ। जब जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट

करता है, तब दर्शनमोह का (मिथ्यात्व का) उपशम होता है। सम्यग्दर्शन अपूर्व है, क्योंकि जीव के कभी भी पहले वह भाव नहीं हुआ था। इस औपशमिकभाव के होने के बाद मोह से सम्बन्ध रखनेवाले क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव उस जीव के प्रगट हुए बिना नहीं रहते, वह जीव अवश्य ही मोक्षावस्था को प्रगट करता है।

४. उपरोक्त औपशमिकादि तीन भाव किस विधि से प्रगट होते हैं ?

(१) जब जीव अपने इन भावों का स्वरूप समझकर, त्रिकाल ध्रुवरूप (सकलनिरावरण) अखण्ड एक अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव की ओर अपना लक्ष्य स्थिर करता है, तब उपरोक्त तीन भाव प्रगट होते हैं।

'मैं खण्ड-ज्ञानरूप हूँ'—ऐसी भावना से औपशमिकभाव प्रगट नहीं होते।

(श्री समयसार हिन्दी, जयसेनाचार्यकृत टीका, पृष्ठ ४८३)

(२) अपने अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव की ओर के झुकाव को अध्यात्मभाषा में 'निश्चयनय का आश्रय' कहा जाता है। निश्चयनय के आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगट होती है। निश्चय का विषय अखण्ड अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव, अर्थात् ज्ञायकभाव है। व्यवहारनय के आश्रय से शुद्धता प्रगट नहीं होती, किन्तु अशुद्धता प्रगट होती है।

(श्री समयसार, गाथा ११)

५. पाँच भावों में से कौन से भाव बन्धरूप हैं और कौन से नहीं ?

(१) इन पाँच भावों में से एक औदयिकभाव (मोह के साथ का संयुक्तारूप भाव) बन्धरूप है। जब जीव, मोहभाव करता है, तब कर्म का उदय उपचार से बन्ध का कारण कहलाता है। द्रव्यमोह का उदय होने पर भी, यदि जीव, मोहभावरूप से परिणमित न हो तो बन्ध न हो और तब वही जड़कर्म की निर्जरा कहलाए।

(२) जिसमें पुण्य-पाप, दान, पूजा, व्रतादि भावों का समावेश होता है, ऐसे आस्रव और बन्ध दो औदयिकभाव हैं; संवर और निर्जरा, मोह के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं, वे शुद्धता के अंश होने से बन्धरूप नहीं हैं और मोक्ष, क्षायिकभाव है, वह सर्वथा पूर्ण पवित्र पर्याय है; इसलिए वह भी बन्धरूप नहीं है।

(३) उपयोग-आत्मा, रागादि से भिन्न माने, उसे बन्ध नहीं होता।

(अध्यात्म तरङ्गिणी बन्ध अधिकार, कलश ३, पृष्ठ १३६)

(४) शुद्ध त्रैकालिक पारिणामिकभाव तो बन्ध और मोक्ष से निरपेक्ष है ॥७॥

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

अर्थ - [**लक्षणम्**] जीव का लक्षण [**उपयोगः**] उपयोग है।

टीका—लक्षण - बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को अलग करनेवाले हेतु (साधन) को लक्षण कहते हैं।

उपयोग - चैतन्यगुण के साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उपयोग को 'ज्ञान-दर्शन' भी कहते हैं, वह सभी जीवों में होता है और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता; इसलिए उसे जीव का असाधारण गुण अथवा लक्षण कहते हैं और वह सद्भूत (आत्मभूत) लक्षण है; इसलिए सब जीवों में सदा होता है। इस सूत्र में ऐसा सामान्य लक्षण दिया है, जो सब जीवों पर लागू होता है। *(तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ५४)*

जैसे सोने-चाँदी का एक पिण्ड होने पर भी, उसमें सोना अपने पीलेपन आदि लक्षण से और चाँदी अपने शुक्लादि लक्षण से दोनों अलग-अलग हैं, ऐसा उनका भेद जाना जा सकता है; इसी प्रकार जीव और कर्म-नोकर्म (शरीर) एक क्षेत्र में होने पर भी जीव अपने उपयोग-लक्षण के द्वारा कर्म-नोकर्म से अलग है और द्रव्यकर्म-नोकर्म अपने स्पर्शादि लक्षण के द्वारा जीव से अलग हैं; इस प्रकार उनका भेद प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है; इसलिए अज्ञानदशा में वे दोनों एकरूप भासित होते हैं। जीव और पुद्गल एक आकाश क्षेत्र में होने पर भी, यदि उनके यथार्थ लक्षणों से निर्णय किए जाए तो वे दोनों भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान होता है। **बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को अलग करनेवाले हेतु को लक्षण कहते हैं।** अनन्त परमाणुओं से बना हुआ शरीर और जीव, इस प्रकार बहुत से मिले हुए पदार्थ हैं; उनमें अनन्त पुद्गल हैं और एक जीव है। उसे ज्ञान में अलग करने के लिए यहाँ जीव का लक्षण बताया गया है। 'जीव का लक्षण उपयोग है' इस प्रकार यहाँ कहा है।

प्रश्न - उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर - चैतन्य, आत्मा का स्वभाव है, उस चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का अबाधित लक्षण है।

आठवें सूत्र का सिद्धान्त

मैं, शरीरादि के कार्य कर सकता हूँ और मैं उन्हें हिला-डुला सकता हूँ—ऐसा जो जीव मानते हैं, वे चेतन और जड़द्रव्य को एकरूप मानते हैं। उनकी इस मिथ्यामान्यता को छुड़ाने के लिए और जीवद्रव्य, जड़ से सर्वथा भिन्न है, यह बताने के लिए इस सूत्र में जीव का असाधारण लक्षण 'उपयोग' है - ऐसा बताया गया है।

नित्य उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य, कभी पुद्गलद्रव्यरूप (शरीरादिरूप) होता हुआ देखने में नहीं आता और नित्य जड़ लक्षणवाला शरीरादि पुद्गलद्रव्य, कभी जीवद्रव्यरूप होता हुआ देखने में नहीं आता, क्योंकि उपयोग और जड़त्व के एकरूप होने में प्रकाश और अन्धकार की भाँति विरोध है। जड़ और चैतन्य कभी भी एक नहीं हो सकते; वे दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; कभी भी, किसी भी प्रकार से एकरूप नहीं होते, इसलिए हे जीव! तू सब प्रकार से प्रसन्न हो! अपना चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' ऐसा अनुभव कर! ऐसा श्रीगुरु का उपदेश है। *(श्री समयसार, गाथा २३ से २५)*

जीव, शरीर और द्रव्यकर्म एक आकाश-प्रदेश में बन्धरूप रहते हैं; इसलिए उन बहुत से मिले हुए पदार्थों में से एक जीव पदार्थ को अलग जानने के लिए इस सूत्र में जीव का लक्षण कहा गया है ॥८॥ *(सर्वार्थसिद्धि, भाग २, पृष्ठ २७-२८)*

उपयोग के भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

अर्थ - [**सः**] वह उपयोग [**द्विविधः**] ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है और वे क्रमशः [**अष्ट चतुः भेदः**] आठ और चार भेदसहित हैं, अर्थात् ज्ञानोपयोग के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल (यह पाँच सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (यह तीन मिथ्याज्ञान) इस प्रकार आठ भेद हैं तथा दर्शनोपयोग के चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल; इस प्रकार चार भेद हैं। इस प्रकार ज्ञान के आठ और दर्शन के चार भेद मिलकर उपयोग के कुल बारह भेद हैं।

टीका—१. इस सूत्र में उपयोग के भेद बताए हैं, क्योंकि यदि भेद बताए हों तो

जिज्ञासु जल्दी समझ लेता है; इसलिए कहा है कि 'सामान्य शास्त्रतो नूनं, विशेषो बलवान् भवेत्' अर्थात् सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान है। यहाँ सामान्य का अर्थ है, संक्षेप में कहनेवाला और विशेष का अर्थ है, भेदविस्तार करके बतानेवाला। साधारण मनुष्य विशेष से भलीभाँति निर्णय कर सकते हैं।

(२) दर्शन शब्द का यहाँ लागू होनेवाला अर्थ—

शास्त्रों में एक ही शब्द का कहीं कोई अर्थ होता है और कहीं कोई। 'दर्शन' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं।

(१) अध्याय १, सूत्र १-२ में मोक्षमार्ग सम्बन्धी कथन करते हुए 'सम्यग्दर्शन' शब्द कहा है; वहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ श्रद्धा है। (२) उपयोग के वर्णन में 'दर्शन' शब्द का अर्थ वस्तु का सामान्य ग्रहण मात्र है और (३) इन्द्रिय के वर्णन में 'दर्शन' शब्द का अर्थ नेत्रों के द्वारा देखनामात्र है। इन तीन अर्थों में से यहाँ प्रस्तुत सूत्र में दूसरा अर्थ लागू होता है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ८, पृष्ठ २९६)

दर्शनोपयोग - किसी भी पदार्थ को जानने की योग्यता (लब्धि) होने पर उस पदार्थ की ओर सन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा दूसरे पदार्थों की ओर से हटकर विवक्षित पदार्थ की ओर उत्सुकता प्रगट होती है, सो दर्शन है। वह उत्सुकता चेतना में ही होती है। जब तक विवक्षित पदार्थ को थोड़ा भी नहीं जाना जाता, तब तक के चेतना के व्यापार को 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है। जैसे, एक मनुष्य का उपयोग भोजन करने में लगा हुआ है और उसे एकदम इच्छा हुई कि बाहर मुझे कोई बुलाता तो नहीं है ? मैं यह जान लूँ अथवा किसी की आवाज कान में आने पर उसका उपयोग भोजन से हटकर शब्द की ओर लग जाता है। इसमें चेतना के उपयोग का भोजन से हटना और शब्द की ओर लगना, किन्तु जब तक शब्द की ओर का कोई भी ज्ञान नहीं होता, तब तक का व्यापार 'दर्शनोपयोग' है।

पूर्व विषय से हटना और बाद के विषय की ओर उत्सुक होना, ज्ञान की पर्याय नहीं है; इसलिए उस चेतना पर्याय को 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है

(श्री तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३१०-११, सनातन जैन ग्रन्थमाला -१७)

आत्मा के उपयोग का पदार्थोन्मुख होना दर्शन है।

द्रव्यसंग्रह की ४३वीं गाथा की टीका में 'सामान्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ 'आत्मा' है; सामान्य ग्रहण का मतलब है, आत्मग्रहण और आत्मग्रहण, दर्शन है।

३. साकार और निराकार

ज्ञान को साकार और दर्शन को निराकार कहा जाता है। उसमें से 'आकार' का अर्थ लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई नहीं है, किन्तु जिस प्रकार का पदार्थ होता है, उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञात हो, उसे आकार कहते हैं। अमूर्तित्व आत्मा का गुण होने से ज्ञान स्वयं वास्तव में अमूर्त है। जो स्वयं अमूर्त हो और फिर द्रव्य न हो, मात्र गुण हो, उसका अपना पृथक् आकार नहीं हो सकता। अपने-अपने आश्रयभूत द्रव्य का जो आकार होता है, वही आकार गुणों का होता है। ज्ञानगुण का आधार आत्मद्रव्य है; इसलिए आत्मा का आकार ही ज्ञान का आकार है। आत्मा चाहे जिस आकार के पदार्थ को जाने, तथापि आत्मा का आकार तो (समुद्घात को छोड़कर) शरीराकार रहता है; इसलिए वास्तविकतया ज्ञान, ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप नहीं होता, किन्तु आत्मा के आकाररूप होता है; जैसा ज्ञेय पदार्थ होता है, वैसा ही ज्ञान जान लेता है; इसलिए ज्ञान का आकार कहा जाता है (**तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३०८-३०९**) दर्शन, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को पृथक् नहीं करता; इसलिए उसे निराकार कहा जाता है।

श्री पञ्चाध्यायी भाग २ के श्लोक ३९१ में आकार का अर्थ निम्न प्रकार कहा गया है—

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम्॥

अर्थ - अर्थ विकल्प को आकार कहते हैं; स्व-पर पदार्थ को अर्थ कहा जाता है, उपयोगावस्था को विकल्प कहते हैं और यही ज्ञान का लक्षण है।

भावार्थ - आत्मा अथवा अन्य पदार्थ का उपयोगात्मक भेदविज्ञान होना ही आकार है, पदार्थों के भेदाभेद के लिए होनेवाले निश्चयात्मक बोध को ही आकार कहते हैं, अर्थात् पदार्थों का जानना ही आकार है और वह ज्ञान का स्वरूप है।

अर्थ = स्व और पर विषय; विकल्प = व्यवसाय; अर्थविकल्प = स्व-पर व्यवसायात्मक-ज्ञान। इस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

(पण्डित देवकीनन्दनकृत पञ्चाध्यायी टीका, भाग १, श्लोक ६६६ का फुटनोट)

आकार सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञान अमूर्तिक आत्मा गुण है, उसमें ज्ञेय पदार्थ का आकार नहीं उतरता। मात्र विशेष पदार्थ उसमें भासने लगते हैं - यही उसकी आकृति मानने का मतलब है। सारांश - ज्ञान में

पर पदार्थ की आकृति वास्तव में नहीं मानी जा सकती, किन्तु ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध के कारण ज्ञेय का आकृतिधर्म उपचारनय से ज्ञान में कल्पित किया जाता है; इस उपचार का फलितार्थ इतना ही समझना चाहिए कि पदार्थों का विशेष आकार (स्वरूप) निश्चय करानेवाले जो चैतन्य परिणाम हैं, वे ज्ञान कहलाते हैं, किन्तु साकार का यह अर्थ नहीं है कि उस पदार्थ के विशेष आकार तुल्य ज्ञान स्वयं हो जाता है। *(तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ५४)*

४. दर्शन और ज्ञान के बीच का भेद

अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहा जाता है। सामान्य-विशेषात्मक बाह्य प्रकाश को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करनेवाला दर्शन है।

शङ्का - इस प्रकार दर्शन और ज्ञान का स्वरूप मानने से शास्त्र के इस वचन के साथ विरोध आता है कि 'वस्तु के सामान्य ग्रहण को दर्शन कहते हैं।'

समाधान - समस्त बाह्य पदार्थों के साथ साधारणता होने से उस वचन में जहाँ 'सामान्य' संज्ञा दी गई है, वहाँ सामान्यपद से आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का - यह किस पर से जाना जाय कि सामान्य पद से आत्मा ही समझना चाहिए?

समाधान - यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि 'पदार्थ के आकार, अर्थात् भेद किए बिना' इस शास्त्र-वचन से उसकी पुष्टि हो जाती है। इसी को स्पष्ट कहते हैं—बाह्य पदार्थों को आकाररूप प्रतिकर्म व्यवस्था को न करने पर (अर्थात् भेदरूप से प्रत्येक पदार्थ को ग्रहण किए बिना) जो सामान्य ग्रहण होता है, उसे 'दर्शन' कहते हैं और इस अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि 'यह अमुक पदार्थ है' यह कुछ है, इत्यादिरूप से पदार्थों की विशेषता किए बिना जो ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं।

शङ्का - यदि दर्शन का लक्षण ऊपर कहे अनुसार मानोगे तो 'अनध्यवसाय' को दर्शन मानना पड़ेगा।

समाधान - नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन, बाह्य पदार्थों का निश्चय न करके भी स्वरूप का निश्चय करनेवाला है; इसलिए अनध्यवसायरूप नहीं है। विषय और विषयी के योग्यदेश में होने से पूर्व की अवस्था को दर्शन कहते हैं।

[श्री धवला भाग १, पृष्ठ १४५ से १४८, ३८० से ३८३ तथा वृहद्द्रव्यसंग्रह हिन्दी टीका, गाथा ४४ की टीका]

ऊपर जो दर्शन और ज्ञान के बीच भेद बताया गया है, वह किस अपेक्षा से है ?

आत्मा के ज्ञान और दर्शन दो भिन्न गुण बताकर, उस ज्ञान और दर्शन का भिन्न-भिन्न कार्य क्या है—यह ऊपर बताया है; इसलिए एक गुण से दूसरे गुण के लक्षण-भेद की अपेक्षा से (भेदनय से) वह कथन है, ऐसा समझना चाहिए।

५. अभेदापेक्षा से दर्शन और ज्ञान का अर्थ

दर्शन और ज्ञान दोनों आत्मा के गुण हैं और वे आत्मा से अभिन्न हैं; इसलिए अभेदापेक्षा से आत्मा दर्शन-ज्ञानस्वरूप है, अर्थात् दर्शन आत्मा है और ज्ञान आत्मा है - ऐसा समझना चाहिए। द्रव्य और गुण एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते और द्रव्य का एक गुण उसके दूसरे गुण से अलग नहीं हो सकता। यह अपेक्षा लक्ष्य में रखकर दर्शन स्व-पर दर्शक है और ज्ञान स्व-पर ज्ञायक है। अभेददृष्टि की अपेक्षा से इस प्रकार अर्थ होता है।

[देखें, श्री नियमसार, गाथा १७१ तथा श्री समयसार में दर्शन तथा ज्ञान का निश्चयनय से अर्थ, पृष्ठ ४२० से ४२७]

६. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग, केवली भगवान को युगपत् होता है

केवली भगवान को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है और छद्मस्थ को क्रमशः होता है। केवली भगवान को उपचार से उपयोग कहा जाता है ॥९॥

जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

अर्थ - जीव [**संसारिणः**] संसारी [**च**] और [**मुक्ताः**] मुक्त—ऐसे दो प्रकार के हैं। कर्मसहित जीवों को संसारी और कर्मरहित जीवों को मुक्त कहते हैं।

टीका— १. जीवों की वर्तमान दशा के ये भेद हैं। वे भेद, पर्यायदृष्टि से हैं। द्रव्यदृष्टि से सब जीव एक समान हैं। पर्यायों के भेद दिखानेवाला व्यवहार, परमार्थ को समझाने के लिए कहा जाता है, उसे पकड़ रखने के लिए नहीं। इससे यह समझना चाहिए कि पर्याय में चाहे जैसे भेद हों, तथापि त्रैकालिक ध्रुवस्वरूप में कभी भेद नहीं होता। 'सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जो समझे सो होय।' *(आत्मसिद्धि शास्त्र, गाथा १३५)*

२. संसारी जीव अनन्तानन्त हैं। 'मुक्ताः' शब्द बहुवचनसूचक है, इससे यह समझना चाहिए कि मुक्त जीव अनन्त हैं। 'मुक्ताः' शब्द यह भी सूचित करता है कि पहिले उन जीवों

को संसारी अवस्था थी और फिर उन्होंने यथार्थ समझ करके उस अशुद्ध अवस्था का व्यय करके मुक्तावस्था प्रगट की है।

३. संसार का अर्थ – 'सं' = भलीभाँति, 'सृ+घञ्' = खिसक जाना। अपने शुद्ध स्वरूप से भलीभाँति खिसक जाना (हट जाना), सो संसार है। जीव का संसार स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, मकान इत्यादि नहीं हैं, वे तो जगत् के स्वतन्त्र पदार्थ हैं। जीव उन पदार्थों में अपनेपन की कल्पना करके उन्हें इष्ट अनिष्ट मानता है, इत्यादि अशुद्धभाव को संसार कहते हैं।

४. सूत्र में 'च' शब्द है, च शब्द के समुच्चय और अन्वाचय ऐसे दो अर्थ हैं। उनमें से यहाँ अन्वाचय का अर्थ बताने के लिए च शब्द का प्रयोग किया है (एक को प्रधानरूप से और दूसरे को गौणरूप से बताना 'अन्वाचय' शब्द का अर्थ है) संसारी और मुक्त जीवों में से संसारी जीव प्रधानता से उपयोगवान् है और मुक्त जीव गौणरूप से उपयोगवान् है – यह बताने के लिए इस सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग किया है।

(उपयोग का अनुसंधान सूत्र ८-९ से चला आता है)

५. जीव की संसारी दशा होने का कारण आत्मस्वरूप सम्बन्धी भ्रम है; उस भ्रम को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस भूलरूप मिथ्यादर्शन के कारण से जीव पाँच प्रकार के परिवर्तन किया करते हैं – संसार-चक्र चलता रहता है।

६. जीव अपनी भूल से अनादि काल से मिथ्यादृष्टि है; वह स्वत: अपनी पात्रता का विकास करके सत्समागम से सम्यग्दृष्टि होता है। मिथ्यादृष्टिरूप अवस्था के कारण परिभ्रमण, अर्थात् परिवर्तन होता है, उस परिभ्रमण को संसार कहते हैं। जीव को पर के प्रति एकत्वबुद्धि होने से मिथ्यादृष्टित्व है। जब तक जीव का लक्ष्य परपदार्थ पर है, अर्थात् वह यह मानता है कि पर से मुझे हानि-लाभ होता है, राग करने लायक है, तब तक उसे परवस्तुरूप द्रव्यकर्म और नोकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। उस परिवर्तन के पाँच भेद होते हैं –(१) द्रव्यपरिवर्तन, (२) क्षेत्रपरिवर्तन, (३) कालपरिवर्तन, (४) भावपरिवर्तन और (५) भवपरिवर्तन। परिवर्तन को संसरण अथवा परावर्तन भी कहते हैं।

७. द्रव्यपरिवर्तन का स्वरूप

यहाँ द्रव्य का अर्थ पुद्गलद्रव्य है। जीव का विकारी अवस्था में पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। उसके दो भेद हैं – (१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और (२) कर्मद्रव्यपरिवर्तन।

(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन का स्वरूप – औदारिक, तैजस और कार्मण अथवा वैक्रियक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्गलस्कन्ध एक समय में एक जीव ने ग्रहण किए, वह जीव पुन: उसी प्रकार के स्निग्ध–रूक्ष स्पर्श, वर्ण, रस, गन्ध आदि में तथा तीव्र, मन्द या मध्यमभाववाले स्कन्धों को ग्रहण करता है, तब एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीच में जो अन्य नोकर्म का ग्रहण किया जाता है, उन्हें गणना में नहीं लिया जाता।) उसमें पुद्गलों की संख्या और जाति (Quality) बराबर उसी प्रकार नोकर्मों की होनी चाहिए।

२. कर्मद्रव्यपरिवर्तन का स्वरूप – एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्मस्वभाववाले जो पुद्गल ग्रहण किए थे, वैसे ही कर्मस्वभाववाले पुद्गलों को पुन: ग्रहण करे, तब एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीच में उन भावों में किञ्चित् मात्र अन्य प्रकार के दूसरे जो–जो रजकण ग्रहण किए जाते हैं, उन्हें गणना में नहीं लिया जाता) उन आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों की संख्या और जाति बराबर उसी प्रकार के कर्मपुद्गलों की होनी चाहिए।

स्पष्टीकरण – आज एक समय में शरीर धारण करते हुए नोकर्म और द्रव्यकर्म के पुद्गलों का सम्बन्ध एक अज्ञानी जीव को हुआ, तत्पश्चात् नोकर्म और द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध उस जीव के बदलता रहता है। इस प्रकार परिवर्तन होने पर वह जीव पुन: वैसे ही शरीर धारण करके, वैसे ही नोकर्म और द्रव्यकर्मों को प्राप्त करता है, तब एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा किया कहलाता है। (नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन का काल एक सा ही होता है।)

८. क्षेत्रपरिवर्तन का स्वरूप

जीव की विकारी अवस्था में आकाश के क्षेत्र के साथ होनेवाले सम्बन्ध को क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्मनिगोद में अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीरवाला हुआ और क्षुद्रभाव (श्वास के आठरहवें भाग को स्थिति) को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् उपरोक्त आठ प्रदेशों से लगे हुए एक–एक अधिक प्रदेश की स्पर्श करके समस्त लोक को जब अपने जन्मक्षेत्र के रूप में प्राप्त करता है, तब एक क्षेत्र–परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। (बीच में क्षेत्र का क्रम छोड़कर अन्यत्र जहाँ–जहाँ जन्म लिया, उन क्षेत्रों को गणना में नहीं लिया जाता।)

स्पष्टीकरण – मेरुपर्वत के नीचे से प्रारम्भ करके क्रमश: एक–एक प्रदेश आगे बढ़ते

हुए सम्पूर्ण लोक में जन्मधारण करने में एक जीव को जितना समय लगे, उतने समय में एक क्षेत्रपरिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है।

९. कालपरिवर्तन का स्वरूप

एक जीव ने एक अवसर्पिणी के पहिले समय में जन्म लिया, तत्पश्चात् अन्य अवसर्पिणी के दूसरे समय में जन्म लिया, पश्चात् अन्य अवसर्पिणी के तीसरे समय में जन्म लिया; इस प्रकार एक-एक समय आगे बढ़ते हुए नई अवसर्पिणी के अन्तिम समय में जन्म लिया तथा उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल में उसी भाँति जन्म लिया और तत्पश्चात् ऊपर की भाँति ही अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के प्रत्येक समय में क्रमशः मरण किया। इस प्रकार भ्रमण करते हुए जो काल लगता है, उसे कालपरिवर्तन कहते हैं। (इस कालक्रम से रहित बीच में जिन-जिन समयों में जन्म-मरण किया जाता है, वे समय गणना में नहीं आते।) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का स्वरूप, अध्याय ३ सूत्र २७ में कहा है।

१०. भवपरिवर्तन का स्वरूप

नरक में सर्वजघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। उतनी आयुवाला एक जीव पहिले नरक के पहिले पटल में जन्मा, पश्चात् किसी अन्य समय में उतनी ही आयु प्राप्त करके उसी पटल में जन्मा (बीच में अन्य गतियों में भ्रमण किया, सो वे भव गणना में नहीं लिए जाते) इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी ही बार वह जीव उतनी (दस हजार वर्ष की) ही आयुसहित वहीं जन्मा (बीच में अन्य स्थानों में जो जन्म लिया, सो गणना में नहीं आता) तत्पश्चात् दस हजार वर्ष और एक समय की आयु सहित जन्मा, उसके बाद दस हजार वर्ष और दो समय - यों क्रमशः एक-एक समय की आयु बढ़ते-बढ़ते अन्त में तेतीस सागर की आयुसहित नरक में जन्मा (और मरा), (इस क्रम से रहित जो जन्म होते हैं, वे गणना में नहीं आते) नरक की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर की है, उतनी आयुसहित जन्म ग्रहण करे - इस प्रकार गिनने पर जो काल होता है, उतने काल में एक नारकभवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

और फिर वहाँ से निकलकर तिर्यञ्चगति में अन्तर्मुहूर्त की आयुसहित उत्पन्न होता, अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त की आयु प्राप्त करके, उसे पूर्ण करके उस अन्तर्मुहूर्त के जितने समय हैं, उतनी बार जघन्य आयु धारण करे, फिर क्रमशः एक-एक समय अधिक आयु प्राप्त करके तीन पल्य तक सभी स्थितियों (आयु) में जन्म धारण करके उसे पूर्ण करे, तब एक तिर्यञ्चगति

–भवपरिवर्तन पूर्ण होता है। (इस क्रम से रहित जो जन्म होता है, वह गणना में नहीं लिया जाता) तिर्यञ्चगति में जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की होती है।

मनुष्यगति भवपरिवर्तन के सम्बन्ध में भी तिर्यञ्चगति की भाँति ही समझना चाहिए।

देवगति में नरकगति की भाँति है, किन्तु उसमें इतना अन्तर है कि देवगति में उपरोक्त क्रमानुसार ३१ सागर तक आयु धारण करके उसे पूर्ण करता है। इस प्रकार जब चारों गतियों में परिवर्तन पूर्ण करता है, तब एक भवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

नोट - ३१ सागर से अधिक आयु के धारक नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर—ऐसे १४ विमानों में उत्पन्न होनेवाले देवों के परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं।

भवभ्रमण का कारण मिथ्यादृष्टित्व है

इस सम्बन्ध में कहा है कि—

णिरयादि जहण्णादिसु जावदु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्त संसिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो॥१॥

अर्थ - मिथ्यात्व के संसर्ग सहित नरकादि की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट ग्रैवेयक (नववें ग्रैवेयक) तक के भवों की स्थिति (आयु) को यह जीव अनेक बार प्राप्त कर चुका है।

११. भावपरिवर्तन का स्वरूप

(१) असंख्यात योगस्थान एक अनुभागबन्ध (अध्यवसाय) स्थान को करता है। [कषाय के जिस प्रकार (Degree) से कर्मों के बन्ध में फलदानशक्ति की तीव्रता आती है, उसे अनुभागबन्धस्थान कहा जाता है।]

(२) असंख्यात असंख्यात अनुभागबन्ध अध्यवसायस्थान एक कषायभाव (अध्यवसाय) स्थान को करते हैं। [कषाय का एक प्रकार (Degree) जो कर्मों की स्थिति को निश्चित करता है, उसे कषाय अध्यवसाय स्थान कहते हैं।]

(३) असंख्यात असंख्यात कषाय अध्यवसायस्थान पञ्चेन्द्रिय[१] संज्ञी पर्याप्तक

१- **जघन्यस्थितिबन्ध के कारण जो कषायभावस्थान हैं, उनकी संख्या असंख्यात लोक के प्रदेशों के बराबर है; एक-एक स्थान में अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद है, जो अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि तथा अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि इस प्रकार छह स्थानवाली हानि-वृद्धि सहित होता है।**

मिथ्यादृष्टि जीव के कर्मों को जघन्यस्थितिबन्ध कहते हैं, यह स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ीसागर की होती है, अर्थात् कोड़ाकोड़ीसागर से नीचे और कोड़ी से ऊपर उसकी स्थिति होती है।

(४) एक जघन्यस्थितिबन्ध होने के लिए यह आवश्यक है कि जीव असंख्यात योगस्थानों में से (एक-एक योगस्थान में से) एक अनुभागबन्धस्थान होने के लिए पार हो और तत्पश्चात् एक-एक अनुभागबन्धस्थान में से एक कषायस्थान होने के लिए पार होना चाहिए और एक जघन्यस्थितिबन्ध होने के लिए एक-एक कषायस्थानों में से पार होना चाहिए।

(५) तत्पश्चात् उस जघन्यस्थितिबन्ध में एक-एक समय अधिक करके (छोटे से छोटे जघन्यबन्ध से आगे प्रत्येक अंश से) बढ़ते जाना चाहिए। इस प्रकार आठों कर्म और (मिथ्यादृष्टि के योग्य) सभी उत्तर कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति पूरी हो, तब एक भावपरिवर्तन पूर्ण होता है।

(६) उपरोक्त पैरा ३ में कथित जघन्यस्थितिबन्ध को तथा पैरा २ में कथित सर्वजघन्य कषायभावस्थान को और पैरा १ में कथित अनुभागबन्धस्थान को प्राप्त होनेवाला उसके योग्य सर्वजघन्य योगस्थान होता है। अनुभाग A, कषाय B और स्थिति C, इन तीनों का तो जघन्य ही बन्ध होता है, किन्तु योगस्थान बदलकर जघन्य योगस्थान के बाद तीसरा योगस्थान होता है और अनुभागस्थान A, कषायस्थान B तथा स्थितिस्थान C, जघन्य ही बँधते हैं; पश्चात् चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ, आठवाँ इत्यादि योगस्थान होते-होते क्रमश: असंख्यात प्रमाण तक बदले, फिर भी उन्हें इसी गणना में नहीं लेना चाहिए, अथवा किसी दो जघन्य योगस्थान के बीच में अन्य कषायस्थान A, अन्य अनुभागस्थान B, या अन्य योगस्थान C आ जाय तो उसे भी गणना में नहीं लेना चाहिए।[१]

भावपरिवर्तन का कारण मिथ्यात्व है

इस सम्बन्ध में कहा है कि—

सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेस बंधठाणादि।
मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भाव संसारे॥१॥

१- योगस्थानों में भी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं; उनमें असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि और असंख्यातगुण वृद्धि - इस प्रकार चार स्थानरूप ही होते हैं।

अर्थ - समस्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध के स्थानरूप **मिथ्यात्व के संसर्ग से** जीव निश्चय से (वास्तव में) भावसंसार में भ्रमण करता है।

१२- संसार के भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान, अर्थात् निश्चय संसार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव परिभ्रमण निमित्तमात्र है, अर्थात् व्यवहार संसार है, क्योंकि वह परवस्तु है; निश्चय का अर्थ है वास्तविक और व्यवहार का अर्थ है कथनरूप निमित्तमात्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रगट होने पर भावसंसार दूर हो जाता है और तत्पश्चात् अन्य चार अघाति कर्मरूप निमित्तों का स्वयं अभाव हो जाता है।

१३- मोक्ष का उपदेश संसारी के लिए होता है। यदि संसार न हो तो मोक्ष, मोक्षमार्ग या उसका उपदेश ही नहीं होता, इसलिए इस सूत्र में पहिले संसारी जीव और फिर मुक्त जीव का क्रम लिया गया है।

१४- असंख्यात और अनन्त संख्या को समझने के लिए गणित शास्त्र उपयोगी है। उनमें १०/३ अर्थात् दस में तीन का भाग देने पर = ३. ३ ३ ३... इस प्रकार तीन के अङ्क चलते ही हैं, किन्तु उसका अन्त नहीं आता। यह 'अनन्त' का दृष्टान्त है और असंख्यात की संख्या समझने के लिए एक गोलाकार की परिधि और व्यास का प्रमाण २२/७ होता है [व्यास करने पर परिधि २२/७ गुणी होती है] उसका हिसाब शतांश (Decimal) में करने पर जो संख्या आती है, वह असंख्यात है। गणित शास्त्र में इस संस्था को 'Irrational' कहते हैं।

१५- व्यवहारराशि के जीवों को यह पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। प्रत्येक जीव ने ऐसे अनन्त परिवर्तन किए हैं और जो जीव, मिथ्यादृष्टित्व बनाये रखेंगे, उनके अभी भी वे परिवर्तन चलते रहेंगे। नित्य-निगोद के जीव, अनादि निगोद में से निकले ही नहीं हैं, उनमें इन पाँच परिवर्तनों की शक्ति विद्यमान है; इसलिए उनके भी उपचार से यह पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। व्यवहारराशि के जो जीव अभी तक सभी गतियों में नहीं गए, उन्हें भी उपरोक्त प्रकार से उपचार से यह परिवर्तन लागू होते हैं। नित्यनिगोद को अव्यवहार राशि के (निश्चय राशि के) जीव भी कहते हैं।

१६. मनुष्यभव सफल करने के लिए विशेष लक्ष्य में लेने योग्य विषय—

१. अनादि काल से लेकर पहिले तो इस जीव को नित्य-निगोदरूप शरीर का सम्बन्ध होता था, उस शरीर की आयु पूर्ण होने पर जीव मरकर पुनः पुनः नित्यनिगोद शरीर

को ही धारण करता है। इस प्रकार अनन्तानन्त जीवराशि अनादि काल से निगोद में ही जन्म-मरण करती है।

२. निगोद में से छह महीना और आठ समय में ६०८ जीव निकलते हैं। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायों में अथवा दो से चार इन्द्रियरूप शरीरों में या चार गतिरूप पञ्चेन्द्रिय शरीरों में भ्रमण करते हैं और फिर पुनः निगोद शरीर को प्राप्त करते हैं (यह इतर निगोद है।)

३. जीव को त्रस में एक ही साथ रहने का उत्कृष्ट काल मात्र दो हजार सागर है। जीव को अधिकांश एकेन्द्रिय पर्याय और उसमें भी अधिक समय निगोद में ही रहना होता है, वहाँ से निकलकर त्रस शरीर को प्राप्त करना 'काकतालीयन्यायवत्' होता है। त्रस में भी मनुष्यभव पाना तो क्वचित् ही होता है।

४. इस प्रकार जीव की मुख्य दो स्थितियाँ हैं - निगोद और सिद्ध। बीच का त्रसपर्याय का काल तो बहुत ही थोड़ा और उसमें भी मनुष्यत्व का काल तो अत्यन्त स्वल्पाति-स्वल्प है।

५. (अ) संसार में जीव को मनुष्यभव में रहने का काल सबसे थोड़ा है। (ब) नारकी के भवों में रहने का काल उससे असंख्यातगुणा है। (क) देव के भवों में रहने का काल उससे (नारकी से) असंख्यातगुण है और (ख) तिर्यञ्चभवों में (मुख्यतया निगोद में) रहने का काल उससे (देव से) अनन्तगुणा है।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अनादि काल से मिथ्यात्वदशा में शुभ तथा अशुभभाव करता रहता है, उसमें भी जीव ने नरक के योग्य तीव्र अशुभभाव की अपेक्षा देव के योग्य शुभभाव असंख्यातगुणे किए हैं। शुभभाव करके यह जीव अनन्त बार स्वर्ग में देव होकर नववें ग्रैवेयक तक जा चुका है, यह सब पहिले पैरा १० में कहा जा चुका है।

६. नववें ग्रैवेयक के योग्य शुभभाव करनेवाला जीव, गृहीतमिथ्यात्व छोड़ देता है, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को निमित्तरूप से स्वीकार करता है, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समिति आदि के उत्कृष्ट शुभभाव अतिचाररहित पालन करता है। इतना करने पर ही जीव को नववें ग्रैवेयक में जाने के योग्य शुभभाव होते हैं। आत्मप्रतीति के बिना **मिथ्यादृष्टि के योग्य उत्कृष्ट शुभभाव** जीव ने अनन्त बार किए हैं, फिर भी मिथ्यात्व नहीं गया। इसलिए

शुभभाव / पुण्य करते-करते धर्म / सम्यग्दर्शन हो या मिथ्यात्व दूर हो जाए, यह अशक्य है। इसलिए -

७. **इस मनुष्यभव में ही जीवों को आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए।** 'Strike the iron while it is hot' जब तक लोहा गर्म है, तब तक उसे पीट लो-गढ़ लो, इस कहावत के अनुसार इसी मनुष्यभव में जल्दी आत्मस्वरूप को समझ लो, अन्यथा थोड़े ही समय में त्रसकाल पूरा हो जायेगा और एकेन्द्रिय-निगोदपर्याय प्राप्त होगी और उसमें अनन्त काल तक रहना होगा ॥१०॥

संसारी जीवों के भेद-

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

अर्थ - संसारी जीव [**समनस्काः**] मनसहित - सैनी [**अमनस्काः**] मनरहित असैनी - यों दो प्रकार के हैं।

टीका—१- एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव नियम से असैनी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रियों में तिर्यञ्च, सैनी और असैनी दो प्रकार के होते हैं; शेष मनुष्य, देव और नारकी जीव नियम से सैनी ही होते हैं।

२- मनवाले सैनी जीव, सत्य-असत्य का विवेक कर सकते हैं।

३- मन दो प्रकार के होते हैं - द्रव्यमन और भावमन। पुद्गलद्रव्य के मनोवर्गणा नामक स्कन्धों से बना हुआ आठ पाँखुड़ीवाले फूले कमल के आकाररूप मन हृदयस्थान में है, वह द्रव्यमन है। वह सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध होने से इन्द्रियग्राही ही नहीं है। आत्मा की विशेष प्रकार की विशुद्धि भावमन है; उससे जीव शिक्षा ग्रहण करने, क्रिया (कृत्य) को समझने, उपदेश तथा आलाप (Recitation) के योग्य होता है; उसके नाम से बुलाने पर वह निकट आता है।

४- जो हित में प्रवृत्त होने की अथवा अहित से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है, वह सैनी है और जो हित-अहित की शिक्षा, क्रिया, उपदेश इत्यादि को ग्रहण नहीं करता, वह असैनी है।

५- सैनी जीवों के भावमन के योग्य निमित्तरूप वीर्यान्तराय तथा मन-नोइन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम स्वयं होता है।

६- द्रव्यमन-जड़ पुद्गल है, वह पुद्गलविपाकीकर्म-उदय के फलरूप है। जीवों के विचारादि क्रिया में भावमन उपादान है और द्रव्यमन निमित्तमात्र है। भावमनवाले प्राणी, मोक्ष के उपदेश के लिए योग्य हैं। तीर्थङ्कर भगवान या सम्यग्ज्ञानियों से उपदेश सुनकर सैनी मनुष्य, सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, सैनी तिर्यञ्च भी तीर्थङ्कर भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, देव भी तीर्थङ्कर भगवान का तथा सम्यग्ज्ञानियों का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं; नरक के किसी जीव के पूर्वभव के मित्रादि सम्यग्ज्ञानी देव होते हैं, वे तीसरे नरक तक जाते हैं और उनके उपदेश से तीसरे नरक तक के जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

चौथे से सातवें नरक तक के जीव पहिले के सत्समागम के संस्कारों को याद करके सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। पहिले सत्समागम के संस्कार प्राप्त मनुष्य, सैनी तिर्यञ्च और देव भी निसर्गज सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकते हैं॥११॥

संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अर्थ - [**संसारिणः**] संसारी जीव [**त्रस**] त्रस और [**स्थावराः**] स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

टीका— १- जीवों के यह भेद भी अवस्थादृष्टि से किए गए हैं।

२- जीवविपाकी त्रसनामकर्म के उदय से जीव, त्रस कहलाता है और जीवविपाकी स्थावरनामकर्म के उदय से जीव, स्थावर कहलाता है। त्रसजीवों के दो से लेकर पाँच इन्द्रियाँ तक होती हैं और स्थावरजीवों के मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। (यह परिभाषा ठीक नहीं है कि जो स्थिर रहता है, सो स्थावर है और जो चलता-फिरता है, सो त्रस है।)

३- दो इन्द्रिय से अयोग केवली गुणस्थान तक के जीव त्रस हैं; मुक्तजीव, त्रस या स्थावर नहीं हैं, क्योंकि यह भेद संसारी जीवों के हैं।

४- **प्रश्न** - यह अर्थ क्यों नहीं करते कि जो डरे - भयभीत हो अथवा हलन-चलन करे, सो त्रस हैं और जो स्थिर रहे, सो स्थावर है ?

उत्तर - यदि हलन-चलन की अपेक्षा से त्रसत्व और स्थिरता की अपेक्षा से स्थावरत्व

हो तो (१) गर्भ में रहनेवाले, अण्डे में रहनेवाले, मूर्छित और सोए हुए जीव, हलन-चलनरहित होने से त्रस नहीं कहलायेंगे, और (२) वायु, अग्नि तथा जल एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए दिखायी देते हैं तथा भूकम्प इत्यादि के समय पृथ्वी काँपती है और वृक्ष भी हिलते हैं, वृक्ष के पत्ते हिलते हैं; इसलिए उनके स्थावरत्व नहीं रहेगा और ऐसा होने से कोई भी जीव, स्थावर नहीं माना जायेगा और कोई भी जीव, स्थावर नहीं रहेगा॥१२॥

स्थावर जीवों के भेद

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अर्थ - **[पृथिवी अप् तेजः वायुः वनस्पतयः]** पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पाँच प्रकार के **[स्थावराः]** स्थावर जीव हैं। (इन जीवों के मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।)

टीका—१- आत्मा ज्ञानस्वभाव है, किन्तु जब उसे अपनी वर्तमान योग्यता के कारण एक स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा ज्ञान कर सकने योग्य विकास होता है, तब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूप में परिणमित रजकणो (पुद्गलस्कन्धों) के द्वारा बने हुए जड़ शरीर का संयोग होता है।

२- पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों के शरीर का नाप (अवगाहना) अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, इसलिए वह दिखायी नहीं देता, हम उसके समूह (Mass) को देख सकते हैं। पानी की प्रत्येक बूँद में बहुत से जलकायिक जीवों का समूह है; सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा पानी में जो सूक्ष्म जीव देखे जाते हैं, वे जलकायिक नहीं किन्तु त्रसजीव हैं।

३- इन पृथ्वी आदिकों के चार-चार भेद कहे गए हैं—

(१) जहाँ अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणाम से रचित अपने कठिनता गुणसहित, जड़पना से पृथ्वीकायनामा नामकर्म के उदय न होने पर भी प्रथम-(फैलाव) आदि से युक्त है, वह पृथिवी है या पृथ्वी सामान्य है।

(२) जिस काय में से पृथ्वीकायिक जीव मरकर निकल गया है, सो पृथ्वीकाय है।

(३) जिनने पृथ्वी का शरीर धारण किया है, वे पृथ्वीकायिक जीव हैं।

(४) पृथ्वी के शरीर को धारण करने से पूर्व विग्रहगति में जो जीव है, उसे पृथ्वीजीव

कहते हैं। इस प्रकार जलकायिक इत्यादि अन्य चार स्थावर जीवों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

४- स्थावर जीव उसी भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य नहीं होते, क्योंकि संज्ञी पर्याप्तक जीव, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य होते हैं।

५- पृथ्वीकायिक का शरीर मसूर के दाने के आकार का लम्बगोल, जलकायिक का शरीर पानी की बूँद के आकार का गोल, अग्निकायिक का शरीर सूइयों के समूह के आकार का और वायुकायिक का शरीर ध्वजा के आकार का लम्बा-तिरछा होता है। वनस्पतिकायिक और त्रसजीवों के शरीर अनेक भिन्न-भिन्न आकार के होते हैं।

(श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २०१)

त्रस जीवों के भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

अर्थ - [**द्वि इन्द्रिय आदयः**] दो इन्द्रिय से लेकर, अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीव [**त्रसाः**] त्रस कहलाते हैं।

टीका— १- एकेन्द्रिय जीव, स्थावर हैं और उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण होते हैं।

२- दो इन्द्रिय जीव के स्पर्शन और रसना, यह दो इन्द्रियाँ होती हैं। उनके रसना और वचनबल बढ़ने से कुल छह प्राण होते हैं।

३- तीन इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण, यह तीन इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके घ्राण इन्द्रिय अधिक होने से कुल सात प्राण होते हैं।

४- चार इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। उनके चक्षु इन्द्रिय अधिक होने से कुल आठ प्राण होते हैं।

५- पञ्चेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, यह पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। उनके कर्ण इन्द्रिय अधिक होने से कुल ९ प्राण असैनियों के होते हैं। इन पाँच इन्द्रियों का ऊपर जो क्रम बताया है, उससे उल्टी-सुल्टी इन्द्रियाँ किसी जीव के नहीं होती हैं। जैसे केवल स्पर्शन और चक्षु-यह दो इन्द्रियाँ जीव के नहीं हो सकतीं, किन्तु यदि दो होंगी तो वे स्पर्शन और रसना ही होंगी। सैनी जीवों के मनबल होता है, इसलिए उनके दस प्राण होते हैं ॥१४॥

इन्द्रियों की संख्या

पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥

अर्थ - [**इन्द्रियाणि**] इन्द्रियाँ [**पंच**] पाँच हैं।

टीका—१- इन्द्रियाँ पाँच हैं, अधिक नहीं हैं। 'इन्द्र' अर्थात् आत्मा की, अर्थात् संसारी जीव की पहिचान करानेवाला जो चिह्न है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्येन्द्रिय अपने-अपने विषय का ज्ञान उत्पन्न होने में निमित्तकारण है। कोई एक इन्द्रिय, किसी दूसरी इन्द्रिय के आधीन नहीं है। भिन्न-भिन्न एक-एक इन्द्रिय, पर की अपेक्षा से रहित है, अर्थात् अहमिन्द्र की भाँति प्रत्येक अपने-अपने आधीन है—ऐसा ऐश्वर्य धारण करती है।

प्रश्न - वचन, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग को भी इन्द्रिय क्यों नहीं कहा?

उत्तर - यहाँ उपयोग का प्रकरण है। उपयोग में स्पर्शादि इन्द्रियाँ निमित्त हैं; इसलिए उन्हें इन्द्रिय मानना ठीक है। वचन इत्यादि उपयोग में निमित्त नहीं है, वे मात्र 'जड़' क्रिया के साधन हैं और यदि क्रिया के कारण होने से उन्हें इन्द्रिय कहा जाए तो मस्तक इत्यादि सभी अङ्गोपाङ्ग (क्रिया के साधन) हैं, उन्हें भी इन्द्रिय कहना चाहिए। इसलिए यह मानना ठीक है कि जो उपयोग में निमित्तकारण है, वह इन्द्रिय का लक्षण है।

२- जड़ इन्द्रियाँ इन्द्रियज्ञान में निमित्तमात्र है, किन्तु ज्ञान उन इन्द्रियों से नहीं होता; ज्ञान तो आत्मा स्वयं स्वतः करता है। क्षायोपशमिकज्ञान का स्वरूप ऐसा है कि वह ज्ञान उस समय जिस प्रकार का उपयोग करने के योग्य होता है, तब उसके योग्य इन्द्रियादि निमित्त स्वयं स्वतः उपस्थित होते हैं; निमित्त की राह नहीं देखनी पड़ती—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। 'इन्द्रियाँ हैं, इसलिए ज्ञान हुआ है'—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु ज्ञानी यह मानता है कि ज्ञान स्वतः हुआ है और जड़ इन्द्रियाँ उस समय संयोगरूप (उपस्थित) स्वयं होती ही हैं। *(अध्याय १, सूत्र १४ की टीका)*

इन्द्रियों के मूल भेद

द्विविधानि ॥१६॥

अर्थ - सब इन्द्रियाँ [**द्विविधानि**] द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की है।

नोट - द्रव्येन्द्रिय सम्बन्धी सूत्र १७ वाँ और भावेन्द्रिय सम्बन्धी १८वाँ है॥१६॥

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ - [**निर्वृति उपकरणे**] निर्वृति और उपकरण को [**द्रव्येन्द्रियम्**] द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

टीका—निर्वृति - पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से प्रतिनियत स्थान में होनेवाली इन्द्रियरूप पुद्गल की रचना-विशेष को बाह्य निर्वृति कहते हैं और उत्सेधांगुल के असंख्यातवें-भागप्रमाण आत्मा के विशुद्ध प्रदेशों का चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार जो परिणमन होता है, उसे अभ्यन्तर निर्वृति कहते हैं। इस प्रकार निवृति के दो भेद हैं। *(अध्याय २, सूत्र ४४ की टीका)*

जो आत्मप्रदेश नेत्रादि इन्द्रियाकार होते हैं, वह अभ्यन्तर निवृति हैं और उसी आत्मप्रदेश के साथ नेत्रादि आकाररूप जो पुद्गल समूह रहते हैं, वह बाह्य निवृति है, कर्णेन्द्रिय के आत्मप्रदेश जो कि नली के समान और नेत्रेन्द्रिय के आत्मप्रदेश मसूर के आकार के होते हैं और पुद्गल इन्द्रियाँ भी उसी आकार की होती हैं।

२- **उपकरण** - निर्वृति का उपकार करनेवाला पुद्गल समूह उपकरण है। उसके बाह्य और अभ्यन्तर दो भेद हैं। जैसे नेत्र में सफेद और काला मण्डल अभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा गट्टा इत्यादि बाह्य उपकरण हैं। उपकरण का अर्थ निमित्तमात्र समझना चाहिए, किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि वह लाभ करता है। *[अर्थप्रकाशिका, पृष्ठ २०२-२०३]* यह दोनों उपकरण जड़ हैं ॥१७॥

भावेन्द्रिय का स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अर्थ - [**लब्धि उपयोगौ**] लब्धि और उपयोग को [**भावेन्द्रियम्**] भावेन्द्रिय कहते हैं।

टीका—१- लब्धि - लब्धि का अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्मा के चैतन्यगुण का क्षयोपशमहेतुक विकास, लब्धि है। *(सूत्र ४५ की टीका)*

उपयोग - चैतन्य के व्यापार को उपयोग कहते हैं। आत्मा के चैतन्यगुण का जो क्षयोपशमहेतुक विकास है, उसके व्यापार को उपयोग कहते हैं।

२- आत्मा, ज्ञेय पदार्थ के सम्मुख होकर अपने चैतन्य व्यापार को उस ओर जोड़े, सो

उपयोग है। उपयोग, चैतन्य का परिणमन है। वह किसी अन्य ज्ञेय पदार्थ की ओर लग रहा हो तो आत्मा की सुनने की शक्ति होने पर भी सुनता नहीं है। लब्धि और उपयोग दोनों के मिलने से ज्ञान की सिद्धि होती है।

३- **प्रश्न** - उपयोग तो लब्धिरूप भावेन्द्रिय का फल (कार्य) है, तब फिर उसे भावेन्द्रिय क्यों कहा है?

उत्तर - कार्य में कारण का उपचार करके उपयोग को (उपचार से) भावेन्द्रिय कहा जाता है। घटाकार परिणमित ज्ञान को घट कहा जाता है, इस न्याय से लोक में कार्य को भी कारण माना जाता है। आत्मा का लिङ्ग इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) है, आत्मा वह स्व अर्थ है, उसमें उपयोग मुख्य है और वह जीव का लक्षण है, इसलिए उपयोग को भावेन्द्रियत्व कहा जा सकता है।

४- उपयोग और लब्धि दोनों को भावेन्द्रिय इसलिए कहते हैं कि वे द्रव्यपर्याय नहीं, किन्तु गुणपर्याय हैं, क्षयोपशमहेतुक लब्धि भी एक पर्याय या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है, क्योंकि वह आत्मा का परिणाम है। वह उपयोग, दर्शन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।

५- धर्म, स्वभाव, भाव, गुणपर्याय और गुण शब्द एकार्थ वाचक है।

६- प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने योग्य ज्ञान की क्षयोपशमलब्धि तो सभी सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवों के होती है, किन्तु जो जीव, पराश्रय की रुचि छोड़कर, पर की ओर से झुकाव हटाकर, निज (आत्मा) की ओर उपयोग को लगाते हैं, उन्हें आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है और जो जीव, पर की ओर ही उपयोग लगाए रहते हैं, उन्हें मिथ्याज्ञान होता है और इससे दु:ख ही होता है, कल्याण नहीं होता।

इस सूत्र का सिद्धान्त

जीव को छद्मस्थदशा में ज्ञान का विकास, अर्थात् क्षयोपशमहेतुक लब्धि बहुत कुछ हो, तथापि वह सब विकास का उपयोग एक साथ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग रागमिश्रित है; इसलिए राग में अटक जाता है, इसलिए ज्ञान का लब्धिरूप विकास बहुत कुछ हो फिर भी, व्यापार (उपयोग) अल्प ही होता है। ज्ञानगुण तो प्रत्येक जीव के परिपूर्ण है, विकारीदशा में उसकी (ज्ञानगुण की) पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती; इतना ही नहीं किन्तु

पर्याय में जितना विकास होता है, उतना ही व्यापार एक साथ नहीं कर सकता। जब तक आत्मा का लक्ष्य पर की ओर होता है, तब तक उसकी ऐसी दशा होती है; इसलिए जीव को स्व और पर का यथार्थ भेदविज्ञान करना चाहिए। भेदविज्ञान होने पर वह अपने पुरुषार्थ को अपनी ओर लगाया ही करता है और उससे क्रमशः राग को दूर करके बारहवें गुणस्थान में सर्वथा राग दूर हो जाने पर, वीतरागता प्रगट हो जाती है। तत्पश्चात् थोड़े ही समय में पुरुषार्थ बढ़ने पर ज्ञानगुण जितना परिपूर्ण है, उतनी परिपूर्ण उसकी पर्याय प्रगट होती है। ज्ञानपर्याय पूर्ण प्रगट (विकसित) हो जाने पर, ज्ञान के व्यापार को एक ओर से दूसरी ओर ले जाने की आवश्यकता नहीं रहती; इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को यथार्थ भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जिसका फल केवलज्ञान है।

पाँच इन्द्रियों के नाम और उनका क्रम

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राणि ॥१९॥

अर्थ - [**स्पर्शन**] स्पर्शन [**रसन**] रसना [**घ्राण**] नाक [**चक्षुः**] चक्षु और [**श्रोत्र**] कान - यह पाँच इन्द्रियाँ हैं।

टीका— (१) यह इन्द्रियाँ, भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय - ऐसे दोनों प्रकार की समझना चाहिए। एकेन्द्रिय जीव के पहिली (स्पर्शन) इन्द्रिय, दो इन्द्रिय जीव के पहिली दो क्रमशः होती हैं। इस अध्याय के चौदहवें सूत्र की टीका में इस सम्बन्ध में सविवरण कहा गया है।

(२) इन पाँच भावेन्द्रियों में भावश्रोत्रेन्द्रिय को अति लाभदायक माना गया है, क्योंकि उस भावेन्द्रिय के बल से जीव, सम्यग्ज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनकर और तत्पश्चात् विचार करके, यथार्थ निर्णय करके हित की प्राप्ति और अहित का त्याग कर सकता है। जड़ इन्द्रिय तो सुनने में निमित्तमात्र है।

(३) (अ) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का आकार जौकी बीज की नाली के समान (ब) नेत्र का आकार मसूर जैसा, (क) नाक का आकार तिल के फूल जैसा, (ड) रसना का आकार अर्धचन्द्रमा जैसा और (इ) स्पर्शनेन्द्रिय का आकार शरीराकार होता है - स्पर्शनेन्द्रिय सारे शरीर में होती है।

इन्द्रियों के विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

अर्थ - [**स्पर्शरसगंधवर्णशब्दाः**] स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, (रङ्ग) शब्द यह पाँच क्रमशः [**तत् अर्थाः**] उपरोक्त पाँच इन्द्रियों के विषय हैं, अर्थात् उपरोक्त पाँच इन्द्रियाँ, उन-उन विषयों को जानती हैं।

टीका—१- जानने का काम भावेन्द्रिय का है; पुद्गल इन्द्रिय निमित्त है। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय क्या है—वह यहाँ कहा गया है। यह विषय जड़-पुद्गल हैं।

२- **प्रश्न** - यह जीवाधिकार है, फिर भी पुद्गलद्रव्य की बात क्यों ली गयी हैं?

उत्तर - जीव को भावेन्द्रिय से होनेवाले उपयोगरूप ज्ञान में ज्ञेय क्या है—यह जानने के लिए कहा है। ज्ञेय निमित्तमात्र है, ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता, किन्तु उपयोगरूप भावेन्द्रिय से ज्ञान होता है, अर्थात् ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय, यह बताने के लिए यह सूत्र कहा है।

३- **स्पर्श** - आठ प्रकार का है - शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, हलका और भारी।

रस - पाँच प्रकार का है - खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला, चरपरा।

गन्ध - दो प्रकार की हैं - सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण - पाँच प्रकार का है - काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

शब्द - सात प्रकार का है - षढज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद।

इस प्रकार कुल २७ भेद हैं; उनके संयोग से असंख्यात भेद हो जाते हैं।

४- सैनी जीवों के इन्द्रिय द्वारा होनेवाले चैतन्य-व्यापार में मन निमित्तरूप होता है।

५- स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द विषयक ज्ञान, उस-उस विषय को जाननेवाले इन्द्रिय के साथ उस विषय का संयोग होने से ही होता है। आत्मा, चक्षु के द्वारा जिस रूप को देखता है, उसके योग्य क्षेत्र में दूर रहकर उसे देख सकता है।

मन का विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अर्थ - [**अनिन्द्रियस्य**] मन का विषय [**श्रुतम्**] श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ हैं अथवा मन का प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

टीका—१- द्रव्यमन आट पांखुड़ीवाले खिले हुए कमल के आकार है।

[देखो, अध्याय २, सूत्र ११ की टीका]

श्रवण किए गये पदार्थ का विचार करने में मन द्वारा जीव की प्रवृत्ति होती है। कर्णेन्द्रिय से श्रवण किए गये शब्द का ज्ञान, मतिज्ञान है; उस मतिज्ञानपूर्वक किए गये विचार को श्रुतज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुष का उपदेश श्रवण करने में कर्णेन्द्रिय निमित्त है और उसका विचार करके यथार्थ निर्णय करने में मन निमित्त है। हित की प्राप्ति और अहित का त्याग, मन के द्वारा होता है। *(अध्याय २, सूत्र ११ तथा १९ की टीका)* पहिले रागसहित मन के द्वारा आत्मा का व्यवहार सच्चा ज्ञान किया जा सकता है और फिर (राग का अंशत: अभाव करने पर) मन के अवलम्बन के बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है; इसलिए सैनी जीव ही धर्म प्राप्त करने के योग्य है। *(अध्याय २ सूत्र २४ की टीका)*

२- मनरहित (असैनी) जीवों के भी एक प्रकार का श्रुतज्ञान होता है।

(अध्याय १ सूत्र ११ तथा ३० की टीका)

उन्हें आत्मज्ञान नहीं होता, इसलिए उनके ज्ञान को 'कुश्रुत' कहा जाता है।

३- श्रुतज्ञान जिस विषय को जानता है, उसमें मन निमित्त हैं, किसी इन्द्रिय के आधीन मन नहीं है, अर्थात् श्रुतज्ञान में किसी भी इन्द्रिय का निमित्त नहीं है।

इन्द्रियों के स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अर्थ - **[वनस्पति अन्तानां]** वनस्पतिकाय जिसके अन्त में है, ऐसे जीवों के, अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के **[एकम्]** एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

टीका—इस सूत्र में कथित जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ही ज्ञान करते हैं। इस सूत्र में इन्द्रियों के 'स्वामी' ऐसा शीर्षक दिया है, उसमें इन्द्रिय के दो प्रकार हैं - जड़ इन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जड़ इन्द्रिय के साथ जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए व्यवहार से जीव को स्वामी कहा है, वास्तव में तो कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का स्वामी है ही नहीं और भावेन्द्रिय उस आत्मा की उस समय की पर्याय है, अर्थात् अशुद्धनय से उसका स्वामी आत्मा है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

अर्थ - [**कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनाम्**] कृमि इत्यादि, चींटी इत्यादि, भ्रमर, इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि के [**एकैक वृद्धानि**] क्रम से एक-एक इन्द्रिय बढ़ती (अधिक-अधिक) है, अर्थात् कृमि इत्यादि के दो; चींटी इत्यादि के तीन; भौंरा इत्यादि के चार; और मनुष्य इत्यादि के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

टीका—प्रश्न - यदि कोई मनुष्य जन्म से ही अन्धा और बहरा हो तो उसे तीन इन्द्रिय जीव कहना चाहिए या पञ्चेन्द्रिय ?

उत्तर - वह पञ्चेन्द्रिय जीव ही है, क्योंकि उसके पाँचों इन्द्रियाँ हैं, किन्तु उपयोगरूप शक्ति न होने से वह देख और सुन नहीं सकता।

नोट - इस प्रकार संसारी जीवों के इन्द्रिय द्वार का वर्णन हुआ, अब उनके मन द्वार का वर्णन २४ वें सूत्र में किया जाता है।

सैनी किसे कहते हैं ?

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

अर्थ - [**समनस्काः**] मनसहित जीवों को [**संज्ञिनः**] सैनी कहते हैं।

टीका—सैनी जीव पञ्चेन्द्रिय ही होते हैं *(अध्याय २, सूत्र ११ तथा २१ की टीका)* जीव की हिताहित की प्रवृत्ति, मन के द्वारा होती है। पञ्चेन्द्रिय जीवों में सैनी और असैनी ऐसे दो भेद होते हैं। सैनी, अर्थात् संज्ञी = संज्ञावाला प्राणी समझना चाहिए। 'संज्ञा' के अनेक अर्थ हैं, उनमें से यहाँ 'मन' अर्थ लेना चाहिए।

मन के द्वारा हिताहित की प्रवृत्ति होती है, किन्तु शरीर के छूट जाने पर विग्रहगति में [नये शरीर की प्राप्ति के लिए गमन करते हुए जीव को] मन नहीं है, फिर भी उसे कर्म का आस्त्रव होता है, इसका क्या कारण है ?

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

अर्थ - [**विग्रहगतौः**] विग्रहगति में, अर्थात् नये शरीर के लिए गमन में [**कर्मयोगः**] कार्मण काययोग होता है।

टीका—(१) विग्रहगति - एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिए गमन करना, विग्रहगति है। यहाँ विग्रह का अर्थ शरीर है।

कर्मयोग - कर्मों के समूह को कार्मणशरीर कहते हैं; आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं; इस परिस्पन्दन के समय कार्मणशरीर निमित्तरूप है; इसलिए उसे कर्मयोग अथवा कार्मणकाययोग कहते हैं और इसलिए विग्रहगति में भी नए कर्मों का आस्रव होता है। *(सूत्र ४४ की टीका)*

२- मरण होने पर नवीन शरीर को ग्रहण करने के लिए जीव जब गमन करता है, तब मार्ग में एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। उस समय में कार्मणयोग के कारण पुद्गलकर्म का तथा तैजसवर्गणा का ग्रहण होता है, किन्तु नोकर्म-पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता।

विग्रहगति में जीव और पुद्गलों का गमन कैसे होता है ?

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

अर्थ- [**गति**] जीव-पुद्गलों का गमन [**अनुश्रेणि**] श्रेणि के अनुसार ही होता है।

टीका—१- श्रेणि - लोक के मध्यभाग के ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में क्रमशः हारबद्ध रचनावाले प्रदेशों की पंक्ति (Line) को श्रेणि कहते हैं।

२- विग्रहगति में आकाश-प्रदेशों की सीधी पंक्ति पर ही गमन होता है। विदिशा में गमन नहीं होता। जब पुद्गल का शुद्ध परमाणु अति शीघ्र गमन करके एक समय में १४ राजू गमन करता है, तब वह श्रेणिबद्ध सीधा ही गमन करता है।

३- उपरोक्त श्रेणि की छह दिशाएँ होती हैं (१) पूर्व से पश्चिम, (२) उत्तर से दक्षिण, (३) ऊपर से नीचे तथा अन्य तीन उससे उलटेरूप में अर्थात् (४) पश्चिम से पूर्व, (५) दक्षिण से उत्तर और (६) नीचे से ऊपर।

४- **प्रश्न** - यह जीवाधिकार है, तब फिर इसमें पुद्गल का विषय क्यों लिया गया है ?

उत्तर - जीव और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए; तथा यह बताने के लिए कि जीव और पुद्गल दोनों अपनी स्वतन्त्र योग्यता से गमन करते हैं - पुद्गल का भी विषय लिया है।

मुक्त जीवों की गति कैसी होती है ?

अविग्रहा जीवस्य

अर्थ - [**जीवस्य**] मुक्त जीव की गति [**अविग्रहा**] वक्रतारहित सीधी होती है।

टीका—सूत्र में 'जीवस्य' शब्द कहा गया है, किन्तु पिछले सूत्र में संसारी जीव का विषय था; इसलिए यहाँ 'जीवस्य' का अर्थ 'मुक्त जीव' होता है।

इस अध्याय के पच्चीसवें सूत्र में विग्रह का अर्थ 'शरीर' किया था और यहाँ उसका अर्थ 'वक्रता' किया गया है; विग्रह शब्द के यह दोनों अर्थ होते हैं। पच्चीसवें सूत्र में श्रेणि का विषय नहीं था, इसलिए वहाँ 'वक्रता' अर्थ लागू नहीं होता, किन्तु इस सूत्र में श्रेणि का विषय होने से 'अविग्रहा' का अर्थ वक्रतारहित (मोड़रहित) होता है - ऐसा समझना चाहिए। मुक्त जीव, श्रेणिबद्ध गति से एक समय में सीधे सात राजू ऊपर गमन करके सिद्धक्षेत्र में जाकर स्थिर होते हैं।

संसारी जीवों की गति और उसका समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥२८॥

अर्थ - [**संसारिणः**] संसारी जीव की गति [**चतुर्भ्यः प्राक्**] चार समय से पहिले [**विग्रहवती च**] वक्रता - मोड़ सहित तथा रहित होती है।

टीका—१- संसारी जीव की गति, मोड़सहित और मोड़रहित होती है। यदि मोड़रहित होती है तो उसे एक समय लगता है, एक मोड़ लेना पड़े तो दो समय, दो मोड़ लेना पड़ें तो तीन समय और तीन मोड़ लेना पड़ें तो चार समय लगते हैं। जीव चौथे समय में तो कहीं न कहीं नया शरीर नियम से धारण कर लेता है; इसलिए विग्रहगति का समय अधिक से अधिक चार समय तक होता है। उन गतियों के नाम यह हैं - १- ऋजुगति (ईषुगति) २- पाणिमुक्तागति, ३- लाँगलिकागति और ४- गौमूत्रिकागति।

२- एक परमाणु को मन्दगति से एक आकाशप्रदेश से उसी निकट के दूसरे आकाशप्रदेश तक जाने में जो समय लगता है, वह एक समय है। यह छोटे से छोटा काल है।

३- लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ जाने में जीव को तीन से अधिक मोड़ लेना पड़ते हों।

४- विग्रहगति में जीव को चैतन्य का उपयोग नहीं होता। जब जीव की उस प्रकार की योग्यता नहीं होती, तब द्रव्येन्द्रियाँ भी नहीं होती, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीव को भावेन्द्रिय के उपयोगरूप परिणमित होने की योग्यता होती है, तब द्रव्येन्द्रियाँ अपने कारण से स्वयं उपस्थित होती हैं। वह यह सिद्ध करता है कि जब जीव की पात्रता होती है, तब उसके अनुसार निमित्त स्वयं उपस्थित होता है; निमित्त के लिए राह नहीं देखनी पड़ती।

अविग्रहगति का समय

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

अर्थ - [**अविग्रहा**] मोड़रहित गति [**एकसमया**] एक समयमात्र ही होती है, अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है।

टीका—१- जिस समय जीव का एक शरीर के साथ का संयोग छूटता है, उसी समय यदि जीव अविग्रहगति के योग्य हो तो दूसरे क्षेत्र में रहनेवाले अन्य शरीर के योग्य पुद्गलों के साथ (शरीर के साथ) सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। मुक्त जीवों को भी सिद्धगति में जाने में एक ही समय लगता है, यह गति सीधी पंक्ति में ही होती है।

२- एक पुद्गल को उत्कृष्ट वेगपूर्वक गति करने में चौदह राजू लोक अर्थात् लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक (सीधी पंक्ति में ऊपर या नीचे) जाने में एक समय ही लगता है।

विग्रहगति में आहारक-अनाहारक की व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥३०॥

अर्थ - विग्रहगति में [**एकं द्वौ वा तीन्**] एक, दो अथवा तीन समय तक [**अनाहारकाः**] जीव अनाहारक रहता है।

टीका—१- आहार - औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर तथा छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गलपरमाणुओं के ग्रहण को आहार कहा जाता है।

२- उपरोक्त आहार को जीव जब तक ग्रहण नहीं करता, तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहगति में आहारक होता है, परन्तु एक या दो, तीन मोड़वाली गति में एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है, चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है।

३- यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस सूत्र में नोकर्म की अपेक्षा से अनाहारकत्व कहा है। कर्मग्रहण तथा तैजस परमाणुओं का ग्रहण तेरहवें गुणस्थान तक होता है। यदि इस कर्म और तैजस परमाणु के ग्रहण को आहारकत्व माना जाए तो वह अयोगी गुणस्थान में नहीं होता।

४- विग्रहगति से अतिरिक्त समय में जीव प्रति समय नोकर्मरूप आहार ग्रहण करता है।

५- यहाँ आहार-अनाहार और ग्रहण शब्दों का प्रयोग हुआ है, वह मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए है। वास्तव में (निश्चयदृष्टि से) आत्मा के किसी भी परद्रव्य का ग्रहण या त्याग नहीं होता, भले ही वह निगोद में हो या सिद्ध में।

जन्म के भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादाः जन्म ॥३१॥

अर्थ - [**सम्मूर्च्छनगर्भउपपादाः**] सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद—तीन प्रकार का [**जन्म**] जन्म होता है।

टीका—१- जन्म - नवीन शरीर को धारण करना, जन्म है।

सम्मूर्च्छनजन्म - अपने शरीर के योग्य पुद्गलपरमाणुओं के द्वारा, माता-पिता के रज और वीर्य के बिना ही शरीर की रचना होना, सो सम्मूर्च्छनजन्म है।

गर्भजन्म - स्त्री के उदर में रज और वीर्य के मेल से जो जन्म (Conception) होता है, उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपपादजन्म - माता-पिता के रज और वीर्य के बिना देव और नारकियों के निश्चित स्थान-विशेष में उत्पन्न होने को उपपादजन्म कहते हैं। यह उपपादजन्मवाला शरीर, वैक्रियिक रजकणों का बनता है।

२- समन्ततः + मूर्च्छनं - से सम्मूर्च्छन शब्द बनता है। यहाँ समन्ततः का अर्थ चारों ओर अथवा जहाँ-तहाँ से होता है और मूर्च्छन का अर्थ शरीर का बन जाना है।

३- जीव अनादि-अनन्त है; इसलिए उसका जन्म-मरण नहीं होता, किन्तु जीव को अनादि काल से अपने स्वरूप का भ्रम (मिथ्यादर्शन) बना हुआ है; इसलिए उसका शरीर

के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है और वह अज्ञान से शरीर को अपना मानता है; और अनादि काल से जीव की यह विपरीत मान्यता चली आ रही है कि मैं शरीर की हलन-चलन आदि क्रियाएँ कर सकता हूँ, शरीर की क्रिया से धर्म हो सकता है, शरीर से मुझे सुख-दुःख होते हैं - इत्यादि। जब तक जीव यह मिथ्यात्वरूप विकारभाव करता रहता है, जब तक जीव का नए-नए शरीरों के साथ सम्बन्ध होता रहता है। उस नए शरीर के सम्बन्ध (संयोग) को जन्म कहते हैं और पुराने शरीर के वियोग को मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के बाद, जब तक चारित्र की पूर्णता नहीं होती, तब तक जीव को नया शरीर प्राप्त होता है। उसमें जीव का कषायभाव निमित्त है।

योनियों के भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ - **[सचित्तशीतसंवताः]** सचित्त, शीत, संवृत **[सेतरा]** उससे उलटी तीन - अचित्त, उष्ण, विवृत **[च एकशः मिश्राः]** और क्रम से एक-एक की मिली हुई तीन, अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत **[तत् योनयः]** ये नव जन्मयोनियाँ हैं।

टीका—जीवों के उत्पत्तिस्थान को योनि कहते हैं। योनि आधार है और जन्म आधेय है।

सचित्तयोनि - जीवसहित योनि को सचित्तयोनि कहते हैं।

संवृतयोनि - जो किसी के देखने में न आए—ऐसे उत्पत्तिस्थान को संवृत (ढकी हुई) योनि कहते हैं।

विवृतयोनि - जो सबके देखने में आए—ऐसे उत्पत्ति स्थान को विवृत (खुली) योनि कहते हैं।

१- मनुष्य या अन्य प्राणी के पेट में जीव (कृमि इत्यादि) उत्पन्न होते हैं, उनकी सचित्तयोनि है।

२- दीवाल में, मेज, कुर्सी इत्यादि में जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी अचित्तयोनि है।

३- मनुष्य की पहनी हुई टोपी इत्यादि में जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी सचित्ता-चित्तयोनि है।

४- सर्दी में जीव उत्पन्न होते हैं, उनकी **शीतयोनि** है। ५- गर्मी में जीव उत्पन्न होते हैं, उनकी **उष्णयोनि** है। ६- पानी के खड्डे में सूर्य की गर्मी से पानी के गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी **शीतोष्णयोनि** है। ७- बन्द पेटी में रखे हुए फलों में जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनको **संवृतयोनि** है। ८- पानी में जो काई इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं, उनकी **विवृतयोनि** है और ९- थोड़ा भाग खुला और थोड़ा ढका हुआ हो—ऐसे स्थान में उत्पन्न होनेवाले जीवों की **संवृतविवृतयोनि** होती है।

५- गर्भयोनि के आकार के तीन भेद हैं - १. शंखावर्त, २. कूर्मोन्नत और ३. वंशपत्र। शंखावर्तयोनि में गर्भ नहीं रहता। कूर्मोन्नतयोनि में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र तथा अन्य भी महान पुरुष उत्पन्न होते हैं, उनके अतिरिक्त कोई उत्पन्न नहीं होता। वंशपत्रयोनि में शेष गर्भजन्मवाले सब जीव उत्पन्न होते हैं।

गर्भजन्म किसे कहते हैं ?

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थ - **[जरायुजअंडजपोतानां]** जरायुज, अण्डज और पोतज, इन तीन प्रकार के जीवों के **[गर्भः]** गर्भजन्म ही होता है अर्थात् उन जीवों के ही गर्भजन्म होता है।

टीका—१. जरायुज - जाली के समान माँस और खून से व्याप्त एक प्रकार की थैली से लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है, उसे जरायुज कहते हैं। जैसे - गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि।

अण्डज - जो जीव अण्डों में जन्म लेते हैं, उनको अण्डज कहते हैं। जैसे - चिड़िया, कबूतर, मोर इत्यादि पक्षी।

पोतज - उत्पन्न होते समय जिन जीवों के शरीर के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता, उन्हें पोतज कहते हैं। जैसे - सिंह, बाघ, हाथी, हिरण, बन्दर इत्यादि।

२- असाधारण भाषा और अध्ययनादि जरायुज जीवों में ही होता है। चक्रधर, वासुदेवादि महाप्रभावशाली पुरुष जरायुज होते हैं, मोक्ष भी जरायुज को ही प्राप्त होता है।

उपपादजन्म किसे कहते हैं ?

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

अर्थ - **[देवनारकाणां]** देव और नारकी जीवों के **[उपपादः]** उपपादजन्म ही होता है अर्थात् उपपादजन्म उन जीवों के ही होता है।

टीका— १- देवों के प्रसूतिस्थान में शुद्ध सुगन्धित कोमल संपुट के आकार शय्या होती है, उसमें उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त में परिपूर्ण जवान हो जाता है। जैसे, कोई जीव शय्या से सोकर जागता है, उसी प्रकार आनन्दसहित वह जीव बैठा होता है। यह देवों का उपपादजन्म है।

२- नारकी जीव बिलों में उत्पन्न होते हैं। मधुमक्खी के छत्ते की भाँति ओंधा मुख किए हुए, इत्यादि आकार के विविध मुखवाले उत्पत्तिस्थान हैं, उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और वे उलटा सिर, ऊपर पैर किए हुए अनेक कष्टकर वेदनाओं से निकलकर विलाप करते हुए धरती पर गिरते हैं। यह नारकी का उपपादजन्म है।

सम्मूर्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

अर्थ - **[शेषाणां]** गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवों के अतिरिक्त शेष जीवों के **[सम्मूर्छनम्]** सम्मूर्छन जन्म ही होता है अर्थात् सम्मूर्छन जन्म शेष जीवों के ही होता है।

टीका— एकेन्द्रिय से असैनी चतुरिन्द्रिय जीवों के नियम से सम्मूर्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के गर्भ और सम्मूर्छन दोनों प्रकार के जन्म होते हैं, अर्थात् कुछ गर्भज होते हैं और कुछ सम्मूर्छन होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के भी सम्मूर्छनजन्म होता है।

शरीर के नाम तथा भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतेजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

अर्थ - **[औदारिकवैक्रियिकाहारकतेजसकार्मणानि]** औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण **[शरीराणि]** यह पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीर - मनुष्य और तिर्यञ्चों का शरीर जो कि सड़ता है, गलता है तथा झरता है, वह औदारिक शरीर है। यह शरीर स्थूल होता है, इसलिए उदार कहलाता है। सूक्ष्म निगोदियों का शरीर इन्द्रियों के द्वारा न तो दिखायी देता है, न मुड़ता है और न काटने से कटता

है, फिर भी वह स्थूल है, क्योंकि दूसरे शरीर उससे क्रमशः सूक्ष्म हैं। *(इसके बाद का सूत्र)*

वैक्रियिकशरीर - जिसमें हलके, भारी तथा अनेक प्रकार के रूप बनाने की शक्ति हो, उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं, वह देव और नारकियों के ही होता है।

नोट - यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि औदारिकशरीरवाले जीव, ऋद्धि के कारण जो विक्रिया होती है, वह औदारिकशरीर का ही प्रकार है।

आहारकशरीर - सूक्ष्म पदार्थों के निर्णय के लिए अथवा संयम की रक्षा इत्यादि के लिए छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के मस्तक से जो एक हाथ का पुतला निकलता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं। (तत्त्व में कोई शङ्का होने पर केवली अथवा श्रुतकेवली के पास जाने के लिए ऐसे मुनि के मस्तक से एक हाथ का पुतला निकलता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं।)

तैजसशरीर - औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरों को कान्ति देनेवाले तैजसवर्गणा से बने हुए शरीर को तैजसशरीर कहते हैं।

कार्मणशरीर - ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मणशरीर कहते हैं।

नोट - पहिले तीन शरीर आहारवर्गणा में से बनते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अर्थ - पहिले कहे हुए शरीरों की अपेक्षा [**परं परं**] आगे-आगे के शरीर [**सूक्ष्मम्**] सूक्ष्म-सूक्ष्म होते हैं अर्थात् औदारिक की अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म; वैक्रियिक की अपेक्षा आहारक सूक्ष्म; आहार की अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजस की अपेक्षा से कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है॥३७॥

पहिले पहिले शरीर की अपेक्षा आगे के शरीरों के प्रदेश थोड़े होंगे -
ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करने के लिए सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥३८॥

अर्थ - [**प्रदेशतः**] प्रदेशों की अपेक्षा से [**तैजसात् प्राक्**] तैजसशरीर से पहिले के शरीर [**असंख्येयगुणं**] असंख्यातगुने हैं।

टीका—औदारिकशरीर के प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातगुने प्रदेश वैक्रियिकशरीर के हैं, और वैक्रियिकशरीर की अपेक्षा असंख्यातगुने प्रदेश आहारकशरीर के हैं ॥३८॥

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

अर्थ - [**परे**] शेष दो शरीर [**अनन्तगुणे**] अनन्तगुने परमाणु (प्रदेश) वाले हैं अर्थात् आहारकशरीर की अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश तैजसशरीर में होते हैं और तैजसशरीर की अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश कार्मणशरीर में होते हैं।

टीका—आगे-आगे के शरीरों में प्रदेशों की संख्या अधिक होने पर भी उनका मिलाप लोहे के पिण्ड के समान सघन होता है, इसलिए वे अल्परूप होते हैं। यहाँ प्रदेश कहने का अर्थ परमाणु समझना चाहिए ॥३९॥

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

अप्रतीघाते ॥४०॥

अर्थ - तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर [**अप्रतीघाते**] अप्रतीघात अर्थात् बाधा रहित हैं।

टीका—ये दोनों शरीर लोक के अन्त तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहाँ से निकल सकते हैं। वैक्रियिक और आहारकशरीर हर किसी में प्रवेश कर सकता है, परन्तु वैक्रियिकशरीर त्रसनाली तक ही गमन कर सकता है। आहारकशरीर का गमन अधिक से अधिक अढ़ाई द्वीप पर्यन्त जहाँ केवली और श्रुतकेवली होते हैं, वहाँ तक होता है। मनुष्य वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) तक जाता है, उससे अधिक नहीं जा सकता ॥४०॥

तैजस और कार्मणशरीर की अन्य विशेषता

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

अर्थ - [**च**] और यह दोनों शरीर [**अनादिसम्बन्धे**] आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्धवाले हैं।

टीका—१- यह कथन सामान्य तैजस और कार्मणशरीर की अपेक्षा से है। विशेष अपेक्षा से इस प्रकार के पहिले-पहिले शरीरों का सम्बन्ध छूटकर नए-नए शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है अर्थात् अयोगी गुणस्थान से पहिले प्रतिसमय जीव इस तैजस और कार्मणशरीर

के नए-नए रजकणों को ग्रहण करता है और पुराने को छोड़ता है। (१४वें गुणस्थान के अन्तिम समय इन दोनों का अभाव हो जाता है, उसी समय जीव सीधी श्रेणी से सिद्धस्थान में पहुँच जाता है) सूत्र में 'च' शब्द दिया है, उससे यह अर्थ निकलता है।

२- जीव के इन शरीरों का सम्बन्ध प्रवाहरूप से अनादि नहीं है, परन्तु नया (सादि) है, ऐसा मानना गलत है, क्योंकि जो ऐसा होता तो पहिले जीव अशरीरी था अर्थात् शुद्ध था और पीछे वह अशुद्ध हुआ, ऐसा सिद्ध होगा; परन्तु शुद्ध जीव के अनन्त पुरुषार्थ होने से उसके अशुद्धता आ नहीं सकती और जहाँ अशुद्धता नहीं होती है, वहाँ ये शरीर हो ही नहीं सकते। इस प्रकार जीव के इन शरीरों का सम्बन्ध सामान्य अपेक्षा से (प्रवाहरूप से) अनादि से है और यदि इन तैजस और कार्मणशरीरों का सम्बन्ध अनादि से प्रवाहरूप नहीं मानकर वही का वही अनादि से जीव से सम्बन्धित है, ऐसा माना जाए तो उनका सम्बन्ध अनन्त काल तक रहेगा और तब जीव के विकार न करने पर भी उसे मोक्ष कभी भी नहीं होगा। अवस्थादृष्टि से जीव अनादि काल से अशुद्ध है, ऐसा इस सूत्र से सिद्ध होता है। (देखो इसके बाद के सूत्र की टीका)

ये शरीर अनादि काल से सब जीवों के होते हैं

सर्वस्य ॥४२॥

अर्थ - ये तैजस और कार्मणशरीर **[सर्वस्य]** सब संसारी जीवों के होते हैं।

टीका—जिन जीवों के इन शरीरों का सम्बन्ध नहीं होता है, उनके संसारी अवस्था नहीं होती; सिद्ध अवस्था होती है। यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी जीव के वास्तव में परमार्थ से शरीर होता नहीं है। यदि जीव के वास्तव में शरीर माना जाए तो जीव, जड़ शरीररूप हो जाएगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है। जीव और शरीर दोनों एक आकाशक्षेत्र में (एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप) रहते हैं; इसलिए अज्ञानी जीव, शरीर को अपना मानते हैं; अवस्थादृष्टि से जीव अनादि काल से अज्ञानी है। इसलिए 'अज्ञानी के इस प्रतिभास' को व्यवहार बतलाकर उसे 'जीव का शरीर' कहा जाता है।

इस प्रकार जीव के विकारीभाव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है, किन्तु जीव और शरीर एक द्रव्यरूप, एक क्षेत्ररूप, एक पर्यायरूप या एक भावरूप हो जाते हैं - यह बताने का शास्त्रों का हेतु नहीं है। इसलिए आगे के सूत्र में 'सम्बन्ध' शब्द का प्रयोग किया

है, यदि (व्यवहार कथनानुसार) जीव और शरीर एकरूप हो जाये तो दोनों द्रव्यों का सर्वथा नाश हो जायेगा॥४२॥

एक जीव के एक साथ कितने शरीरों का सम्बन्ध होता है ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

अर्थ - **[तदादीनि]** उन तैजस और कार्मणशरीरों से प्रारम्भ करके **[युगपत्]** एक साथ **[एकस्मिन्]** एक जीव के **[आचतुर्भ्यः]** चार शरीर तक **[भाज्यानि]** विभक्त करना चाहिए अर्थात् जानना चाहिए।

टीका— जीव के यदि दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण; तीन हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक; चार हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक, अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और (लब्धिवाले जीव के) वैक्रियिक शरीर होते हैं। इसमें (लब्धिवाले जीव के) औदारिक के साथ जो वैक्रियिक शरीर होना बतलाया है, वह शरीर औदारिक की जाति का है, देव के वैक्रियिक शरीर के रजकणों की जाति का नहीं॥ ४३॥ *(सूत्र ३३ तथा ४७ की टीका)*

कार्मणशरीर की विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

अर्थ - **[अन्त्यम्]** अन्त का कार्मणशरीर **[निरुपभोगम्]** उपभोग रहित होता है।

टीका—१. उपभोग - इन्द्रियों का द्वारा शब्दादिक के ग्रहण करना (-जानना), सो उपभोग है।

२. विग्रहगति में जीव के भावेन्द्रियाँ होती हैं (देखो, सूत्र १८) वहाँ जड़ इन्द्रियों की रचना का अभाव है (देखो, सूत्र १७) उस स्थिति में शब्द, रूप, रस, गन्ध या स्पर्श का अनुभव (ज्ञान) नहीं होता, इसलिए कार्मणशरीर को निरुपभोग ही कहा है।

प्रश्न - तैजसशरीर भी निरुपभोग ही है, तथापि उसे यहाँ क्यों नहीं गिना है ?

उत्तर - तैजसशरीर तो किसी योग का भी कारण नहीं है, इसलिए निरुपभोग के प्रकरण में उसे स्थान नहीं है। विग्रहगति में कार्मणशरीर कार्मणयोग का कारण है (देखो, सूत्र २५) इसलिए वह उपभोग के योग्य है या नहीं - यह प्रश्न उठ सकता है। उसका निराकरण

करने के लिए यह सूत्र कहा है। तैजसशरीर उपभोग के योग्य है या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता, क्योंकि वह तो निरुपभोग ही है, इसलिए यहाँ उसे नहीं लिया गया है।

४. जीव की अपनी पात्रता-योग्यता (उपादान) के अनुसार बाह्य निमित्त संयोगरूप (उपस्थितिरूप) होते हैं और जब अपनी पात्रता नहीं होती, तब वे उपस्थित नहीं होते, यह बात इस सूत्र में बतलाई गई है। जब जीव शब्दादिक का ज्ञान करने योग्य नहीं होता, तब जड़ शरीररूप इन्द्रियाँ उपस्थित नहीं होती और जब जीव वह ज्ञान करने योग्य होता है, तब जड़ शरीररूप इन्द्रियाँ स्वयं उपस्थित होती हैं, ऐसा समझना चाहिए।

५. पच्चीसवाँ सूत्र और यह सूत्र बतलाता है कि परवस्तु, जीव को विकारभाव नहीं कराती, क्योंकि विग्रहगति में स्थूल शरीर, स्त्री, पुत्र इत्यादि काई नहीं होते, द्रव्यकर्म जड़ है, उनके ज्ञान नहीं होता और वे अपना स्वक्षेत्र छोड़कर जीव के क्षेत्र में नहीं जा सकते; इसलिए वे कर्म, जीव में विकारभाव नहीं करा सकते। जब अपने दोष से अज्ञानदशा में प्रतिक्षण नया विकारभाव किया करता है, तब जो कर्म अलग होते हैं, उन पर उदय का आरोप होता है और जीव जब विकारभाव नहीं करता, तब पृथक् होनेवाले कर्मों पर निर्जरा का आरोप होता है अर्थात् उसे 'निर्जरा' नाम दिया जाता है॥४४॥

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम्॥४५॥

अर्थ - **[गर्भ]** गर्भ **[सम्मूर्च्छनजम्]** और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होनेवाला शरीर **[आद्यं]** पहिला - औदारिकशरीर कहलाता है।

टीका—प्रश्न - शरीर तो जड़-पुद्गलद्रव्य है और यह जीव का अधिकार है, फिर भी उसमें यह विषय क्यों लिया गया है?

उत्तर - जीव के भिन्न-भिन्न प्रकार के विकारीभाव होते हैं, तब उसका किस-किस प्रकार के शरीरों के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है, यह बताने के लिए शरीरों का विषय यहाँ (इस सूत्र में तथा इस अध्याय के अन्य कई सूत्रों में) लिया गया है॥४५॥

वैक्रियिक शरीर का लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम्॥४६॥

अर्थ - [**औपपादिकम्**] उपपादजन्मवाले अर्थात् देव और नारकियों के शरीर [**वैक्रियिकं**] वैक्रियिक होते हैं।

नोट - उपपादजन्म का विषय ३४वें सूत्र में और वैक्रियिकशरीर का विषय ३६वें सूत्र में आ चुका है, उन सूत्रों को और उनकी टीका को यहाँ भी पढ़ लेना चाहिए।

देव और नारकियों के अतिरिक्त दूसरों के वैक्रियिकशरीर होता है या नहीं ?

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ - वैक्रियिकशरीर [**लब्धिप्रत्ययं च**] लब्धि नैमित्तिक भी होता है।

टीका—वैक्रियिकशरीर के उत्पन्न होने में ऋद्धि का निमित्त है, साधु को तप की विशेषता से प्राप्त होनेवाली ऋद्धि को 'लब्धि' कहा जाता है। प्रत्यय का अर्थ निमित्त है। किसी तिर्यञ्च को भी विक्रिया होती है। विक्रिया शुभभाव का फल है, धर्म का नहीं। धर्म का फल तो शुद्ध असङ्गभाव है और शुभभाव का फल बाह्य संयोग है। मनुष्य तथा तिर्यञ्चों का वैक्रियिकशरीर देव तथा नारकियों के शरीर से भिन्न जाति का होता है, वह औदारिकशरीर का ही एक प्रकार है ॥४७॥ *(देखो, सूत्र ३६ तथा ४३ की टीका)*

वैक्रियिक के अतिरिक्त किसी अन्य शरीर को भी लब्धि का निमित्त है ?

तैजसमपि ॥४८॥

अर्थ - [**तैजसम**] तैजसशरीर [**अपि**] भी लब्धिनिमित्तक है।

टीका—१- तैजसशरीर के दो भेद हैं - अनि:सरण और नि:सरण। अनि:सरण सर्व संसारी जीवों के शरीर की दीप्ति का कारण है, वह लब्धिप्रत्यय नहीं है। उसका स्वरूप सूत्र ३६ की टीका में आ चुका है।

२- नि:सरण-तैजस शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। यदि किसी क्षेत्र में रोग, अकाल आदि पड़े तो उससे लोगों को दु:खी देखकर तपस्या के धारी मुनि के अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाय तो उनके दाहिने कन्धे में से एक तैजसपिण्ड निकलकर १२योजन तक जीवों का दु:ख मिटाकर मूलशरीर में प्रवेश करता है, उसे नि:सरणशुभतैजस शरीर कहते हैं और किसी क्षेत्र में मुनि अत्यन्त क्रोधित हो जाए तो ऋद्धि के प्रभाव से उसके बायें कन्धे से सिन्दूर के समान लाल अग्निरूप कान्तिवाला बिलाव के आकार एक शरीर निकलकर (वह शरीर बढ़कर १२ योजन लम्बा और ९ योजन विस्तारवाला होकर) १२ योजन तक के सब

जीवों के शरीर को तथा अन्य पुद्गलों को जलाकर भस्म करके मूलशरीर में प्रवेश करके उस मुनि को भी भस्म कर देता है, (वह मुनि नरक को प्राप्त होता है) उसे निःसरणअशुभतैजस शरीर कहते हैं ॥७८॥

आहारकशरीर का स्वामी तथा उसका लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

अर्थ - [**आहारकं**] आहारकशरीर [**शुभम्**] शुभ है अर्थात् वह शुभ कार्य करता है [**विशुद्धम्**] विशुद्ध है अर्थात् वह विशुद्ध कर्म (मन्द कषाय से बन्धनेवाले कर्म) का कार्य है। [**च अव्याघाति**] और व्याघात-बाधारहित है तथा [**प्रमत्तसंयतस्यैव**] प्रमत्तसंयत (छठवें गुणस्थानवर्ती) मुनि के ही वह शरीर होता है।

टीका— १- यह शरीर चन्द्रकान्तमणि के समान सफेद रङ्ग का एक हाथ प्रमाण का पुरुषाकार होता है, वह पर्वत वज्र इत्यादि से नहीं रुकता, इसलिए अव्याघाति है। यह शरीर, प्रमत्तसंयमी मुनि के मस्तक में से निकलता है, प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही यह शरीर होता है, अन्यत्र नहीं होता और यह शरीर सभी प्रमत्तसंयत मुनियों के भी नहीं होता।

२- यह आहारकशरीर (१) कदाचित् लब्धि-विशेष का सद्भाव जानने के लिए, (२) कदाचित् सूक्ष्मपदार्थ के निर्णय के लिए तथा (३) कदाचित् तीर्थगमन के या संयम की रक्षा के निमित्त उसका प्रयोजन है, केवली भगवान अथवा श्रुतकेवली भगवान के पास जाते ही स्वयं निर्णय करके अन्तर्मुहूर्त में वापिस आकर संयमी मुनि के शरीर में प्रवेश करता है।

३- जिस समय भरत-ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थङ्कर भगवान की, केवली की या श्रुतकेवली की उपस्थिति नहीं होती और उनके बिना मुनि का समाधान नहीं हो पाता, तब महाविदेहक्षेत्र में जहाँ तीर्थङ्कर भगवान इत्यादि विराजमान होते हैं, वहाँ उन (भरत या ऐरावत क्षेत्र के) मुनि का आहारकशरीर जाता है और भरत-ऐरावत क्षेत्र में तीर्थङ्करादि होते हैं, तब वह निकट के क्षेत्र में जाता है। महाविदेह में तीर्थङ्कर त्रिकाल होते हैं, इसलिए वहाँ के मुनि के ऐसा प्रसङ्ग आए तो उनका आहारकशरीर उस क्षेत्र के तीर्थङ्करादि के पास जाता है।

४- (१) देव अनेक वैक्रियिकशरीर कर सकते हैं, मूलशरीरसहित देव स्वर्गलोक में विद्यमान रहते हैं और विक्रिया के द्वारा अनेक शरीर करके दूसरे क्षेत्र में जाते हैं। जैसे कोई सामर्थ्य का धारक देव अपने एक हजार रूप बनाए परन्तु उन हजारों शरीरों में उस देव की

आत्मा के प्रदेश होते हैं। मूल वैक्रियिकशरीर जघन्य दस हजार वर्ष तक रहता है अर्थात् अधिक जितनी आयु होती है, उतने समय तक रहता है। उत्तर वैक्रियिक शरीर का काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है। तीर्थङ्कर भगवान के जन्म के समय और नन्दीश्वरादि के जिमन्दिरों की पूजा के लिए देव जाते हैं, तब बारम्बार विक्रिया करते हैं।

(२) प्रमत्तसंयत मुनि का आहारकशरीर दूर क्षेत्र-विदेहादि में जाता है।

(३) तैजसशरीर १२ योजन (४८ कोस) तक जाता है।

(४) आत्मा अखण्ड है, उसके खण्ड नहीं होते। आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं, वे कार्मणशरीर के साथ निकलते हैं, मूलशरीर ज्यों का त्यों बना रहता है और उसमें भी प्रत्येक स्थल में आत्मा के प्रदेश अखण्ड रहते हैं।

(५) जैसे अन्न को प्राण कहना उपचार है, उसी प्रकार इस सूत्र में आहारकशरीर को उपचार से ही 'शुभ' कहा है। दोनों स्थानों में कारण में कार्य का उपचार (व्यवहार) किया गया। जैसे अन्न का फल प्राण है, उसी प्रकार शुभ का फल आहारकशरीर है, इसलिए यह उपचार है॥ ४९॥

लिङ्ग अर्थात् वेद के स्वामी

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुँसकानि॥५०॥

अर्थ - [**नारकसम्मूर्च्छिनो**] नारकी और सम्मूर्च्छन जन्मवाले [**नपुंसकानि**] नपुंसक होते हैं।

टीका—१- लिङ्ग अर्थात् वेद दो प्रकार के हैं - (१) **द्रव्यलिङ्ग** - पुरुष, स्त्री या नपुंसकत्व बतानेवाला शरीर का चिह्न और (२) **भावलिङ्ग** - स्त्री, पुरुष अथवा स्त्री-पुरुष दोनों के भोगने की अभिलाषारूप आत्मा के विकारी परिणाम। नारकी और सम्मूर्च्छन जीवों के द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग दोनों नपुंसक होते हैं।

२- नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं, क्योंकि उन जीवों के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी मनोग्य शब्द का सुनना, मनोग्य गंध का सूंघना, मनोग्य रूप का देखना, मनोग्य रस का चखना, या मनोग्य स्पर्श का स्पर्शन करना इत्यादि कुछ नहीं होता, इसलिए थोड़ा सा कल्पित सुख भी उन जीवों के नहीं होता, अतः निश्चय किया जाता है कि वे जीव नपुंसक ही हैं॥ ५०॥

देवों के लिङ्ग

न देवाः ॥५१॥

अर्थ - [**देवाः**] देव [**न**] नपुंसक नहीं होते अर्थात् देवों के पुरुषलिङ्ग और देवियों के स्त्रीलिङ्ग होता है।

टीका—१- देवगति में द्रव्यलिङ्ग तथा भावलिङ्ग एक से होते हैं। २- भोगभूमि म्लेच्छखण्ड के मनुष्य स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनों को धारण करते हैं, वहाँ नपुंसक उत्पन्न नहीं होते॥५१॥

अन्य कितने लिङ्गवाले हैं ?

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

अर्थ - [**शेषाः**] शेष के गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च [**त्रिवेदाः**] तीनों वेदवाले होते हैं।

टीका—भाववेद के भी तीन प्रकार हैं - (१) पुरुषवेद की कामाग्नि तृण की अग्नि के समान जल्दी शान्त हो जाती है, (२) स्त्रीवेद की कामाग्नि अङ्गार के समान गुप्त और कुछ समय के बाद शान्त होती है और (३) नपुंसकवेद की कामाग्नि ईंट की आग के समान बहुत समय तक बनी रहती है॥५२॥

किनकी आयु अपवर्तन (अकालमृत्यु) रहित है ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

अर्थ - [**औपपादिक**] उपपाद जन्मवाले और देव और नारकी, [**चरम उत्तम देहाः**] चरम उत्तम देहवाले अर्थात् उसी भव में मोक्ष जानेवाले तथा [**असंख्येवर्ष आयुषः**] असंख्यात वर्ष आयुवाले भोगभूमि के जीवों की [**आयुषः अनपवर्ति**] आयु अपवर्तन रहित होती है।

टीका—१- आठ कर्मों में आयु नाम का एक कर्म है। भोग्यमान (भोगी जानेवाली) आयु कर्म के रजकण दो प्रकार के होते हैं - सोपक्रम और निरुपक्रम। उनमें से आयु के प्रमाण में प्रतिसमय समान निषेक निर्जरित होते हैं, उस प्रकार का आयु निरुपक्रम अर्थात् अपवर्तन रहित है और जिस आयुकर्म के भोगने में पहिले तो समय-समय में समान निषेक निर्जरित होते हैं परन्तु उसके अन्तिम भाग में बहुत से निषेक एकसाथ निर्जरित हो जाएँ, उस

प्रकार की आयु सोपक्रम कहलाती है। आयुकर्म के बन्ध में ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरुपक्रम आयु का उदय हो, उसके समय-समय समान निर्जरा होती है, इसलिए वह उदय कहलाता है और सोपक्रम आयुवाले के पहिले अमुक समय तो उपरोक्त प्रकार से ही निर्जरा होती है, तब उसे उदय कहते हैं, परन्तु अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में सभी निषेक एक साथ निर्जरित हो जाते हैं, इसलिए उसे उदीरणा कहते हैं; वास्तव में किसी की आयु बढ़ती या घटती नहीं है, परन्तु निरुपक्रम आयु का सोपक्रम आयु से भेद बताने के लिए सोपक्रम आयुवाले जीव की 'अकाल मृत्यु हुई' ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

३- उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट, चरमदेह उत्कृष्ट होती है, क्योंकि जो-जो जीव केवलज्ञान पाते हैं, उनका शरीर केवलज्ञान प्रगट होने पर परमौदारिक हो जाता है। जिस शरीर से जीव को केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, वह शरीर चरम नहीं होता और परमौदारिक भी नहीं होता। मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव का शरीर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध केवलज्ञान प्राप्त होने पर कैसा होता है, यह बताने के लिए इस सूत्र में चरम और उत्तम - ऐसे दो विशेषण दिए गए हैं, जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब उस शरीर को 'चरम' संज्ञा प्राप्त होती है और वह परमौदारिकरूप हो जाता है, इसलिए उसे 'उत्तम' संज्ञा प्राप्त होती है; परन्तु वज्रवृषभनाराचसंहनन तथा समचतुरस्रसंस्थान के कारण शरीर को 'उत्तम' संज्ञा नहीं दी जाती।

३- सोपक्रम-कदलीघात अर्थात् वर्तमान के लिए अपवर्तन होनेवाली आयुवाले के बाह्य में विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, श्वासावरोध, अग्नि, जल, सर्प, अजीर्णभोजन, वज्रपात, शूली, हिंसक जीव, तीव्रभूख या प्यास आदि कोई निमित्त होते हैं। (कदलीघात के अर्थ के लिए देखो अध्याय ४ सूत्र २९ की टीका)

४- कुछ अन्त:कृत केवली ऐसे होते हैं कि जिनका शरीर उपसर्ग से विदीर्ण हो जाता है, परन्तु उनकी आयु अपवर्तनरहित है। चरमदेहधारी गुरुदत्त, पाण्डव इत्यादि को उपसर्ग हुआ था, परन्तु उनकी आयु अपवर्तनरहित थी।

५- 'उत्तम' शब्द का अर्थ त्रेसठ शलाका पुरुष, अथवा कामदेवादि ऋद्धियुक्त पुरुष - ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि सुभौम चक्रवर्ती, अन्तिम ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा अन्तिम अर्धचक्रवर्ती वासुदेव आयु के अपवर्तन होने पर मरण को प्राप्त हुए थे।

६- भरत और बाहुबली तद्भवमोक्षगामी जीव हुए हैं, इसलिए परस्पर लड़ने पर भी

उनकी आयु बिगड़ सकती नहीं – ऐसा कहा है, वह बताता है कि 'उत्तम' शब्द का तद्भव-मोक्षगामी जीवों के लिए ही प्रयोग किया गया है।

७- सभी सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती अनपवर्तन आयुवाले होते हैं। ऐसा नियम नहीं है।

८- सर्वार्थसिद्धि टीका में श्री पूज्यपाद आचार्यदेव ने 'उत्तम' शब्द का अर्थ किया है; इसलिए मूल सूत्र में वह शब्द है, यह सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने तत्त्वार्थसार के दूसरे अध्याय की १३५वीं गाथा में उत्तम शब्द का प्रयोग किया है, वह गाथा निम्न प्रकार है –

असंख्येय समायुक्ताश्चरमोत्तममूर्तयः।
देवाश्च नारकाश्चैषाम् अपमृत्युर्नविद्यते॥१३५॥

उपसंहार

(१) इस अध्याय में जीवतत्त्व का निरूपण है, उसमें प्रथम ही जीव के औपशमिकादि पाँच भावों का वर्णन किया है [सूत्र १] पाँच भावों के ५३ भेद सात सूत्रों में कहे हैं। [सूत्र ७ तक], तत्पश्चात् जीव का प्रसिद्ध लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेद कहे हैं [सूत्र ९], जीव के संसारी और मुक्त दो भेद कहे हैं [सूत्र १०], उनमें से संसारी जीवों के भेद सैनी-असैनी तथा त्रस-स्थावर कहे हैं, और त्रस के भेद दो इन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक बतलाए हैं। पाँच इन्द्रियों के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं और उसके विषय बतलाए हैं [सूत्र २१ तक], एकेन्द्रियादि जीवों के कितनी इन्द्रियाँ होती हैं, इसका निरूपण किया है [सूत्र २३ तक], और फिर सैनी जीवों का तथा जीव परभवगमन करता है, उसका (गमन का) स्वरूप कहा है [सूत्र ३० तक], तत्पश्चात् जन्म के भेद, योनि के भेद तथा गर्भज, देव, नारकी और सम्मूर्च्छन जीव कैसे उत्पन्न होते हैं, इसका निर्णय किया है। [सूत्र ३५ तक], पाँच शरीरों के नाम बतलाकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता का स्वरूप कहा है और वे कैसे उत्पन्न होते हैं, इसका निरूपण किया है [सूत्र ४९ तक], फिर किस जीव के कौन सा भेद होता है, यह कहा है [सूत्र ५२ तक], फिर उदयमरण और उदीरणामरण का नियम बताया है। [सूत्र ५३]

जब तक जीव की अवस्था विकारी होती है, तब तक ऐसे परवस्तु के संयोग होते हैं; यहाँ उनका ज्ञान कराया है और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागता प्राप्त करके संसारी मिटकर मुक्त होने के लिए बतलाया है।

२. पारिणामिकभाव के सम्बन्ध में

जीव और उनके अनन्त गुण त्रिकाल अखण्ड अभेद हैं, इसलिए वे पारिणामिकभाव से है। प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण का प्रतिक्षण परिणमन होता है और जीव भी द्रव्य है, इसलिए तथा उसमें द्रव्यत्व नाम का गुण है, इसलिए प्रतिसमय उसके अनन्त गुणों का परिणमन होता है, उस परिणमन को पर्याय कहते है, उसमें जो पर्यायें अनादि काल से शुद्ध हैं, वे भी पारिणामिकभाव से है।

जीव की अनादि काल से संसारी अवस्था है – यह बात इस अध्याय के १०वें सूत्र में कही है; क्योंकि जीव अपनी अवस्था में अनादि काल से प्रतिक्षण नया विकार करता आ रहा है, किन्तु यह ध्यान रहे कि उसके सभी गुणों की पर्यायों में विकार नहीं होता, किन्तु अनन्त गुणों में बहुत से कम गुणों की अवस्था में विकार होता है। जितने गुणों की अवस्था में विकार नहीं होता, उतनी पर्यायें शुद्ध हैं।

प्रत्येक द्रव्य सत् हैं, इसलिए उसकी पर्याय में प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्व का पर्याय अवलम्बन करती है। उन तीन अंशों से जो सदृशतारूप ध्रौव्य अंश है, वह अंश अनादि–अनन्त एकप्रवाहरूप है, ध्रौव्य पर्याय भी पारिणामिकभाव से है।

इससे निम्नप्रकार पारिणामिकभाव सिद्ध हुआ –

द्रव्य का त्रिकालत्व तथा अनन्त गुण और उनकी पर्यायों का एकप्रवाहरूप से रहनेवाला अनादि–अनन्त ध्रौव्याँश – यह तीनों अभेदरूप से पारिणामिकभाव है और उसे द्रव्यदृष्टि से परमपारिणामिकभाव कहा जाता है।

३. उत्पाद और व्यय पर्याय

अब उत्पाद और व्ययपर्याय के सम्बन्ध में कहते हैं – व्ययपर्याय अभावरूप है और वह पारिणामिकभाव से है।

द्रव्य के अनन्त गुणों की प्रतिसमय उत्पादपर्याय होती रहती है, उसमें जिन गुणों की पर्याय अनादि काल से अविकारी है, वह पारिणामिकभाव से है और वह पर्याय है, इसलिए पर्यायार्थिकनय से पारिणामिकभाव है।

पर की अपेक्षा रखनेवाले जीव के भावों के चार विभाग होते हैं – १. औपशमिकभाव,

२. क्षायोपशमिकभाव, ३. क्षायिकभाव और ४. औदयिकभाव। इन चार भावों का स्वरूप पहिले इस अध्याय के सूत्र १ की टीका में कहा है।

४. धर्म करने के लिए पाँच भावों का ज्ञान कैसे उपयोगी है ?

यदि जीव इन पाँच भावों के स्वरूप को जान ले, तो वह स्वयं यह समझ सकता है कि किस भाव के आधार से धर्म होता है। पाँच भावों में से पारिणामिकभाव के अतिरिक्त शेष चार भावों में से किसी के लक्ष्य से धर्म नहीं होता और जो पर्यायार्थिकनय से पारिणामिकभाव है, उसके आश्रय से धर्म नहीं होता – यह वह समझ सकता है।

जब कि अपने पर्यायार्थिकनय से वर्तनेवाले पारिणामिकभाव के आश्रय से भी धर्म नहीं होता, तब फिर निमित्त जो कि परद्रव्य है – उसके आश्रय से या लक्ष्य से तो धर्म हो नहीं सकता; यह भी वह समझता है और 'परमपारिणामिकभाव के आश्रय से ही धर्म होता है' – ऐसा वह समझता है।

५. उपादानकारण और निमित्तकारण के सम्बन्ध में

प्रश्न – जैनधर्म ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्त कहा है, इसलिए किसी समय उपादान (परमपारिणामिकभाव) की मुख्यता से धर्म हो और किसी समय निमित्त (परद्रव्य) की मुख्यता से धर्म हो, ऐसा होना चाहिए। उपरोक्त प्रकार से मात्र उपादान (परमपारिणामिकभाव) से धर्म होता है, ऐसा कहने से एकान्त हो जायेगा।

उत्तर – यह प्रश्न सम्यगनेकान्त, मिथ्यानेकान्त और सम्यक् और मिथ्यौकान्त के स्वरूप की अज्ञानता बतलाता है। परमपारिणामिकभाव के आश्रय से धर्म हो और दूसरे किसी भाव के आश्रय से धर्म न हो, इस प्रकार अस्ति-नास्तिस्वरूप सम्यगनेकान्त है। प्रश्न में बतलाया गया अनेकान्त मिथ्यानेकान्त है और यदि इस प्रश्न में बतलाया गया सिद्धान्त स्वीकार किया जाए तो वह मिथ्यौकान्त होता है क्योंकि यदि किसी समय निमित्त की मुख्यता से (अर्थात् परद्रव्य की मुख्यता से) धर्म हो तो परद्रव्य और स्वद्रव्य दोनों एक हो जाएँ, जिससे मिथ्यौकान्त होता है।

जिस समय उपादान कार्यपरिणत होता है, उसी कार्य के समय निमित्तकारण भी स्वयं उपस्थित होता है, लेकिन निमित्त की मुख्यता से कोई भी कार्य किसी भी समय नहीं होता, ऐसा नियम दिखाने के लिए श्री बनारसीदासजी ने कहा है कि –

''उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझे कोय।
उपादान बल जहँ तहाँ, नहीं निमित्त को दाव,
एक चक्रसों रथ चलै, रवि को यह स्वभाव।
सध वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन,
ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन॥''

प्रश्न – तब फिर शास्त्र में यह तो कहा है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और भगवान की दिव्यध्वनि के आश्रय से धर्म होता है, इसलिए कभी उन निमित्तों की मुख्यता से धर्म होता है, ऐसा मानने में क्या दोष है ?

उत्तर – सच्चे देव, शास्त्र, गुरु आदि से धर्म होता है – ऐसा कथन व्यवहारनय का है, उसका परमार्थ तो ऐसा है कि परमशुद्धनिश्चयनयग्राहक परमपारिणामिकभाव के आश्रय से (अर्थात् निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य परमात्मभाव–ज्ञायकभाव से) धर्म होता है, जीव शुभभावरूप राग का अवलम्बन लेता है, उसमें सत्देव, सद्गुरु, सत्शास्त्र तथा भगवान की दिव्यध्वनि निमित्तमात्र है तथा उस ओर के राग–विकल्प को टाल करके जीव जब परमपारिणामिकभाव का (ज्ञायकभाव का) आश्रय लेता है, तब उसके धर्म प्रगट होता है और उस समय राग का अवलम्बन छूट जाता है। धर्म प्रगट होने के पूर्व राग किस दिशा में ढला था, यह बताने के लिए देव–गुरु–शास्त्र या दिव्यध्वनि इत्यादिक निमित्त कहने में आते हैं, परन्तु निमित्त की मुख्यता से किसी भी समय धर्म होता है, यह बताने के लिए निमित्त का ज्ञान नहीं कराया जाता।

(२) किसी समय उपादानकारण की मुख्यता से धर्म होता है और किसी समय निमित्तकारण की मुख्यता से धर्म होता है – अगर ऐसा मान लिया जाए तो धर्म करने के लिए कोई त्रिकालवर्ती अबाधित नियम नहीं रहेगा और यदि कोई नियमरूप सिद्धान्त न हो तो धर्म किस समय उपादानकारण की मुख्यता से होगा और किस समय निमित्तकारण की मुख्यता से होगा, यह निश्चित न होने से जीव कभी धर्म नहीं कर सकेगा।

(३) धर्म करने के लिए त्रैकालिक एकरूप नियम न हो, ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए वह यह समझना चाहिए कि जो जीव पहिले धर्म को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में धर्म को प्राप्त हो रहे हैं और भविष्य में धर्म को प्राप्त करेंगे, उन सबके पारिणामिकभाव का ही आश्रय है, किसी अन्य का नहीं।

प्रश्न - सम्यग्दृष्टि जीव ही सम्यग्दर्शन होने के बाद सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन लेते हैं और उनके आश्रय से उन्हें धर्म प्राप्त होता है, तो वहाँ निमित्त की मुख्यता से धर्म का कार्य हुआ या नहीं?

उत्तर- नहीं, निमित्त की मुख्यता से कहीं भी कोई कार्य होता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जो राग और राग का अवलम्बन है, उसका भी खेद रहता है; सच्चे देव, गुरु या शास्त्र का भी कोई जीव अवलम्बन ले ही नहीं सकता, क्योंकि वह भी परद्रव्य है; फिर भी जो यह कहा जाता है कि ज्ञानीजन सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन लेते हैं, वह उपचार है, कथन मात्र है; वास्तव में परद्रव्य का अवलम्बन नहीं, किन्तु वहाँ अपनी अशुद्ध अवस्थारूप राग का ही अवलम्बन है।

अब, जो उस शुभभाव के समय सम्यग्दृष्टि के शुद्धभाव बढ़ता है, वह अभिप्राय में परमपारिणामिकभाव का आश्रय है, उसी के बल से बढ़ता है। अन्य प्रकार से कहा जाए तो सम्यग्दर्शन के बल से वह शुद्धभाव बढ़ते हैं, किन्तु शुभराग या परद्रव्य के अवलम्बन से शुद्धता नहीं बढ़ती।

प्रश्न - देव-गुरु-शास्त्र को निमित्तमात्र कहा है और उनके अवलम्बन को उपचारमात्र कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर - इस विश्व में अनन्त द्रव्य हैं, उनमें से राग के समय छद्मस्थ जीव का झुकाव किस द्रव्य की ओर हुआ, यह बताने के लिए उस द्रव्य को 'निमित्त' कहा जाता है। जीव अपनी योग्यतानुसार जैसा परिणाम (कार्य) करता है, वैसे अनुकूल निमित्तपने का परद्रव्य में उपचार किया जाता है; इस प्रकार जीव शुभराग का अवलम्बन करे तो देव-गुरु-शास्त्र निमित्तमात्र हैं और उनका अवलम्बन उपचारमात्र है।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जीव को सच्चा ज्ञान करने के लिए है, ऐसी मिथ्या मान्यता करने के लिए नहीं कि 'धर्म करने में किसी समय निमित्त की मुख्यता होती है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहते हैं, उन्हें स्वतन्त्रतारूप निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर लेना चाहिए। उस ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि यदि वह ज्ञान न हो तो जीव का ऐसा अन्यथा झुकाव बना रह सकता है कि किसी समय निमित्त की मुख्यता से भी कार्य होता है और इससे उसका अज्ञानपना दूर नहीं होगा और ऐसी निमित्ताधीनदृष्टि,

पराधीनता स्वीकार करनेवाली संयोगदृष्टि है, जो संसार का मूल है, इससे उसके अपार संसार भ्रमण चलता रहेगा।'

६. इन पाँच भावों के साथ इस अध्याय के सूत्र कैसे सम्बन्ध रखते हैं, इसका स्पष्टीकरण

सूत्र - **१.** यह सूत्र पाँचों भाव बतलाता है, उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप अपने पारिणामिकभाव के आश्रय से ही धर्म होता है।

सूत्र- **२-६.** यह सूत्र पहिले चार भावों के भेद बतलाते हैं। उनमें से तीसरे सूत्र में, औपशमिकभाव के भेदों का वर्णन करते हुए पहिले सम्यक्त्व लिया है, क्योंकि धर्म का प्रारम्भ औपशमिक सम्यक्त्व से होता है; सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद आगे बढ़ने पर कुछ जीवों के औपशमिक चारित्र होता है, इसलिए दूसरा औपशमिक चारित्र कहा है। इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई औपशमिकभाव नहीं है। [सूत्र ३]

जो-जो जीव धर्म के प्रारम्भ में प्रगट होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्व को पारिणामिकभाव के आश्रय से प्राप्त करते हैं, वे अपने में शुद्धि को बढ़ाते-बढ़ाते अन्त में सम्पूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेते हैं, इसलिए उन्हें सम्यक्त्व और चारित्र की पूर्णता होने के अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य - गुणों की पूर्णता प्रगट होती है। इन नौ भावों की प्राप्ति क्षायिकभाव से पर्याय में होती है, इसलिए फिर कभी विकार नहीं होता और वे जीव अनन्त काल तक प्रतिसमय सम्पूर्ण आनन्द भोगते हैं; इसलिए चौथे सूत्र में यह नौ भाव बतलाए हैं। उन्हें नवलब्धि भी कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान का विकास कम होने पर भी सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र के बल से वीतरागता प्रगट होती है, इसलिए उन दो शुद्ध पर्यायों के प्रगट होने के बाद शेष सात क्षायिक पर्यायें एक साथ प्रगट होती हैं; तब सम्यग्ज्ञान के पूर्ण होने पर केवलज्ञान भी प्रगट होता है। [सूत्र ४]

जीव में अनादि काल से विकार बना हुआ है, फिर भी उनके ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुण सर्वथा नष्ट नहीं होते, उनका विकास कम-बढ़ अंशतः रहता है। उपशम सम्यक्त्व द्वारा अनादिकालीन अज्ञान को दूर करने के बाद साधकजीवों को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, और उन्हें क्रमशः चारित्र प्रगट होता है, वे सब क्षायोपशमिकभाव हैं। [सूत्र ५]

जीव अनेक प्रकार का विकार करता है और उसके फलस्वरूप चतुर्गति में भ्रमण करता है; उसमें उसे स्वस्वरूप की विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान और विपरीत प्रवृत्ति होती है और इससे उसे कषाय भी होती है और फिर सम्यग्ज्ञान होने के बाद पूर्णता प्राप्त करने से पूर्व आंशिक कषाय होती है, जिससे उसकी भिन्न-भिन्न लेश्याएँ होती हैं। जीव, स्वरूप का आश्रय छोड़कर पराश्रय करता है, इसलिए रागादि विकार होते हैं; उसे औदयिकभाव कहते हैं। मोह सम्बन्धी यह भाव ही संसार है। [सूत्र ६]

सूत्र ७ - जीव में शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो प्रकार के पारिणामिकभाव हैं। [सूत्र ७ तथा उसके नीचे की टीका]

सूत्र ८-९ - जीव का लक्षण उपयोग है; छद्मस्थ जीव का ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्षायोपशमिक होने से अनेकरूप और कम-बढ़ होता है और केवलज्ञान क्षायिकभाव से प्रगट होने से एकरूप और पूर्ण होता है। [सूत्र ८-९]

सूत्र १० - जीव के दो भेद हैं - संसारी और मुक्त। उनमें से अनादि अज्ञानी संसारी जीव के तीन भाव (औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक) होते हैं। प्रथम धर्म प्राप्ति करने पर चार (औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद उपशमश्रेणी माँडनेवाले जीव के पाँचों भाव होते हैं और मुक्त जीवों के क्षायिक तथा पारिणामिक दो ही भाव होते हैं। [सूत्र १०]

सूत्र ११ - जीव ने स्वयं जिस प्रकार के ज्ञान, वीर्यादि के विकास की योग्यता प्राप्त की होती है, उस क्षायोपशमिकभाव के अनुकूल जड़ मन का सद्भाव या अभाव होता है। जब जीव मन की ओर अपना उपयोग लगाते हैं, तब उन्हें विकार होता है, क्योंकि मन परवस्तु हैं और जब जीव अपना पुरुषार्थ मन की ओर लगाकर ज्ञान या दर्शन का व्यापार करते हैं, तब द्रव्यमन पर निमित्तपने का आरोप आता है। वैसे द्रव्यमन कोई हानि या लाभ नहीं करता, क्योंकि वह परद्रव्य है। [सूत्र ११]

सूत्र १२-२० - अपने क्षायोपशमिक ज्ञानादि के अनुसार और नामकर्म के उदयानुसार ही जीव संसार में त्रस या स्थावर दशा को प्राप्त होता है। इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव के अनुसार जीव की दशा होती है। पहिले जो नामकर्म बँधा था, उसका उदय होने पर त्रस -स्थावरत्व का तथा जड़ इन्द्रियों और मन का संयोग होता है। [सूत्र १२ से १७ तथा १९ से २०]

ज्ञान के क्षायोपशमिकभाव के लब्धि और उपयोग दो प्रकार हैं। [सूत्र १८]

सूत्र २१ से ५३ - संसारी जीवों के औदयिकभाव होने पर जो कर्म एकक्षेत्रावगाहरूप से बँधते हैं, उनके उदय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध - जीव के क्षायोपशमिक तथा औदयिकभाव के साथ तथा मन, इन्द्रिय, शरीर, कर्म, नए भव के लिए क्षेत्रान्तर आकाश की श्रेणी, गति, नोकर्म का समय-समय ग्रहण तथा उनका अभाव, जन्म, योनि तथा आयु के साथ- कैसा होता है, यह बताया है। [सूत्र २१ से २६ तथा २८ से ५३]

सिद्धदशा के होने पर जीव का आकाश की किसी श्रेणी के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, यह २७वें सूत्र में बताया है। [सूत्र २७]

इससे यह समझना चाहिए कि जीव को विकारी या अविकारी अवस्था में जिन परवस्तुओं के साथ सम्बन्ध होता है, उन्हें जगत की अन्य परवस्तुओं से पृथक् समझने के लिए उतने ही समय के लिए उन्हें 'निमित्त' नाम देकर सम्बोधित किया जाता है; **किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि निमित्त की मुख्यता से किसी भी समय कार्य होता है।** इस अध्याय का २७वाँ सूत्र इस सिद्धान्त को स्पष्टतया सिद्ध करता है। मुक्त जीव स्वयं लोकाकाश के अग्रभाग में जाने की योग्यता रखते हैं और तब आकाश की जिस श्रेणी में से वे जीव पार होते हैं, उन श्रेणी को आकाश के अन्य भागों से तथा जगत के दूसरे समस्त पदार्थों से पृथक् करके पहिचान के लिए 'निमित्त' नाम (आरोपित करके) दिया जाता है।

७. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

यह सम्बन्ध २६-२७ वें सूत्र में चमत्कारिक ढंग से अत्यल्प शब्दों में कहा गया है। वह यहाँ बतलाया जाता है—

१- जीव की सिद्धावस्था के प्रथम समय में वह लोक के अग्रभाग में सीधी आकाशश्रेणी से मोड़ लिए बिना ही जाता है; यह सूत्र २६-२७ में प्रतिपादन किया गया है। जिस समय जीव लोकाग्र में जाता है, उस समय वह जिस आकाशश्रेणी में से जाता है। उसी क्षेत्र में धर्मास्तिकाय के और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ हैं, पृथक् परमाणु हैं, सूक्ष्म स्कन्ध हैं, कालाणु द्रव्य हैं, महास्कन्ध के प्रदेश हैं, निगोद के जीवों के तथा उनके शरीर के प्रदेश हैं तथा लोकान्त में (सिद्धशिला से ऊपर) पहिले मुक्त हुए जीवों के कितने ही प्रदेश हैं, उन सबमें से पार होकर जीव लोक के अग्रभाग में जाता

है। इसलिए अब उसमें उस आकाशश्रेणी में निमित्तत्व का आरोप आया और दूसरों में नहीं आया, इसके कारण की जाँच करने पर मालूम होता है कि वह मुक्त होनेवाला जीव किस आकाशश्रेणी में से होकर जाता है, इसका ज्ञान कराने के लिए उस 'आकाशश्रेणी' को निमित्त संज्ञा दी गई है; क्योंकि पहिले समय की सिद्धदशा को आकाश के साथ का सम्बन्ध बताने के लिए उस श्रेणी का भाग ही अनुकूल है, अन्य द्रव्य, गुण या पर्याय उसके लिए अनुकूल नहीं है।

२- सिद्धभगवान के उस समय के ज्ञान के व्यापार में सम्पूर्ण आकाश तथा दूसरे सब द्रव्य, उनके गुण तथा उनकी त्रिकालवर्ती पर्याएँ ज्ञेय होती हैं; इसलिए उसी समय ज्ञानमात्र के लिए वे सब ज्ञेय 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

३- सिद्धभगवान के उस समय के परिणमन को काल द्रव्य की उसी समय की पर्याय 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होती है, क्योंकि परिणमन में वह अनुकूल है, दूसरे अनुकूल नहीं हैं।

४- सिद्धभगवान की उस समय की क्रियावतीशक्ति के गति परिणाम को तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव को धर्मास्तिकाय के किसी आकाशक्षेत्र में रहनेवाले प्रदेश उसी समय 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होते हैं, क्योंकि गति में वही अनुकूल हैं, दूसरे नहीं।

५- सिद्धभगवान के ऊर्ध्वगमन के समय दूसरे द्रव्य (जो कि आकाशक्षेत्र में हैं, वे तथा शेष द्रव्य) भी 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होते हैं, क्योंकि उन सब द्रव्यों का यद्यपि सिद्धावस्था के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि विश्व को सदा शाश्वत रखता है, इतना बताने के लिए वह अनुकूल निमित्त है।

६- सिद्धभगवान की सम्पूर्ण शुद्धता के साथ कर्मों का अभावसम्बन्ध है, इतनी अनुकूलता बताने के लिए कर्मों का अभाव भी 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होता है, इस प्रकार अस्ति और नास्ति दोनों प्रकार के निमित्तपने का आरोप किया जाता है। किन्तु निमित्त को किसी भी प्रकार से मुख्यरूप से या गौणरूप से कार्यसाधक मानना गम्भीर भूल है। शास्त्रीय परिभाषा में उसे मिथ्यात्व और अज्ञान कहा जाता है।

७- निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है, इस प्रकार जीव अज्ञानदशा में मानता है; इसलिए अज्ञानियों की कैसी मान्यता होती है, यह बताने के लिए व्यवहार से निमित्त को जनक और नैमित्तिक को जन्य कहा जाता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते। उनका

वह ज्ञान सच्चा है, यह उपरोक्त पाँच पैरा बतलाते हैं, क्योंकि उसमें बताए गए अनन्त निमित्त या उनमें का कोई अंश भी सिद्धदशा का जनक नहीं हुआ और वे निमित्त या उनमें से किसी के अनन्तवें अंश से भी नैमित्तिक सिद्धदशा जन्य नहीं हुई।

८- संसारी जीव भिन्न-भिन्न गति के क्षेत्रों में जाते हैं, वे भी अपनी क्रियावतीशक्ति के उस-उस समय के परिणमन के कारण से जाते हैं; उसमें भी उपरोक्त पैरा १ से ५ में बताए गए अनुसार निमित्त होते हैं किन्तु क्षेत्रान्तर में धर्मास्तिकाय के प्रदेशों की उस समय की पर्याय के अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य, गुण या पर्याय निमित्त संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। उस समय अनेक कर्मों का उदय होने पर भी एक विहायोगति नामकर्म का उदय ही 'निमित्त' संज्ञा पाता है। गत्यानुपूर्वी कर्म के उदय को जीव के प्रदेशों के उस समय के आकार के साथ क्षेत्रान्तर के समय निमित्तपना है और जब जीव जिस क्षेत्र में स्थिर हो जाता है, उस समय अधर्मास्तिकाय के उस क्षेत्र के प्रदेशों की उस समय की पर्याय 'निमित्त' संज्ञा को प्राप्त होती है।

सूत्र २५ बतलाता है कि क्रियावतीशक्ति के उस समय के परिणमन के समय योग-गुण की जो पर्याय पाई जाती है, उसमें कार्मणशरीर निमित्त है, क्योंकि शरीर का उदय उसके अनुकूल है। कार्मणशरीर और तैजसशरीर अपनी क्रियावतीशक्ति के उस समय के परिणमन के कारण जाता है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है।

९- इस शास्त्र में निमित्त को किसी स्थान पर 'निमित्त' नाम से ही कहा गया है। [अध्याय १ सूत्र १४] और किसी स्थान पर उपकार, उपग्रह, इत्यादि नाम से कहा गया है, [अध्याय ५ सूत्र १७ से २०], भावअपेक्षा में उसका एक ही अर्थ होता है, किन्तु अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु का भला-बुरा होता है। यह बताने के लिए उसे 'उपकार' सहायक, बलाधान, बहिरङ्गसाधन, बहिरङ्गकारण, निमित्त और निमित्तकारण इत्यादि नाम से सम्बोधित करते हैं; किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे वास्तविक कारण या साधन हैं। एक द्रव्य को, उसके गुणों को या उसकी पर्यायों को दूसरे से पृथक् करके दूसरे के साथ उसका संयोगमात्र सम्बन्ध बताने के लिए उपरोक्त नामों से सम्बोधित किया जाता है। इन्द्रियों को, धर्मास्तिकाय को, अधर्मास्तिकाय इत्यादि को, बलाधानकारण के नाम से भी पहिचाना जाता है; किन्तु वह कोई भी सच्चा कारण नहीं है, फिर भी 'किसी

भी समय उनकी मुख्यता से कोई कार्य होता है' ऐसा मानना निमित्त को ही उपादान मानने के बराबर अथवा व्यवहार को ही निश्चय मानने के बराबर है।

१०- उपादानकारण के योग्य निमित्त संयोगरूप से उस-उस समय अवश्य होते हैं। ऐसा सम्बन्ध उपादानकारण की उस समय की परिणमनशक्ति को, जिस पर निमित्तत्व का आरोप आता है, उसके साथ है। उपादान को अपने परिणमन के समय उन-उन निमित्तों के आने के लिए राह देखनी पड़े और वे न आएँ, तब तक उपादान नहीं परिणमता, ऐसी मान्यता उपादान और निमित्त इन दो द्रव्यों को एकरूप मानने के बराबर है।

११- इसी प्रकार घड़े का कुम्भकार के साथ और रोटी का अग्नि, रसोइया इत्यादि के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझ लेना चाहिए। सम्यग्ज्ञान प्रगट करने के लिए जीव ने स्वयं अपने पुरुषार्थ से पात्रता प्राप्त की हो, फिर भी उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट करने के लिए सद्गुरु की राह देखनी पड़े, ऐसा नहीं होता, किन्तु वह संयोगरूप से उपस्थित होता ही है; इसलिए जब बहुत से जीव धर्म प्राप्त करने के लिए तैयार होते हैं, तब तीर्थङ्कर भगवान का जन्म होता है और वे योग्य समय में केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं तथा उनकी दिव्यध्वनि स्वयं प्रगट होती है - ऐसा समझना चाहिए।

८. तात्पर्य

तात्पर्य यह है कि इस अध्याय में कहे गये पाँच भाव तथा उनके दूसरे द्रव्यों के साथ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करके अन्य सब पर से लक्ष्य हटाकर परमपारिणामिक-भाव की ओर अपनी पर्याय को उन्मुख करने पर सम्यग्दर्शन होता है और फिर उस ओर बल बढ़ाने पर सम्यक्चारित्र होता है; यही धर्ममार्ग (मोक्षमार्ग) है।

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित
मोक्षशास्त्र के दूसरे अध्याय की
टीका समाप्त हुई।

मोक्षशास्त्र

अध्याय तीसरा

भूमिका

इस शास्त्र के पहिले अध्याय के पहिले सूत्र में निश्चय 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है'; दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है, यह बतलाया है। इससे यहाँ यह भी बतलाया है कि पुण्य से-शुभभाव से अथवा परवस्तु अनुकूल हो तो धर्म हो सकता है, ऐसा मानना भूल है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा की शुद्ध पर्याय है। यदि उसे एक शब्द में कहा जाए तो 'सत्य पुरुषार्थ' मोक्षमार्ग है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा की अपनी शुद्ध परिणति ही धर्म है; यह बतलाकर अनेकान्तस्वरूप बतलाया है। प्रथम सूत्र में जो पहिला शब्द 'सम्यग्दर्शन' कहा है, वह सूचित करता है कि धर्म का प्रारम्भ निश्चयसम्यग्दर्शन से ही होता है। उस अध्याय में निश्चयसम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है। तत्पश्चात् तत्त्वार्थ का स्वरूप समझाया है और सम्यग्ज्ञान के अनेक प्रकार बतलाकर मिथ्याज्ञान का स्वरूप भी समझाया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता (- एक ही) मोक्षमार्ग है - इस प्रकार पहिले सूत्र में स्पष्टतया बतलाकर घोषित किया है कि किसी समय उपादान की परिणति की मुख्यता से कार्य होता है और किसी समय संयोगरूप बाह्य अनुकूल निमित्त की (जिसे उपचारकारण कहा जाता है उसकी) मुख्यता से कार्य होता है - ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है।

दूसरे अध्याय से जीवतत्त्व की अधिकार प्रारम्भ किया है; उसमें जीव के स्वतत्त्वरूप-निजस्वरूप पाँच भाव बतलाए हैं। उन पाँच भावों में से सकलनिरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक परमभाव, (ज्ञायकभव) के आश्रय से धर्म होता है, यह बतलाने के लिए औपशमिकभाव जो कि धर्म का प्रारम्भ है, उसे पहिले भाव के रूप में वर्णन किया है। तत्पश्चात् जीव का लक्षण उपयोग है, यह बतलाकर उसके भेद बतलाए है और यह बतलाया है कि पाँच भावों के साथ परद्रव्यों का अर्थात् इन्द्रिय इत्यादि का कैसा सम्बन्ध होता है।

जीव का औदयिकभाव ही संसार है। शुभभाव का फल देवत्व है, अशुभभाव की

तीव्रता का फल नारकीपन है, शुभाशुभभावों की मिश्रता का फल मनुष्यत्व है और माया का फल तिर्यञ्चपना है। जीव अनादि काल से अज्ञानी है, इसलिए अशुद्धभावों के कारण उसका भ्रमण हुआ करता है। वह भ्रमण कैसा होता है ? – यह तीसरे और चौथे अध्याय में बतलाया है। उस भ्रमण में (भवों में) शरीर के साथ तथा क्षेत्र के साथ जीव का किस प्रकार का संयोग होता है, वह यहाँ बताया जा रहा है। माँस, शराब, इत्यादि के खान-पान के भाव, कठोर झूठ, चोरी, कुशील तथा लोभ इत्यादि के तीव्र अशुभभाव के कारण जीव नरकगति को प्राप्त करता है, उसका इस अध्याय में पहिले वर्णन किया है और तत्पश्चात् मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के क्षेत्र का वर्णन किया है।

चौथे अध्याय में देवगति से सम्बन्ध रखनेवाले विवरण बताए गए हैं।

इन दो अध्यायों का सार यह है कि जीव के शुभाशुभ विकारीभावों के कारण जीव का अनादि काल से परिभ्रमण हो रहा है, उसका मूलकारण मिथ्यादर्शन है, इसलिए भव्यजीवों को मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन का बल ऐसा है कि उससे क्रमशः सम्यक्चारित्र बढ़ता जाता है और चारित्र की पूर्णता करके, परम यथाख्यातचारित्र की पूर्णता करके, जीव सिद्धगति को प्राप्त करता है। अपनी भूल के कारण जीव की कैसी-कैसी गति हुई तथा उसने कैसे-कैसे दुःख पाए और बाह्य संयोग कैसे तथा कितने समय तक रहे, यह बताने के लिए अध्याय २-३-४ कहे गए हैं और उस भूल को दूर करने का उपाय पहिले अध्याय के पहिले सूत्र में बतलाया गया है।

अधोलोक का वर्णन

सात नरक पृथ्वियाँ

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोममहातमःप्रभा भूमयो
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥१ ॥

[१]**अर्थ** – अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा – ये सात भूमियाँ हैं और क्रम से नीचे-नीचे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाश का आधार है।

१. इस अध्याय में भूगोल सम्बन्धी वर्णन होने से, पहिले से अध्यायों की भाँति सूत्र के शब्द पृथक् करके अर्थ नहीं दिया गया है, किन्तु पूरे सूत्र का सीधा अर्थ दिया गया है।

टीका—१. रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं – खरभाग, पङ्कभाग और अब्बहुलभाग। उनमें में ऊपर के पहिले दो भागों में व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं और नीचे के अब्बहुलभाग में नारकी रहते हैं। इस पृथ्वी का कुल विस्तार एक लाख अस्सी हजार होता है। (२००० कोस का एक योजन होता है।)

२. इन पृथ्वियों के रूढ़िगत नाम ये हैं – १. धम्मा, २. वंशा, ३. मेघा, ४. अंजना, ५. अरिष्ठा, ६. मघवी और ७. माघवी।

३. अम्बु (घनोदधि) वातवलय = वाष्प का घना वातावरण।

घनवातवलय = घनी हवा का वातावरण।

तनुवातवलय = पतली हवा का वातावरण।

वातवलय = वातावरण।

'आकाश' कहने से यहाँ अलोकाकाश समझना चाहिए॥१॥

सात पृथ्वियों के बिलों की संख्या

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम्॥२॥

अर्थ – उन पृथ्वियों में क्रम से पहली पृथ्वी में ३० लाख, दूसरी में २५ लाख, तीसरी में १५ लाख, चौथी में १० लाख, पाँचवीं में ३ लाख, छठवीं में पाँच कम एक लाख (९९९९५) और सातवीं में ५ ही नरक बिल हैं। कुल ८४ लाख नरकवास बिल हैं।

टीका—कुछ लोग मनुष्यगति और तिर्यञ्चगति, यह दो ही गतियाँ मानते हैं, क्योंकि वे दो प्रकार के जीवों को ही देखते हैं। उनका ज्ञान संकुचित होने से वे ऐसा मानते हैं कि मनुष्य और तिर्यञ्चगति में जो तीव्र दुःख है, वही नरकगति है; दूसरी कोई नरकगति वे लोग नहीं मानते; परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि मनुष्य और तिर्यञ्चगति से जुदी ऐसी नरकगति उन जीवों के अशुभभाव का फल है। उसके अस्तित्व का प्रमाण निम्न प्रकार है—

नरकगति की प्रमाणता

जो जीव अति कठोर भयङ्कर दुष्कृत्य करते हैं और यह देखने की आवश्यकता नहीं समझते कि स्वयं पापकार्य करते समय दूसरे जीवों को क्या दुःख होता है तथा जो अपनी

अनुकूलतावाली एक पक्ष की दुष्टबुद्धि में एकाग्र रहते हैं, उन जीवों को उन क्रूर परिणामों के फलरूप निरन्तर अनन्त प्रतिकूलताएँ भोगने के स्थान अधोलोक में हैं, उसे नरकगति कहते हैं।

देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, यह चार गतियाँ सदा विद्यमान हैं, वे कल्पित नहीं किन्तु जीवों के परिणाम का फल है। जिसने दूसरे को मार डालने के क्रूरभाव किए, उसके भाव में, अपनी अनुकूलता को सिद्ध करने में बाधा डालनेवाले कितने जीव मार डाले जाएँ, जिनकी संख्या की कोई मर्यादा नहीं है तथा कितने काल तक मारे जाएँ, उसकी भी मर्यादा नहीं है, इसलिए उसका फल भी अपार-अनन्त दुःख भोगने का ही है, ऐसा स्थान नरक है, मनुष्यलोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है।

जो दूसरों को मारकर प्रतिकूलता को दूर करना चाहते हैं, वे जितने विरोधी मालूम होते हैं, उन सबको मारना चाहते हैं, चाहे प्रतिकूलता करनेवाले दो-चार हों या बहुत हों, उन सबका नाश करने की भावना का सेवन निरन्तर करते हैं। उनके अभिप्राय में अनन्त काल तक अनन्त भव धारण करने के भाव भरे पड़े हैं। उन भवों की अनन्तसंख्या के कारण में अनन्त जीवों को मारने का/संहार करने का अमर्यादित पापभाव है। जिस जीव ने कारण में अनन्त काल तक अनन्त जीवों को मारने के, बाधा डालने के भाव किए हैं, उसके फल में उस जीव को तीव्र दुःखों के संयोग में जाना पड़ता है और वह नरकगति है। लाखों खून (हत्या) करनेवाले को लाखों बार फाँसी मिलती हो, ऐसा इस लोक में नहीं होता; इसलिए उसे अपने क्रूरभावों के अनुसार पूरा फल नहीं मिलता; उसे अपने भावों का पूरा फल मिलने का स्थान बहुत काल तक अनन्त दुःख भोगने का क्षेत्र नरक है, वह नीचे शाश्वत है॥२॥

नारकियों के दुःखों का वर्णन

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

अर्थ - नारकी जीव सदैव ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया को धारण करते हैं।

टीका—१. लेश्या - यह द्रव्यलेश्या का स्वरूप है जो कि आयु पर्यन्त रहती है। यहाँ शरीर के रङ्ग को द्रव्यलेश्या कहा है। भावलेश्या अन्तर्मुहूर्त में बदल जाती है, उसका वर्णन यहाँ नहीं है। अशुभ लेश्या के भी तीन प्रकार हैं - कापोत, नील और कृष्ण। पहली और दूसरी पृथ्वी में कापोत लेश्या, तीसरी पृथ्वी में ऊपर के भाग में कापोत और नीचे के भाग

में नील, चौथी में नील, पाँचवीं में ऊपर के भाग में नील और नीचे के भाग में कृष्ण और छठवीं तथा सातवीं पृथ्वी में कृष्णलेश्या होती है।

२. परिणाम - यहाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द को परिणाम कहा है।

३. शरीर - पहली पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई ७ धनुष ३ हाथ और ६ अंगुल है, वह हुँडक आकार में होता है। तत्पश्चात् नीचे-नीचे की पृथ्वी के नारकियों के शरीर की ऊँचाई क्रमशः दूनी है।

४. वेदना - पहिले से चौथे नरक तक उष्ण वेदना है, पाँचवें के ऊपरी भाग में उष्ण और निचले भाग में शीत है तथा छट्ठे और सातवें में महाशीत वेदना है। नारकियों का शरीर वैक्रियिक होने पर भी उनके शरीर के वैक्रियिक पुद्गल मल, मूत्र, कफ, वमन, सड़ा हुआ मांस, हाड़ और चमड़ीवाले औदारिकशरीर से भी अत्यन्त अशुभ होते हैं।

५. विक्रिया - उन नारकियों के क्रूर सिंह व्याघ्रादिरूप अनेक प्रकार के रूप धारण करने की विक्रिया होती है॥ ३॥

नारकी जीव एक दूसरे को दुःख देते हैं

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

अर्थ - नारकी जीव परस्पर एक-दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं (वे कुत्ते की भाँति परस्पर लड़ते हैं) ॥४॥

विशेष दुःख

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ - और उन नारकियों के चौथी पृथ्वी से पहिले-पहिले (अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त) अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम के धारक अब-अम्बरिष आदि जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा दुःख पाते हैं अर्थात् अम्ब-अम्बरिष असुरकुमारदेव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवों को दुःख देते हैं तथा उनके पूर्व के वैर का स्मरण करा-कराके परस्पर लड़ाते हैं और दुःखी देख राजी होते हैं।

सूत्र ३-४-५ में नारकियों के दुःखों का वर्णन करते हुए उनके शरीर, उनका रङ्ग, स्पर्श इत्यादि को तथा दूसरे नारकियों और देवों को दुःख के कारण कहे हैं, वह उपचारकथन

है; वास्तव में वे कोई परपदार्थ दु:खों के कारण नहीं है तथा उनके संयोग से दु:ख नहीं होता। परपदार्थों के प्रति जीव की एकत्वबुद्धि ही वास्तव में दु:ख है, उस दु:ख के समय, नरकगति में निमित्तरूप बाह्यसंयोग कैसा होता है, उसका ज्ञान कराने के लिए यहाँ तीन सूत्र कहे हैं, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि वे शरीरादि वास्तव में दु:ख के कारण हैं।

नारकों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा
सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अर्थ - उन नरकों के नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रम से पहिले में एक सागर, दूसरे में तीन सागर, तीसरे में सात सागर, चौथे में दस सागर, पाँचवें में सत्रह सागर, छट्ठे में बाईस सागर और सातवें में तेतीस सागर हैं।

टीका—१. नारकगति में भयानक दु:ख होने पर भी नारकियों की आयु निरुपक्रम है - उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

२. आयु का यह काल वर्तमान मनुष्यों की आयु की अपेक्षा लम्बा लगता है, परन्तु जीव अनादि काल से है और मिथ्यादृष्टिपन के कारण यह नारकीपना जीव ने अनन्त बार भोगा है। अध्याय २ सूत्र १० की टीका में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावपरिभ्रमण (परावर्तन) का जो स्वरूप दिया गया है, उसके देखने से मालूम होगा कि यह काल तो महासागर की एक बूँद से भी बहुत कम है।

३. नारकी जीवों को जो भयानक दु:ख होते हैं, उनका वास्तविक कारण भयानक शरीर, वेदना, मारपीट, तीव्र उष्णता, तीव्र शीलता इत्यादि नहीं हैं, परन्तु मिथ्यात्व के कारण उन संयोगों के प्रति अनिष्टपने की खोटी कल्पना करके जीव तीव्र आकुलता करता है, उसका दु:ख है। परसंयोग अनुकूल-प्रतिकूल होता ही नहीं, परन्तु वास्तव में जीव के ज्ञान के क्षयोपशम-उपयोग के अनुसार ज्ञेय (ज्ञान में ज्ञात होने योग्य) पदार्थ हैं; उन पदार्थों को देखकर जब अज्ञानी जीव दु:ख की कल्पना करता है, तब परद्रव्यों पर यह आरोप होता है कि वे दु:ख में निमित्त हैं।

४. शरीर चाहे जितना खराब हो, खाने को भी न मिलता हो, पीने को पानी भी न मिलता हो, तीव्र गर्मी या ठण्ड हो और बाह्य संयोग (अज्ञानदृष्टि से) चाहे जितने प्रतिकूल

हों, परन्तु वे संयोग जीव को सम्यग्दर्शन (धर्म) करने में बाधक नहीं होते, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कभी बाधा नहीं डाल सकता। नरकगति में भी पहिले से सातवें नरक तक ज्ञानी पुरुष के सत्समागम से पूर्वभव में सुने गए, आत्मस्वरूप के संस्कार ताजे करके नारकी जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं। तीसरे नरक तक के नारकी जीवों को पूर्वभव का कोई सम्यग्ज्ञानी मित्र देव आत्मस्वरूप समझाता है तो उसके उपदेश को सुनकर यथार्थ निर्णय करके वे जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

५. इससे सिद्ध होता है कि 'जीवों का शरीर अच्छा हो, खाना-पीना ठीक मिलता हो और बाह्य संयोग अनुकूल हों, तो धर्म हो सकता है और उनकी प्रतिकूलता होने पर जीव धर्म नहीं कर सकता' - यह मान्यता ठीक नहीं है। पर को अनुकूल करने में प्रथम लक्ष्य रोकना और उसके अनुकूल होने पर धर्म को समझना चाहिए - इस मान्यता में भूल है, क्योंकि धर्म पराधीन नहीं किन्तु स्वाधीन है और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रगट किया जा सकता है।

६. प्रश्न - यदि बाह्य संयोग और कर्मों का उदय धर्म में बाधक नहीं है तो नारकी जीव चौथे गुणस्थान से ऊपर क्यों नहीं जाते?

उत्तर - पहिले उन जीवों ने अपने पुरुषार्थ की बहुत विपरीतता की है और वे वर्तमान में अपनी भूमिका के अनुसार मन्द पुरुषार्थ करते हैं, इसलिए उन्हें ऊपर चढ़ने में विलम्ब होता है।

७. प्रश्न - सम्यग्दृष्टि को नरक में कैसा दुःख होता है?

उत्तर - नरक या किसी क्षेत्र के कारण किसी भी जीव को सुख-दुःख नहीं होता किन्तु अपनी नासमझी के कारण दुःख और अपनी सच्ची समझ के कारण सुख होता है; किसी को परवस्तु के कारण सुख-दुःख या हानि-लाभ हो ही नहीं सकता। अज्ञानी नारकी जीव को जो दुःख होता है, वह अपनी विपरीत मान्यतारूप दोष के कारण होता है, बाह्य-संयोग के अनुसार या संयोग के कारण दुःख नहीं होता। अज्ञानी जीव परवस्तु को कभी प्रतिकूल मानते हैं और इसलिए वे अपनी अज्ञानता के कारण दुःखी होते हैं और कभी पर वस्तुएँ अनुकूल हैं - ऐसा मानकर सुख की कल्पना करते हैं; इसलिए अज्ञानी जीव, परद्रव्यों के प्रति इष्टत्व-अनिष्टत्व की कल्पना करते हैं।

सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों के अनन्त संसार का बन्धन करनेवाली कषाय दूर हो गई है, स्वरूपाचरण की आंशिक शान्ति निरन्तर है, इसलिए उतना सच्चा सुख उन्हें नरक में

भी निरन्तर मिलता है। जितनी कषाय है, उतना अल्प दु:ख होता है किन्तु वह कुछ भवों के बाद ही उस अल्प दु:ख का भी नाश कर देंगे। वे पर को दु:खदायक नहीं मानते, किन्तु अपनी असावधानी को दु:ख का कारण मानते हैं, इसलिए वे अपनी असावधानी को दूर करते जाते हैं। असावधानी दो प्रकार की है – स्वरूप की मान्यता की और स्वरूप के आचरण की। उसमें से पहले प्रकार की असावधानी सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर दूर हो जाती है और दूसरे प्रकार की असावधानी को वे टालते जाते हैं।

८. सम्यग्दर्शन प्रगट करके अर्थात् सम्यग्दृष्टि होने के बाद जीव नरक आयु का बन्ध नहीं करता, किन्तु सम्यग्दर्शन के प्रगट करने से पूर्व उस जीव ने नरकायु का बन्ध किया हो तो वह पहले नरक में जाता है, किन्तु वहाँ उसकी अवस्था पैरा ७ में बताए गए अनुसार होती है।

९. पहले से चौथे नरक तक से निकलकर मनुष्य हुए जीवों में से योग्य जीव उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। पाँचवें नरक से निकलकर मनुष्य हुए पात्र जीव सच्चा मुनित्व धारण कर सकते हैं, छट्ठे नरक से निकलकर मनुष्य हुए पात्र जीव पाँचवें गुणस्थान तक जा सकते हैं और सातवें नरक से निकले हुए जीव क्रूर तिर्यञ्चगति में ही जाते हैं, यह भेद जीवों के पुरुषार्थ की तारतम्यता के कारण होते हैं।

१०. प्रश्न – सम्यग्दृष्टि जीवों को अभिप्राय नरक में जाने का नहीं होता, फिर भी यदि कोई सम्यग्दृष्टि नरक में पहुँच जाए तो वहाँ तो जड़कर्म का जोर है और जड़कर्म जीव को नरक में ले जाता है, इसलिए जाना पड़ता है, यह बात ठीक है या नहीं?

उत्तर – यह बात ठीक नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, इसलिए जड़कर्म, जीव को नरक में ले जाता हो, ऐसा नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि कोई जीव नरक में जाना नहीं चाहता, तो भी जो जीव नरक में जाने लायक होते हैं, वे जीव अपनी क्रियावतीशक्ति के परिणमन के कारण वहाँ जाते हैं, उस समय कार्मण और तैजस शरीर भी उनकी अपनी (पुद्गल परमाणुओं की) क्रियावतीशक्ति के परिणमन के कारण उस क्षेत्र में जीव के साथ जाते हैं।

और अभिप्राय तो श्रद्धागुण की पर्याय हैं तथा इच्छा चारित्रगुण की विकारी पर्याय है। द्रव्य का हर एक गुण स्वतन्त्र और असहाय है। इसलिए जीव की इच्छा अथवा अभिप्राय चाहे जैसा हो, फिर भी जीव की क्रियावतीशक्ति का परिणमन उससे (अभिप्राय और इच्छा से) स्वतन्त्ररूप से और उस समय की उस पर्याय के धर्मानुसार होता है। वह क्रियावतीशक्ति

ऐसी है कि जीव को किस क्षेत्र में ले जाना चाहिए, इसका ज्ञान होने की उसे आवश्यकता नहीं है। नरक में जानेवाले वे जीव उनकी आयुपर्यन्त उस क्षेत्र के संयोग के योग्य होते हैं और तब उन जीवों के ज्ञान का विकास भी उस-उस क्षेत्र में रहनेवाले जीवों तथा पदार्थों के जानने के योग्य होता है। नरकगति का भव अपने पुरुषार्थ के दोष से बँधा था, इसलिए योग्य समय में उसके फलरूप से जीव की अपनी योग्यता के कारण नारकी का क्षेत्र संयोगरूप से होता है; कर्म उसे नरक में नहीं ले जाता। कर्म के कारण जीव नरक में जाता है, यह कहना मात्र उपचार कथन है, जीव का कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए शास्त्रों में वह कथन किया गया है, न कि वास्तव में जड़कर्म जीव को नरक में ले जाते हैं। वास्तव में कर्म जीव को नरक में ले जाते हैं, यह मानना मिथ्या है।

११. सागर-काल का परिणाम

१. सागर = दश × करोड़ × करोड़ = अद्धापल्य।

१. अद्धापल्य = एक गोल खड्डा जिसका व्यास (Diametre) एक योजन (=२००० कोस) और गहराई भी उतनी ही हो; उसे उत्तम भोगभूमि के सात दिन के भेड़ के बच्चे के बालों से ठसाठस भरकर उसमें से प्रति सौ वर्ष में एक बाल निकालने पर जितने समय में गड्डा खाली हो जाए, उतने समय का एक व्यवहारकल्प है, ऐसे असंख्यात व्यवहारकल्प = एक उद्धारपल्य। असंख्यात उद्धारपल्य = एक अद्धापल्य।

इस प्रकार अधोलोक का वर्णन पूरा हुआ॥६॥

मध्यलोक का वर्णन

कुछ द्वीप समुद्रों के नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

अर्थ - इस मध्यलोक में अच्छे-अच्छे नामवाले जम्बूद्वीप इत्यादि द्वीप और लवणसमुद्र इत्यादि समुद्र हैं।

टीका—सबसे बीच में थाली के आकार जम्बूद्वीप है, जिसमें हम लोग और श्री सीमन्धरप्रभु इत्यादि रहते हैं। उसके बाद लवणसमुद्र है। उसके चारों ओर घातकीखण्ड द्वीप है, उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र है, उसके चारों ओर पुष्करवर द्वीप है और उसके चारों

ओर पुष्करवर समुद्र है – इस तरह एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र है, सबसे अन्तिम द्वीप, स्वयंभूरमण द्वीप हैं और अन्तिम समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार तथा आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थ – प्रत्येक द्वीप-समुद्र दूने-दूने विस्तारवाले और पहिले-पहिले के द्वीप समुद्रों को घेरे हुए चूड़ी के आकारवाले हैं॥८॥

जम्बूद्वीप का विस्तार तथा आकार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

अर्थ – उन सब द्वीप-समुद्रों के बीच में जम्बूद्वीप हैं, उसकी नाभि के समान सुदर्शन मेरु है तथा जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है और एक लाख योजन उसका विस्तार है।

टीका—१. सुदर्शन मेरु की ऊंचाई एक लाख योजन की है, उसमें से वह एक हजार योजन नीचे जमीन में और निन्यानवे हजार योजन जमीन के ऊपर है; इसके अतिरिक्त ४० योजन की चूलिका है। [सभी अकृत्रिम वस्तुओं के माप में २००० कोस का योजन लिया जाता है, उसके अनुसार यहाँ समझना चाहिए।]

२. कोई भी गोल परिधि उसके व्यास से, तिगुने से कुछ अधिक (२२/७) होती है। जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोस १२८ धनुष १३॥ अंगुल से कुछ अधिक है।

३. इस द्वीप के विदेहक्षेत्र में विद्यमान उत्तरकुरु भोगभूमि में अनादिनिधन पृथ्वीकायरूप अकृत्रिम परिवारसहित जम्बूवृक्ष है, इसलिए इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है।

सात क्षेत्रों के नाम

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ – इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

टीका—जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हम लोग रहते हैं, विदेहक्षेत्र में बीस विहरमान

तीर्थङ्करों में से श्री सीमन्धरादि चार तीर्थङ्कर जम्बूद्वीप के विदेह में विचरते हैं ॥१०॥

क्षेत्रों के सात विभाग करनेवाले छह पर्वतों के नाम

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महामहिमवन्निषधनीलरुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

अर्थ - उन सात क्षेत्रों का विभाग करनेवाले पूर्व से पश्चिम तक लम्बे १- हिमवत्, २- महाहिमवत्, ३- निषध, ४- नील, ५- रुक्मि और ६- शिखरिन् ये छह वर्षधर - कुलाचलपर्वत हैं। [वर्ष = क्षेत्र] ॥११॥

कुलाचलों का रङ्ग

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

अर्थ - ऊपर कहे गए पर्वत क्रम से १- स्वर्ण, २- चाँदी, ३- तपाया सोना, ४- वैडूर्य (नील) मणि, ५- चाँदी और ६- स्वर्ण जैसे रङ्ग के हैं ॥१२॥

कुलाचलों का विशेष स्वरूप

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थ - इन पर्वतों का तट चित्र-विचित्र मणियों का है और ऊपर-नीचे तथा मध्य में एक समान विस्तारवाला है॥ १३॥

कुलाचलों के ऊपर स्थित सरोवरों के नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

अर्थ - इन पर्वतों के ऊपर क्रम से १- पद्म, २- महापद्म, ३- तिगिञ्छ, ४- केशरि, ५- महापुण्डरीक और ६- पुण्डरीक नाम के ह्रद-सरोवर हैं ॥१४॥

प्रथम सरोवर की लम्बाई-चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

अर्थ - पहला पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा और लम्बाई से आधा अर्थात् पाँच सौ योजन चौड़ा है ॥१५॥

प्रथम सरोवर की गहराई (ऊँचाई)

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

अर्थ - पहला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई) वाला है ॥१६॥

उसके मध्य में क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

अर्थ - उसके बीच में एक योजन विस्तारवाला कमल है ॥१७॥

महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहनेवाले कमलों का प्रमाण

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ॥१८॥

अर्थ - आगे के सरोवर तथा कमल पहले के सरोवर तथा कमलों से क्रम से दूने-दूने विस्तारवाले हैं।

टीका—यह दूना-दूना क्रम तिगिञ्छ नाम के तीसरे सरोवर तक है, बाद में उसके आगे के तीन सरोवर तथा उनके तीन कमल दक्षिण के सरोवर और कमलों के समान विस्तारवाले हैं ॥१८॥

ह्रदों का विस्तार आदि

नं.	ह्रद का नाम	स्थान	लम्बाई योजन	चौड़ाई योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
१	पद्म	हिमवन्	१०००	५००	१०	१	श्री
२	महापद्म	महाहिमवन्	२०००	१०००	२०	२	ह्री
३	तिगिञ्छ	निषध	४०००	२०००	४०	४	धृति
४	केशरी (केशरिन)	नील	४०००	२०००	४०	४	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	रुक्मिन्	२०००	१०००	२०	२	बुद्धि
६	पुण्डरीक	शिखरिन्	१०००	५००	१०	१	लक्ष्मी

छह कमलों में रहनेवाली छह देवियाँ

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः
पल्योपमस्थितयः, ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

अर्थ - एक पल्योपम आयुवाली और सामानिक तथा पारिषद जाति के देवों सहित श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियाँ क्रम से उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं।

टीका—ऊपर कहे हुए कमलों की कर्णिका के मध्यभाग में एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और एक कोस से कुछ कम लम्बे सफेद रङ्ग के भवन हैं, उस में वे देवियाँ रहती है और उन तालाबों में जो अन्य परिवार कमल हैं, उनके ऊपर सामाजिक तथा पारिषद देव रहते हैं॥१९॥

चौदह महा नदियों के नाम

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा नारीनरकांता-
सुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

अर्थ - (भरत में) गंगा, सिन्धु; (हैमवत् में) रोहित, रोहितास्या; (हरिक्षेत्र में) हरित, हरिकान्ता; (विदेह में) सीता, सीतोदा; (रम्यक् में) नारी नरकान्ता; (हैरण्यवत् में) स्वर्णकूला रूप्यकूला और (ऐरावत में) रक्ता-रक्तोदा; इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात क्षेत्रों में चौदह नदियाँ बीच में बहती हैं।

टीका—पहिले पद्म सरोवर में पहिली तीन, छट्ठे पुण्डरीक नामक सरोवर से अन्तिम तीन तथा बाकी के सरोवरों में से दो-दो नदियाँ निकलती हैं॥२०॥

नदियों के बहने का क्रम

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

अर्थ - (ये चौदह नदियाँ दो के समूह में लेना चाहिए) हर एक दो के समूह में से पहली नदी पूर्व की ओर बहती है (और उस दिशा के समुद्र में मिलती है।) ॥२१॥

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

अर्थ - बाकी रही सात नदियाँ पश्चिम की ओर जाती है (और उस तरफ के समुद्र में मिलती है।) ॥२२॥

इन चौदह महा नदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अर्थ - गंगा-सिन्धु आदि नदियों के युगल चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए हैं।

टीका— सहायक नदियों की संख्या का क्रम भी विदेहक्षेत्र तक आगे के युगलों में पहिले युगलों से दूना-दूना है, और उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के तीन क्षेत्रों के समान हैं।

नदी युगल	**सहायक नदियों की संख्या**
गंगा-सिन्धु	१४ हजार
रोहित-रोहितास्या	२८ हजार
हरित-हरिकान्ता	५६ हजार
सीता-सीतोदा	१ लाख १२ हजार
नारी-नरकान्ता	५६ हजार
स्वर्णकूला-रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता-रक्तोदा	१४ हजार

भरतक्षेत्र का विस्तार

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्
चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

अर्थ - भरतक्षेत्र का विस्तार, पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से ६ भाग अधिक हैं।

टीका— १. भरतक्षेत्र का विस्तार ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन है। (देखो, सूत्र ३२)

२. भरत और ऐरावतक्षेत्र के बीच में पूर्व-पश्चिम तक लम्बा विजयार्धपर्वत है

जिससे गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियों के कारण दोनों क्षेत्रों के छह-छह खण्ड हो जाते हैं; उनमें बीच का आर्यखण्ड और बाकी के पाँच म्लेच्छखण्ड हैं। तीर्थङ्करादि पदवीधारी पुरुष भरत-ऐरावत के आर्यखण्ड में तथा विदेहक्षेत्रों में ही जन्म लेते हैं ॥२४॥

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

अर्थ - विदेहक्षेत्र तक के पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्र से दूने-दूने विस्तारवाले हैं ॥२५॥

विदेहक्षेत्र के आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

अर्थ - विदेहक्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तारवाले हैं।

टीका—क्षेत्रों और पर्वतों का प्रकार नीचे प्रमाण है—

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार-योजन	ऊँचाई	ऊँड़ाई
१. भरतक्षेत्र	५२६$\frac{१}{१९}$ ''	×	×
२. हिमवत् कुलाचल	१०५२$\frac{२}{१९}$ ''	१०० यो०	२५ यो०
३. हेमवत्क्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$ ''	×	×
४. महा हिमवत् कुलाचल	४२१०$\frac{१०}{१९}$ ''	२०० यो०	५० यो०
५. हरिक्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$ ''	×	×
६. निषध कुलाचल	१६८४२$\frac{२}{१९}$ ''	४०० यो०	१०० यो०
७. विदेहक्षेत्र	३३६८४$\frac{४}{१९}$ ''	×	×
८. नील कुलाचल	१६८४२$\frac{१२}{१९}$ ''	४०० यो०	१०० यो०
९. रम्यक्क्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१७}$ ''	×	×
१०. रुक्मिकुलाचल	४२१०$\frac{१०}{१९}$ ''	२०० यो०	५० यो०
११. हैरण्यक्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१}$ ''	×	×
१२. शिखरी कुलाचल	१०५२$\frac{१२}{१९}$ ''	१०० यो०	२५ यो०
१३. ऐरावतक्षेत्र	५२६$\frac{१६}{१९}$ ''	×	×

[कुलाचल का अर्थ पर्वत समझना]

भरत और ऐरावतक्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

अर्थ - छह कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावतक्षेत्र में जीवों के अनुभवादि की वृद्धि-हानि होती रहती है।

टीका—१. बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं - (१) उत्सर्पिणी - जिसमें जीवों के ज्ञानादि की वृद्धि होती है, और (२) अवसर्पिणी - जिसमें जीवों के ज्ञानादि का ह्रास होता है।

अवसर्पिणी के छह भेद हैं - (१) सुषमसुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमदुःषमा, (४) दुःषमसुषमा, (५) दुःषमा और (६) दुषमादुःषमा। इसी तरह उत्सर्पिणी के भी दुःषमदुःषमा से प्रारम्भ करके सुषमसुषमा तक छह भेद समझना चाहिए।

२. (१) सुषमसुषमा का काल चार कोड़ाकोड़ा सागर, (२) सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागर, (३) सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर, (४) दुःषमसुषमा एक कोड़ाकोड़ी सागर में ४२ हजार वर्ष कम, (५) दुःषमा २१ हजार वर्ष और (६) दुःषमदुःषमा (अतिदुःषमा) २१ हजार वर्ष का है।

भरत-ऐरावतक्षेत्र में यह छह भेदसहित परिवर्तन हुआ करता है, असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इस समय हुण्डावसर्पिणी काल चलता है।

३. भरत-ऐरावतक्षेत्र के म्लेच्छखण्डों तथा विजयार्धपर्वत की श्रेणियों में अवसर्पिणी काल के चतुर्थ (दुःषमसुषमा) काल के प्रारम्भ से अवसर्पिणी काल के अन्त तक परिवर्तन हुआ करता है और उत्सर्पिणी काल के तीसरे (दुःषमसुषमा) काल के आदि से उत्सर्पिणी के अन्त तक परिवर्तन हुआ करता है, इनमें आर्यखण्डों की तरह छहों कालों का परिवर्तन नहीं होता और उनमें प्रलयकाल भी नहीं होता।

४. भरत-ऐरावतक्षेत्र के मनुष्यों की आयु तथा ऊँचाई।

आरा (काल)	**आयु**		**ऊँचाई**	
	प्रारम्भ में	अन्त में	प्रारम्भ में	अन्त में
१	३ पल्य	२ पल्य	३ कोस	२ कोस
२	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस

३	१ पल्य	१ कोटी पूर्व	१ कोस	५०० धनुष
४	१ कोटी पूर्व	१२० वर्ष	५०० धनुष	७ हाथ
५	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ
६	२० वर्ष	१५ वर्ष	२ हाथ	१ हाथ

मनुष्यों का आहार

काल	आहार	
	चौथे दिन के बेर के बराबर	
२	एक दिन के अन्तर से बहेड़ा फल के बराबर	तीसरे काल तक भरत-ऐरावत क्षेत्र में भोगभूमि रहती है।
३	एक दिन के अन्तर से आँवला बराबर	
४	रोज एक बार	
५	कई बार	
६	अति प्रचुरवृत्ति, मनुष्य, नग्न, मछली इत्यादि के आहार, मुनि-श्रावकों का अभाव, धर्म का नाश ॥२७॥	

अन्य भूमियों की व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

अर्थ - भरत और ऐरावतक्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में एक ही अवस्था रहती है - उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता ॥२८॥

हैमवतक इत्यादि क्षेत्रों में आयु

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेवकुरवकाः ॥२९॥

अर्थ - हैमवतक, हारिवर्षक और देवकुरु (विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के मनुष्य, तिर्यञ्च क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं।

टीका—इन तीन क्षेत्रों के मनुष्यों की ऊँचाई क्रम से एक, दो और तीन कोस की होती है। शरीर का रङ्ग नील, शुक्ल और पीत होता है ॥२९॥

हैरण्यवतकादि क्षेत्रों में आयु

तथोत्तराः ॥३०॥

अर्थ - उत्तर के क्षेत्रों में रहनेवाले मनुष्य भी हैमवतकादिक के मनुष्यों के समान आयुवाले होते हैं।

टीका—१. हैरण्यवतक क्षेत्र की रचना हैमवत के समान, रम्यक्क्षेत्र की रचना हरिक्षेत्र के समान और उत्तरकुरु (विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत स्थान विशेष) की रचना देवकुरु के समान है।

२. भोगभूमि - इस तरह उत्तम, मध्यम और जघन्यरूप तीन भोगभूमि के दो-दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप में छह भोगभूमियाँ और अढ़ाई द्वीप में कुल ३० भोगभूमियाँ हैं। जहाँ सर्व प्रकार की सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है, उन्हें भोगभूमि कहते हैं॥३०॥

विदेहक्षेत्र में आयु की व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

अर्थ - विदेहक्षेत्रों में मनुष्य और तिर्यञ्चों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

टीका—विदेहक्षेत्र में ऊँचाई पाँच सौ धनुष और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की होती है॥३१॥

भरतक्षेत्र का दूसरी तरह से विस्तार

भरतस्य विष्कंभो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थ - भरतक्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के एक सौ नव्वेवाँ (१९०) भाग के बराबर हैं।

टीका—२४वें सूत्र में भरतक्षेत्र का विस्तार आया है, उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है, मात्र कहने का प्रकार भिन्न है। जो एक लाख के १९० हिस्से किए जाएँ तो हर एक हिस्से का प्रमाण ५२६ योजन होता है॥३२॥

धातकीखण्ड का वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

अर्थ - धातकीखण्ड नाम के दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी इत्यादि सब पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है।

टीका— धातकीखण्ड लवणसमुद्र को घेरे हुए है। उसका विस्तार चार लाख योजन है। उसके उत्तरकुरु प्रान्त में धातकी (आंवले) के वृक्ष हैं, इसलिए उसे धातकीखण्ड कहते हैं ॥३३॥

पुष्करार्धद्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

अर्थ - पुष्करार्द्ध द्वीप में भी सब रचना जम्बूद्वीप की रचना से दूनी-दूनी है।

टीका— पुष्करवरद्वीप का विस्तार १६ लाख योजन है, उसके बीच में चूड़ी के आकार मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। जिससे उस द्वीप के दो हिस्से हो गए हैं। पूर्वार्ध में सारी रचना धातकीखण्ड के समान है और जम्बूद्वीप से दूनी है। इस द्वीप के उत्तरकुरु प्रान्त में एक पुष्कर (कमल) है, इसलिए उसे पुष्करवरद्वीप कहते हैं ॥३४॥

मनुष्यक्षेत्र

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

अर्थ - मानुषोत्तरपर्वत तक अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं, मानुषोत्तरपर्वत से परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नहीं जा सकते।

टीका— १. जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करार्ध-इतना क्षेत्र अढ़ाई द्वीप है, इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

२. केवल समुद्घात और मारणान्तिक समुद्घात के प्रसङ्ग के अतिरिक्त मनुष्य के आत्मप्रदेश ढाई द्वीप के बाहर नहीं जा सकते।

३. आगे चलकर आठवां नन्दीश्वर द्वीप है, उसकी चारों दिशा में चार अञ्जनगिरि पर्वत, सोलह दधिमुखपर्वत और बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। उनके ऊपर मध्यभाग में जिनमन्दिर हैं। नन्दीश्वर द्वीप में इस प्रकार बावन जिनमन्दिर हैं। बारहवाँ कुण्डलवर द्वीप है, उसमें चार दिशा के मिलाकर चार जिनमन्दिर हैं। तेरहवाँ रुचकवर नाम का द्वीप है, उसके बीच में रुचक नाम का पर्वत है, उस पर्वत के ऊपर चारों दिशा में चार जिनमन्दिर हैं, वहाँ पर देव

जिनपूजन के लिए जाते हैं। इस पर्वत के ऊपर अनेक कूट हैं, उनमें अनेक देवियों के निवास हैं। वे देवियाँ तीर्थङ्करप्रभु के गर्भ और जन्मकल्याणक में प्रभु की माता की अनेक प्रकार से सेवा करती हैं ॥३५॥

मनुष्यों के भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

अर्थ - आर्य और म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के हैं।

टीका—१. आर्यों के दो भेद हैं - ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनऋद्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धिप्राप्त आर्य = जिन आर्य जीवों को विशेष शक्ति प्राप्त हो।

अनऋद्धिप्राप्त आर्य = जिन आर्य जीवों को विशेष शक्ति प्राप्त नहीं हो।

ऋद्धिप्राप्त आर्य

२. ऋद्धिप्राप्त आर्य के आठ भेद हैं - (१) बुद्धि, (२) क्रिया, (३) विक्रिया, (४) तप, (५) बल, (६) औषध, (७) रस और (८) क्षेत्र। इन आठ ऋद्धियों के स्वरूप कहते हैं।

३. बुद्धिऋद्धि - बुद्धिऋद्धि के अठारह भेद हैं - (१) केवलज्ञान, (२) अवधिज्ञान, (३) मन:पर्ययज्ञान, (४) बीजबुद्धि, (५) कोष्ठबुद्धि, (६) पदानुसारिणी, (७) सम्भिन्नश्रोतृत्व, (८) दूरास्वादनसमर्थता, (९) दूरदर्शनसमर्थता, (१०) दूरस्पर्शनसमर्थता, (११) दूरघ्राणसमर्थता, (१२) दूरश्रोतृसमर्थता, (१३) दशपूर्वित्व, (१४) चतुर्दशपूर्वित्व, (१५) अष्टाङ्गनिमित्तता, (१६) प्रज्ञाश्रमणत्व, (१७) प्रत्येकबुद्धता, और (१८) वादित्व; इनका स्वरूप निम्नप्रकार है -

(१-३) केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान - इन तीनों का स्वरूप अध्याय १, सूत्र २१ से २५ तथा २७ से ३० तक में आ गया है।

(४) बीजबुद्धि - एक बीजपद के (मूलपद के) ग्रहण करने से अनेक पद और अनेक अर्थों का जानना, सो बीजबुद्धि है।

(५) कोष्ठकबुद्धि - जैसे कोठार में रखे हुए धान्य, बीज इत्यादि बहुत समय तक जैसे के तैसे बने रहते हैं। घटते-बढ़ते नहीं हैं, परस्पर मिलते नहीं हैं; उसी प्रकार दूसरे

के उपदेश से ग्रहण किए हुए बहुत से शब्द, अर्थ, बीज जिस बुद्धि में जैसे के तैसे रहते हैं, एक अक्षर घट-बढ़ नहीं होते, आगे-पीछे अक्षर नहीं होते, वह कोष्ठबुद्धि है।

(६) **पदानुसारिणीबुद्धि** - ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त का एक पद श्रवण करके समस्त ग्रन्थ तथा उसके अर्थ का निश्चय करना, सो पदानुसारिणीबुद्धि है।

(७) **सम्भिन्नश्रोतृत्वबुद्धि** - चक्रवर्ती की छावनी चार योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी पड़ी होती है, उसमें हाथी, घोड़ा, ऊँट, मनुष्यादि के जुदे-जुदे प्रकार के अक्षर-अनक्षरात्मक शब्द एक समय एक साथ उत्पन्न होते हैं, उसे तपविशेष के कारण (वीर्यान्तराय श्रुतज्ञानान्तराय तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर) एक काल में जुदे-जुदे श्रवण करना, सो सम्भिन्नश्रोतृत्वबुद्धि है।

(८) **दूरास्वादनसमर्थताबुद्धि** - तपविशेष के कारण (प्रगट होनेवाले असाधारण रसनेन्द्रिय श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम और आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से) मुनि को रस का जो विषय नौ योजन प्रमाण होता है, उसके रसास्वादन की (रस जानने की) सामर्थ्य होता, सो दूरास्वादनसमर्थताबुद्धि है।

(९-१२) **दूरदर्शन-स्पर्शन-घ्राण-श्रोतृसमर्थताबुद्धि** - ऊपर लिखे अनुसार चक्षु-रिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय के क्षेत्र से बाहर बहुत से क्षेत्रों के रूप, स्पर्श, गन्ध और शब्द को जानने की सामर्थ्य का होना, सो उस-उस नाम की चार प्रकार की बुद्धि है।

(१३) **दशपूर्वित्वबुद्धि** - महारोहिणी इत्यादि विद्या-देवता तीन बार आवें और हर-एक अपना-अपना स्वरूपसामर्थ्य प्रगट करें, ऐसे वेगवान विद्या-देवताओं के लोभादि से जिनका चारित्र चलायमान नहीं होता, उसे दशपूर्वित्वबुद्धि कहते हैं।

(१४) **चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि** - सम्पूर्ण श्रुतकेवलित्व का होना चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि है।

(१५) **अष्टाङ्गनिमित्ततबुद्धि** - अन्तरिक्ष, भोम, अङ्ग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न यह आठ प्रकार का निमित्तज्ञान है, उसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र के उदय-अस्तादि को देखकर अतीत-अनागतकाल को जानना, सो अन्तरिक्षनिमित्तज्ञान है॥१॥

पृथ्वी की कठोरता, कोमलता, चिकनाहट या रूखापन देखकर, विचार करके अथवा

पूर्वादि दिशा में सूत्र पढ़ते हुए देखकर, हानि-वृद्धि, जय-पराजय इत्यादि को जानना तथा भूमिगत स्वर्ण-चाँदी इत्यादि को प्रगट जानना, सो भोमनिमित्तज्ञान हैं ॥२॥

अङ्गोपाङ्गादि के दर्शन-स्पर्शनादि से त्रिकालभावी सुख-दुःखादि को जानना, सो अङ्गनिमित्तज्ञान है ॥३॥

अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभाशुभ की सुनकर इष्टानिष्ट फल को जानना, सो स्वर-निमित्तज्ञान है ॥४॥

मस्तक, मुख, गर्दन इत्यादि में तल, मूरल, लाख इत्यादि लक्षण देकर त्रिकाल सम्बन्धी हित-अहित को जान लेना, सो व्यञ्जननिमित्तज्ञान हैं ॥५॥

शरीर के ऊपर श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश इत्यादि चिह्न देखकर त्रिकाल सम्बन्धी पुरुषों के स्थान, मान, ऐश्वर्यादि विशेष का जानना, सो लक्षणनिमित्तज्ञान है ॥६॥

वस्त्र-शस्त्र-आसन-शयनादि से, देव-मनुष्य-राक्षसादि से तथा शस्त्र-कंटकादि से छिदे हुए को देखकर त्रिकाल सम्बन्धी लाभ-अलाभ, सुख-दुःख का जानना, सो छिन्ननिमित्तज्ञान है ॥७॥

वात, पित्त कफ रहित पुरुष के मुख में पिछली रात्रि में चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत या समुद्र का प्रवेशादि का स्वप्न होना, सो शुभस्वप्न है; घी तेल से अपनी देह लिप्त और गधा, ऊँट पर चढ़कर दक्षिण दिशा में गमन इत्यादि स्वप्न अशुभ स्वप्न है; उसके दर्शन से आगामी काल में जीवन-मरण, सुख-दुःखादि का ज्ञान होना, सो स्वप्ननिमित्तज्ञान है। इन आठ प्रकार के निमित्तज्ञान का जो ज्ञाता हो, उसके अष्ठाङ्गनिमित्तबुद्धिऋद्धि है।

(१६) प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धि - किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ के स्वरूप का विचार जैसा का तैसा, चौहदपूर्वधारी ही निरूपण कर सकते हैं, दूसरे नहीं कर सकते। ऐसे अर्थ का जो सन्देहरहित निरूपण करे, ऐसी प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से प्रगट होनेवाली प्रज्ञाशक्ति प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धि है।

(१७) प्रत्येकबुद्धताबुद्धि - पर के उपदेश के बिना अपनी शक्तिविशेष से ज्ञान-संयम के विधान में निपुण होना, प्रत्येकबुद्धताबुद्धि है।

(१८) वादित्वबुद्धि - इन्द्र इत्यादि आकर वाद-विवाद करे, उसे निरुत्तर कर दे, स्वयं रुके नहीं और सामनेवाले वादी के छिद्र को जान लेना, ऐसी शक्ति वादित्वबुद्धि है।

इस प्रकार ८ ऋद्धियों में से पहिली बुद्धिऋद्धि के अठारह प्रकार हैं। यह बुद्धिऋद्धि सम्यग्ज्ञान की महान् महिमा को बताती है।

४. दूसरी क्रियाऋद्धि का स्वरूप

१. क्रियाऋद्धि दो प्रकार की है – आकाशगामित्व और चारण।

(१) चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है – जल के ऊपर पैर रखने या उठाने पर जल-कायिक जीवों को बाधा न उत्पन्न हो, सो जलचारणऋद्धि है। भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में शीघ्रता से सैकड़ों योजन गमन करने में समर्थ होना, सो जंघाचारणऋद्धि है। उसी प्रकार तन्तुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण श्रेणिचारण, अग्निशिखाचारण इत्यादि चारण ऋद्धियाँ हैं। पुष्प, फल इत्यादि के ऊपर गमन करने से उन पुष्प फल इत्यादि के जीवों को बाधा नहीं होना, सो समस्तचारणऋद्धि हैं।

(२) आकाशगामित्व विक्रियाऋद्धि – पर्यङ्कासन अथवा कायोत्सर्गासन करके पग के उठाये-धरे बिना ही आकाश में गमन करने में निपुण होना, सो आकाशगामित्व -विक्रियाऋद्धि है।

५. तीसरी विक्रियाऋद्धि का स्वरूप

विक्रियाऋद्धि अनेक प्रकार की है – (१) अणिमा, (२) महिमा, (३) लघिमा, (४) गरिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व, (८) वशित्व, (९) प्रतिघात, (१०) अन्तर्धान, (११) कामरूपित्व इत्यादि अनेक भेद हैं, उनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

अणुमात्र शरीर करने की सामर्थ्य को अणिमाऋद्धि कहते हैं। वह कमल के छिद्र में प्रवेश करके वहाँ बैठकर चक्रवर्ती की विभूति रचता है। १। मेरु से भी महान शरीर करने की सामर्थ्य को महिमाऋद्धि कहते हैं। २। पवन से भी हलका शरीर बनाने की सामर्थ्य को लघिमाऋद्धि कहते हैं। ३। वज्र से भी अतिभारी शरीर करने की सामर्थ्य को गरिमाऋद्धि कहते हैं। ४। भूमि में बैठकर ऊँगली को आगे करके मेरुपर्वत के शिखर तथा सूर्यविमानादि को स्पर्श करने की शक्ति को प्राप्तिऋद्धि कहते हैं। ५। जल में जमीन को उन्मज्जन (ऊपर लाना) तथा निमज्जन (डुबा देना) करने की शक्ति को प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं। ६। त्रिलोक का प्रभुत्व रचने की सामर्थ्य को ईशित्व ऋद्धि कहते हैं। ७। देव, दानव, मनुष्य इत्यादि को वशीकरण करने की सामर्थ्य को वशित्वऋद्धि कहते हैं। ८। पर्वतादिक के अन्दर आकाश

की भाँति गमन-आगमन करने की सामर्थ्य को अप्रतिघातऋद्धि कहते हैं। ९। अदृश्य होने की सामर्थ्य को अन्तर्धानऋद्धि कहते हैं। १०। एक साथ अनेक आकाररूप शरीर करने की सामर्थ्य को कामरूपित्वऋद्धि कहते हैं। ११। इत्यादि अनेक प्रकार की विक्रियाऋद्धि हैं।

नोट - यहाँ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध समझाया है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जीव शरीर का या अन्य किसी द्रव्य का कुछ करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। शरीरादि परद्रव्य की जब उस प्रकार की होने योग्य अवस्था होती है, तब जीव के भाव तदनुकूल अपने कारण होते हैं। इतना निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध यहाँ बतलाया गया है।

६. चौथी तपऋद्धि

तपऋद्धि सात प्रकार की हैं - (१) उग्रतप, (२) दीप्तितप, (३) निहारतप, (४) महानतप, (५) घोरतप, (६) घोर पराक्रमतप और (७) घोर ब्रह्मचर्यतप। उसका स्वरूप निम्नप्रकार है -

एक उपवास या दो-तीन-चार-पाँच इत्यादि उपवास के निमित्त से किसी योग का आरम्भ हुआ तो मरणपर्यन्त उपवास के उन दिनों से कम दिनों में पारणा नहीं करता, किसी कारण से अधिक उपवास हो जाएँ तो मरणपर्यन्त उससे कम उपवास करके पारणा नहीं करता, ऐसी सामर्थ्य प्रगट होना, सो उग्रतप ऋद्धि है॥१॥ महान उपवासादिक करते हुए मन-वचन-काय का बल बढ़ता ही रहे, मुख दुर्गन्ध रहित रहे, कमलादिक की सुगन्ध जैसी सुगन्धित श्वास निकले और शरीर को महान दीप्ति प्रगट हो जाए, सो दीप्तिऋद्धि है॥२॥ तपे हुए लोहे की कढ़ाई में पानी की बून्दें पड़ते ही जैसे सूख जाएँ, वैसे आहार पच जाए, सूख जाए और मल रुधिरादिरूप न परिणमे तथा निहार भी न हो, सो निहारतपऋद्धि है॥३॥ सिंहक्रीड़ितादि महान तप करने में तत्पर होना, सो महान तपऋद्धि है॥४॥ वात, पित्त, श्लेष्म इत्यादि से उत्पन्न हुए ज्वर, खाँसी, श्वांस, शूल, कोढ़, प्रमेहादिक अनेक प्रकार के रोगवाला शरीर होने पर भी अनशन, कायक्लेशादि न छूटें और भयानक श्मशान, पर्वत का शिखर, गुफा, खण्डहर, ऊजड़ ग्राम इत्यादि में दुष्ट राक्षस, पिशाचादि प्रवर्तित हों और बुरे विकार धारण करें तथा गीदड़ों का कठोर रुदन, सिंह-व्याघ्र इत्यादि दुष्ट जीवों का भयानक शब्द जहाँ निरन्तर होता हो, ऐसे भयङ्कर स्थान में भी निर्भय होकर रहे, सो घोर तपऋद्धि है॥५॥ पूर्वोक्त रोगसहित शरीर होने पर भी अति भयङ्कर स्थान में रहकर योग (स्वरूप की एकाग्रता) बढ़ाने की तत्परता होना, सो घोर पराक्रमतपऋद्धि है॥६॥ बहुत

समय से ब्रह्मचर्य के धारक मुनि के अतिशय चारित्र के बल से (मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने पर) खोटे स्वप्नों का नाश होना, सो घोर ब्रह्मचर्यऋद्धि है ॥७॥ इस प्रकार सात प्रकार की तपऋद्धि है।

नोट - सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रधारी जीवों के कैसा उग्र पुरुषार्थ होता है, सो यहाँ बताया है। तपऋद्धि के पाँचवें और छट्ठे भेदों में अनेक प्रकारे के रोगोंवाला शरीर कहा है, उससे यह सिद्ध होता है कि शरीर परवस्तु है, चाहे जैसा खराब हो फिर भी वह आत्मा को पुरुषार्थ करने में बाधक नहीं होता। 'शरीर निरोग हो और बाह्य अनुकूलता हो तो धर्म हो सकता है' - ऐसी मान्यता मिथ्या है, ऐसा सिद्ध होता है।

७. पाँचवीं बलऋद्धि का स्वरूप

बल ऋद्धि तीन प्रकार की है - (१) मनोबलऋद्धि (२) वचनबलऋद्धि और (३) कायबलऋद्धि, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है। प्रकर्ष पुरुषार्थ से मनःश्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम होने पर अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत-अर्थ के चिन्तवन करने की सामर्थ्य, सो मनोबलऋद्धि है ॥१॥ अतिशय पुरुषार्थ से मन-इन्द्रिय श्रुतावरण तथा जिह्वा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम होने पर अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुत को उच्चारण करने की सामर्थ्य होना तथा निरन्तर उच्च स्वर से बोलने पर खेद नहीं उत्पन्न हो, कण्ठ या स्वरभङ्ग नहीं हो, सो वचनबलऋद्धि है ॥२॥ वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से असाधारण कायबल प्रगट हो और एक मास, चार मास या बारह मास प्रतिमायोग धारण करने पर भी खेदरूप नहीं होता, सो कायबलऋद्धि है ॥३॥

८. छट्ठी औषधिऋद्धि का स्वरूप

औषधिऋद्धि आठ प्रकार की है - (१) आमर्ष, (२) क्ष्वेल, (३) जल, (४) मल, (५) विट, (६) सर्व, (७) आस्यविष (८) दृष्टिविष - उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

असाध्य रोग हो तो भी जिनके हाथ-चरणादि के स्पर्श होने से ही सब रोग नष्ट हो जाए, सो आमर्षऔषधिऋद्धि है ॥१॥ जिनके थूक, लार, कफादि के स्पर्श होने से ही रोग नष्ट हो जाये, सो क्ष्वेलऔषधिऋद्धि है ॥२॥ जिनके देह के पसीने का स्पर्श होने से रोग मिट जाये, सो जलऔषधिऋद्धि है ॥३॥ जिनके कान, दाँत, नाक और नेत्र का मल ही सब रोगों के निराकरण करने में समर्थ हो, सो मलऔषधिऋद्धि है ॥४॥ जिनकी वीट-टट्टी तथा मूत्र

ही औषधिरूप हो, सो बीटऔषधिऋद्धि है ॥५॥ जिनका अङ्ग-उपाङ्ग, नख, दाँत, केशादिक के स्पर्श होने से ही सब रोगों को दूर कर देता है, सो सर्वौषधिऋद्धि है ॥६॥ तीव्र जहर से मिला हुआ आहार भी जिनके मुख में जाते ही विष रहित हो जाए तथा विष से व्याप्त जीव का जहर जिनके वचन से ही उतर जाए, सो आस्थाविषऔषधिऋद्धि है ॥७॥ जिनके देखने से महान विषधारी जीव का विष जाता रहे तथा किसी के विष चढ़ा हो तो उतर जाए, ऐसी ऋद्धि, सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥८॥

९. सातवीं रसऋद्धि का स्वरूप

रसऋद्धि ६ प्रकार की है - (१) आस्यविष, (२) दृष्टिविष, (३) क्षीर, (४) मधुस्रावी, (५) वृतस्रावी और (६) अमृतस्रावी। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है -

प्रकृष्ट तपवाले योगी कदाचित् क्रोधी होकर कहें कि 'तू मर जा' तो उसी समय विष चढ़ने से मर जाए, सो आस्यविषरसऋद्धि है ॥१॥ कदाचित क्रोधरूपी दृष्टि के देखने से मर जावे, सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥२॥ वीतरागी मुनि के ऐसी सामर्थ्य हो कि उनके क्रोधादिक उत्पन्न न हों और उनके हाथ में प्राप्त हुआ नीरस भोजन क्षीररसरूप हो जाए तथा जिनके वचन दुर्बल को क्षीर के समान पुष्ट करें, सो क्षीररसऋद्धि है ॥३॥ ऊपर कहा हुआ भोजन मिष्ट रसरूप परिणमित हो जाए, सो मधुस्रावीरसऋद्धि है ॥४॥ तथा वह भोजन घृतरसरूप परिणमित हो जाए, सो घृतस्रावीरसऋद्धि है ॥६॥ इस प्रकार छह प्रकार की रसऋद्धि है।

१०. आठवीं क्षेत्रऋद्धि का स्वरूप

क्षेत्रऋद्धि दो प्रकार की है - (१) अक्षीणमहान और (२) अक्षीणमहालय। उनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

लाभान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से अति संयमवान मुनि को जिस भोजन में से भोजन दे, उस भोजन में से चक्रवर्ती की समस्त सैन्य भोजन कर ले तो भी उस दिन भोजन-सामग्री न घटे, सो अक्षीणमहानक्षेत्रऋद्धि है ॥१॥ ऋद्धिसहित मुनि जिस स्थान में बैठे वहाँ देव, राजा, मनुष्यादिक बहुत से आकर बैठें तो भी क्षेत्र में कमी न पड़े, आपस में बाधा न हो, सो अक्षीणमहालयक्षेत्रऋद्धि है ॥२॥ इस प्रकार दो प्रकार की क्षेत्रऋद्धि है।

इस प्रकार, पहिले आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्यों के दो भेद किए थे, उनमें से आर्य के ऋद्धि प्राप्त और अनऋद्धिप्राप्त ऐसे दो भेद किए। उनमें से ऋद्धिप्राप्त आर्यों के ऋद्धि के भेदों का स्वरूप वर्णन किया। अब अनऋद्धिप्राप्त आर्यों का भेद वर्णन करते हैं।

११. अनऋद्धिप्राप्त आर्य

अनऋद्धिप्राप्त आर्यों के पाँच भेद हैं—(१) क्षेत्र-आर्य, (२) जाति-आर्य, (३) कर्म -आर्य, (४) चारित्र-आर्य और (५) दर्शन-आर्य। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

(१) क्षेत्र-आर्य - जो मनुष्य आर्यदेश में उत्पन्न हों, उन्हें क्षेत्र-आर्य कहते हैं।

(२) जाति-आर्य - जो मनुष्य इक्ष्वांकु वंश, भोज वंशादिक में उत्पन्न हों, उन्हें जाति-आर्य कहते हैं।

(३) कर्म-आर्य - उनके तीन भेद होते हैं - सावद्यकर्म-आर्य, अल्पसावद्यकर्म-आर्य और असावद्यकर्म-आर्य। उनमें से सावद्यकर्मआर्यों के ६ भेद हैं - असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य।

जो तलवार इत्यादि आयुध धारण करके आजीविका करते हैं, उन्हें असिकर्म-आर्य कहते हैं। जो द्रव्य की आय तथा खर्च लिखने में निपुण हों, उन्हें मसिकर्म-आर्य कहते हैं। जो हल, वखर इत्यादि खेती के साधनों से खूब खेती करके आजीविका में प्रवीण हों, उन्हें कृषिकर्म-आर्य कहते हैं। आलेख्य, गणितादि बहत्तर काल में प्रवीण हों, उन्हें विद्याकर्म-आर्य कहते हैं।

धोबी, हजाम, कुम्हार, लुहार, सुनार इत्यादि के कार्य में प्रवीण हों, उन्हें शिल्पकर्म-आर्य कहते हैं। जो चन्दनादि गंध, घी इत्यादि रस, धान्य, कपास, वस्त्र, मोती-माणिक इत्यादि अनेक प्रकार की वस्तुओं का संग्रह करके व्यापार करते हैं, उन्हें वाणिज्यकर्म-आर्य कहते हैं।

ये छह प्रकार के कर्म जीव को अविरतदशा में (पहिले से चौथे गुणस्थान तक होते हैं,) इसलिए उन्हें सावद्यकर्म-आर्य कहते हैं।

विरताविरतरूप परिणत जो श्रावक (पाँचवें गुणस्थानवर्ती) हैं, उन्हें अल्पसावद्यकर्म -आर्य कहते हैं।

जो सकलसंयमी साधु हैं, उन्हें असावद्यकर्म-आर्य कहते हैं।

(असावद्यकर्म-आर्य और चारित्र-आर्य के बीच क्या भेद हैं, सो बताया जायेगा)

(४) चारित्र-आर्य - के दो भेद हैं - अभिगतचारित्र-आर्य और अनभिगतचारित्र-आर्य। जो उपदेश के बिना ही चारित्रमोह के उपशम तथा क्षय से आत्मा की उज्ज्वलतारूप

चारित्रपरिणाम को धारण करें, ऐसे उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानधारक मुनि अभिगतचारित्र-आर्य हैं। और जो अन्तरङ्ग में चारित्रमोह के क्षयोपशम से तथा बाह्य में उपदेश के निमित्त से संयमरूप परिणाम धारण करें, वे अनभिगतचारित्र-आर्य हैं।

असावद्य-आर्य और चारित्र-आर्य ये दोनों साधु ही होते हैं, परन्तु वे साधु जब पुण्य-कर्म का बन्ध करते हैं, तब (छट्ठे गुणस्थान में) उन्हें असावद्यकर्म-आर्य कहते हैं, और जब कर्म की निर्जरा करते हैं, तब (छट्ठे गुणस्थान से ऊपर) उन्हें चारित्र-आर्य कहते हैं।

(५) दर्शन-आर्य - के दश भेद हैं - आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़। (- इन दश भेद सम्बन्धी विशेष खुलासा मोक्षमार्ग-प्रकाशक अध्याय ९ में से जानना चाहिए।)

इस प्रकार अनऋद्धिप्राप्तआर्य के भेदों का स्वरूप कहा। इस प्रकार आर्य मनुष्यों का वर्णन पूरा हुआ।

अब म्लेच्छ मनुष्यों का वर्णन करते हैं।

१२. म्लेच्छ

म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकार के हैं - कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज, (१) पाँच भरत के पाँच खण्ड, पाँच ऐरावत के पाँच खण्ड और विदेह के आठ सौ खण्ड, इस प्रकार (२५+२५+८००) आठ सौ पचास म्लेच्छ क्षेत्र है, उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं; (२) लवण समुद्र में अड़तालीस द्वीप तथा कालोदधि समुद्र में अड़तालीस, दोनों मिलकर छियानवे द्वीपों में कुभोगभूमियाँ मनुष्य हैं, उन्हें अन्तर्द्वीप म्लेच्छ कहते हैं। उन अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ मनुष्यों के चेहरे विचित्र प्रकार के होते हैं; उनके मनुष्यों के शरीर (धड़) और उनके ऊपर हाथी, रीछ, मछली इत्यादिकों का सिर, बहुत लम्बे कान, एक पैर, पूँछ इत्यादि होती है। उनकी आयु एक पल्य की होती है और वृक्षों के फल, मिट्टी इत्यादि उनका भोजन है॥३६॥

कर्मभूमि का वर्णन

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अर्थ - पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ये दोनों छोड़कर पाँच विदेह, इस प्रकार अढ़ाईद्वीप में कुछ पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

टीका—१. जहाँ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प, इन छह कर्म की प्रवृत्ति हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं। विदेह के एक मेरु सम्बन्धी बत्तीस भेद हैं और पाँच विदेह हैं, उनके ३२ × ५=१६० क्षेत्र पाँच विदेह के हुए और पाँच भरत तथा पाँच ऐरावत, ये दश मिलकर कुल पन्द्रह कर्मभूमियों के १७० क्षेत्र हैं। ये पवित्रता के-धर्म के क्षेत्र हैं और मुक्ति प्राप्त करनेवाले मनुष्य वहाँ ही जन्म लेते हैं।

एक मेरुसम्बन्धी हिमवत्, हरिक्षेत्र, रम्यक्, हिरण्यवत्, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह भोगभूमियां हैं। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमियाँ हैं। उनमें दश जघन्य, दश मध्यम और दश उत्कृष्ट हैं। उनमें दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। उनके भोग, भोगकर जीव संक्लेशरहित-सातारूप रहते हैं।

२. प्रश्न - कर्म के आश्रय तो तीन लोक का क्षेत्र है, तो कर्मभूमि के एक सौ सत्तर क्षेत्र ही क्यों कहते हो, तीन लोक को कर्मभूमि क्यों नहीं कहते?

उत्तर - सर्वार्थसिद्धि पहुँचने का शुभकर्म और सातवें नरक पहुँचने का पापकर्म इन क्षेत्रों में उत्पन्न हुए मनुष्य उपार्जन करते हैं। असि, मसि, कृषि आदि छहकर्म भी इन क्षेत्रों में ही होते हैं, तथा देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये छह प्रकार के शुभ (प्रशस्त) कर्म भी इन क्षेत्रों में भी उत्पन्न हुए मनुष्य करते हैं; इसलिए इन क्षेत्रों को हो कर्मभूमि कहते हैं॥३७॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते॥३८॥

अर्थ - मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

टीका—यह ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्यभव एक प्रकार की त्रसगति है; दो इन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक त्रसगति है। उसका एकसाथ उत्कृष्ट काल दो हजार सागरोपम से कुछ अधिक है। उसमें संज्ञी पर्याप्तक मनुष्यत्व का काल तो बहुत ही थोड़ा है। मनुष्यभव में जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करके धर्म का प्रारम्भ न करे तो मनुष्यत्व मिटने के बाद कदाचित् त्रस में ही रहे तो भी नारकी-देव-तिर्यञ्च और बहुत थोड़े मनुष्यभव करके अन्त में त्रस पर्याय का काल (दो हजार सागरोपम) पूरा करके एकेन्द्रियत्व पावेगा। वहाँ अधिक काल (उत्कृष्टरूप से असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल) तक रहकर एकेन्द्रिय पर्याय (शरीर) धारण करेगा॥३८॥

तिर्यञ्चों की आयुस्थिति

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

अर्थ - तिर्यञ्चों की आयु की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति उतनी ही (मनुष्यों जितनी) है।

टीका—तिर्यञ्चों की आयु के उपविभाग निम्न प्रकार है—

जीव की जाति	**उत्कृष्ट आयु**
(१) पृथ्वीकाय	२२००० वर्ष
(२) वनस्पतिकाय	१०००० वर्ष
(३) अपकाय	७००० वर्ष
(४) वायुकाय	३००० वर्ष
(५) अग्निकाय	३ दिवस
(६) दो इन्द्रिय	१२ वर्ष
(७) तीन इन्द्रिय	४९ दिवस
(८) चतुरिन्द्रिय	६ मास
(९) पञ्चेन्द्रिय	
१. कर्मभूमि के पशु असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय मछली इत्यादि	१ करोड़ पूर्व वर्ष
२. परिसर्प जाति के सर्प	९ पूर्वाङ्ग वर्ष
३. सर्प	४२००० वर्ष
४. पक्षी	७२००० वर्ष
५. भोगभूमि के चौपाए प्राणी	३ पल्य

भोगभूमियों को छोड़कर इन सबकी जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्त की है॥ ३९॥

क्षेत्र के नाप का कोष्ठक

- अ -

(१) अनन्त पुद्गल×अनन्त पुद्गल = १ उत्संज्ञासंज्ञा,

(२) ८ उत्संज्ञासंज्ञा = १ संज्ञासंज्ञा,

(३) ८ संज्ञासंज्ञा = १ त्रटरेणु,

(४) ८ त्रटरेणु = १ त्रसरेणु
(५) ८ त्रसरेणु = १ रथरेणु
(६) ८ रथरेणु = १ उत्तम भोगभूमियाँ के बाल का अग्रभाग
(७) ८ वैसे (बाल के) अग्रभाग = १ मध्यम भोगभूमियाँ के बाल का अग्रभाग
(८) ८ वैसे (बाल के) अग्रभाग = १ जघन्य भोगभूमियाँ के बाल का अग्रभाग
(९) ८ वैसे (बाल के) अग्रभाग = १ कर्मभूमियाँ के बाल का अग्रभाग
(१०) ८ वैसे (बाल के) अग्रभाग = १ लीख
(११) ८ लीख = १ जूँ (यूक) सरसों,
(१२) ८ यूक = १ उत्सेध अंगुल (जौ के बीज का व्यास)
(१३) ८ यव = १ उत्सेध अंगुल (छोटी अंगुली की चौड़ाई)
(१४) ५०० उत्सेध अंगुल = १ प्रमाण अंगुल अर्थात् अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती की अँगुली की चौड़ाई

– ब –

(१) ६ अंगुल = १ पाद
(२) २ पाद (१२ अंगुल) = १ विलस्त
(३) २ विलस्त = १ हाथ
(४) २ हाथ = १ गज (ईषु)
(५) २ गज = १ धनुष
(६) २००० धनुष = १ कोस
(७) ४ कोस = १ योजन

जहाँ जो अंगुल लागू पड़ता हो, वहाँ उस प्रमाण (नाप) समझना चाहिए।

नोट – १ प्रमाणअंगुल उत्सेधांगुल से ५०० गुना है, उससे द्वीप, समुद्र, पर्वत, द्वीप-समुद्र की वेदी, विमान, नरकों का प्रस्तार इत्यादि अकृत्रिम वस्तुओं की लम्बाई-चौड़ाई नापी जाती है।

२. उत्सेध अंगुल से देव-मनुष्य-तिर्यञ्च और नारकियों का शरीर तथा अकृत्रिम जिन-प्रतिमाओं के देह का नाप किया जाता है। देवों के नगर तथा मन्दिर भी इस ही नाप से नापे जाते हैं।

३. जिस काल में जैसा मनुष्य हो, उस काल में उसका अंगुल आत्मांगुल कहलाता है। पल्य के अर्धच्छेद का असंख्यातवें भाग प्रमाण धनांगुल माँडकर गुणा करने से एक जगत्-श्रेणी होती है।

जगत्-श्रेणी = ७ राजु लोक की लम्बाई, जो उसके अन्त में नीचे है वह।

जगतप्रतर = ७ राजु × ७ राजु = ४९ राजु क्षेत्र, उस लोक के नीचे भाग का क्षेत्रफल (लम्बाई × चौड़ाई) है।

जगतघन (लोक) = $७^{३}$ राजु अर्थात् ७ राजु × ७ राजु × ७ राजु = ३४३ राजु। यह सम्पूर्ण लोक का नाप (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) है॥ ३९॥

मध्यलोक के वर्णन का संक्षप्ति अवलोकन

(१) जम्बूद्वीप—मध्यलोक के अत्यन्त बीच में एक लाख योजन[१] चौड़ा, गोल (थाली जैसा) जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के बीच में एक लाख योजन सुमेरु पर्वत है, जिसकी एक हजार योजन जमीन के अन्दर जड़ है, नव्वे हजार योजन जमीन के ऊपर है और चालीस योजन की उसकी चूलिका (चोटी) है।

जम्बूद्वीप के बीच में पश्चिम-पूर्व लम्बे छह कुलाचल (पर्वत) हैं, उनसे जम्बूद्वीप के सात खण्ड हो गए हैं, उन सात खण्डों के नाम भरत, हैमवत्, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत हैं।

(२) उत्तरकुरु-देवकुरु—विदेहक्षेत्र में मेरु की उत्तर दिशा में उत्तरकुरु तथा दक्षिण दिशा में देवकुरु क्षेत्र हैं।

(३) लवण समुद्र—जम्बूद्वीप के चारों तरफ खाई के माफक घेरे हुए दो लाख योजन चौड़ा लवण समुद्र है।

(४) धातकीखण्ड द्वीप—लवणसमुद्र के चारों ओर घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातकीखण्ड द्वीप है। इस द्वीप में दो मेरु पर्वत हैं, इसलिए क्षेत्र तथा कुलाचल (पर्वत) इत्यादि की सभी रचना जम्बूद्वीप से दूनी है।

(५) कालोदधि समुद्र—धातकीखण्ड के चारों ओर घेरे हुए आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है।

---

१. एक योजन = दो हजार कोस

(६) पुष्करद्वीप—कालोदधि समुद्र के चारों ओर घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के बीचों बीच वलय (चूड़ी के) आकार, पृथ्वी पर एक हजार बाईस (१०२२) योजन चौड़ा सत्रह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊँचा और चार सौ सत्ताईस (४२७) योजन जमीन के अन्दर जड़वाला, मानुषोत्तर पर्वत है और उससे पुष्करद्वीप के दो खण्ड हो गए हैं।

पुष्करद्वीप के पहिले अर्धभाग में जम्बूद्वीप से दूनी अर्थात् धातकीखण्ड के बराबर सब रचना है।

(७) नरलोक (मनुष्यक्षेत्र)—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्ध (पुष्करद्वीप का आधाभाग) लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र, इतना क्षेत्र नरलोक कहलाता है।

(८) दूसरे द्वीप तथा समुद्र—पुष्करद्वीप से आगे परस्पर एक-दूसरे से घिरे हुए दूने-दूने विस्तारवाले मध्यलोक के अन्त तक द्वीप और समुद्र हैं।

(९) कर्मभूमि और भोगभूमि की व्याख्या—जहाँ असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य - इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो, वे कर्मभूमियाँ हैं। जहाँ पर उनकी प्रवृत्ति न हो, वे भोगभूमियाँ कहलाती हैं।

(१०) पन्द्रह कर्मभूमियाँ—पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच भरत, पाँच ऐरावत और (देवकुरु, उत्तरकुरु को छोड़कर) पाँच विदेह, इस प्रकार कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

(११) भोगभूमियाँ—पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत् - ये दश क्षेत्र जघन्य भोगभूमियाँ हैं। पाँच हरि और पाँच रम्यक्, ये दश क्षेत्र मध्यम भोगभूमियाँ हैं और पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु, ये दश क्षेत्र उत्कृष्ट भोगभूमियाँ हैं।

(१२) भोगभूमि और कर्मभूमि जैसी रचना—मनुष्यक्षेत्र के बाहर के सभी द्वीपों में जघन्य भोगभूमि जैसी रचना है, परन्तु स्वयंभू-रमण द्वीप के उत्तरार्ध में तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्र में और चारों कोनों की पृथ्वियों में कर्मभूमि जैसी रचना है। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र में ९६ अन्तर्द्वीप हैं। वहाँ कुभोगभूमि की रचना है और वहाँ पर मनुष्य ही रहते हैं। उन मनुष्यों की आकृतियाँ अनेक प्रकार की कुत्सित हैं।

स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्ध की, स्वयंभूरमण समुद्र की और चारों कोनों की रचना कर्मभूमि जैसी कही जाती है, क्योंकि कर्मभूमि में और वहाँ विकलत्रय (दो इन्द्रिय से चार

इन्द्रिय) जीव हैं और भोगभूमि में विकलत्रय जीव नहीं हैं। तिर्यक्लोक में पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च रहते हैं, किन्तु जलचर तिर्यञ्च लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र को छोड़कर अन्य समुद्रों में नहीं हैं।

स्वयंभूरमण समुद्र के चारों ओर के कोनों के अतिरिक्त भाग को तिर्यक्लोक कहा जाता है।

उपसंहार

लोक के इन क्षेत्रों को किसी ने बनाया नहीं है, किन्तु अनादि-अनन्त हैं। स्वर्ग-नरक और द्वीप-समुद्र आदि जो हैं, वे अनादि से इसीप्रकार हैं और सदा ऐसे ही रहेंगे। जैसे जीवादिक पदार्थ इस लोक में अनादिनिधन हैं, उसी प्रकार यह भी अनादिनिधन समझना चाहिए।

इस प्रकार यथार्थ श्रद्धान के द्वारा लोक में सभी पदार्थ अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादि -निधन समझना चाहिए। जो कुछ कृत्रिम घरबार आदि इन्द्रियगम्य वस्तुएँ नवीन दिखाई देती हैं, वे सब अनादिनिधन पुद्गलद्रव्य की संयोगी पर्यायें हैं। वे पुद्गल कुछ नए नहीं बने हैं। इसलिए यदि जीव निरर्थक भ्रम से सच्चे-झूठे का ही निश्चय न करे तो वह सच्चा स्वरूप नहीं जान सकता। प्रत्येक जीव अपने श्रद्धान का फल प्राप्त करता है, इसलिए योग्य जीवों को सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिए।

सात नरकभूमियाँ, बिल, लेश्या, आयु, द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर, नदी, मनुष्य-तिर्यञ्च की आयु इत्यादि का वर्णन करके श्री आचार्यदेव ने तीसरा अध्याय पूर्ण किया।

इस प्रकार तीसरे अध्याय में अधोलोक और मध्यलोक का वर्णन किया है। अब ऊर्ध्व लोक का वर्णन चौथे अध्याय में किया जायेगा। इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र के तीसरे अध्याय की टीका समाप्त हुई।

मोक्षशास्त्र

अध्याय चौथा

भूमिका

इस शास्त्र के पहिले अध्याय के पहिले सूत्र में यह बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। तत्पश्चात् दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण 'तत्वार्थ श्रद्धान' कहा गया है। पश्चात् जिन तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है, उनके नाम देकर चौथे सूत्र में सात तत्त्व बताए गए हैं। उन सात तत्त्वों में पहिला जीवतत्व है। उस जीव का स्वरूप समझने के लिए दूसरे अध्याय में यह बताया गया है कि जीव के भाव, जीव का लक्षण, इन्द्रियाँ-जन्म-शरीर इत्यादि के साथ संसारी जीवों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है। तीसरे अध्याय में चार प्रकार के संसारी जीवों में से नारकी जीवों का वर्णन किया है तथा जीवों के निवास-स्थान बतलाए हैं और बतलाया है कि मनुष्य तथा अन्य जीवों के रहने के क्षेत्र कौन से हैं तथा मनुष्य और तिर्यञ्चों की आयु इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ बातें बताई गई हैं।

इस प्रकार संसार की चार गतियों के जीवों में से मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक - इन तीन का वर्णन तीसरे अध्याय में हो चुका है, अब देवाधिकार शेष रहता है, जो इस चौथे अध्याय में मुख्यता से निरूपित किया गया है। इस प्रकार अध्याय २ सूत्र १० में जीव के दो भेद (संसार और मुक्त) बतलाये थे, उनमें से संसारी जीवों से सम्बन्ध रखनेवाला अधिकार वर्णित हो जाने पर मुक्त जीवों का अधिकार शेष रह जाता है, जो कि दशवें अध्याय में वर्णित किया जायेगा।

ऊर्ध्वलोक का वर्णन

देवों के भेद

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१ ॥

अर्थ - देव चार समूहवाले हैं, अर्थात् देवों के चार भेद हैं - १. भवनवासी, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिषी और ४. वैमानिक।

टीका—देव - जो जीव देवगतिनामकर्म के उदय से अनेक द्वीप, समुद्र तथा पर्वतादि रमणीक स्थानों में क्रीड़ा करें, उन्हें देव कहते हैं ॥१ ॥

भवनत्रिक देवों में लेश्या का विभाग

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥२ ॥

अर्थ - पहिले के तीन निकायों में पीत तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत - ये चार लेश्याएँ होती हैं।

टीका— (१) कृष्ण = काली; नील = नीले रङ्ग की; कापोत = चितकबरी = कबूतर के रङ्ग जैसी; पीत = पीली।

(२) यह वर्णन भावलेश्या का है। वैमानिक देवों की भावलेश्या का वर्णन इस अध्याय के २२वें सूत्र में दिया है ॥२ ॥

चार निकाय के देवों के प्रभेद

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३ ॥

अर्थ - कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्ग तक के देव) पर्यन्त इन चार प्रकार के देवों के क्रम से दश, आठ, पाँच और बारह भेद हैं।

टीका— भवनवासियों के दश, व्यन्तरों के आठ, ज्योतिषियों के पाँच और कल्पोपपन्नों के बारह भेद हैं [कल्पोपपन्न देव वैमानिक जाति के ही हैं] ॥३ ॥

चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-
प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४ ॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए चार प्रकार के देवों में हर एक के दश भेद हैं—१. इन्द्र, २. सामानिक, ३. त्रायस्त्रिंश, ४. पारिषद, ५. आत्मरक्ष, ६. लोकपाल, ७. अनीक, ८. प्रकीर्णक, ९. आभियोग्य, और १०. किल्विषिक।

टीका—१. इन्द्र - जो देव दूसरे देवों में नहीं रहनेवाली अणिमादिक ऋद्धियों से सहित हों, उन्हें इन्द्र कहते हैं, वे देव राजा के समान होते हैं। [Like a King]

२. सामानिका - जिन देवों के आयु, वीर्य, भोग-उपभोग इत्यादि इन्द्रासन होते हैं, तो भी आज्ञारूपी ऐश्वर्य से रहित होते हैं, वे सामानिक देव कहलाते हैं। वे देव पिता या गुरु के समान होते हैं। [Like father, teacher]

३. त्रायस्त्रिंश - जो देव मन्त्री-पुरोहित के स्थान योग्य होते हैं, उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्र की सभा में ऐसे देव तेतीस ही होते हैं। [Ministers]

४. पारिषद - जो देव इन्द्र की सभा में बैठनेवाले होते हैं, उन्हें पारिषद कहते हैं। [Courtiers]

५. आत्मरक्ष - जो देव अङ्गरक्षक के समान होते हैं, उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। [Bodyguards]

नोट - देवों में घात इत्यादि नहीं होता, तो भी ऋद्धि महिमा के प्रदर्शक आत्मरक्ष देव होते हैं।

६. लोकपाल - जो देव कोतवाल (फौजदार) के समान लोगों का पालन करें, उन्हें लोकपाल कहते हैं। [Police]

७. अनीक - जो देव पैदल इत्यादि सात प्रकार की सेना में विभक्त रहते हैं, उन्हें अनीक कहते हैं। [Army]

८. प्रकीर्णक - जो देव नगरवासियों के समान होते हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। [People]

९. आभियोग्य - जो देव दासों की तरह सवारी आदि के काम आते हैं, उन्हें आभियोग्य कहते हैं। इस प्रकार के देव घोड़ा, सिंह, हंस इत्यादि प्रकार के वाहनरूप (दूसरे देवों के उपयोग के लिये) अपना रूप बनाते हैं। [Conveyances]

१०. किल्विषिक - जो देव चांडालादि की भाँति हलके दरजे के काम करते हैं, उन्हें किल्विषिक कहा जाता है [Servile grade] ॥ ४ ॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में इन्द्र आदि भेदों की विशेषता

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५ ॥

अर्थ - ऊपर जो दश भेद कहे हैं, उनमें से त्रायस्त्रिंश और लोकपाल, ये भेद व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में नहीं होते अर्थात् उनमें दो भेदों को छोड़कर बाकी के आठ भेद होते हैं ॥५ ॥

देवों में इन्द्र की व्यवस्था

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६ ॥

अर्थ - भवनवासी और व्यन्तरों में प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र होते हैं।

टीका— भवनवासियों के दश भेद हैं, इसलिए उनमें बीस इन्द्र होते हैं। व्यन्तरों के आठ भेद हैं इसलिए उनमें सोलह इन्द्र होते हैं और दोनों में इतने ही (इन्द्र जितने ही) प्रतीन्द्र होते हैं।

२. जो देव युवराज के समान अथवा इन्द्र के समान होते हैं अर्थात् जो देव इन्द्र जैसा कार्य करते हैं, उन्हें प्रतीन्द्र कहते हैं।

३. श्री तीर्थङ्करभगवान सौ इन्द्रों से पूज्य होते हैं, वे सौ इन्द्र निम्नलिखित हैं -

४० भवनवासियों के बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र।

३२ व्यन्तरों के - सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र।

२४ सोलह स्वर्गों में से - प्रथम के चार देवलोकों के चार, मध्यम के आठ देवलोकों के चार और अन्त के चार - इस प्रकार बारह इन्द्र और बारह प्रतीन्द्र।

२ ज्योतिषी देवों के - चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र।

१ मनुष्यों के - चक्रवर्ती इन्द्र।

१ तिर्यञ्चों के - अष्टापद-सिंह इन्द्र।

देवों का काम-सेवन सम्बन्धी वर्णन

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

अर्थ - ऐशान स्वर्ग तक के देव (अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और पहिले तथा दूसरे स्वर्ग के देव) मनुष्यों की भाँति शरीर से काम-सेवन करते हैं।

टीका—देवों में सन्तति की उत्पत्ति गर्भ द्वारा नहीं होती तथा वीर्य और दूसरे धातुओं से बना हुआ शरीर उनके नहीं होता, उनका शरीर वैक्रियिक होता है। केवल मन की काम-भोगरूप वासना तृप्त करने के लिए वे यह उपाय करते हैं। उसका वेग उत्तरोत्तर मन्द होता है, इसलिए थोड़े ही साधनों से यह वेग मिट जाता है। नीचे के देवों की वासना तीव्र होती है, इसलिए वीर्यस्खलन का सम्बन्ध नहीं होने पर भी शरीर-सम्बन्ध हुए बिना उसकी वासना दूर नहीं होती। उनसे भी आगे के देवों की वासना कुछ मन्द होती है, इसलिए वे आलिङ्गनमात्र से ही सन्तोष मानते हैं। आगे-आगे के देवों की वासना उनसे भी मन्द होती है, इसलिए रूप देखने से तथा शब्द सुनने से ही उनके मन की वासना शान्त हो जाती है। उनसे भी आगे के देवों के चिन्तवन मात्र से कामशान्ति हो जाती है। कामेच्छा सोलहवें स्वर्ग तक है, उसके आगे के देवों के कामेच्छा उत्पन्न ही नहीं होती॥७॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥८॥

अर्थ - शेष स्वर्ग के देव, देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और उनके विचारों से काम-सेवन करते हैं।

टीका—तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव, देवियों के स्पर्श से, पाँचवें से आठवें स्वर्ग तक के देव, देवियों के रूप देखने से, नववें से बारहवें स्वर्ग तक के देव, देवियों के शब्द सुनने से, और तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक के देव, देवियों-सम्बन्धी मन के विचारमात्र से तृप्त हो जाते हैं - उनकी कामेच्छा शान्त हो जाती है।

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

अर्थ - सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव काम-सेवन रहित हैं। (उनके कामेच्छा उत्पन्न ही नहीं होती तो फिर उसके प्रतिकार से क्या प्रयोजन?)

टीका—१. इस सूत्र में 'परे' शब्द से कल्पातीत (सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के) सब देवों का संग्रह किया गया है, इसलिए यह समझना चाहिए कि अच्युत (सोलहवें) स्वर्ग के

ऊपर नव ग्रैवेयक के ३०९ विमान, ९ अनुदिश विमान और पाँच अनुत्तर विमानों में बसनेवाले अहमिन्द्र हैं, उनके काम-सेवन के भाव नहीं हैं, वहाँ देवाङ्गनायें नहीं हैं। (सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों में भेद नहीं है, सभी समान होते हैं, इसलिए उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं।)

२. नव ग्रैवेयक के देवों में से कुछ सम्यग्दृष्टि होते हैं और कुछ मिथ्यादृष्टि होते हैं। यथाजात द्रव्यलिङ्गी जैन मुनि के रूप में अतिचार रहित पाँच महाव्रत इत्यादि पालन किए हों, ऐसे मिथ्यादृष्टि भी नववें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं, मिथ्यादृष्टियों के ऐसा उत्कृष्ट शुभभाव है। ऐसा शुभभाव मिथ्यादृष्टि जीव ने अनन्तवार किया (देखो, अध्याय २ सूत्र १० की टीका पैरा १०) फिर भी वह जीव धर्म के अंश को या प्रारम्भ को प्राप्त नहीं कर सका। आत्मप्रतीति हुए बिना समस्त व्रत और तप बालव्रत और बालतप कहलाते हैं। जीव ऐसे बालव्रत और बालतप चाहे जितने बार (अनन्तानन्त बार) करे तो भी उससे सम्यग्दर्शन अथवा धर्म का प्रारम्भ नहीं हो सकता, इसलिए जीव को पहिले आत्मभान के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता है। मिथ्यादृष्टि के उत्कृष्ट शुभभाव के द्वारा अंशमात्र धर्म नहीं हो सकता। शुभभाव विकार है और सम्यग्दर्शन आत्मा की अविकारी अवस्था है। विकार से या विकारभाव के बढ़ने से अविकारी अवस्था नहीं प्रगट होती, परन्तु विकार के दूर होने से ही प्रगट होती है। शुभभाव से धर्म कभी नहीं होता, ऐसी मान्यता पहिले करना चाहिए; इस प्रकार जीव पहिले मान्यता की भूल को दूर करता है और पीछे क्रम-क्रम से चारित्र के दोष दूर करके सम्पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करता है।

३. नव ग्रैवेयक के सम्यग्दृष्टि देव और उससे ऊपर के देव (सबके सब सम्यग्दृष्टि ही होते हैं) उनके चौथा गुणस्थान ही होता है। उनके देवाङ्गनाओं का संयोग नहीं होता, फिर भी पाँचवें गुणस्थानवर्ती स्त्रीवाले मनुष्य और तिर्यञ्चों की अपेक्षा उनके अधिक कषाय होती है, ऐसा समझना चाहिए।

४. किसी जीव के कषाय की बाह्य प्रवृत्ति तो बहुत होती है और अन्तरङ्ग कषायशक्ति कम होती है - (१) तथा किसी के अन्तरङ्ग कषायशक्ति तो बहुत हो और बाह्य प्रवृत्ति थोड़ी हो, उसे तीव्र कषायवान् कहा जाता है। (२) दृष्टान्त—

(१) पहिले भाग का दृष्टान्त इस प्रकार है - व्यन्तरादि देव कषाय से नगरनाशादि कार्य करते हैं तो भी उनके कषायशक्ति थोड़ी होने से पीतलेश्या कही गई है। एकेन्द्रियादि

जीव (बाह्य में) कषाय-कार्य करते हुए मालूम नहीं होते, फिर भी उनके तीव्र कषायशक्ति होने से कृष्णादि लेश्याएँ कही गई हैं।

(२) दूसरे भाग का दृष्टान्त यह सूत्र ही है, जो यह बतलाता है कि सर्वार्थसिद्धि के देव कषारूप अल्प प्रवृत्त होते हैं। वे अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करते, उनके देवाँगनाएँ नहीं होती, फिर भी पञ्चम गुणस्थानवर्ती (देशसंयमी) की अपेक्षा उनके कषायशक्ति अधिक होने से वे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयमी हैं। पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव व्यापार और अब्रह्मचर्यादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवृत्ति करते हैं, फिर भी उनको मन्दकषायशक्ति होने से देशसंयमी कहा है और यह सूत्र यह भी बतलाता है कि नव ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि जीवों के बाह्यब्रह्मचर्य है फिर भी वे पहिले गुणस्थान में हैं और पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव विवाहादि करते हैं तथा अब्रह्मचर्यादि कार्यरूप प्रवृत्ति करते हैं, फिर भी वे देशसंयमी सम्यग्दृष्टि हैं।

५. इस सूत्र का सिद्धान्त

बाह्य संयोगों के सद्भाव का असद्भाव का और बाह्य-प्रवृत्ति या निवृत्ति को देख करके बाह्य स्वाँग के अनुसार जीव की अपवित्रता या पवित्रता का निर्णय करना न्यायविरुद्ध है और अन्तरङ्ग मान्यता तथा कषायशक्ति पर से ही जीव की पवित्रता या अपवित्रता का निर्णय करना न्यायपूर्ण है। मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा (बाहर से आत्मा का नाप करनेवाला) होता है, इसलिए वह यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता, क्योंकि उसका लक्ष्य बाह्य संयोगों के सद्भाव या असद्भाव पर तथा बाह्य प्रवृत्ति या निवृत्ति पर होता है; इसलिए उसका निर्णय बाह्य स्थिति के आधार से होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा (अन्तर्दृष्टि से आत्मा का नाप करनेवाला) होता है, इसलिए उसका निर्णय अन्तरङ्ग स्थिति पर अवलम्बित होता है; इसलिए वह अन्तरङ्ग मान्यता और कषायशक्ति कैसी है, इस पर से निर्णय करता है, इसलिए उसका निर्णय यथार्थ होता है॥९॥

भवनवासी देवों के दश भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः॥१०॥

अर्थ - भवनवासी देवों के दश भेद हैं - १. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. विद्युत् कुमार, ४. सुपर्णकुमार, ५. अग्निकुमार, ६. वातकुमार, ७. स्तनितकुमार, ८. उदधिकुमार, ९. द्वीपकुमार और १०. दिक्कुमार।

टीका—१. २० वर्ष के नीचे के युवक का जैसा जीवन और आदत होती है, वैसा ही जीवन और आदत इन देवों के भी होती है, इसलिए उन्हें कुमार कहते हैं।

२. उनके रहने का स्थान निम्न प्रकार है—

प्रथम पृथ्वी-रत्नप्रभा में तीन भूमियाँ (Stages) हैं, उसमें पहली भूमि को 'खरभाग' कहते हैं, उसमें असुरकुमार को छोड़कर नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं।

जिस भूमि में असुरकुमार रहते हैं, उस भाग को 'पङ्कभाग' कहते हैं, उसमें राक्षस भी रहते हैं। 'पङ्कभाग' रत्नप्रभा पृथ्वी का दूसरा भाग हैं।

रत्नप्रभा का तीसरा (सबसे नीचा) भाग 'अब्बहुल' कहलाता है, वह पहिला नरक है।

३. भवनवासी देवों की यह असुरकुमारादि दश प्रकार की संज्ञा उन-उन प्रकार के नामकर्म के उदय से होती है, ऐसा जानना चाहिए। 'जो देव युद्ध करें, प्रहार करें' वे असुर हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है अर्थात् वह देवों का अवर्णवाद है और उससे मिथ्यात्व का बन्ध होता है।

४. दश जाति के भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं; ये भवन महासुगन्धित, अत्यन्त रमणीक और अत्यन्त उद्योतरूप हैं और उतनी ही संख्या (७,७२,००,०००) जिन-चैत्यालयों की है। दश प्रकार के चैत्यवृक्ष जिन-प्रतिमा से विरहित होते हैं।

५. भवनवासी देवों का आहार और श्वाँस का काल

१. असुरकुमार देवों के एक हजार वर्ष बाद आहार की इच्छा उत्पन्न होती है और मन में उसका विचार आते ही कण्ठ से अमृत झरता है, वेदना व्याप्त नहीं होती, पन्द्रह दिन बीत जाने पर श्वाँस लेते हैं।

२-४. नागकुमार, सुपर्णकुमार और द्वीपकुमार - इन तीन प्रकार के देवों के साढ़े बारह दिन बाद आहार की इच्छा होती है और साढ़े बारह मुहूर्त बीत जाने पर श्वाँस लेते हैं।

५-७. उदधिकुमार, विद्युत्कुमार और स्तनितकुमार - इन तीन प्रकार के देवों के बारह दिन बाद आहार की इच्छा होती है और बारह मुहूर्त बाद श्वाँस लेते हैं।

८-१०. दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार इन तीन प्रकार के देवों के साढ़े सात दिन बाद आहार की इच्छा होती है, साढ़े सात मुहूर्त बाद श्वाँस लेते हैं।

देवों के कवलाहार नहीं होता, उनके कण्ठ में से अमृत झरता है और उनके वेदना नहीं होती।

इस अध्याय के अन्त में देवों की व्यवस्था बतानेवाला कोष्ठक है, उससे दूसरी बातें जान लेना चाहिए॥१०॥

व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

अर्थ - व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं - १. किन्नर, २. किम्पुरुष, ३. महोरग, ४. गन्धर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. भूत और ८. पिशाच।

टीका—१. कुछ व्यन्तरदेव जम्बूद्वीप तथा दूसरे असंख्यात द्वीप-समुद्रों में रहते हैं। राक्षस रत्नप्रभा पृथ्वी के 'पङ्कभाग' में रहते हैं और राक्षसों को छोड़कर दूसरे सात प्रकार के व्यन्तरदेव 'खरभाग' में रहते हैं।

२. जुदी-जुदी दिशाओं में इन देवों का निवास है, इसलिए उन्हें व्यन्तर कहते हैं। उपरोक्त आठ संज्ञायें जुदे-जुदे नामकर्म के उदय से होती है। उन संज्ञाओं का कुछ लोग व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ करते हैं, किन्तु ऐसा अर्थ गलत है अर्थात् ऐसा कहने से देवों का अवर्णवाद होता है और मिथ्यात्व के बन्ध का कारण है।

३. पवित्र वैक्रियिक शरीर के धारी देव कभी भी मनुष्यों के अपवित्र औदारिकशरीर के साथ कामसेवन करते ही नहीं; देवों के मांस-भक्षण कभी होता ही नहीं। देवों को कण्ठ से झरनेवाला अमृत का आहार होता है, किन्तु कवलाहार नहीं होता।

४. व्यन्तर देवों के स्थान में जिन-प्रतिमासहित आठ प्रकार के चैत्यवृक्ष होते हैं और वे मानस्थम्भादिक सहित होते हैं।

५. व्यन्तर देवों का आवास-द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, तिराहा, चौराहा, घर, आङ्गन, रास्ता, गली, पानी का घाट, बाग, वन, देवकुल इत्यादि असंख्यात स्थान हैं॥११॥

ज्योतिषी देवों के पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

अर्थ - ज्योतिषी देवों के पाँच भेद हैं - १. सूर्य, २. चन्द्रमा, ३. ग्रह, ४. नक्षत्र और ५. प्रकीर्णक तारे।

टीका—ज्योतिषी देवों का निवास मध्यलोक में सम धरातल से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई तक आकाश में हैं। सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य हैं; सूर्य से ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है; चन्द्रमा से चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र हैं; नक्षत्रों से ४ योजन ऊपर बुध का ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शनि है; इस प्रकार पृथ्वी से ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मण्डल है। उनका आवास मध्यलोक में हैं [यहाँ २००० कोस का योजन जानना चाहिए] ॥१२॥

ज्योतिषी देवों का विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

अर्थ - ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव मेरुपर्वत प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोक में हमेशा गमन करते हैं।

(अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों को मनुष्यलोक कहते हैं) ॥१३॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

अर्थ - घड़ी, घण्टा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकाल का विभाग है, वह गतिशील ज्योतिषी देवों के द्वारा किया जाता है।

टीका—काल दो प्रकार का है - निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चयकाल का स्वरूप पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र में किया जायेगा। यह व्यवहारकाल, निश्चयकाल का बतानेवाला है ॥१४॥

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

अर्थ - मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर है।

टीका—अढ़ाईद्वीप के बाहर असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनके ऊपर (सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक) ज्योतिषीदेव स्थिर हैं ॥१५॥

इस प्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी - इन तीन प्रकार के देवों का वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकार के वैमानिकदेवों का स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवों का वर्णन

वैमानिकाः ॥१६॥

अर्थ - अब वैमानिक देवों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

टीका—विमान - जिन स्थान में रहनेवाले देव अपने को विशेष पुण्यात्मा समझें, उन स्थानों को विमान कहते हैं।

वैमानिक - उन विमानों में पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

वहाँ सब चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमान हैं। उनमें उत्तम मन्दिर, कल्पवृक्ष, वन-बाग, बावड़ी, नगर इत्यादि अनेक प्रकार की रचना होती है। उनके मध्य में जो विमान हैं, वे इन्द्रक विमान कहे जाते हैं, उनकी पूर्वादि चारों दिशाओं में पंक्तिरूप (सीधी लाइन में) जो विमान हैं, उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। चारों दिशाओं के बीच अन्तराल में-विदिशाओं में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए फूलों की तरह जो विमान हैं, उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते हैं। इस प्रकार इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक ये तीन प्रकार के विमान हैं॥१६॥

वैमानिक देवों के भेद

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

अर्थ - वैमानिक देवों के दो भेद हैं - १. कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत।

टीका—जिनमें इन्द्रादि दस प्रकार के भेदों की कल्पना होती है, ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं और उन कल्पों में जो देव पैदा होते हैं, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं तथा सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं, उन्हें कल्पातीत कहते हैं॥१७॥

कल्पों की स्थिति का क्रम

उपर्युपरि ॥१८॥

अर्थ - सोलह स्वर्ग के आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर, ये सब विमान क्रम से ऊपर-ऊपर हैं॥१८॥

वैमानिक देवों के रहने का स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-सतारसहस्त्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थ - सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्त्रार इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में, आनत-प्राणत इन दो स्वर्गों में, आरण-अच्युत इन दो स्वर्गों में, नव ग्रैवेयक विमानों में, नव अनुदिश विमानों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिकदेव रहते हैं।

टीका—१. नव ग्रैवेयकों के नाम - (१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) विशाल, (७) सुमन, (८) सौमन और (९) प्रीतिङ्कर।

२. नव अनुदिशों के नाम - (१) आदित्य, (२) अर्चि, (३) अर्चिमाली, (४) वैरोचन, (५) प्रभास, (६) अर्विप्रभ, (७) अर्चिर्मध्य (८) अर्चिरावर्त और (९) अर्चिविशिष्ठ।

सूत्र में अनुदिश नाम नहीं है परन्तु 'नवसु' पद से उसका ग्रहण हो जाता है। नव और ग्रैवेयक इन दोनों में सातवीं विभक्ति लगाई गई है, वह बताती है कि ग्रैवेयक से नव ये जुदे स्वर्ग है।

३. सौधर्मादिक एक-एक विमान में एक-एक जिनमन्दिर अनेक विभूति सहित होते हैं और इन्द्र के नगर के बाहर अशोकवन, आम्रवन इत्यादि होते हैं। उन वनों में एक हजार योजन ऊँचा और पाँच सौ योजन चौड़ा एक चैत्यवृक्ष है। उसकी चारों दिशा में पल्यङ्कासन जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा है।

४. इन्द्र के इस स्थानमण्डप के अग्रभाग में मानस्थम्भ होता है, उस मानस्थम्भ में तीर्थङ्कर देव जब गृहस्थदशा में होते हैं, उनके पहिनने योग्य आभरणों का रत्नमयी पिटारा होता है। उसमें से इन्द्र आभरण निकालकर तीर्थङ्कर देव को पहुँचाता है। सौधर्म के मानस्थम्भ के रत्नमयी पिटारे में भरतक्षेत्र के तीर्थङ्करों के आभरण होते हैं। ऐशान स्वर्ग के मानस्थम्भ के पिटारे में ऐरावतक्षेत्र के तीर्थङ्करों के आभरण होते हैं। सानत्कुमार के मानस्थम्भ के पिटारे में पूर्व विदेह के तीर्थङ्करों के आभरण होते हैं। माहेन्द्र के मानस्थम्भ के पिटारे में पश्चिम विदेह में तीर्थङ्करों के आभरण होते हैं। इसलिए वे मानस्थम्भ देवों से पूज्यनीय हैं।

इन मानस्थम्भों के पास ही आठ योजन चौड़ा, आठ योजन लम्बा तथा ऊँचा उपपाद गृह है। उन उपपादगृहों में एक रत्नमयी शय्या होती है, वह इन्द्र का जन्मस्थान है। उस उपपादगृह के पास में ही अनेक शिखरवाले जिनमन्दिर हैं। उनका विशेष वर्णन त्रिलोकसारादि ग्रन्थों में से जानना चाहिए॥१९॥

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थ - आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियों का विषय और अवधिज्ञान का विषय, ये सब ऊपर-ऊपर के विमानों में (वैमानिक देवों के) अधिक हैं।

टीका—स्थिति - आयुकर्म के उदय से जो भव में रहना होता है, उसे स्थिति कहते हैं।

प्रभाव - पर का उपचार तथा निग्रह करनेवाली शक्ति प्रभाव है।

सुख - सातावेदनीय के उदय से इन्द्रियों के इष्ट विषयों की अनुकूलता, सो सुख हैं। यहाँ पर 'सुख' का अर्थ बाहर के संयोग की अनुकूलता किया है, निश्चयसुख (आत्मिकसुख) यहाँ नहीं समझना चाहिए। निश्चयसुख का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है; यहाँ सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि के भेद की अपेक्षा से कथन नहीं है, किन्तु सामान्य कथन है - ऐसा समझना चाहिए।

द्युति - शरीर की तथा वस्त्र-आभूषण आदि की दीप्ति, सो द्युति है।

लेश्याविशुद्धि - लेश्या की उज्ज्वलता, सो विशुद्धि है। यहाँ भावलेश्या समझना चाहिए।

इन्द्रियविषय - इन्द्रिय द्वारा (मतिज्ञान से) जानने योग्य पदार्थों को इन्द्रियविषय कहते हैं।

अवधिविषय - अवधिज्ञान से जानने योग्य पदार्थ, सो अवधिविषय है॥२०॥

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अर्थ - गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा से ऊपर-ऊपर के वैमानिक देव हीन-हीन होते हैं।

टीका—१. गति - यहाँ 'गति' का अर्थ गमन है, एक क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में जाना, सो गमन (गति) है। सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव अपने विमानों को छोड़कर दूसरी जगह नहीं जाते।

शरीर - शरीर का विस्तार, सो शरीर है।

परिग्रह - लोभकषाय के कारण ममतापरिणाम, सो परिग्रह है।

अभिमान - मान कषाय के कारण अहङ्कार, सो अभिमान है।

२. प्रश्न - ऊपर-ऊपर के देवों के विक्रिया आदि की अधिकता के कारण गमन इत्यादि विशेषरूप से होना चाहिए, फिर भी उनकी हीनता कैसे कही?

उत्तर - गमन की शक्ति तो ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक है, किन्तु अन्य क्षेत्र में गमन करने के परिणाम अधिक नहीं हैं, इसलिए गमनहीन हैं, ऐसा कहा है। सौधर्म-ऐशान के देव क्रीड़ादिक के निमित्त से महान विषयानुराग से बारम्बार अनेक क्षेत्रों में गमन करते हैं। ऊपर के विषय की उत्कृट (तीव्र) वाच्छा का अभाव है, इसलिए उनकी गति हीन है।

३. शरीर का प्रमाण चालू अध्याय के अन्तिम कोष्ठक में बताया है। वहाँ से जानना चाहिए।

४. विमान-परिवारादिकरूप परिग्रह ऊपर-ऊपर के देवों में थोड़ा-थोड़ा होता है। कषाय की मन्दता से अवधिज्ञानादि में विशुद्धता बढ़ती है और अभिमान कम होता है। जिनके मन्द कषाय होती है, वे ऊपर-ऊपर उत्पन्न होते हैं।

५. शुभ परिणाम के कारण कौन जीव किस स्वर्ग में उत्पन्न होता है?

उसका स्पष्टीकरण

कौन उपजे?	**कहाँ उपजे?**
(१) असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च	भवनवासी तथा व्यन्तर में
(२) कर्मभूमि के संज्ञी पर्याप्त तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले,	बारहवें स्वर्ग पर्यन्त
(३) ऊपर के तिर्यञ्च-सम्यग्दृष्टि (स्वयम्प्रभाचल से बाहर के भाग में रहनेवाले)	सौधर्मादि से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त

(४) भोगभूमि के मनुष्य, तिर्यञ्च-मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले	ज्योतिषियों में
(५) तापसी	ज्योतिषियों में
(६) भोगभूमि के सम्यग्दृष्टि, मनुष्य या तिर्यञ्च	सौधर्म और ऐशान में
(७) कर्मभूमि के मनुष्य-मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन	भवनवासी से उपरिम ग्रैवेयक तक
(८) कर्मभूमि के मनुष्य-जिनके द्रव्य (बाह्य) जिनलिङ्ग और भाव मिथ्यात्व या सासादन होते है, ऐसे	ग्रैवेयक पर्यन्त
(९) जो अभव्यमिथ्यादृष्टि निर्ग्रन्थलिङ्ग धारण करके महान् शुभभाव और तप सहित हों वे	उपरिम (नववें) ग्रैवेयक में।
(१०) परिव्राजक तापसियों का उत्कृष्ट उपपाद	ब्रह्म (पंचम) स्वर्गपर्यन्त
(११) आजीवक (काँजी के अहारी) का उपपाद	बारहवें स्वर्ग पर्यन्त
(१२) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रकर्षतावाले श्रावक	सौधर्मादि से अच्युत तक (उससे नीचे या ऊपर नहीं)
(१३) भावलिङ्गी निर्ग्रन्थ साधु	सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त
(१४) अढ़ाईद्वीप के अणुव्रतधारी तिर्यञ्च	सौधर्म से लेकर बारहवें स्वर्ग पर्यन्त
(१५) पाँच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमि के मनुष्य-तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि	भवनत्रिक में
(१६) मिथ्यादृष्टि	सौधर्म-ऐशान में
(१७) छियानवे अन्तर्द्वीप कुभोगभूमि के म्लेच्छ मनुष्य मानुषोत्तर और स्वयम्प्रभाचल पर्वत के बीच के असंख्यात द्वीपों में उत्पन्न हुए तिर्यञ्च।	भवनत्रिक में

नोट – एकेन्द्रिय, विकलत्रय, देव तथा नारकी, ये देवों में उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनके देवों में उत्पन्न होने के योग्य शुभभाव होते ही नहीं।

६. देव पर्याय से च्युत होकर कौनसी पर्याय धारण करता है, उसकी विगत—

कहाँ से आता है ?	**कौनसी पर्याय धारण करे ?**
(१) भवनत्रिक देव और सौधर्म-ऐशान से	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय, अपकाय, प्रत्येक वनस्पति, मनुष्य तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च में उपजाता है। (विकलत्रय में नहीं जाता)।
(२) सनत्कुमारादिक से	स्थावर नहीं होता।
(३) बारहवें स्वर्ग पर्यन्त से	पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्य होता है।
(४) आनत-प्राणतादिक से (बारहवें स्वर्ग के ऊपर से)	नियम से मनुष्य में ही होता है। तिर्यञ्चों में नहीं होता।
(५) सौधर्म से प्रारम्भ करके नव ग्रैवेयक पर्यन्त के देवों में से कोई	त्रेसठ शलाका पुरुष भी हो सकते हैं।
(६) अनुदिश और अनुत्तर से आए हुए	तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलभद्र इत्यादि में उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु अर्धचक्री नहीं हो सकते।
(७) भवनत्रिक से	त्रेसठ शलाका पुरुषों में उत्पन्न नहीं होते।
(८) देव पर्याय से (समुच्चय से)	समस्त सूक्ष्मों में, तैजसकायों में, वातकायों में उत्पन्न नहीं होते। तथा विकलत्रयों में, असंज्ञियों या लब्धिअपर्याप्तकों में उत्पन्न नहीं होते और भोगभूमियों में, देवों में तथा नारकियों में भी उत्पन्न नहीं होते।

७. इस सूत्र का सिद्धान्त

(१) जब जीव मिथ्यादृष्टि के रूप में उत्कृष्ट शुभभाव करता है, तब नववें ग्रैवेयक तक जाता है, परन्तु वे शुभभाव सम्यग्दर्शन के या धर्म के कारण नहीं हैं; मिथ्यात्व के कारण अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिए शुभभाव को धर्म या धर्म का कारण नहीं मानना चाहिए।

(२) मिथ्यादृष्टि को शुभभाव होते हैं, तब उसके गृहीत-मिथ्यात्व छूट जाता है अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की रागमिश्रित व्यवहार श्रद्धा तो ठीक होती है, उसके बिना उत्कृष्ट शुभभाव हो ही नहीं सकते। नववें ग्रैवेयक जानेवाले मिथ्यादृष्टि जीव देव-गुरु-शास्त्र के व्यवहार से (रागमिश्रित विचार से) सच्चा निर्णय करता है, किन्तु निश्चय से अर्थात् राग से पर का सच्चा निर्णय नहीं करता है तथा उसके 'शुभभाव से धर्म होता है' ऐसी सूक्ष्म मिथ्यामान्यता रह जाती है, इसलिए यह मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

(३) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा के बिना उच्च शुभभाव भी नहीं हो सकते, इसलिए जिन जीवों को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का संयोग प्राप्त हो जाता है, फिर भी यदि वे उसका रागमिश्रित व्यावहारिक यथार्थ निर्णय नहीं करते तो गृहीतमिथ्यात्व बना रहता है और जिसे कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की मान्यता होती है, उसके भी गृहीतमिथ्यात्व होता ही है और जहाँ गृहीतमिथ्यात्व होता है, वहाँ अगृहीतमिथ्यात्व भी अवश्य होता है; इसलिए ऐसे जीव को सम्यग्दर्शनादि धर्म तो होता नहीं, प्रत्युत मिथ्यादृष्टि के होनेवाला उत्कृष्ट शुभभाव भी उसके नहीं होता। ऐसे जीवों के जैनधर्म की श्रद्धा व्यवहार से भी नहीं मानी जा सकती।

(४) इसी कारण से अन्य धर्म की मान्यतावालों के सच्चे धर्म का प्रारम्भ अर्थात् सम्यग्दर्शन तो होता ही नहीं और मिथ्यादृष्टि के योग्य उत्कृष्ट शुभभाव भी वे नहीं कर सकते, वे अधिक से अधिक बारहवें देवलोक की प्राप्ति के योग्य शुभभाव कर सकते हैं।

(५) बहुत से अज्ञानी लोगों की यह मान्यता है कि 'देवगति में सुख है' किन्तु यह उनकी भूल है। बहुत से देव तो मिथ्यात्व के कारण अतत्त्व-श्रद्धानयुक्त ही हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के अति मन्द कषाय नहीं होती, उपयोग भी बहुत चञ्चल होता है तथा कुछ शक्ति है, इसलिए कौतूहल तथा विषयादि कार्यों में ही लगे रहते हैं और इसलिए

वे अपनी उस व्याकुलता से दु:खी ही हैं। वहाँ माया-लोभ-कषाय के कारण होने से वैसे कार्यों की मुख्यता है। वहाँ विषयसामग्री की इच्छा करना, छल करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं किन्तु वैमानिक देवों में ऊपर-ऊपर के देवों के वे कार्य अल्प होते हैं। वहाँ हास्य और रति कषाय के कारण होने से वैसे कार्यों की मुख्यता होती है। इस प्रकार देवों को कषायभाव होता है और कषायभाव दु:ख ही है। ऊपर के देवों के उत्कृष्ट पुण्य का उदय है और कषाय अति मन्द है, तथापि उनके भी इच्छा का अभाव नहीं है, इसलिए वास्तव में वे दु:खी ही हैं। जो देव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए हैं, वे ही जितने दरजे में वीतरागभावरूप रहते हैं, उतने दरजे में सच्चे सुखी हैं। सम्यग्दर्शन के बिना कहीं भी सुख का अंश प्रारम्भ नहीं होता और इसलिए ही इसी शास्त्र के पहिले ही सूत्र में मोक्ष का उपाय बतलाते हुए उसमें सम्यग्दर्शन पहिला बताया है। इसलिए जीवों को प्रथम ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना आवश्यक है।

(६) उत्कृष्ट देवत्व के योग्य सर्वोत्कृष्ट शुभभाव सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं अर्थात् शुभभाव के स्वामित्व के निषेध की भूमिका में ही वैसे उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं; मिथ्यादृष्टि के वैसे उच्च शुभभाव नहीं होते॥ २१॥

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु॥२२॥

अर्थ - दो युगलों में पीत, तीन युगलों में पद्म और बाकी के सब विमानों में शुक्ल-लेश्या होती है।

टीका—१. पहिले और दूसरे स्वर्ग में पीतलेश्या तीसरे और चौथे में पीत तथा पद्मलेश्या, पाँचवें से आठवें तक पद्मलेश्या, नववें से बारहवें तक पद्म और शुक्ललेश्या और बाकी के सब वैमानिक देवों के शुक्ललेश्या होती है। नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर इन चौदह विमानों के देवों के परमशुक्ललेश्या होती है। भवनत्रिक देवों की लेश्या का वर्णन इस अध्याय के दूसरे सूत्र में आ गया है। यहाँ भावलेश्या समझना चाहिए।

२. **प्रश्न** - सूत्र में मिश्रलेश्याओं का वर्णन क्यों नहीं किया?

उत्तर - जो मुख्य लेश्याएँ हैं, उन्हें सूत्र में बतलाया है; जो गौण लेश्या हैं, उन्हें नहीं कहा है; गौण लेश्याओं का वर्णन उसी में गर्भित हैं, इसलिए वे उसमें अविवक्षितरूप से हैं।

इस शास्त्र में संक्षिप्त सूत्ररूप से मुख्य वर्णन किया है, दूसरा उसमें गर्भित हैं, इसलिए यह गर्भित कथन परम्परा के अनुसार समझ लेना चाहिए॥२२॥

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है ?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

अर्थ - ग्रैवेयकों से पहिले के सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। उनसे आगे के विमान कल्पातीत हैं।

टीका—सोलह स्वर्गों के नव ग्रैवेयक इत्यादि के देव एक समान वैभव के धारी होते हैं, इसलिए उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं, वहाँ इन्द्र इत्यादि भेद नहीं हैं, सभी समान हैं॥२३॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

अर्थ - जिनका निवास स्थान पाँचवाँ स्वर्ग (ब्रह्मलोक) है, उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

टीका—ये देव ब्रह्मलोक के अन्त में रहते हैं तथा एक भवावतारी (एकावतारी) हैं तथा लोक का अन्त (संसार का नाश) करनेवाले हैं, इसलिए उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। वे द्वादशाँग के पाठी होते हैं, चौदह पूर्व के धारक होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थङ्कर प्रभु के मात्र तप कल्याणक में आते हैं। वे देवर्षि भी कहे जाते हैं॥२४॥

लौकान्तिक देवों के नाम

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

अर्थ - लौकान्तिक देवों के आठ भेद हैं - १. सारस्वत, २. आदित्य, ३. वह्नि, ४. अरुण, ५. गर्दतोय, ६. तुषित, ७. अव्याबाध, और ८. अरिष्ट - ये देव ब्रह्मलोक की ईशान इत्यादि आठ दिशाओं में रहते हैं।

टीका—इन देवों के ये आठ मूल भेद हैं और उन आठों के रहने के स्थान के बीच के भाग में रहनेवाले देवों के दूसरे सोलह भेद हैं; इस प्रकार कुल २४ भेद हैं, इन देवों के स्वर्ग के नाम उनके नाम के अनुसार ही हैं। उनमें सभी समान हैं, उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है,

सभी स्वतन्त्र हैं, उनकी कुल संख्या ४०७८२० है। सूत्र में आठ नाम बतलाकर अन्त में 'च' शब्द दिया है, उससे यह मालूम होता है कि इन आठ के अतिरिक्त दूसरे भेद भी हैं ॥२५॥

अनुदिश और अनुत्तरवासी देवों के अवतार का नियम

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

अर्थ - विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरमा होते हैं अर्थात् मनुष्य के दो जन्म (भव) धारण करके अवश्य ही मोक्ष जाते हैं (ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं)।

टीका—१. सर्वार्थसिद्धि के देव उनके नाम के अनुसार एकावतारी ही होते हैं। विजयादिक में रहनेवाले जीव एक मनुष्यभव अथवा दो भव भी धारण करते हैं।

२. सर्वार्थसिद्धि के देव, दक्षिण के छह इन्द्र (सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण) सौधर्म के चारों लोकपाल, सौधर्म इन्द्र की 'शचि' नाम की इन्द्राणी और लौकान्तिक देव - ये सभी एक मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं। (सर्वा० एटा, पृ. ८७-८८ का फुटनोट) ॥२६॥

[तीसरे अध्याय में नारकी और मनुष्य सम्बन्धी वर्णन किया था और इस चौथे अध्याय में यहाँ तक देवों का वर्णन किया। अब एक सूत्र द्वारा तिर्यञ्चों की व्याख्या बताने के बाद देवों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु कितनी है, यह बतावेंगे तथा नारकियों की जघन्य आयु कितनी है, यह बतावेंगे। मनुष्य तथा तिर्यञ्चों की आयु की स्थिति का वर्णन तीसरे अध्याय के सूत्र ३८-३९ में कहा गया है।

इस प्रकार दूसरे अध्याय के दसवें सूत्र में जीवों के संसारी और मुक्त ऐसे जो दो भेद कहे थे, उनमें से संसारी जीवों का वर्णन चौथे अध्याय तक पूरा हुआ। तत्पश्चात् पाँचवें अध्याय में अजीवतत्त्व का वर्णन करेंगे। छठवें तथा सातवें अध्याय में आस्रव तथा आठवें अध्याय में बन्धतत्त्व का वर्णन करेंगे तथा नववें अध्याय में संवर और निर्जरातत्त्व का वर्णन करेंगे और मुक्त जीवों का (मोक्षतत्त्व का) वर्णन दसवें अध्याय में करके ग्रन्थ पूर्ण करेंगे।]

तिर्यञ्च कौन हैं ?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अर्थ - उपपाद जन्मवाले (देव तथा नारकी) और मनुयों के अतिरिक्त बाकी बचे हुए तिर्यञ्च योनिवाले ही हैं।

टीका—देव, नारकी और मनुष्यों के अतिरिक्त सभी जीव तिर्यञ्च हैं, उनमें से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तो समस्त लोक में व्याप्त हैं। लोक का एक भी प्रदेश सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों से रहित नहीं है। बादर एकेन्द्रिय जीवों को पृथ्वी इत्यादि का आधार होता है।

विकलत्रय (दो, तीन और चार इन्द्रिय) और संज्ञी-असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव त्रसनाली में कहीं-कहीं होते हैं, त्रसनाली के बाहर त्रसजीव नहीं होते। तिर्यञ्च जीव समस्त लोक में होने से उनका - क्षेत्र विभाग नहीं है॥ २७॥

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्यो-पमार्द्धहीनमिताः ॥२८॥

अर्थ - भवनवासी देवों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकी के कुमारों की आयु क्रम से एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य हैं॥२८॥

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

अर्थ - सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

टीका—१. भवनवासी देवों के बाद व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की आयु बताने का क्रम है, तथापि वैमानिक देवों की आयु बताने का कारण यह है कि ऐसा करने से बाद के सूत्रों में लघुता (संक्षेपता) आ सकती है।

२. 'सागरोपमे' यह शब्द द्विवचनरूप हैं, उसका अर्थ 'दो सागर' होता है।

३. 'अधिके' यह शब्द घातायुष्क जीवों की अपेक्षा से है; उसका खुलासा यह है कि किसी सम्यग्दृष्टि मनुष्य ने शुभ परिणामों से दस सागर प्रमाण ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग की आयु बाँध ली, तत्पश्चात् उसने ही मनुष्य भव में संक्लेश परिणाम से उस आयु की स्थिति का घात किया और सौधर्म-ईशान में उत्पन्न हुआ तो वह जीव घातायुष्क कहलाता है; सौधर्म-ईशान के दूसरे देवों की अपेक्षा उसकी आधा सागर में एक अन्तर्मुहूर्त कम आयु अधिक होती

है। ऐसा घातायुष्कपना पूर्व में मनुष्य तथा तिर्यञ्च भव में होता है।

४. आयु का घात दो प्रकार का है – एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयु का घटना, सो अपवर्तनघात हे और भुज्यमान (भोगने में आनेवाली) आयु का घटना, सो कदलीघात है। देवों में कदलीघात आयु नहीं होती।

५. घातायुष्क जीव का उत्पाद बारहवें देवलोक पर्यन्त ही होता है॥२९॥

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त॥३०॥

अर्थ – सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

नोट – इस सूत्र में 'अधिक' शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र में आयी है॥३०॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु॥३१॥

अर्थ – पूर्व सूत्र में कहे हुए युगलों की आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु (उसके बाद के स्वर्गों में) है।

१. ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में दश सागर से कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में चौदह सागर से कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में सोलह सागर से कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्ग में अठारह सागर से कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्ग में बीस सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्ग में बावीस सागर उत्कृष्ट आयु हैं।

२. 'तु' शब्द होने के कारण 'अधिक' शब्द का सम्बन्ध बारहवें स्वर्ग तक ही होता है, क्योंकि घातायुष्क जीवों की उत्पत्ति वहाँ तक ही होती है॥३१॥

कल्पोपपन्न देवों की आयु कह करके अब कल्पातीत देवों की आयु कहते हैं।

कल्पातीत देवों की आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥३२॥

अर्थ – आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर के नव ग्रैवेयकों में, नव अनुदिशों में, विजय इत्यादि विमानों में और सर्वार्थसिद्धि विमानों में देवों की आयु – एक-एक सागर अधिक है।

टीका—१. पहिले ग्रैवेयक में २३, दूसरे में २४, तीसरे में २५, चौथे में २६, पाँचवें में २७, छठवें में २८, सातवें में २९, आठवें में ३०, नववें में ३१, नव अनुदिशों में ३२, विजय

आदि में ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धि के सभी देवों की ३३ सागर की ही स्थिति होती है, इससे कम किसी की नहीं होती।

२. मूल सूत्र में 'अनुदिश' शब्द नहीं है किन्तु 'आदि' शब्द से अनुदिशों का भी ग्रहण हो जाता है॥३२॥

स्वर्गों की जघन्य आयु

अपरा पल्योपमधिकम्॥३३॥

अर्थ - सौधर्म और ईशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

टीका—सागर और पल्य का नाप तीसरे अध्याय के छठवें सूत्र की टीका में दिया है। वहाँ अद्धापल्य लिखा है, उसे ही पल्य समझना चाहिए॥३३॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा॥३४॥

अर्थ - जो पहिले-पहिले के युगलों की उत्कृष्ट आयु है, वह पीछे-पीछे के युगलों की जघन्य आयु होती है।

टीका—सौधर्म और ईशान स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है; उतनी ही सानत्कुमार और माहेन्द्र की जघन्य आयु है। इसी क्रम के अनुसार आगे के देवों की जघन्य आयु समझना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती॥३४॥

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु॥३५॥

अर्थ - दूसरे इत्यादि नरक के नारकियों की जघन्य आयु भी देवों की जघन्य आयु के समान है अर्थात् जो पहिले नरक की उत्कृष्ट आयु है, वही दूसरे नरक की जघन्य आयु है। इस प्रकार आगे के नरकों में भी जघन्य आयु जानना चाहिए॥३५॥

पहिले नरक की जघन्य आयु

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्॥३६॥

अर्थ - पहिले नरक के नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

(नारकियों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन तीसरे अध्याय के छठवें सूत्र में किया है।॥३६॥

भवनवासी देवों की जघन्य आयु

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ - भवनवासी देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है॥३७॥

व्यन्तर देवों की जघन्य आयु

व्यन्तराणां च॥३८॥

अर्थ - व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है॥३८॥

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपममधिकम्॥३९॥

अर्थ - व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम से कुछ अधिक है॥३९॥

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च॥४०॥

अर्थ - ज्योतिषी देवों की भी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम से कुछ अधिक है॥४०॥

ज्योतिषी देवों की आयु

तदष्टभागोऽपरा॥४१॥

अर्थ - ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्योपम के आठवें भाग है॥४१॥

लौकान्तिक देवों की आयु

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्॥४२॥

अर्थ - समस्त लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु आठ सागर की है॥ ४२॥

उपसंहार

इस चौथे अध्याय तक सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व का अधिकार पूर्ण हुआ।

पहिले अध्याय के पहिले सूत्र में मोक्षमार्ग की व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है - ऐसा बतलाया है। दूसरे ही सूत्र में सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए बताया है कि तत्त्वार्थश्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है; तत्पश्चात् चौथे सूत्र में तत्त्वों के नाम

बतलाए और तत्त्व सात हैं, यह बताया। सात नाम होने पर भी बहुवचन का प्रयोग नहीं करते हुए 'तत्त्वं' इस प्रकार एक वचन का प्रयोग किया है – उससे यह मालूम होता है कि इन सातों तत्त्वों के राग –मिश्रित विचार से ज्ञान करने के बाद भेद का आश्रय दूर करके जीव के त्रिकालिक अभेद ज्ञायकभाव का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

सूत्र ५ तथा ६ में बताया है कि इन तत्त्वों को निक्षेप, प्रमाण तथा नयों के द्वारा जानना चाहिए; इसमें सप्तभङ्गी का समावेश हो जाता है। इन सबको संक्षेप में सामान्यरूप से कहना हो तो तत्त्वों का स्वरूप जो अनेकान्तरूप है, और जिसका द्योतक स्याद्वाद है, उनका स्वरूप भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

जीव का यथार्थज्ञान करने के लिए स्याद्वाद पद्धति से अर्थात् निक्षेप, प्रमाण, नय और सप्तभङ्गी से जीव का स्वरूप संक्षेप में कहा जाता है; उसके पहिले सप्तभङ्गी के द्वारा जीव का स्वरूप कहा जाता है – सप्तभङ्गी का स्वरूप जीव में निम्न प्रकार से लगाया जाता है।

सप्तभङ्गी

[स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति]

'जीव है' यह कहते ही जीव, जीवस्वरूप से है और जीव, जड़स्वरूप से (अजीवस्वरूप से) नहीं है – यदि यह समझा जा सके तो ही जीव को जाना कहलाता है अर्थात् 'जीव है' यह कहते ही यह निश्चित हुआ कि 'जीव जीवस्वरूप से है' और उसमें यह गर्भित हो गया कि 'जीव परस्वरूप से नहीं है।' वस्तु के इस धर्म को 'स्यात् अस्ति' कहा जाता है, उसमें 'स्यात्' का अर्थ किसी 'एक अपेक्षा से' है और अस्ति का अर्थ 'है' होता है। इस प्रकार 'स्यात् अस्ति' का अर्थ 'अपेक्षा से है' यह होता है, उसमें 'स्यात् नास्ति' अर्थात् 'पर की अपेक्षा से नहीं है' ऐसा गर्भितरूप से आ जाता है; जो इस प्रकार जानता है, वही जीव का 'स्यात् अस्ति' भङ्ग अर्थात् 'जीव है' इस प्रकार यथार्थ जानता है, किन्तु यदि 'पर की अपेक्षा से नहीं है' ऐसा उसके लक्ष्य में गर्भितरूप से न आए तो जीव का 'स्यात् अस्ति' स्वरूप को भी वह जीव भलीभाँति नहीं समझा है और इसलिए वह अन्य छह भङ्गों को भी नहीं समझा है; इसलिए उसने जीव का यथार्थ स्वरूप नहीं समझा है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ''हर समय बोलने में 'स्यात्' शब्द बोलना ही चाहिए'' ऐसी आवश्यकता नहीं है; किन्तु 'जीव है' ऐसा कहनेवाले के 'स्यात्' पद के भाव का यथार्थ ख्याल होना चाहिए; यदि ऐसा न हो तो 'जीव है' इस पद का यथार्थ ज्ञान उस जीव के है ही नहीं।

'जीव का अस्तित्व पर स्वरूप से नहीं है' यह पहले 'स्यात् अस्ति' भङ्ग में गर्भित था; वह दूसरे 'स्यात् नास्ति' भङ्ग में प्रगटरूप से बतलाया जाता है। स्यात् नास्ति का अर्थ ऐसा है कि पर अपेक्षा से जीव नहीं है। 'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षा से और 'नास्ति' अर्थात् न होना। जीव का पर अपेक्षा से नास्तित्व है अर्थात् जीव पर के स्वरूप से नहीं है, इसलिए पर अपेक्षा से जीव का नास्तित्व है अर्थात् जीव, पर एक-दूसरे के प्रति अवस्तु है - ऐसा 'स्यात् नास्ति' भङ्ग का अर्थ समझना चाहिए।

इससे यह समझना चाहिए कि जैसे 'जीव' शब्द कहने से जीव का अस्तित्व (जीव की सत्ता) भासित होता है, वह जीव का स्वरूप है। उसी प्रकार उसी समय जीव को छोड़कर दूसरे का निषेध भासित होता है, वह भी जीव का स्वरूप है।

इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूप से जीव का स्वरूप है और पररूप से न होना भी जीव का स्वरूप है। यह जीव में स्यात् अस्ति तथा स्यात् नास्ति का स्वरूप बतलाया है।

इसी प्रकार परवस्तुओं का स्वरूप उन वस्तुरूप से है और परवस्तुओं का स्वरूप जीवरूप से नहीं है - इस प्रकार सभी वस्तुओं में अस्ति-नास्ति स्वरूप समझना चाहिए। शेष पाँच भङ्ग इन दो भङ्गों के ही विस्तार हैं।

''आप्तमीमांसा की १११ वीं कारिका की व्याख्या में अकलङ्कदेव कहते हैं कि क्या वचन का ऐसा स्वभाव है कि स्वविषय का अस्तित्व दिखाने से वह उससे इतर का (परवस्तु का) निराकरण करता है, इसलिए अस्तित्व और नास्तित्व - इन दो मूल धर्मों के आश्रय से सप्तभङ्गीरूप स्याद्वाद की सिद्धि होती है।'' [तत्त्वार्थसार पृष्ठ १२५ का फुटनोट]

साधक जीव को अस्ति-नास्ति के ज्ञान से होनेवाला फल

जीव अनादि अविद्या के कारण शरीर को अपना मानता है और इसलिए वह शरीर के उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति तथा शरीर का नाश होने पर अपना नाश होना मानता है। पहिली भूल 'जीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा है और दूसरी भूल 'अजीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा है। [जहाँ एक तत्त्व की विपरीत श्रद्धा होती है, वहाँ दूसरे तत्त्वों की भी विपरीत श्रद्धा होती ही है।]

इस विपरीत श्रद्धा के कारण जीव यह मानता रहता है कि वह शारीरिक क्रिया कर सकता है; उसे हिला-डुला सकता है, उठा बैठा सकता है, सुला सकता है और शरीर की

सम्भाल कर सकता है इत्यादि। जीवतत्त्व सम्बन्धी यह विपरीत श्रद्धा अस्ति-नास्ति भङ्ग के यथार्थ ज्ञान से दूर होती है।

यदि शरीर अच्छा हो तो जीव को लाभ होता है और खराब हो तो हानि होती है, शरीर अच्छा हो तो जीव धर्म कर सकता है और खराब हो तो धर्म नहीं कर सकता, इत्यादि प्रकार से अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा किया करता है। वह भूल भी अस्ति-नास्ति भङ्ग के यथार्थज्ञान से दूर होती है।

जीव, जीव से अस्तिरूपसे है और पर से अस्तिरूप से नहीं है किन्तु नास्तिरूप से है, इस प्रकार जब यथार्थतया ज्ञान में निश्चय करता है, तब प्रत्येक तत्त्व यथार्थतया भासित होता है; इसी प्रकार जीव, परद्रव्यों के प्रति सम्पूर्णतया अकिञ्चित्कर है तथा परद्रव्य, जीव के प्रति सम्पूर्णतया अकिञ्चित्कर हैं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप से नास्ति है, ऐसा विश्वास होता है और इससे जीव पराश्रयी-परावलम्बित्व को मिटाकर स्वाश्रयी-स्वावलम्बी हो जाता है, यही धर्म का प्रारम्भ है।

जीव का पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है ? इसका ज्ञान इन दो भङ्गों से किया जा सकता है। निमित्त परद्रव्य है, इसलिए वह नैमित्तिक जीव का कुछ नहीं कर सकता, वह मात्र आकाश प्रदेश में एक क्षेत्रावगाहरूप से या संयोग-अवस्थारूप से उपस्थित होता है; किन्तु नैमित्तिक-निमित्त से पर है और निमित्त-नैमित्तिक से पर है, इसलिए एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकता। निमित्त तो परज्ञेयरूप से ज्ञान में ज्ञात होता है, इतना मात्र व्यवहार सम्बन्ध है।

दूसरे से चौथे अध्याय तक यह अस्ति-नास्ति स्वरूप कहाँ-कहाँ बताया है उसका वर्णन

अध्याय २ सूत्र १ से ७ जीव के पाँच भाव अपने अस्तिरूप से हैं और पर से नास्तिरूप हैं - ऐसा बताया है।

अध्याय २ सूत्र ८-९ जीव का लक्षण अस्तिरूप से क्या है, यह बताया है; उपयोग जीव का लक्षण है, ऐसा कहने से दूसरा कोई लक्षण जीव का नहीं है - ऐसा प्रतिपादित हुआ। जीव अपने लक्षण से अस्तिरूप है और इसीलिए उसमें पर की नास्ति आ गई - ऐसा बताया है।

अध्याय २ सूत्र १० जीव की विकारी तथा शुद्ध पर्याय जीव से अस्तिरूप से है और पर से नास्तिरूप से अर्थात् पर से नहीं है - ऐसा बताया है।

अध्याय २ सूत्र ११ से १७ जीव के विकारीभावों का पर वस्तुओं से - कर्म, मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, परक्षेत्र इत्यादि के साथ-कैसा निमित्त-नैमित्तिकभाव है, यह बतलाकर यह बताया है कि जीव पराश्रय से जीव के विकारीभाव करता है, किन्तु परनिमित्त से विकारीभाव नहीं होते अर्थात् पर निमित्त विकारीभाव नहीं करता, यह अस्ति-नास्तिपन बतलाता है।

अध्याय २ सूत्र १८ जीव की क्षयोपशमरूप पर्याय अपने अस्तिरूप से है, पर से नहीं है (नास्तिरूप से है) अर्थात् पर से-कर्म से जीव की पर्याय नहीं होती, यह बताया है।

अध्याय २ सूत्र २७ जीव का सिद्धक्षेत्र के साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे बताते हैं।

अध्याय २ सूत्र ५० से ५२ जीव की वेदरूप (भाववेदरूप) विकारी पर्याय अपनी योग्यता से-अस्तिरूप से है, पर से नहीं है, यह बताया है।

अध्याय २ सूत्र ५३ जीव का आयुकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया है; उसमें जीव का नैमित्तिकभाव जीव की अपनी योग्यता से है और आयुकर्म से अथवा पर से नहीं है —ऐसा बताया है तथा निमित्त आयुकर्म का निश्चय सम्बन्धी जीव या किसी दूसरे पर के साथ नहीं है - ऐसा अस्ति-नास्ति भङ्ग से सिद्ध होता है।

अध्याय ३ सूत्र १ से ६ नारकीभाव के भोगने के योग्य होनेवाले जीव के किस प्रकार के क्षेत्रों का सम्बन्ध निमित्तरूप से होता है तथा उत्कृष्ट आयु का निमित्तपना किस प्रकार से होता है यह बताकर, निमित्तरूप, क्षेत्र या आयु वह जीव नहीं है किन्तु जीव से भिन्न है— ऐसा सिद्ध होता है।

अध्याय ३ सूत्र ७ से ३९ मनुष्यभाव या तिर्यञ्चभाव को भोगने के योग्य जीव के किस प्रकार के क्षेत्रों का तथा आयु का सम्बन्ध निमित्तरूप से होता है। यह बताकर जीव स्व है और निमित्त पर है, ऐसा अस्ति-नास्ति स्वरूप बतलाया है।

अध्याय ४ सूत्र १ से ४२ देवभाव और तिर्यञ्चभाव होने पर तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिरूप अवस्था में जीव के कैसे परक्षेत्रों का तथा आयु का निमित्त-नैमित्तिक का सम्बन्ध होता है, यह बताकर अस्ति-नास्ति स्वरूप बताया है।

सप्तभङ्गी के शेष पाँच भङ्गों का विवेचन

१-२ - अस्ति और नास्ति यह दो, जीव के स्वभाव सिद्ध कर दिए।

३- जीव के अस्ति और नास्ति इन दोनों-स्वभावों को क्रम से कहना हो तो 'जीव अस्ति नास्ति-दोनों धर्ममय है' - ऐसा कहा जाता है। इसलिए जीव 'स्यात् अस्ति-नास्ति' है; यह तीसरा भङ्ग हुआ।

४- अस्ति और नास्ति, ये दोनों जीव के स्वभाव हैं तो भी वे दोनों एक साथ नहीं कहे जा सकते हैं, इस अपेक्षा से जीव 'स्यात अवक्तव्य' है, यह चौथा भङ्ग हुआ।

५- जीव का स्वरूप जिस समय अस्तिरूप से कहा जाता है, उसी समय नास्ति तथा दूसरे गुण इत्यादि नहीं कहे जा सकते - अवक्तव्य हैं; इसलिए जीव 'स्यात् अस्ति-अवक्तव्य' है; यह पाँचवा भङ्ग हुआ।

६- जीव का स्वरूप जिस समय नास्ति से कहा जाता है, उस समय अस्ति तथा अन्य गुण इत्यादि नहीं कहे जा सकते - अवक्तव्य है; इसलिए जीव 'स्यात् नास्ति-अवक्तव्य' है, यह छट्ठा भङ्ग हुआ।

७- स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति, यह दोनों भङ्ग क्रमशः वक्तव्य हैं, किन्तु युगपत् वक्तव्य नहीं हैं; इसलिए जीव 'स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य' है; यह सातवाँ भङ्ग हुआ।

जीव में अवतरित सप्तभङ्गी

१- जीव स्यात् अस्ति ही है। २- जीव स्यात् नास्ति ही है। ३- जीव स्यात् अस्ति-नास्ति ही है। ४- जीव स्यात् अवक्तव्य ही है। ५- जीव स्यात् अस्ति अवक्तव्य ही है। ६- जीव स्यात् नास्ति-अवक्तव्य ही है। ७- जीव स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है।

स्यात् का अर्थ कुछ लोग 'संशय' कहते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है; 'कथञ्चित् किसी अपेक्षा से' ऐसा उसका अर्थ होता है। स्यात् कथन से (स्याद्वाद से) वस्तुस्वरूप के ज्ञान की विशेष दृढ़ता होती है।

सप्तभङ्गी में लागू होनेवाले नय

'अस्ति' स्व-रूप से है, इसलिए निश्चयनय का विषय है और नास्ति पर-रूप से है। इसलिए व्यवहारनय का विषय है, शेष पाँच भङ्ग व्यवहारनय से हैं क्योंकि वे कुछ या अधिक अंश में पर की अपेक्षा रखते हैं।

अस्ति में लागू पड़नेवाले नय

अस्ति के निश्चय अस्ति और व्यवहार अस्ति, ये दो भेद हो सकते हैं। जीव की शुद्ध पर्याय निश्चयनय से अस्ति है, क्योंकि वह जीव का स्वरूप है और विकारी पर्याय व्यवहारनय से अस्तिरूप है क्योंकि वह जीव का स्वरूप नहीं है। विकारी पर्याय अस्तिरूप है अवश्य, किन्तु टालने योग्य है; व्यवहारनय से वह जीव का है और निश्चयनय से जीव का नहीं है।

अस्ति में दूसरे प्रकार से लागू पड़नेवाले नय

अस्ति का अर्थ 'सत्' होता है। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त होता है, उसमें ध्रौव्य निश्चयनय से अस्ति है और उत्पाद-व्यय व्यवहारनय से हैं। जीव का ध्रौव्यस्वरूप त्रिकाल अखण्ड शुद्ध चैतन्य-चमत्कारमात्र है, वह कभी विकार को प्राप्त नहीं हो सकता; मात्र उत्पादरूप पर्याय में पराश्रय से क्षणिक विकार होता है। जीव जब अपना स्वरूप समझने के लिए अपने अखण्ड ध्रौव्यस्वरूप की ओर उन्मुख होता है, तब शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

प्रमाण

श्रुतप्रमाण का एक का अंश नय है। जहाँ श्रुतप्रमाण नहीं होता 'वहाँ नय नहीं होता; जहाँ नय होता है, वहाँ श्रुतप्रमाण होता ही है। प्रमाण उन दोनों नयों के विषय का यथार्थ ज्ञान करता है; इसलिए अस्ति-नास्ति का' एक साथ ज्ञान, प्रमाण ज्ञान है।

निक्षेप

यहाँ जीव ज्ञेय है, ज्ञेय का अंश निक्षेप है। अस्ति, नास्ति इत्यादि धर्म जीव के अंश हैं। जीव स्वज्ञेय है और अस्ति-नास्ति इत्यादि स्वज्ञेय के अंशरूप निक्षेप हैं; यह भाव निक्षेप हैं। उसका यथार्थ ज्ञान नय हैं। निक्षेप विषय है और नय उसका विषय करनेवाला (विषयी) है।

स्वज्ञेय

जीव स्वज्ञेय है तथा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञेय हैं और उनका त्रिकाल जानने का स्वभाव गुण है तथा ज्ञान की वर्तमान पर्याय स्वज्ञेय को जानती है। स्वज्ञेय के जानने में यदि स्व-पर का भेदविज्ञान हो, तब ही ज्ञान की सच्ची पर्याय है।

अनेकान्त

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३११-३१२, पृष्ठ ११८ से १२० के आधार से]

९- वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है। जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म हो, उसे अनेकान्त

कहते हैं। उन धर्मों में अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षात्व, अनपेक्षात्व, देवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अन्तरङ्गगत्व, बहिरङ्गत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, इत्यादि सामान्य धर्म हैं और जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गन्धत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, संसारीत्व, सिद्धत्व, अवगाहहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं। वस्तु को समझने के लिए प्रश्न उठने पर प्रश्न के वश से उन धर्मों के सम्बन्ध में विधिनिषेधरूप वचनों के सात भङ्ग होते हैं। उन सात भङ्गों में 'स्यात्' यह पद लगाया है। 'कथञ्चित्' किसी प्रकार इस अर्थ में 'स्यात्' शब्द है, उसके द्वारा वस्तु का अनेकान्त स्वरूप सिद्ध करना चाहिए।

सप्तभङ्गी और अनेकान्त

(१) १. वस्तु स्यात् अस्तिरूप है, अर्थात् किसी प्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप से अस्तिरूप कही जाती है। २. वस्तु स्यात् नास्तिरूप है, अर्थात् परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से नास्तित्वरूप कही जाती है। ३. वस्तु स्यात् अस्तित्व-नास्तित्वरूप है - यह वस्तु में अस्ति-नास्ति - दोनों धर्म रहते हैं, उसे वचन के द्वारा क्रम से कह सकते हैं। ४. और वस्तु स्यात् अवक्तव्य है; क्योंकि वस्तु में अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक ही समय रहते हैं, किन्तु वचन के द्वारा एक साथ दोनों धर्म कहे नहीं जा सकते; इसलिए किसी प्रकार से वस्तु अवक्तव्य है। ५. अस्तित्वरूप से वस्तु स्वरूप कहा जा सकता है, किन्तु अस्ति-नास्ति दोनों धर्म वस्तु में एक साथ रहते हैं, इसलिए वस्तु एक साथ कही नहीं जा सकती, इस प्रकार वस्तु वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है; इसलिए स्यात् अस्ति-अव्यक्तव्य है। ६. इस ही प्रकार (अस्तित्व की भाँति) वस्तु के स्यात् नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिए। ७. और दोनों धर्मों को क्रम से कह सकते हैं, किन्तु एक साथ नहीं कह सकते; इसलिए वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिए। ऊपर कहे अनुसार सात भङ्ग वस्तु में सम्भव हैं।

(२) इस प्रकार एकत्व, अनेकत्व इत्यादि सामानय धर्म पर सात भङ्ग विधि-निषेध से लगाना चाहिए। जहाँ जो अपेक्षा सम्भव हो, उसे लगना चाहिये और उसी प्रकार से जीवत्व, अजीवत्व आदि विशेष धर्मों में वे भङ्ग लगाना चाहिए; जैसे कि जीव नाम की वस्तु हैं, वह स्यात् जीवत्व है, स्यात् अजीवत्व है, इत्यादि प्रकार से लगाना चाहिए। वहाँ पर इस प्रकार अपेक्षापूर्वक समझना कि जीव का अपना जीवत्व धर्म जीव में है, इसलिए जीवत्व है; पर-अजीव का अजीवत्वधर्म जीव में नहीं है, तो भी जीव के दूसरे (ज्ञान के छोड़कर)

धर्मों की मुख्यता करके कहा जावे तो उन धर्मों की अपेक्षा से अजीवत्व है; इत्यादि सात भङ्ग लगाना चाहिए तथा जीव अनन्त हैं, उसकी अपेक्षा से अर्थात् अपना जीवत्व अपने में है, पर का जीवत्व अपने में नहीं है; इसलिए पर जीवों की अपेक्षा से अजीवत्व है, इस प्रकार से भी अजीवत्व धर्म प्रत्येक जीव में सिद्ध हो सकता है – कह सकते हैं। इस प्रकार अनादिनिधन अनन्त जीव-अजीव वस्तुएँ हैं। उनमें प्रत्येक में अपना-अपना द्रव्यत्व, पर्यायत्व इत्यादि अनन्त धर्म हैं। उन धर्मों सहित सात भङ्गों से वस्तु की सिद्धि करना चाहिए।

(३) वस्तु की स्थूल पर्याय है, वह भी चिरकाल स्थाई अनेक धर्मरूप होती है। जैसे कि जीव में संसारीपर्याय और सिद्धपर्याय। और संसारी में त्रस, स्थावर; उसमें मनुष्य, तिर्यञ्च इत्यादि। पुद्गल में अणु, स्कन्ध तथा घट, पट इत्यादि। वे पर्यायें भी कथञ्चित् वस्तुपना सिद्ध करती हैं। उन्हें भी उपरोक्त प्रकार से ही सात भङ्ग से सिद्ध करना चाहिए तथा जीव और पुद्गल के संयोग से होनेवाले आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, मोक्ष इत्यादि भावों में भी, बहुत से धर्मपना की अपेक्षा से तथा परस्पर विधि=निषेध से, अनेक धर्मरूप कथञ्चित् वस्तुपना सम्भवित है; उसे सप्त भङ्ग से सिद्ध करना चाहिए।

(४) यह नियमपूर्वक जानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मस्वरूप है, उन सब को अनेकान्तस्वरूप जानकर जो श्रद्धा करता है और उसी प्रमाण से ही संसार में व्यवहार की प्रवृत्ति करता है, सो सम्यग्दृष्टि है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नव पदार्थ हैं, उनकी भी उसी प्रकार से सप्त भङ्ग से सिद्ध करना चाहिए। उसका साधन श्रुतज्ञान प्रमाण है।

नय

(१) श्रुतज्ञान प्रमाण है और श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश को नय कहते हैं। नय के दो भेद हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। और उनके (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूतनय, ये सात भेद हैं। उनमें से पहले के तीन भेद द्रव्यार्थिक के हैं और बाकी के चार भेद पर्यायार्थिक के हैं और उनके भी उत्तरोत्तर भेद जितने वचन के भेद हैं उतने हैं। उन्हें प्रमाण सप्तभङ्गी और नय सप्तभङ्गी के विधान से सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार प्रमाण और नय के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानकर श्रद्धान करे, तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

(२) और यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि नय वस्तु के एक-एक धर्म का ग्राहक है। वह प्रत्येक नय अपने-अपने विषयरूप धर्म के ग्रहण करने में समान है, तथापि वक्ता अपने प्रयोजनवश उन्हें मुख्य-गौण करके कहता है।

जैसे जीव नामक वस्तु है, उसमें अनेक धर्म हैं, तथापि चेतनत्व, प्राणधारणत्व इत्यादि धर्मों को अजीव से असाधारण देखकर जीव को अजीव से भिन्न दर्शाने के लिए उन धर्मों को मुख्य करके वस्तु नाम जीव रखा है; इसी प्रकार वस्तु के सर्व धर्मों में प्रयोजनवश मुख्य-गौण समझना चाहिए।

अध्यात्म के नय

(१) इसी आशय से अध्यात्मकथनी में मुख्य को निश्चय और गौण को व्यवहार कहा है, उसमें अभेद धर्म को मुख्य करके उसे निश्चय का विषय कहा है और भेद को गौण करके उसे व्यवहारनय का विषय कहा है। द्रव्य तो अभेद है, इसलिए निश्चय का आश्रय द्रव्य है; और पर्याय भेदरूप है, इसलिए व्यवहार का आश्रय पर्याय है। उसमें प्रयोजन इस प्रकार है कि भेदरूप वस्तु को सर्वलोक जानता है, उसके भेदरूप वस्तु ही प्रसिद्ध है; इसलिए लोक पर्यायबुद्धि है। जीव की नर-नारकादि पर्यायें हैं तथा राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्यायें हैं तथा ज्ञान के भेदरूप मतिज्ञानादि पर्यायें हैं। लोग उन पर्यायों को ही जीव समझते हैं; इसलिए (अर्थात उस पर्यायबुद्धि को छुड़ाने के प्रयोजन से) उस पर्याय में अभेदरूप अनादि -अनन्त एक भाव जो चेतना धर्म है, उसे ग्रहण करके, निश्चयनय का विषय कहकर, जीवद्रव्य का ज्ञान कराया है, और पर्यायाश्रित भेदनय को गौण किया है तथा अभेददृष्टि में वे भेद दिखायी नहीं देते, इसलिए अभेदनय की दृढ़ श्रद्धा कराने के लिए कहा है कि जो पर्यायनय है; सो व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। यह कथन भेदबुद्धि के एकान्त का निराकरण करने के लिए समझना चाहिए।

(२) यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि जो भेद है, उसे असत्यार्थ कहा है; इसलिए भेद वस्तु का स्वरूप ही नहीं हैं। यदि कोई सर्वथा यह माने कि भेद नहीं है, तो वह अनेकान्त को समझा ही नहीं है और वह सर्वथा एकान्त श्रद्धा के कारण मिथ्यादृष्टि है। अध्यात्मशास्त्रों में जहाँ निश्चय-व्यवहारनय कहे हैं, वहाँ भी उन दोनों के परस्पर विधि-निषेध के द्वारा सप्तभङ्गी से वस्तु को साधना चाहिए। यदि एक नय को सर्वथा सत्यार्थ माने और एक को सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्या-श्रद्धा होती है, इसलिए वहाँ भी 'कथञ्चित्' जानना चाहिए।

उपचार नय

(१) एक वस्तु का दूसरी वस्तु में आरोप करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, उसे उपचारनय कहते हैं। वह भी व्यवहार में ही गर्भित हैं – ऐसा कहा है। जहाँ प्रयोजन या निमित्त होता है, वहाँ उपचार की प्रवृत्ति होती है। घी का घड़ा – ऐसा कहने पर मिट्टी के घड़े के आश्रय से घी भरा है, उसमें व्यवहारी मनुष्यों को आधार-आधेयभाव भासित होता है, उसे प्रधान करके (घी का घड़ा) कहने में आता है। जो 'घी का घड़ा है' ऐसा ही कहा जाए तो लोग समझ जाते हैं और 'घी का घड़ा' मंगावे, तब उसे ले जाते हैं। इसलिए उपचार में भी प्रयोजन सम्भव है तथा जहाँ अभेदनय की मुख्यता की जाती है, वहाँ अभेददृष्टि में भेद दिखता नहीं है, फिर भी उस समय उसमें (अभेदनय की मुख्यता में) ही भेद कहा है, वह असत्यार्थ है। वहाँ भी उपचार की सिद्धि गौणरूप से होती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान

(१) इस मुख्य-गौण के भेद को सम्यग्दृष्टि जानता है; मिथ्यादृष्टि अनेकान्त वस्तु को नहीं जानता और जब सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है, तब उस एक धर्म को ही सर्वथा वस्तु मानकर वस्तु के अन्य धर्मों को सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है अथवा अन्य धर्मों को सर्वथा अभाव ही मानता है। ऐसा मानने से मिथ्यात्व दृढ़ होता है। जहाँ तक जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानने का पुरुषार्थ नहीं करता, तब तक यथार्थश्रद्धा नहीं होती। इस अनेकान्त वस्तु को प्रमाण-नय द्वारा सात भङ्गों से सिद्ध करना सम्यक्त्व का कार्य है, इसलिए उसे भी सम्यक्त्व ही कहते हैं – ऐसा जानना चाहिए। जिनमत की कथनी अनेक प्रकार से है, उसे अनेकान्तरूप से समझना चाहिए।

(२) इस सप्तभङ्गी के अस्ति और नास्ति – ऐसे दो प्रथम भेद विशेष लक्ष्य में लेने योग्य हैं, वे दो भेद यह सूचित करते हैं कि जीव अपने में उल्टे या सीधे भाव कर सकता है, किन्तु पर का कुछ नहीं कर सकता, तथा परद्रव्यरूप अन्य जीव या जड़ कर्म इत्यादि सब अपने -अपने में कार्य कर सकते हैं; किन्तु वे कोई किसी जीव का भला-बुरा कुछ नहीं कर सकते, इसलिए परवस्तुओं की ओर से लक्ष्य हटाकर और अपने में होनेवाले भेदों को गौण करने के लिए उन भेदों पर से भी लक्ष्य हटाकर, अपने त्रिकाल अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि डालने से-उसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसका फल अज्ञान का नाश होकर उपादेय की बुद्धि और वीतरागता की प्राप्ति है।

अनेकान्त क्या बतलाता है ?

(१) अनेकान्त वस्तु को पर से असङ्ग (भिन्न) बतलाता है। असङ्गत्व की (स्वतन्त्र की) श्रद्धा असङ्गत्व के विकास का उपाय है; तीनों काल पर से भिन्नत्व वस्तु का स्वभाव है।

(२) अनेकान्त वस्तु को 'स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है', इस प्रकार बतलाता है। पर-रूप आत्मा नहीं, इसलिए वह परवस्तु का कुछ भी करने के लिए समर्थ नहीं है और किसी को संयोग-वियोग से मेरा कुछ भी इष्ट-अनिष्ट नहीं हो सकता - ऐसे सच्चे ज्ञान से आत्मा सुखी होता है।

'तू निजरूप से है' अत: पररूप से नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल उसे बदलने में तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति तेरे पास ही है।

(३) अनेकान्त वस्तु को निजरूप से सत् बतलाता है। सत् को पर सामग्री की आवश्यकता नहीं है; संयोग की आवश्यकता नहीं है; किन्तु सत् को सत् के निर्णय की आवश्यकता है कि 'मैं स्व-रूप से हूँ और पर-रूप से नहीं।'

(४) अनेकान्त वस्तु को एक-अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहने पर ही 'अनेक' की अपेक्षा आती है। तू अपने में एक है और अपने में ही अनेक है। तू अपने गुण-पर्याय से अनेक है और वस्तु से एक है।

(५) अनेकान्त वस्तु को नित्य-अनित्यस्वरूप बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही पर्याय से अनित्य है। उसमें जिस ओर की रुचि होती है, उसी ओर परिणमन होता है। नित्यवस्तु की रुचि करने पर नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य पर्याय की रुचि हो तो क्षणिक राग-द्वेष होते हैं।

(६) अनेकान्त प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता को घोषित करता है। वस्तु पर से नहीं है और स्व से है - ऐसा जो कहा है। उसमें 'स्व अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तु को पर की आवश्यकता नहीं है, वह स्वत: स्वयं स्वाधीन-परिपूर्ण है।

(७) अनेकान्त प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियों को बतलाता है। एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक दो विरुद्ध शक्तियों का एक साथ रहना ही तत्त्व की पूर्णता है; ऐसी दो विरुद्ध शक्तियों का होना वस्तु का स्वभाव है।

शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को या उसके भावों को अथवा कारण-कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, अत: उसका त्याग करना चाहिए और निश्चयनय उसी को यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता, अत: ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में जो दोनों नयों का ग्रहण करने को कहा है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर - जिनमार्ग में कहीं-कहीं निश्चयनय की मुख्यता से जो कथन है, उससे यह समझना चाहिए कि 'सत्यार्थ ऐसा ही है' तथा कहीं-कहीं व्यवहारनय की मुख्यता से जो कथन है, उसे यह समझना चाहिए कि 'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नयों के कथन को समान सत्यार्थ जानकर 'इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है' - ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से दोनों नयों का ग्रहण करने को नहीं कहा है।

प्रश्न - यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो फिर जिनमार्ग में उसका उपदेश क्यों दिया गया है ? एक निश्चयनय का ही निरूपण करना चाहिए था।

उत्तर - यही तर्क श्री समयसार में भी किया गया है, वहाँ यह उत्तर दिया गया है कि जैसे कोई अनार्य-म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिए व्यवहार का उपदेश है और इसी सूत्र की व्याख्या में यह कहा है कि इस प्रकार निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहार से उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहार अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं हैं।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - २५१)

मुमुक्षुओं का कर्त्तव्य

आजकल इस पञ्चम काल में इस कथन को समझनेवाले सम्यग्ज्ञानी गुरु का निमित्त सुलभ नहीं है, किन्तु जहाँ वे मिल सकें, वहाँ उनके निकट से मुमुक्षुओं को यह स्वरूप समझना चाहिए और जहाँ वे न मिल सकें, वहाँ शास्त्रों के समझने का निरन्तर उद्यम करके

इसे समझना चाहिए। सत् शास्त्रों का श्रवण, पठन, चिन्तवन करना, भावना करना, धारण करना, हेतु युक्ति के द्वारा नय विवक्षा को समझना, उपादान-निमित्त का स्वरूप समझना और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का निश्चय करना चाहिए। वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का मुख्य कारण है, इसलिए मुमुक्षु जीवों को उसका निरन्तर उपाय करना चाहिए।

इस प्रकार श्री उमास्वामी की विरचित मोक्षशास्त्र के
चौथे अध्याय की टीका समाप्त हुई।

देवगति की व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
भवनवासी		१०	४०	कृष्ण, नील कापोत तथा जघन्य पोत				काय प्रवीचार
१ असुरकुमार	रत्नप्रभा के पंक के भाग में रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर खर भाग में			''	२५ धनुष	१ सागर	१० हजार वर्ष	''
२ नागकुमार				''	१० ''	३ पल्य	''	''
३ विद्युतकुमार				''	१० ''	१॥ पल्य	''	''
४ सुपर्णकुमार				''	१० ''	२॥ पल्य	''	''
५ अग्निकुमार				''	१० ''	१॥ पल्य	''	''
६ वातकुमार				''	१० ''	१॥ पल्य	''	''
७ स्तनितकुमार				''	१० ''	१॥ पल्य	''	''
८ उदधिकुमार				''	१० ''	१॥ पल्य	''	''
९ द्वीपकुमार				''	१० ''	२ पल्य	''	''
१० दिक्कुमार				''	१० ''	१॥ पल्य	''	''

देवगति की व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
व्यन्तर		८	३२	कृष्ण, नील		एक पल्य से	१० हजार वर्ष	काय प्रवीचार
१ किन्नर	ऊपर के खर भाग में			कापोत तथा जघन्य	१० धनुष	कुछ अधिक		,,
२ किम्पुरुष	,,			पीत	,,			,,
३ महोरग	,,			,,	,,			,,
४ गन्धर्व	,,			,,	,,			,,
५ यक्ष	,,			,,	,,			,,
६ राक्षस	पङ्क भाग में			,,	,,			,,
७ भूत	ऊपर के खर भाग में			,,	,,			,,
८ पिशाच	,,			,,	,,			,,
ज्योतिषी								
१ सूर्य	समान धरातल से ७९० योजन की ऊँचाई से प्रारम्भ करके ९०० योजन ऊँचाई तक के मध्यलोक में	५	२	,,	७ धनुष	एक पल्य से	$\frac{१}{८}$ पल्य	काय प्रवीचार
२ चन्द्रमा				,,	,,	कुछ अधिक		,,
३ ग्रह				,,	,,			,,
४ नक्षत्र				,,	,,			,,
५ प्रकीर्णक				,,	,,			,,

देवगति की व्यवस्था [वैमानिक देव]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
कल्प								
सौधर्म-ईशान	ऊर्ध्वलोक	१२	२४	पीत	७ हाथ	२ सागर से अधिक	१ पल्य से अधिक	काय
सानत्कुमार-माहेन्द्र	''			पीत-पद्म	६ हाथ	७ '' ''	२ सागर ''	स्पर्श
ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	''			पद्म	५ हाथ	१० '' ''	७ सागर ''	रूप
लान्तव-कापिष्ठ	''			पद्म	५ हाथ	१४ सागर से कुछ अधिक	१० सागर से कुछ अधिक	रूप
शुक्र-महाशुक्र	''			पद्म-शुक्ल	४ हाथ	१६ सागर ''	१४ '' ''	शब्द
सतार-सहस्रार	''			''	४ हाथ	१८ सागर ''	१६ '' ''	शब्द
आनत-प्राणत	''			शुक्ल	३॥ हाथ	२० सागर ''	१८ '' ''	मन
आरण-अच्युत	''			''	३ हाथ	२२ सागर ''	२० '' ''	मन
ग्रैवेयक								
			अहमिन्द्र					
सुदर्शन	''			शुक्ल	२॥ हाथ	२३ सागर	२२ सागर	१६ स्वर्ग से
अमोघ	''			''	२॥ हाथ	२४ सागर	२३ सागर	ऊपर के सभी
सुप्रबुध	''			''	२॥ हाथ	२५ सागर	२४ सागर	देव-अप्रवी-
यशोधर	''			''	२ हाथ	२६ सागर	२५ सागर	चारी है क्योंकि
सुभद्र	''			''	२ हाथ	२७ सागर	२६ सागर	उसके काम
विशाल	''			''	२ हाथ	२८ सागर	२७ सागर	वासना है।

देवगति की व्यवस्था [वैमानिक देव]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
सुमन	ऊर्ध्वलोक			शुक्ल	१ ॥ हाथ	२९ सागर	२८ सागर	उत्पन्न नहीं
सौमन	,,			,,	,,	३० सागर	२९ सागर	होती
प्रीतिङ्कर	,,			,,	,,	३१ सागर	३० सागर	,,
अनुदिश	,,		अहमिन्द्र	परमशुक्ल		३२ सागर	३१ सागर	,,
आदित्य	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अर्चि	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अर्चिमाली	,,			,,	,,	,,	,,	,,
वैरोचन	,,			,,	,,	,,	,,	,,
प्रभास	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अर्चिप्रभ	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अर्चिर्मध्य	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अर्चिरावर्त	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अर्चिर्विशिष्ठ	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अनुत्तर	,,			,,	,,	,,	,,	,,
विजय	,,			,,	१ हाथ	३३ सागर	३३ सागर	,,
वैजयन्त	,,			,,	,,	,,	,,	,,
जघन्य	,,			,,	,,	,,	,,	,,
अपराजित	,,			,,	,,	,,	,,	,,
सर्वार्थसिद्धि	,,			,,	,,	,,	जघन्य आयु नहीं होती	,,

नोट – १. वैमानिक देवों के स्वर्ग १६ हैं, परन्तु उनके इन्द्र १२ हैं। यहाँ इन्द्रों की अपेक्षा से १२ भेद कहे हैं। पहिले के चार तथा अन्त के चार स्वर्गों में प्रत्येक के एक इन्द्र है और बीच के आठ स्वर्गों में दो-दो स्वर्गों के एक इन्द्र हैं। २. पाँचवें स्वर्ग में जो लौकान्तिकदेव रहते हैं, उनके आयु ८ सागर की होती है।

मोक्षशास्त्र

अध्याय पाँचवाँ

भूमिका

इस शास्त्र के प्रारम्भ करते ही आचार्य भगवान ने प्रथम अध्याय के पहले ही सूत्र में बताया है कि सच्चे सुख का एक ही मार्ग है और वह मार्ग, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है। इसके बाद यह बताया है कि जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान है, सो सम्यग्दर्शन है। फिर सात तत्त्व बताये हैं। उन तत्त्वों में पहला जीवतत्त्व है; उसका निरूपण पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में किया है।

दूसरा अजीवतत्त्व है - उसका ज्ञान इस पाँचवें अध्याय में कराया गया है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये पाँच अजीवद्रव्य हैं - ऐसा निरूपण करने के बाद, उनकी पहचान करने के लिये उनके खास लक्षण तथा उनका क्षेत्र बताया है। जीव सहित छह द्रव्य हैं, यह कहकर द्रव्य, गुण, पर्याय, नित्य, अवस्थित तथा अनेकान्त आदि का स्वरूप बतलाया है।

यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर इस जगत् का कर्त्ता है। जगत् के सभी द्रव्य स्व की अपेक्षा सत् है, उन्हें किसी ने नहीं बनाया, ऐसा बताने के लिये 'सत् द्रव्य लक्षणं' द्रव्य का लक्षण सत् है, इस प्रकार २९वें सूत्र में कहा है। जगत् के सभी पदार्थ की क्षण-क्षण में स्व में ही स्व की अवस्था, स्व से बदलती रहती है, इसी प्रकार सत् का स्वरूप निरूपण करने के लिए ३०वाँ सूत्र कहा है। प्रत्येक वस्तु, द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है, ऐसा निरूपण करने के लिए गुण-पर्यायवाला द्रव्य है - ऐसा द्रव्य का दूसरा लक्षण ३८वें सूत्र में कहा है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्व से परिणमन करता है, अन्य तो निमित्तमात्र व्यवहार कारण है, इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का, कुछ नहीं कर सकता - ऐसा प्रतिपादन करने के लिए ४२वाँ सूत्र कहा है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है, किन्तु वह एक साथ नहीं कहा जा सकता, इसलिए कथन में मुख्य और गौणपने की अपेक्षा होती है, इस प्रकार ३२वें सूत्र में बताया है। इस तरह बहुत से उपयोगी सिद्धान्त इस अध्याय में लिए गए हैं।

इस अध्याय में 'सद्द्रव्यलक्षणं,' 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्', 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं,' 'अर्पितानर्पितसिद्धेः' और 'तद्भावः परिणामः' ये पाँच (२९, ३०, ३८, ३२ और ४२) सूत्र वस्तुस्वरूप के नींवरूप हैं – विश्व धर्म के नींवरूप हैं। यह अध्याय सिद्ध करता है कि सर्वज्ञ के बिना दूसरा कोई, जीव और अजीव का सत्यस्वरूप नहीं कह सकता। जीव और दूसरे पाँच अजीव (पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल) द्रव्यों का स्वरूप जैसा इस शास्त्र में निरूपित है, वैसा ही दिगम्बर जैन शास्त्रों में बताया है और वह अद्वितीय है। इससे विरुद्ध मान्यता यदि जगत के किसी भी जीव की हो तो वह असत्य है–मिथ्या है। इसलिए जिज्ञासुओं को यथार्थ समझकर सत्यस्वरूप को ग्रहण करना और झूठी मान्यता तथा अज्ञान छोड़ना चाहिए।

धर्म के नाम पर संसार में जैन के अतिरिक्त दूसरी भी अनेक मान्यतायें प्रचलित हैं, किन्तु उनमें वस्तु का यथार्थ कथन नहीं मिलता, वे जीव–अजीव आदि तत्त्वों का स्वरूप अन्य प्रकार से कहते हैं, आकाश और काल का जैसा स्वरूप वे कहते हैं, वह स्थूल और अन्यथा है और धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय के स्वरूप से तो वे बिल्कुल अज्ञात हैं। इस उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है कि वस्तु के सत्य स्वरूप से विरुद्ध चलती हुई वे सभी मान्यतायें मिथ्या हैं, तत्त्व से विरुद्ध हैं।

अजीवतत्त्व का वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

अर्थ – [**धर्माधर्माकाशपुद्गलाः**] धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और पुद्गल ये चार [**अजीवकायाः**] अजीव तथा बहु प्रदेशी हैं।

टीका—(१) सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, ऐसा प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है, फिर तीसरे सूत्र में तत्त्वों के नाम बताये हैं, उनमें से जीव का अधिकार पूर्ण होने पर अजीवतत्त्व का कथन करना चाहिए। इसलिए इस अध्याय में मुख्यरूप से अजीव का स्वरूप कहा है।

(२) जीव अनादि से स्व–स्वरूप नहीं जानता और इसलिए उसे सात तत्त्व सम्बन्धी अज्ञान रहता है। शरीर, जो पुद्गल पिण्ड है, उसे वह अपना मानता है; इसलिए यहाँ यह बताया है कि यह पुद्गलतत्त्व, जीव से बिल्कुल भिन्न है और जीवरहित है अर्थात् अजीव है।

(३) जीव अनादि से यह मान रहा है कि शरीर के जन्म होने पर मैं उत्पन्न हुआ और शरीर के वियोग होने पर मेरा नाश हुआ, यह उसकी मुख्यरूप से अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीतश्रद्धा है। आकाश के स्वरूप का भी उसे भ्रम है और स्वयं उसका स्वामी है, ऐसा भी यह जीव मानता है। यह विपरीतश्रद्धा दूर करने के लिए इस सूत्र में यह कहा गया है कि वे द्रव्य अजीव हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य को भी वह नहीं जानता, इसीलिए वस्तु के होते हुए भी उसे उसका निषेध है, यह दोष भी उस सूत्र से दूर होता है। आकाश का स्वरूप ४, ६, ७, ९, १८वें सूत्रों में बताया है, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का स्वरूप ४-६-७-८-१२ और १७वें सूत्रों में बताया गया है। दिशा आकाश का भाग है।

(४) प्रश्न - 'काय' का अर्थ तो शरीर है, तथापि यहाँ धर्मादि द्रव्य को काय क्यों कहा है ?

उत्तर - यहाँ उपचार से उन्हें (धर्मादि द्रव्य को) काय कहा है। जैसे - शरीर पुद्गल द्रव्य का समूहरूप है। उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों को भी प्रदेशों के समूहरूप काय के समान व्यवहार है। यहाँ काय का अर्थ बहुप्रदेशी समझना चाहिए।

प्रश्न - पुद्गलद्रव्य तो एक प्रदेशी हैं, उसे काय शब्द कैसे लागू होगा ?

उत्तर - उसमें दूसरे पुद्गलों के साथ मिलने की और इसलिए बहुप्रदेशी होने की शक्ति है, इसी अपेक्षा से उसे काय कहा जाता है।

(६) धर्म और अधर्म, ये दो द्रव्य सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों में हैं। ये नाम शास्त्र रूढ़ि से दिए गए हैं ॥१ ॥

ये अजीवकाय क्या है ?

द्रव्याणि ॥२ ॥

अर्थ - ये चार पदार्थ **[द्रव्याणि]** द्रव्य हैं, (द्रव्य का लक्षण २९, ३०, ३८वें सूत्रों में आ गया।)

टीका— (१) जो त्रिकाल अपने गुण-पर्याय को प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं।

(२) द्रव्य अपने गुण-पर्याय को प्राप्त होता है अर्थात् पर के गुण-पर्याय को कोई प्राप्त नहीं होता, ऐसा (अस्ति-नास्तिरूप) अनेकान्त दृष्टि से अर्थ होता है। पुद्गल अपने

पर्यायरूप शरीर को प्राप्त होता है, किन्तु जीव या दूसरा कोई द्रव्य, शरीर को प्राप्त नहीं होता। यदि जीव शरीर को प्राप्त हो तो शरीर, जीव की पर्याय हो जाये; इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव और शरीर अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं और इसीलिए जीव, शरीर को प्राप्त न होने से त्रिकाल में भी शरीर का कुछ कर नहीं सकता॥२॥

द्रव्य में जीव की गिनती

जीवाश्च॥३॥

अर्थ - [**जीवाः**] जीव [**च**] भी द्रव्य है।

टीका— (१) यहाँ 'जीवाः' शब्द बहुवचन है; वह यह बतलाता है कि जीव अनेक हैं। जीव का व्याख्यान पहले (पहले चार अध्यायों में) हो चुका है; इसके अतिरिक्त ३९वें सूत्र में 'काल' द्रव्य बतलाया है, अतः सब मिलकर छह द्रव्य हुए।

(२) जीव बहुत से हैं और प्रत्येक जीव 'द्रव्य' है—ऐसा इस सूत्र में प्रतिपादन किया है, इसका क्या अर्थ है; यह विचार करते हैं। जीव अपने ही गुण-पर्याय को प्राप्त होता है, इसलिए उसे भी द्रव्य कहा जाता है। शरीर तो जीवद्रव्य की पर्याय नहीं, किन्तु पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, क्योंकि उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाता है और वह चेतन नहीं है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुण-पर्याय को प्राप्त ही नहीं होता, इसलिए पुद्गलद्रव्य या उसकी शरीरादि पर्याय, चेतनरूप को (जीवतत्त्व को या जीव के किसी गुण-पर्याय को) कभी भी प्राप्त नहीं होता। इस नियम के अनुसार जीव वास्तव में शरीर को प्राप्त होता है, यह बनता ही नहीं। जीव प्रत्येक समय अपनी पर्याय को प्राप्त होता है और शरीर को प्राप्त नहीं होता; इसलिए जीव, शरीर का कुछ कर नहीं सकता, यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को समझे बिना जीव-अजीवतत्त्व की अनादि से चली आई भूल कभी दूर नहीं हो सकती।

(३) जीव का शरीर के साथ जो सम्बन्ध दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में बताया है, वह एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धमात्र बताया है, तादात्म्यसम्बन्ध नहीं बताया, अतः यह व्यवहार कथन है। जो व्यवहार के वचनों को वास्तव में निश्चय के वचन मानते हैं, वे 'घी का घड़ा'—ऐसा कहने से, घड़ा को वास्तव में घी का बना हुआ मानते हैं, मिट्टी या धातु का बना हुआ नहीं मानते, इसलिए वे लौकिक मिथ्यादृष्टि हैं। शास्त्रों में ऐसे जीवों को 'व्यवहार विमूढ़' कहा है। जिज्ञासुओं के अतिरिक्त जीव इस व्यवहार मूढ़ता को नहीं छोड़ेंगे और

व्यवहार विमूढ़ जीवों की संख्या त्रिकाल बहुत ज्यादा रहेगी। इसलिए धर्मप्रेमी जीव (दुःख को दूर करनेवाले सच्चे उम्मेदवार) इस अध्याय के १-२-३ सूत्रों की टीका में जो स्वरूप बताया है, उसे लक्ष्य में लेकर इस स्वरूप को यथार्थ समझकर जीव और अजीवतत्त्व के स्वरूप की अनादि से चली आई भ्रान्ति दूर करें।

पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त द्रव्यों की विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

अर्थ - ऊपर कहे गये द्रव्यों में से चार द्रव्य **(अरूपाणि)** रूपरहित **(नित्यावस्थितानि)** नित्य और अवस्थित हैं।

टीका—(१) नित्य - जो कभी नष्ट न हो, उसे नित्य कहते हैं। (देखो, सूत्र ३१ और उसकी टीका)

अवस्थित - जो अपनी संख्या को उल्लंघन न करे, उसे अवस्थित कहते हैं।

अरूपी - जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण न पाया जाए, उसे अरूपी कहते हैं।

(२) पहले दो स्वभाव समस्त द्रव्यों में होते हैं। ऊपर जो आसमानी रङ्ग दिखाई देता है, उसे लोग आकाश कहते हैं, किन्तु यह तो पुद्गल का रङ्ग है, आकाश तो सर्वव्यापक, अरूपी, अजीव एक द्रव्य है।

'नित्य' और 'अवस्थित' का विशेष स्पष्टीकरण

(३) 'अवस्थित' शब्द यह बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन करता है। परिणाम और परिणामित्व अन्य किसी तरह नहीं बन सकता। यदि एक द्रव्य, उसका गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य का कुछ भी करे या करावे तो वह तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाए, किन्तु कोई द्रव्य, परद्रव्यमय तो नहीं होता। यदि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाए तो उस द्रव्य का नाश हो जाए और द्रव्यों का 'अवस्थितपन' न रहेगा और फिर द्रव्यों का नाश होने पर उनका 'नित्यतव' भी न रहेगा।

(४) प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है। द्रव्य की नित्यता से उसका प्रत्येक गुण नित्य रहता है, पुनरपि एक गुण उसी गुणरूप रहता है, दूसरे गुणरूप नहीं होता। इस तरह प्रत्येक गुण का अवस्थितत्त्व है, यदि ऐसा न हो तो गुण का नाश हो जायेगा, और गुण के नाश होने से सम्पूर्ण द्रव्य का नाश हो जायेगा और ऐसा होने पर, द्रव्य का 'नित्यत्त्व' नहीं रहेगा।

(५) जो द्रव्य अनेक प्रदेशी हैं, उसका भी प्रत्येक प्रदेश नित्य और अवस्थित रहता है। उनमें से एक भी प्रदेश अन्य प्रदेशरूप नहीं होता। यदि एक प्रदेश का स्थान अन्य प्रदेशरूप हो तो प्रदेशों का अवस्थितपन न रहे। यदि एक प्रदेश का नाश हो तो सम्पूर्ण द्रव्य का नाश हो और ऐसा हो तो उसका नित्यत्त्व न रहे।

(६) प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट होती है और फिर तत्पश्चात् अपने-अपने समय पर बाद की पर्यायें प्रगट होती हैं और पहले-पहले की पर्याय प्रगट नहीं होती, इस तरह का पर्याय का अवस्थितपन सिद्ध होता है। यदि पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट न हो और दूसरी पर्याय के समय प्रगट हो तो पर्याय का प्रवाह अवस्थित न रहे और ऐसा होने से द्रव्य का अवस्थितपन भी न रहे।

एक पुद्गलद्रव्य का ही रूपित्त्व बतलाते हैं

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

अर्थ - [**पुद्गलाः**] पुद्गलद्रव्य [**रूपिणः**] रूपी अर्थात् मूर्तिक है।

टीका—(१) 'रूपी' का अर्थ स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसहित है। (देखो, सूत्र २३) पुद् + गल, ये दो पद मिलकर पुद्गल शब्द बना है। पुद् अर्थात् इकट्ठे होना-मिल जाना और गल अर्थात् बिछुड़ जाना। स्पर्शगुण की पर्याय की विचित्रता के कारण मिलना और बिछुड़ना पुद्गल में ही होता है। इसीलिए जब उसमें स्थूलता आती है, तब पुद्गलद्रव्य इन्द्रियों का विषय बनता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बे इत्यादि रूप से जो परिणमन है, सो मूर्ति है।

(२) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और द्रव्यमन - ये वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले हैं, इसी से ये पाँचों पुद्गलद्रव्य हैं। द्रव्यमन सूक्ष्म पुद्गल के प्रचयरूप आठ पाँखुडी के खिले हुए कमल के आकार में हृदयस्थान में रहता है, वह रूपी अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला होने से पुद्गलद्रव्य हैं। *(देखो, इस अध्याय के १९वें सूत्र की टीका)*

(३) नेत्रादि इन्द्रिय सदृश मन स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला होने से रूपी है, मूर्तिक है, ज्ञानोपयोग में वह निमित्तकारण है।

शङ्का - शब्द अमूर्तिक है, तथापि ज्ञानोपयोग में निमित्त है; इसलिए जो ज्ञानोपयोग का निमित्त हो, सो पुद्गल है—ऐसा कहने में हेतु व्यभिचरित होता है। (अर्थात् शब्द

अमूर्तिक हैं, तथापि ज्ञानोपयोग का निमित्त देखा जाता है, इसलिए यह हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहने में व्यभिचारी हुआ), सो मन मूर्तिक है, ऐसा किस कारण से मानना?

समाधान - शब्द अमूर्तिक नहीं है। शब्द पुद्गलजन्य है, अतः उसमें मूर्तिकपन है, इसलिए ऊपर दिया हुआ हेतु व्यभिचारी नहीं है किन्तु सपक्ष में ही रहनेवाला है। इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यमन पुद्गल है।

(४) उपरोक्त कथन से यह नहीं समझना कि इन्द्रियों से ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ तो पुद्गल हैं, इसलिए ज्ञानरहित हैं, यदि इन्द्रियों से ज्ञान हो तो जीव चेतन न रहकर जड़-पुद्गल हो जाए, किन्तु ऐसा नहीं है। जीव के ज्ञानोपयोग की जिस प्रकार की योग्यता होती है, उसी प्रकार पुद्गल इन्द्रियों का संयोग होता है, ऐसा उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु निमित्त, परद्रव्य होने से उनका आत्मा में अत्यन्त अभाव है और उससे वह आत्मा में कुछ कर सकता है या सहायता कर सकता है - ऐसा मानना, सो विपरीतता है।

(५) सूत्र में 'पुद्गलाः' बहुवचन है, वह यह बतलाता है कि पुद्गलों की संख्या बहुत है तथा पुद्गल के अणु, स्कन्धादि भेद के कारण कई भेद हैं।

(६) मन तथा सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते, किन्तु जब वह सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण करते हैं, तब इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकते हैं और तभी उनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की अवस्था प्रत्यक्ष दिखायी देती है, इसलिए यह निश्चित् होता है कि सूक्ष्म अवस्था में भी वह स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले हैं।

(७) पुद्गल परमाणुओं का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मिट्टी के परमाणुओं में से जल होता है, पानी से बिजली-अग्नि होती है, वायु के मिश्र से जल होता है। इसलिए यह मान्यता ठीक नहीं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन इत्यादि के परमाणु भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि पृथ्वी आदि समस्त पुद्गल के ही विकार हैं।

अब धर्मादि द्रव्यों की संख्या बतलाते हैं

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥

अर्थ - [**आ आकाशात्**] आकाश पर्यन्त [**एकद्रव्याणि**] एक-एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक है।

टीका—जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं और कालद्रव्य असंख्या

अणुरूप हैं। पुद्गलद्रव्य एक नहीं है, यह बताने के लिए, इस सूत्र में पहले सूत्र की संधि करने के लिए 'आ' शब्द का प्रयोग किया है।

अब इनका गमनरहितत्त्व सिद्ध करते हैं

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अर्थ - **[च]** और फिर यह धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य **[निष्क्रियाणि]** क्रियारहित हैं, अर्थात् ये एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं होते।

टीका— (१) क्रिया शब्द के कई अर्थ है। जैसे गुण की परिणति / पर्याय; एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन। इन अर्थों में से अन्तिम अर्थ यहाँ लागू होता है। कालद्रव्य भी क्षेत्र के गमनागमन से रहित है, किन्तु यहाँ उसके बतलाने का प्रकरण नहीं है, क्योंकि पहले सूत्र में कहे गए चार द्रव्यों का प्रकरण चल रहा है, जीव और काल का विषय नहीं चल रहा है। पुद्गलद्रव्य अणु और स्कन्ध दोनों दशाओं में गमन करता है अर्थात् एक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र में गमन करता है; इसलिए उसे यहाँ छोड़ दिया है। इस सूत्र में तीन द्रव्यों में क्रिया का अभाव बताया और बाकी रहे पुद्गलद्रव्य में क्रिया-हलन चलन का अस्तित्व बताने की अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार क्रिया का स्वरूप सिद्ध किया है।

(२) उत्पाद-व्ययरूप क्रिया प्रत्येक द्रव्य में समय-समय पर होती है, वह इन द्रव्यों में भी है - ऐसा समझना चाहिए।

(३) द्रव्यों में दो तरह की शक्ति होती है - एक भाववती और दूसरी क्रियावती; उनमें भाववतीशक्ति समस्त द्रव्यों में है और उससे उस शक्ति का परिणमन-उत्पाद व्यय प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्व को कायम रखकर होता है। क्रियावतीशक्ति, जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्यों में होती है। यह दोनों द्रव्य एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि जीव जब विकारी हो, तब और सिद्धगति में जाते समय क्रियावान होता है और सिद्धगति में वह स्थिररूप से रहता है। (सिद्धगति में जाते समय जीव एक समय में सात राजू जाता है) सूक्ष्म पुद्गल भी शीघ्रगति से एक समय में १४ राजू जाता है, अर्थात् पुद्गल में मुख्यरूप से हलन-चलनरूप क्रिया है, जबकि जीवद्रव्य में संसारी अवस्था में किसी-किसी समय गमनरूप क्रिया होती है।

अब धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य के प्रदेशों की संख्या बताते हैं

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

अर्थ - [**धर्माधर्मैकजीवानाम्**] धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य के [**असंख्येयाः**] असंख्यात [**प्रदेशाः**] प्रदेश हैं।

टीका—(१) प्रदेश - आकाश के जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोके, उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं।

(२) ये प्रत्येक द्रव्य द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अखण्ड, एक, निरंश हैं। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से असंख्यात प्रदेशी हैं। उसके असंख्यात प्रदेश हैं, इससे कुछ उसके असंख्य खण्ड या टुकड़े नहीं हो जाते और पृथक्-पृथक् एक-एक प्रदेश जितने टुकड़ों के मिलने से बना हुआ भी वह द्रव्य नहीं है।

(३) आकाश भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अखण्ड, निरंश, सर्वगत, एक और भिन्नतारहित है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से जितने अंश को परमाणु रोके, उतने अंश को प्रदेश कहते हैं। आकाश में कोई टुकड़े नहीं हैं या उसके टुकड़े नहीं हो जाते। टुकड़ा तो संयोगी पदार्थ का होता है; पुद्गल का स्कन्ध संयोगी है, इसलिए जब वह खण्ड होने योग्य हो, तब खण्ड / टुकड़ेरूप में परिणमन करता है।

(४) आकाश को इस सूत्र में नहीं लिया, क्योंकि उसके अनन्त प्रदेश हैं, इसलिए वह नववें सूत्र में कहा जायेगा।

(५) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और जीव के प्रदेश असंख्यात हैं और वे संख्या की अपेक्षा से लोक प्रमाण असंख्यात हैं, तथापि उनके प्रदेशों की व्यापक अवस्था में अन्तर हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। यह बारहवें और तेरहवें सूत्रों में कहा है और जीव के प्रदेश उस समय के जीव के शरीर के प्रमाण से चौड़े या छोटे होते हैं (यह सोलहवें सूत्र में कहा है)। जीव जब केवलिसमुद्घात अवस्था धारण करता है, तब उसके प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होते हैं तथा समुद्घात के समय उस-उस शरीर में प्रदेश रहकर कितने ही प्रदेश बाहर निकलते हैं, बीच में खण्ड नहीं पड़ते।

(६) दूसरे समुद्घात का स्वरूप अध्याय २ सूत्र ४८-४९ की टीका में कहा जा चुका है और विशेष-वृहदद्रव्यसंग्रह गाथा १० की टीका में देखो।

अब आकाश के प्रदेश बतलाते हैं

आकाशस्यानन्ताः ॥९॥

अर्थ - [**आकाशस्य**] आकाश के [**अनन्ताः**] अनन्त प्रदेश हैं।

टीका— (१) आकाश के दो विभाग हैं - अलोकाकाश और लोकाकाश। उसमें से लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के हैं, उतने ही प्रदेश लोकाकाश के हैं, फिर भी उनका विस्तार एक सरीखा है। लोकाकाश छहों द्रव्यों का स्थान है। इस बारे में बारहवें सूत्र में कहा है। आकाश के जितने हिस्से को एक पुद्गल परमाणु रोके, उसे प्रदेश कहते हैं।

(२) दिशा, कौना, ऊपर, नीचे ये सब आकाश के विभाग हैं।

अब पुद्गल के प्रदेशों की संख्या बताते हैं

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अर्थ - [**पुद्गलानाम्**] पुद्गलों के [**संख्येयाऽसंख्येयाः च**] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

टीका— (१) इसमें पुद्गलों की संयोगी पर्याय (स्कन्ध) के प्रदेश बताये हैं। प्रत्येक अणु स्वतन्त्र पुद्गल हैं। उसके एक ही प्रदेश होता है, ऐसा ११वें सूत्र में कहा है।

(२) स्कन्ध दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं का होता है, इसका कारण ३३वें सूत्र में दिया गया है (बताया गया है)।

(३) शङ्का - जबकि लोकाकाश के असंख्यात ही प्रदेश हैं तो उसमें अनन्त प्रदेशवाला पुद्गलद्रव्य तथा दूसरे द्रव्य कैसे रह सकते हैं?

समाधान - पुद्गलद्रव्य में दो तरह का परिणमन होता है, एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसका सूक्ष्म परिणमन होता है, तब लोकाकाश के एक प्रदेश में भी अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कन्ध रह सकता है और फिर सब द्रव्यों में एक दूसरे को अवगाहन देने की शक्ति है, इसलिए अल्पक्षेत्र में ही समस्त द्रव्यों के रहने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। आकाश में सब द्रव्यों को एक साथ स्थान देने की सामर्थ्य है, इसलिए एक प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं, जैसे एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश रह सकता है और उसी कमरे में उतने ही विस्तार में पचास दीपकों का प्रकाश रह सकता है।

अब अणु का प्रदेशी बतलाते हैं

नाणोः ॥११॥

अर्थ - **[अणोः]** पुद्गल परमाणु के **[न]** दो इत्यादि प्रदेश नहीं हैं, अर्थात् वह एक प्रदेशी हैं।

टीका—(१) अणु एक द्रव्य है, उसके एक ही प्रदेश है, क्योंकि परमाणुओं का खण्डन नहीं होता।

२. द्रव्यों के अनेकान्त स्वरूप का वर्णन

(१) द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकार के हैं।

(२) अमूर्तिक द्रव्य, चेतन और जड़ के भेद से दो प्रकार के हैं।

(३) मूर्तिक द्रव्य दो तरह के हैं, एक अणु और दूसरा स्कन्ध।

(४) मूर्तिक द्रव्य के सूक्ष्म और बादर इस तरह दो भेद हैं।

(५) सूक्ष्म मूर्तिक द्रव्य दो तरह का है, एक सूक्ष्म-सूक्ष्म और दूसरा सूक्ष्म।

(६) स्कन्ध, सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार का है।

(७) सूक्ष्म अणु दो तरह के हैं - १- पुद्गल अणु और २- कालाणु।

(८) अक्रिय (गमनागमन से रहित चार द्रव्य) और सक्रिय (गमनागमनसहित जीव और पुद्गल) के भेद से द्रव्य दो तरह के हैं।

(९) द्रव्य दो तरह के हैं - १- एक प्रदेशी और २- बहुप्रदेशी।

(१०) बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं, संख्यात प्रदेशवाला और संख्या से पर प्रदेशवाला।

(११) संख्यातीत बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं - असंख्यात प्रदेशी और अनन्तप्रदेशी।

(१२) अनन्त प्रदेशी द्रव्य दो तरह का है - १- अखण्ड आकाश और २- अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध।

(१३) लोक के असंख्यात प्रदेशों को रोकनेवाले द्रव्य दो तरह के हैं - अखण्ड द्रव्य (धर्म, अधर्म तथा केवल समुद्घात करनेवाला जीव) और पुद्गल महास्कन्ध यह संयोगी द्रव्य है।

(१४) अखण्ड लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी द्रव्य दो प्रकार का है - १- धर्म तथा अधर्म (लोक-व्यापक) और २- जीव (लोक-प्रमाण) संख्या से असंख्यात प्रदेशी और विस्तार में शरीर के प्रमाण से व्यापक हैं।

(१५) अमूर्त बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं - सङ्कोच-विस्तार्रहित (आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा सिद्ध जीव) और सङ्कोच विस्तारसहित (संसारी जीव के प्रदेश सङ्कोच-विस्तारसहित हैं) (सिद्ध जीव चरमशरीर से किञ्चित न्यून होते हैं)

(१६) द्रव्य दो तरह के हैं - सर्वगत (आकाश) और देशगत (अवशिष्ट पाँच द्रव्य)

(१७) सर्वगत दो प्रकार से हैं - क्षेत्र सर्वगत (आकाश) और भाव से सर्वगत (ज्ञानशक्ति)

(१८) देशगत दो भेदरूप हैं - एक प्रदेशगत (परमाणु, कालाणु तथा एक प्रदेश स्थित सूक्ष्म स्कन्ध) और अनेक देशगत (धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल स्कन्ध)

(१९) द्रव्यों में अस्ति दो प्रकार से हैं - अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म, जीव तथा पुद्गल) और कायरहित अस्ति (कालाणु)।

(२०) अस्तिकाय दो तरह से है - अखण्ड अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म तथा जीव) और उपचरित अस्तिकाय (संयोगी पुद्गल स्कन्ध, पुद्गल में ही समूहरूप-स्कन्धरूप होने की शक्ति है)।

(२१) प्रत्येक द्रव्य के गुण तथा पर्याय में अस्तित्व दो तरह से है - स्व से अस्तित्व और पर की अपेक्षा से नास्तिरूप का अस्तित्व।

(२२) प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व दो तरह से है - ध्रुव और उत्पाद-व्यय।

(२३) द्रव्यों में दो तरह की शक्ति है - एक भाववती, दूसरी क्रियावती।

(२४) द्रव्यों में सम्बन्ध दो तरह का है - विभावसहित (जीव और पुद्गल के अशुद्ध दशा में विभाव होता है) और विभावरहित (दूसरे द्रव्य त्रिकाल विभावरहित हैं)।

(२५) द्रव्यों में विभाव दो तरह से है - १- जीव के विजातीय पुद्गल के साथ, २-पुद्गल के सजातीय एक-दूसरे के साथ तथा सजातीय पुद्गल और विजातीय जीव इन दोनों के साथ।

नोट - स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप का साधनेवाला, अरहन्त सर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है। वह यह बतलाता है कि सभी 'अनेकान्तात्मक' है। स्याद्वाद वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय कराता है। यह संशयवाद नहीं है। कितने ही लोग कहते हैं कि स्याद्वाद प्रत्येक वस्तु को नित्य और अनित्य आदि दो तरह से बतलाता है, इसलिए संशय का कारण है, किन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। अनेकान्त में दोनों पक्ष निश्चित हैं, इसलिए वह संशय का कारण नहीं है।

३- द्रव्यपरमाणु तथा भाव परमाणु का दूसरा अर्थ, जो यहाँ उपयुक्त नहीं है।

प्रश्न - 'चारित्रसार' इत्यादि शास्त्रों में कहा है कि यदि द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु का ध्यान करे तो केवलज्ञान हो, इसका क्या अर्थ है।

उत्तर - वहाँ द्रव्यपरमाणु से आत्मद्रव्य की सूक्ष्मता और भावपरमाणु से भाव की सूक्ष्मता बतलायी है। वहाँ पुद्गल परमाणु का कथन नहीं है। रागादि विकल्प की उपाधि से रहित आत्मद्रव्य को सूक्ष्म कहा जाता है क्योंकि निर्विकल्प समाधि का विषय आत्मद्रव्य मन और इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता। भाव शब्द का अर्थ स्वसंवेदन परिणाम है। परमाणु शब्द से भाव की सूक्ष्म अवस्था समझना चाहिए क्योंकि वीतराग, निर्विकल्प, समरसीभाव पाँचों इन्द्रियों और मन के विषय से परे है। (देखो, परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ३३ की टीका, पृष्ठ १६८-१६९) यह अर्थ यहाँ लागू नहीं होता है।

प्रश्न - द्रव्यपरमाणु का यह अर्थ यहाँ लागू क्यों (उपयुक्त) नहीं है।

उत्तर - इस सूत्र में जिस परमाणु का वर्णन है, वह पुद्गल परमाणु है, इसलिए द्रव्य -परमाणु का उपरोक्त अर्थ यहाँ लागू नहीं होता।

अब, समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान बतलाते हैं

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

अर्थ - [**अवगाहः**] उपरोक्त समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) [**लोकाकाशे**] लोकाकाश में है।

टीका— (१) आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य हैं, उतने हिस्से को लोकाकाश कहते हैं और अवशिष्ट आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

(२) आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। उसमें कोई भाग नहीं होते, किन्तु परद्रव्य के अवगाह की अपेक्षा से यह भेद होता है, अर्थात् निश्चय से आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, व्यवहार से परद्रव्य के निमित्त की अपेक्षा से ज्ञान में उसके दो भाग होते हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश।

(३) प्रत्येक द्रव्य वास्तव में अपने-अपने क्षेत्र में रहता है; लोकाकाश में रहता है, यह परद्रव्य की अपेक्षा से निमित्त का कथन है; उसमें परक्षेत्र की अपेक्षा आती है, इसलिए वह व्यवहार है। ऐसा नहीं है कि आकाश पहले हुआ हो तथा दूसरे द्रव्य उसमें बाद में उत्पन्न हुए हों, क्योंकि सभी द्रव्य अनादि-अनन्त हैं।

(४) आकाश स्वयं अपने को अवगाह देता है, वह अपने को निश्चय अवगाहरूप है। दूसरे द्रव्य आकाश से बड़े नहीं हैं और न हो ही सकते हैं, इसलिए उसमें व्यवहार अवगाह की कल्पना नहीं हो सकती।

(५) सभी द्रव्यों में अनादि पारिणामिक, युगपदत्व हैं, आगे-पीछे का भेद नहीं है। जैसे युत्सिद्ध के व्यवहार से आधार-आधेयत्व होता है, उसी प्रकार अयुतसिद्ध के भी व्यवहार से आधार-आधेयत्व होता है।

युत्सिद्ध = बाद में मिले हुए, अयुत्सिद्ध=मूल से एकमेक। दृष्टान्त – 'टोकरी में बेर' बाद में मिले हुए का दृष्टान्त है और 'खम्भे में सार' मूलत: एकत्व का दृष्टान्त है।

(६) एवंभूतनय की अपेक्षा से अर्थात् जिस स्वरूप से पदार्थ है, उस स्वरूप के द्वारा निश्चय करनेवाले नय की अपेक्षा से सभी द्रव्यों के निज-निज का आधार है। जैसे – किसी से प्रश्न किया कि तुम कहाँ हो ? तो वह कहता है कि मैं निज में हूँ। इसी तरह निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य को स्व-स्व का आधार है। आकाश से दूसरे कोई द्रव्य बड़े नहीं हैं। आकाश सभी ओर से अनन्त है, इसलिए व्यवहारनय से यह कहा जा सकता है कि वह धर्मादि का आधार है। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं हैं, यही सिद्ध करने के लिये यह आधार-आधेय सम्बन्ध माना जाता है।

(७) जहाँ धर्मादिक द्रव्य देखे जाते हैं, उस आकाश का भाग लोक कहलाता है और जहाँ धर्मादिक द्रव्य नहीं देखे जाते, उस भाग को अलोक कहते हैं। यह भेद-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, पुद्गल और काल के कारण होता है, क्योंकि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य

सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं। समस्त लोकाकाश में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है (एक भी प्रदेश नहीं है) जहाँ जीव न हो। तथापि जीव जब केवलसमुद्घात करता है, तब समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। पुद्गल का अनादि-अनन्त एक महा स्कन्ध, जो लोकाकाशव्यापी है और सारा ही लोक भिन्न-भिन्न पुद्गलों से भी भरा हुआ है। कालाणु एक-एक अलग-अलग रत्नों की राशि की तरह समस्त लोकाकाश में भरे हुए हैं।

अब धर्म-अधर्मद्रव्य का अवगाहन बतलाते हैं

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

अर्थ - **[धर्माधर्मयोः]** धर्म और अधर्मद्रव्य का अवगाह **[कृत्स्ने]** तिल में तेल की तरह समस्त लोकाकाश में है।

टीका— (१) लोकाकाश में द्रव्य के अवगाह के प्रकार पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा यह सूत्र बतलाता है। इस सूत्र में धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के अवगाह का प्रकार बतलाया है। पुद्गल के अवगाह का प्रकार १४वें सूत्र में और जीव के अवगाह का प्रकार १५वें तथा १६वें सूत्र में दिया गया है। कालद्रव्य असंख्यात अलग-अलग हैं, इसलिए उसका प्रकार स्पष्ट है अर्थात् कहने में नहीं आया, किन्तु इसी सूत्र पर से उसका गर्भित कथन समझ लेना चाहिए।

(२) यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्मद्रव्य के प्रत्येक प्रदेश का अधर्मद्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में व्याघातरहित (वे रोक-टोक) प्रवेश है और अधर्मद्रव्य के प्रदेश का धर्मद्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में व्याघातरहित प्रवेश है। यह परस्पर में प्रवेशपना धर्म-अधर्म की अवगाहन शक्ति के निमित्त से है।

(३) भेद-संघातपूर्वक आदि (शुरुआत) सहित जिसका सम्बन्ध है, ऐसे अति स्थूल स्कन्ध में वैसे किसी के स्थूल प्रदेश रहने में विरोध है और धर्मादिक द्रव्यों के आदिमान सम्बन्ध नहीं है, किन्तु पारिणामिक अनादि सम्बन्ध है, इसलिए परस्पर में विरोध नहीं हो सकता। जल, भस्म, शकर आदि मूर्तिक संयोगी द्रव्य भी एक क्षेत्र में विरोधरहित होते हैं तो फिर अमूर्तिक-धर्म, अधर्म और आकाश के साथ रहने में विरोध कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

अब पुद्गल का अवगाहन बतलाते हैं

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम ॥१४॥

अर्थ - [**पुद्गलानाम्**] पुद्गलद्रव्य का अवगाह [**एक प्रदेशादिषु**] लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर संख्यात और असंख्यात प्रदेश पर्यन्त [**भाज्यः**] विभाग करने योग्य है - जानने योग्य है।

टीका—समस्त लोक सर्व ओर से सूक्ष्म और बादर अनेक प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गलों से प्रगाढ़ रूप से भरा हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण पुद्गलों का अवगाहन सम्पूर्ण लोक में है। अनन्तानन्त पुद्गल, लोकाकाश में कैसे रह सकते हैं, इसका स्पष्टीकरण इस अध्याय के १०वें सूत्र की टीका में किया गया है, उसे समझ लेना चाहिए।

अब जीवों का अवगाहन बतलाते हैं

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

अर्थ - [**जीवानाम्**] जीवों का अवगाह [**असंख्येयभागादिषु**] लोकाकाश के असंख्यात भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक क्षेत्र में है।

टीका—जीव अपनी छोटी से छोटी अवगाहनरूप अवस्था में भी असंख्यात प्रदेश रोकता है। जीवों के सूक्ष्म अथवा बादर शरीर होते हैं। सूक्ष्म शरीरवाले एक निगोद जीव के अवगाहन योग्य क्षेत्र में साधारण शरीरवाला (निगोद) जीव अनन्तानन्त रहते हैं तो भी परस्पर बाधा नहीं पाते। (सर्वार्थसिद्धि टीका) जीवों का जघन्य अवगाहन घनाँगुल के असंख्यातवाँ भाग कहा है। (धवला, पृष्ठ ४, २२, सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ८, सूत्र २४ की टीका) सूक्ष्म जीव तो समस्त लोक में हैं। लोकाकाश का कोई प्रदेश ऐसा नहीं है, जिसमें जीव न हों।

जीव का अवगाहन लोक के असंख्यात भाग में कैसे है ?

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

अर्थ - [**प्रदीपवत्**] दीपक के प्रकाश की भाँति [**प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां**] प्रदेशों के सङ्कोच और विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातादिक भागों में रहता है।

टीका—जैसे एक बड़े मकान में दीपक रखने से उसका प्रकाश समस्त मकान में फैल जाता है और उसी दीपक को एक छोटे घड़े में रखने से उसका प्रकाश उसी में मर्यादित हो जाता है; उसी प्रकार जीव भी छोटे या बड़े जैसे शरीर को प्राप्त होता है, उसमें उतना ही

विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है, परन्तु केवली के प्रदेश समुद्घात-अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं और सिद्ध अवस्था में अन्तिम शरीर से कुछ न्यून रहता है।

(२) बड़े से बड़ा शरीर स्वयंभूरमण समुद्र के महामत्स्य का है, जो १००० योजन लम्बा है। छोटे से छोटा शरीर (अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण) लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव का है, जो एक श्वाँस में १८ बार जन्म लेता है तथा मरण करता है।

(३) स्वभाव से जीव अमूर्तिक है, किन्तु अनादि से कर्म के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और इस प्रकार छोटे-बड़े शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है। शरीर के अनुसार जीव के प्रदेशों का सङ्कोच-विस्तार होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

(४) प्रश्न - धर्मादिक छहों द्रव्य के परस्पर में प्रदेशों के अनुप्रवेशन होने से क्या एकता प्राप्त होती है ?

उत्तर - उनके एकता प्राप्त नहीं होती। आपस में अत्यन्त मिलाप होने पर भी, द्रव्य अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। कहा है कि 'छहों द्रव्य परस्पर प्रवेश करते हैं, एक दूसरे को अवकाश देते हैं और नित्य मिलाप होने पर भी स्वभाव को नहीं छोड़ते।' (पञ्चास्तिकाय, गाथा ७) द्रव्य बदलकर परस्पर में एक नहीं होते, क्योंकि उनमें प्रदेश से भेद है, स्वभाव से भेद है और लक्षण से भेद है।

(५) १२ से १६ तक के सूत्र द्रव्यों के अवगाह (स्थान देने) के सम्बन्ध में सामान्य -विशेषात्मक अर्थात् अनेकान्त स्वरूप को कहते हैं।

अब धर्म और अधर्मद्रव्य का जीव और पुद्गल के साथ का विशेष सम्बन्ध बतलाते हैं।

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

अर्थ - **[गतिस्थित्युपग्रहौ]** स्वयमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और पुद्गलों के गमन तथा ठहरने में जो सहायक है, सो **[धर्माधर्मयोः उपकारः]** क्रम से धर्म और अधर्मद्रव्य का उपकार है।

टीका—१- उपकार, सहायकता, उपग्रह का विषय १७ से २२ तक के सूत्रों में दिया गया है। वे भिन्न-भिन्न द्रव्यों का भिन्न-भिन्न प्रकार का निमित्तत्व बतलाते हैं। उपकार, सहायकता या उपग्रह का अर्थ ऐसा नहीं होता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला करता है, क्योंकि २०वें सूत्र में यह बताया है कि जीव को दुःख और मरण होने में पुद्गलद्रव्य का

उपकार है, यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि लोकव्यवहार में जब किसी के द्वारा किसी को कोई सुविधा दी जाती है, तब व्यवहार-भाषा में यह कहा जाता है कि एक जीव ने दूसरे का उपकार किया - भला किया, किन्तु यह मात्र निमित्त सूचक भाषा है। एक द्रव्य न तो अपने गुण-पर्याय को छोड़ सकता है और न दूसरे द्रव्य को दे सकता है। प्रत्येक के प्रदेश दूसरे द्रव्यों के प्रदेशों से अत्यन्त भिन्न हैं, परमार्थ से-निश्चय से एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते; एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में त्रिकाल अभाव है, इसलिए कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का वास्तव में लाभ या हानि नहीं कर सकता। एक द्रव्य को अपने कारण से लाभ या हानि हुई, तब उस समय दूसरे कौन द्रव्य निमित्तरूप में मौजूद हुए, यह बतलाने के लिए १७ से २२वें तक के सूत्रों में 'उपकार' शब्द का प्रयोग किया है (इस सम्बन्ध में प्रथम अध्याय के १४वें सूत्र की जो टीका दी गई है, वह तथा इस अध्याय के २२वें सूत्र की टीका यहाँ देखना चाहिए।)

(२) यह सूत्र धर्म और अधर्मद्रव्य का लक्षण बतलाता है।

(३) उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण हेतु ये सभी निमित्त बताने के लिये प्रयोग किये जाते हैं। 'उपकार शब्द का अर्थ भला करना नहीं लेना, कछु कार्य को निमित्त होय तिसको उपकारो कहिये है' अर्थात् किसी कार्य में जो निमित्त हो, उसे उपकार कहते हैं।

(देखो, पण्डित जयचन्दजी कृत सर्वार्थसिद्धि वचनिका, पृष्ठ ४३४, अर्थप्रकाशिका सूत्र १९ की टीका, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३०६ और सूरत से प्रकाशित द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २०२)

(४) प्रश्न - धर्म और अधर्मद्रव्य किसी के देखने में नहीं आते, इसलिए वे हैं ही नहीं ?

उत्तर - सर्वज्ञ वीतराग ने प्रत्यक्ष देखकर कहा है, इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि धर्म और अधर्मद्रव्य किसी को दिखाई नहीं देते। जो नेत्र से न देखा जाए, उसका अभाव बतलाना ठीक नहीं है। जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण न किया जाए, यदि उसका अभाव मानेंगे तो बहुत सी वस्तुओं का अभाव मानना पड़ेगा। जैसे अमुक पेढ़ी के बुजुर्ग, दूरवर्ती देश, भूतकाल में हुए पुरुष, भविष्य में होनेवाले पुरुष, ये कोई आँख से नहीं देखे जाते, इसलिए उनका भी अभाव मानना पड़ेगा; अतः यह तर्क यथार्थ नहीं है। अमूर्तिक पदार्थों का सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ अनुमान प्रमाण के निश्चय कर सकता है और इसीलिए यहाँ उसका लक्षण कहा है।

अब, आकाश और दूसरे द्रव्यों के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अर्थ - [**अवगाहः**] समस्त द्रव्यों को अवकाश-स्थान देना, यह [**आकाशस्य**] आकाश का उपकार है।

टीका—(१) जो समस्त द्रव्यों को रहने को स्थान देता है, उसे आकाश कहते हैं। 'उपकार' शब्द का अध्याहार पहले सूत्र से होता है।

(२) यद्यपि अवगाहगुण समस्त द्रव्यों में है, तथापि आकाश में यह गुण सबसे बड़ा है, क्योंकि यह समस्त पदार्थों को साधारण एक साथ अवकाश देता है। अलोकाकाश में अवगाह-हेतु हैं, किन्तु वहाँ अवगाह लेनेवाले कोई द्रव्य नहीं हैं, इसमें आकाश का क्या दोष है ? आकाश का अवगाह देने का गुण इससे बिगड़ या नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता।

(३) प्रश्न - जीव और पुद्गल क्रियावाले हैं और क्रियापूर्वक अवगाह करनेवाले को अवकाश देना ठीक है, किन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालाणु तो क्षेत्रान्तर की क्रिया रहित हैं और आकाश के साथ नित्य सम्बन्धरूप हैं, फिर भी उन्हें आकाश, अवकाश दान देता है, यह कैसे कहते हो ?

उत्तर - उपचार से अवकाश दान देता है, ऐसा कहा जाता है। जैसे - आकाश गतिरहित है, तो भी उसे सर्वगत कहा जाता है। उसी प्रकार ऊपर कहे गये द्रव्य, गतिरहित हैं तो भी लोकाकाश में उनकी व्याप्ति है, इसलिए यह उपचार किया जाता है कि आकाश उन्हें अवकाश देता है।

(४) प्रश्न - आकाश में अवगाहन हेतुत्व है, तथापि वज्र इत्यादि से गोले आदि का और भीत (दीवाल) आदि से गाय का रुकना क्यों होता है ?

उत्तर - स्थूल पदार्थों का ही पारस्परिक व्याघात हो, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिए आकाश के गुण में कोई दूषण नहीं आता।

अब, पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

अर्थ - [**शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः**] शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास ये [**पुद्गलानाम्**] पुद्गलद्रव्य के उपकार हैं अर्थात् शरीरादि की रचना पुद्गल से ही होती है।

टीका—(१) यहाँ 'उपकार' शब्द का अर्थ भला करना नहीं, किन्तु किसी कार्य में निमित्त होय तिस को उपकारी कहिये हैं। (देखो, १७वें सूत्र की टीका)

(२) शरीर में कार्माणशरीर का समास होता है। वचन तथा मन पुद्गल हैं, यह पाँचवें सूत्र की टीका में बताया गया है। प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) पुद्गल है।

(३) भावमन लब्धि तथा उपयोगरूप है। यह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जीव की अवस्था है। यह भावमन जब पौद्गलिक मन की ओर झुकाव करता है, तब कार्य करता है, इसलिए निश्चय (परमार्थ, शुद्ध) नय से यह जीव का स्वरूप नहीं है; निश्चयनय से वह पौद्गलिक है।

(४) भाववचन भी जीव की अवस्था है। वह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जीव की अवस्था है। उनके कार्य में पुद्गल का निमित्त होता है, इसलिए निश्चयनय से वह जीव की अवस्था नहीं है। यह निश्चयनय से जीव का स्वरूप नहीं है, इसलिए पौद्गलिक है। यदि वह जीव का त्रिकाली स्वभाव हो तो वह दूर न हो, किन्तु वह भाववचनरूप अवस्था जीव में से दूर हो सकती है - अलग हो सकती है - इसी अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर उसे पौद्गलिक कहा जाता है।

(५) भावमन सम्बन्धी अध्याय २ सूत्र ११ की टीका पढ़ें। वहाँ जीव की विशुद्धि को भावमन कहा है, सो वह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से कहा है - ऐसा समझना।

अब, पुद्गल का जीव की साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

अर्थ - [**सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च**] इन्द्रियजन्य सुख-दुःख, जीवन-मरण ये पुद्गल के उपकार हैं।

टीका—(१) उपकार (- उपग्रह) शब्द का अर्थ किसी का भला करना नहीं, किन्तु निमित्तमात्र ही समझना चाहिए, नहीं तो यह नहीं कहा जा सकता कि 'जीवों को दुःख-मरणादि के उपकार' पुद्गलद्रव्य के हैं।

(२) सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग यह बतलाता है कि जैसे शरीरादिक निमित्त है, वैसे ही पुद्गल कृत इन्द्रियाँ भी जीव को अन्य उपकाररूप से हैं।

(३) सुख-दुःख का संवेदन जीव को है, पुद्गल अचेतन-जड़ है, उसे सुख-दुःख का संवेदन नहीं हो सकता।

(४) निमित्त, उपादान का कुछ कर नहीं सकता। निमित्त अपने में पूरा-पूरा कार्य करता है और उपादान अपने में पूरा-पूरा कार्य करता है। यह मानना कि निमित्त, परद्रव्य पर वास्तव में कुछ असर-प्रभाव करता है, सो दो द्रव्यों को एक माननेरूप असत् निर्णय है।

(५) प्रश्न - निमित्त, उपादान का कुछ भी कर नहीं सकता तो सुई शरीर में घुस जाने से जीव को दुःख क्यों होता है?

समाधान -१- अज्ञानी जीव को शरीर में एकत्वबुद्धि होने से शरीर की अवस्था को अपनी मानता है और अपने को प्रतिकूलता हुई - ऐसा मानता है और ऐसी ममत्वबुद्धि के कारण दुःख होता है, परन्तु सुई के प्रवेश के कारण दुःख नहीं हुआ है।

२- मुनियों को उपसर्ग आने पर भी निर्मोही पुरुषार्थ की वृद्धि करते हैं, दुःखी नहीं होते हैं और

३- केवली-तीर्थङ्करों को कभी और किसी प्रकार उपसर्ग नहीं होता (त्रिलोक प्रज्ञप्ति भाग १, पृष्ठ ८, श्लोक ५६-६४)

४- ज्ञानी को निम्न भूमिका में अल्प राग है, वह शरीर के साथ एकत्वबुद्धि का राग नहीं है, परन्तु अपनी सहनशक्ति की कमजोरी से जितना राग हो, उतना ही दुःख होता है, वह सूई से किञ्चित् भी दुःख होना मानता नहीं है।

५- विशेष ऐसा समझना चाहिए कि सूई और शरीर भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, सूई का शरीर के परमाणुओं में प्रवेश नहीं हो सकता। 'एक परमाणु दूसरे को परस्पर चुम्बन भी नहीं करते' तो सुई का प्रवेश शरीर में कैसे हो सकता है? सचमुच तो सुई का शरीर के परमाणुओं में प्रवेश नहीं हुआ है, दोनों की सत्ता और क्षेत्र भिन्न-भिन्न होने से, आकाशक्षेत्र में दोनों का संयोग हुआ कहना, वह व्यवहारमात्र है।

जीव का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम्॥२१॥

अर्थ - [**जीवानाम्**] जीवों के [**परस्परोपग्रहः**] परस्पर में उपकार है।

टीका—(१) एक जीव दूसरे को सुख का निमित्त, दुःख का निमित्त, जीवन का निमित्त, मरण का निमित्त, सेवा-सुश्रूषा आदि का निमित्त होता है।

(२) यहाँ 'उपग्रह' शब्द है। दुःख और मरण के साथ भी उसका सम्बन्ध है, किन्तु उसका अर्थ 'भला करना' नहीं होता, किन्तु निमित्तमात्र है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) बीसवें सूत्र में कहे गये सुख, दुःख, जीवन, मरण के साथ इसका सम्बन्ध बताने के लिये 'उपग्रह' शब्द का प्रयोग इस सूत्र में किया है।

(४) जहाँ 'सहायक' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ भी निमित्तमात्र अर्थ है। प्रेरक या अप्रेरक चाहे जैसा निमित्त हो, किन्तु वह पर में कुछ करता नहीं है - ऐसा समझना चाहिए और वह भेद, निमित्त की ओर से निमित्त के हैं, किन्तु उपादान की अपेक्षा दोनों प्रकार के निमित्त को उदासीन (अप्रेरक) माना है। श्री पूज्यपादाचार्य ने इष्टोपदेश की गाथा ३४ में भी कहा है कि 'जो सत् कल्याण का वाँछक है, वह आप ही मोक्षसुख का बतलानेवाला तथा मोक्षसुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है, इसलिए अपना (आत्मा का) गुरु आप ही (आत्मा ही) है' इस पर शिष्य ने आक्षेपसहित प्रश्न किया कि 'अगर आत्मा ही आत्मा का गुरु है तो गुरु-शिष्य के उपकार, सेवा आदि व्यर्थ ठहरेंगे' उसको आचार्य गाथा ३५ से उत्तर देते हैं कि—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥३५॥

अर्थ - अज्ञानी किसी के द्वारा ज्ञानी नहीं हो सकता तथा ज्ञानी किसी के द्वारा अज्ञानी नहीं किया जा सकता। अन्य सब कोई तो गति (गमन) में धर्मास्तिकाय के समान निमित्तमात्र है, अर्थात् जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करे, उस समय धर्मास्तिकाय को निमित्तमात्र कारण कहा जाता है, उसी प्रकार जिस समय शिष्य स्वयं अपनी योग्यता से ज्ञानी होता है तो उस समय गुरु को निमित्तमात्र कहा जाता है; उसी प्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व-रागादिरूप परिणमता है, उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (कुदेवादि) आदि को निमित्तमात्र कहा जाता है, जो कि उपचारकारण है, (अभूतार्थ कारण है)। उपादान स्वयं अपनी योग्यता से जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही उपस्थित क्षेत्र-काल-संयोग आदि में निमित्तकारणपने

का उपचार किया जाता है, अन्यथा निमित्त किसका? ऐसा किसी को कभी नहीं हो सकता कि द्रव्य की जिस समय जैसा परिणमन करने की योग्यता हो, उस समय उसके अनुकूल निमित्त न हो और उसका उस रूप परिणमन होना रुक जावे, अथवा किसी क्षेत्र, काल, संयोग की बाट (राह) देखनी पड़े अथवा निमित्त को जुटाना पड़े – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का स्वरूप नहीं है।

उपादान के परिणमन में सर्व प्रकार का निमित्त अप्रेरक है, ऐसा समयसार नाटक सर्वविशुद्ध द्वार काव्य ६१ में कहा है। देखो इस अध्याय के सूत्र ३० की टीका।

अब कालद्रव्य का उपकार बतलाते हैं

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ – **[वर्तमानपरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च]** वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व **[कालस्य]** कालद्रव्य के उपकार हैं।

(१) सत् अवश्य उपकारसहित होने योग्य है और काल सत्तास्वरूप है, इसलिए उसका क्या उपकार (निमित्तत्व) है, सो इस सूत्र में बताते हैं। (यहाँ भी उपकार का अर्थ निमित्तमात्र होता है।)

(२) वर्तना – सर्व द्रव्य अपने-अपने उपादानकारण से अपनी पर्याय के उत्पादरूप वर्तते हैं, उसमें बाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है, इसलिए वर्तना, काल का लक्षण या उपकार कहा जाता है।

परिणाम – जो द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़े बिना पर्यायरूप से पलटे (बदले), सो परिणाम है। धर्मादि सर्व द्रव्यों के अगुरुलघुत्वगुण के अविभाग प्रतिच्छेदरूप अनन्त परिणाम (षट्गुण हानि-वृद्धिसहित) हैं, वह अति सूक्ष्म स्वरूप है। जीव के उपशमादि पाँच भावरूप परिणाम हैं और पुद्गल के वर्णादिक परिणाम हैं तथा घटादिक अनेकरूप परिणाम हैं। द्रव्य की पर्याय-परिणति को परिणाम कहते हैं।

क्रिया – एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र को गमन करना क्रिया है। वह क्रिया, जीव और पुद्गल दोनों के होती है, दूसरे चार द्रव्यों के क्रिया नहीं होती।

परत्व – जिसे बहुत समय लगे, उसे परत्व कहते हैं।

अपरत्व - जिसे थोड़ा समय लगे, उसे अपरत्व कहते हैं।

इन सभी कार्यों का निमित्तकारण कालद्रव्य है। वे कार्य, काल को बताते हैं।

(३) प्रश्न - परिणाम आदि चार भेद वर्तना के ही हैं, इसलिए एक वर्तना कहना चाहिए?

उत्तर - काल दो तरह का है, निश्चयकाल और व्यवहारकाल। उनमें जो वर्तता है, सो तो निश्चयकाल का लक्षण है और जो परिणाम आदि चार भेद हैं, सो व्यवहारकाल के लक्षण हैं। यह दोनों प्रकार के काल इस सूत्र में बताये हैं।

(४) व्यवहारकाल - जीव-पुद्गल के परिणाम से प्रगट होता है। व्यवहारकाल के तीन भेद हैं भूत, भविष्यत् और वर्तमान। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक भिन्न-भिन्न असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं, वह परमार्थ काल-निश्चयकाल हे। वह कालाणु, परिणति -सहित रहता है।

(५) उपकार के सूत्र १७ से २२ तक का सिद्धान्त

कोई द्रव्य, परद्रव्य की परिणतिरूप नहीं वर्तता; स्वयं अपनी परिणतिरूप ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है। परद्रव्य तो बाह्य निमित्तमात्र है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता (अर्थात् निमित्त पर का कुछ कर नहीं सकता)। ये सूत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल के पर के साथ के निमित्त सम्बन्ध बतानेवाले लक्षण वहाँ पर कहे हैं।

(६) प्रश्न - 'काल वर्तानेवाला है' ऐसा कहने से उसमें क्रियावानपना प्राप्त होता है? (अर्थात् काल, परद्रव्य को परिणमता है, क्या ऐसा उसका अर्थ हो जाता है?)

उत्तर - वह दूषण नहीं आता। निमित्तमात्र में सहकारी हेतु का कथन (उपदेश) किया जाता है, जैसे यह कथन किया जाता है कि जाड़ों में कंडों की अग्नि शिष्य को पढ़ाती है; वहाँ शिष्य स्वयं पढ़ता है किन्तु अग्नि (ताप) उपस्थित रहती है, इसलिए उपचार से यह कथन किया जाता है कि 'अग्नि पढ़ाती है।' इसी तरह पदार्थों के वर्तन में काल का प्रेरक हेतुत्व कहा है, वह उपचार से हेतु कहा जाता है और अन्य पाँचों द्रव्य भी वहाँ उपस्थित हैं, किन्तु उनको वर्तना में निमित्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें उस तरह का हेतुत्व नहीं है।

अब, पुद्गलद्रव्य का लक्षण कहते हैं

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अर्थ - [**स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः**] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले [**पुद्गलाः**] पुद्गलद्रव्य हैं।

टीका—(१) सूत्र में 'पुद्गलाः' यह शब्द बहुवचन में है, इससे यह कहा है कि बहुत से पुद्गल हैं और प्रत्येक पुद्गल में चार लक्षण हैं, किसी में भी चार से कम नहीं हैं, ऐसा समझाया गया है।

(२) सूत्र १९वें, २०वें में पुद्गलों का जीव के साथ निमित्तत्व बताया था और यहाँ पुद्गल का तद्भूत (उपादान) लक्षण बताते हैं। जीव का तद्भूत लक्षण उपयोग, अध्याय २ सूत्र ८ में बताया गया था और यहाँ पुद्गल के तद्भूत लक्षण कहे हैं।

(३) इन चार गुणों की पर्यायों के भेद निम्न प्रकार हैं - स्पर्श गुण की आठ पर्याय हैं १- स्निग्ध, २- रूक्ष, ३- शीत, ४- उष्ण, ५- हलका, ६- भारी, ७- मृदु और ८- कर्कश।

रसगुण की पाँच पर्यायें हैं - १- खट्टा, २- मीठा, ३- कडुवा, ४- कषायला और ५- चर्परा। इन पाँचों में से परमाणु में एक काल में एक रस पर्याय प्रगट होती है।

गन्ध गुण की दो पर्यायें हैं - १- सुगन्ध और २- दुर्गन्ध। इन दोनों में से एक काल में एक गन्ध पर्याय प्रगट होती है।

वर्ण गुण की पाँच पर्यायें हैं - १- काला, २- नीला, ३- पीला, ४- लाल और ५- सफेद। इन पाँचों में से परमाणु के एक काल में एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।

इस तरह चार गुण के कुल २० भेद-पर्याय हैं। प्रत्येक पर्याय के दो, तीन, चार से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

(४) कोई कहता है कि 'पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के परमाणुओं में जातिभेद है' किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है। पुद्गल सब एक जाति का है। चारों गुण प्रत्येक में होते हैं और पृथ्वी आदि अनेकरूप से उसका परिणाम है। पाषाण और लकड़ीरूप से जो पृथ्वी है, वह अग्निरूप से परिणमन करती है। अग्नि, काजल, राखादि पृथ्वीरूप में परिणमते हैं। चन्द्रकाँत मणि पृथ्वी है, उसे चन्द्रमा के सामने रखने पर वह जलरूप में परिणमन करती है।

जल, मोती, नमक आदि पृथ्वीरूप से उत्पन्न होते हैं। जौ नाम का अनाज (जो पृथ्वी की जाति का है) खाने से वायु उत्पन्न होती है, क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु पुद्गलद्रव्य के ही विकार हैं (पर्याय हैं)।

(५) प्रश्न - इस अध्याय के ५वें सूत्र में पुद्गल का लक्षण रूपित्व कहा है, तथापि इस सूत्र में पुद्गल का लक्षण क्यों कहा?

उत्तर - इस अध्याय के चौथे सूत्र में द्रव्यों की विशेषता बताने के लिए नित्य, अवस्थित और अरूपी कहा था और उसमें पुद्गलों को अमूर्तिकत्व प्राप्त होता था, उसके निराकरण के लिए पाँचवाँ सूत्र कहा था और यह सूत्र तो पुद्गलों का स्वरूप बताने के लिए कहा है।

(६) इस अध्याय के पाँचवें सूत्र की टीका यहाँ पढ़नी चाहिए।

(७) विदारणादि कारण से जो टूट-फूट होती है तथा संयोग के कारण से मिलना होता है, उसे पुद्गल के स्वरूप को जाननेवाले सर्वज्ञदेव पुद्गल कहते हैं।

(देखो, तत्त्वार्थसार, अध्याय ३ गाथा ५५)

(८) प्रश्न - हरा रङ्ग कुछ रङ्गों के मेल से बनता है, इसलिए रङ्ग के जो पाँच भेद बताये हैं, वे मूल भेद कैसे रह सकते हैं?

उत्तर - मूल सत्ता की अपेक्षा से ये भेद नहीं कहे गये, किन्तु परस्पर के स्थूल अन्तर की अपेक्षा से कहे हैं। रसादि के सम्बन्ध में यही बात समझनी चाहिए। रङ्गादि की नियत संख्या नहीं है। *(तत्त्वार्थसार, पृष्ठ १५८)*

अब, पुद्गल की पर्याय बतलाते हैं

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अर्थ - उक्त लक्षणवाले पुद्गल [**शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योतवन्तः च**] शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतादिवाले होते हैं अर्थात् ये भी पुद्गल की पर्यायें हैं।

टीका—(१) इन अवस्थाओं में से कितनी तो परमाणु और स्कन्ध दोनों में होती हैं और कई स्कन्ध में ही होती हैं।

(२) शब्द दो तरह का है - १- भाषात्मक और २- अभाषात्मक। इनमें से भाषात्मक

दो तरह का है- १- अक्षरात्मक और २- अनक्षरात्मक। उनमें अक्षरात्मक भाषा संस्कृत और देशभाषारूप है। वह दोनों शास्त्रों को प्रगट करनेवाली और मनुष्य के व्यवहार का कारण है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रियवालों तथा कितनेक पञ्चेन्द्रिय जीवों के होती हैं और अतिशयरूप ज्ञान को प्रकाशित करने में कारण केवली भगवान की दिव्यध्वनि, ये सभी अनक्षरात्मक भाषा हैं। यह पुरुषनिमित्तक है, इसलिए प्रायोगिक है।

अभाषात्मक शब्द भी दो भेदरूप हैं। एक प्रायोगिक दूसरा वैस्रसिक। जिस शब्द के उत्पन्न होने में पुरुष निमित्त हो, वह प्रायोगिक है और जो पुरुष की बिना अपेक्षा के स्वभावरूप उत्पन्न हो, वह वैस्रसिक है, जैसे मेघ-गर्जनादि। प्रायोगिक भाषा चार तरह की है - १-तत, २- वितत, ३- घन और ४- सुषिर। जो चमड़े के ढोल, नगाड़े आदि से उत्पन्न हो, वह **तत** है। तारवाली वीण, सितार, तम्बूरादि से उत्पन्न होनेवाली भाषा को **वितत** कहते हैं। घण्टा आदि के बजाने से उत्पन्न होनेवाली भाषा **घन** कहलाती है और जो बाँसुरी, शंखादिक से उत्पन्न हो, उसे **सुषिर** कहते हैं।

जो कान से सुना जाये, उसे **शब्द** कहते हैं। जो मुख से उत्पन्न हो, सो भाषात्मक शब्द है। जो दो वस्तु के आघात से उत्पन्न हो, उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होने में प्राणी तथा जड़ पदार्थ दोनों निमित्त हैं। जो केवल जड़ पदार्थों के आघात से उत्पन्न हो, उसे वैस्रसिक कहते हैं, जिसके प्राणियों का निमित्त होता है, उसे प्रायोगिक कहते हैं।

मुख से निकलनेवाला जो शब्द अक्षर, पद, वाक्यरूप है, उसे साक्षर भाषात्मक कहते हैं, उसे वर्णात्मक भी कहते हैं।

तीर्थङ्कर भगवान के सर्व प्रदेशों से जो निरक्षरध्वनि निकलती है, उसे अनक्षर भाषात्मक कहा जाता है - ध्वन्यात्मक भी कहा जाता है।

बन्ध - दो तरह का है - १. वैस्रसिक और दूसरा प्रायोगिक। पुरुष की अपेक्षा से रहित जो बन्ध होता है, उसे वैस्रसिक कहते हैं। यह वैस्रादिक दो तरह का है - १. आदिमान, २. अनादिमान। उसमें स्निग्ध-रूक्षादि के कारण से जो बिजली, उल्कापात, बादल, आग, इन्द्रधनुष आदि होते हैं, उसे आदिमान वैस्रसिक-बन्ध कहते हैं। पुद्गल का अनादिमान बन्ध महास्कन्ध आदि हैं। (अमूर्तिक पदार्थों में भी वैस्रसिक अनादिमान बन्ध उपचार से

कहा जाता है। यह धर्म, अधर्म तथा आकाश का है एवं अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थ का अनादिमान बन्ध-धर्म, अधर्म, आकाश और जगद्व्यापी महास्कन्ध का है।)

जो पुरुष की अपेक्षासहित हो, वह प्रायोगिक बन्ध है। उसके दो भेद हैं - १. अजीव विषय, २. जीवाजीव विषय। लाख का, लकड़ी का जो बन्ध है, सो अजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है। जीव के जो कर्म और नोकर्म बन्ध हैं, सो जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध हैं।

सूक्ष्म - दो तरह का है - १. अन्त्य, २. आपेक्षिक। परमाणु अन्त्य सूक्ष्म है। आँवले से बेर सूक्ष्म है, वह आपेक्षिक सूक्ष्म है।

स्थूल - दो तरह का है - १. अन्त्य, २. आपेक्षिक। जो जगद्व्यापी महास्कन्ध है, सो अन्त्य स्थूल है, उससे बड़ा दूसरा कोई स्कन्ध नहीं है। 'बेर' आँवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं।

संस्थान - आकृति को संस्थान कहते हैं। उसके दो भेद हैं - १. इत्थंलक्षण संस्थान और २. अनित्थंक्षण संस्थान। उसमें गोल, त्रिकोण, चौरस, लम्बा, चौड़ा, परिमण्डल, ये इत्थंलक्षण संस्थान हैं। बादल आदि जिसकी कोई आकृति नहीं, वह अनित्थंलक्षण संस्थान हैं।

भेद - छह तरह का है - १. उत्कर, २. चूर्ण, ३. खण्ड, ४. चूर्णिका, ५. प्रतर और ६. अनुचटन। आरे आदि से लकड़ी आदि का विदारण करना, सो उत्कर है। जौ, गेहूँ, बाजरा आदि का आटा, चूर्ण है। घड़े आदि के टुकड़े, खण्ड हैं। उड़द, मूँग, चना, चोला आदि दाल को चूर्णिका कहते हैं। तप्तायमान लोहे को घन इत्यादि से पीटने पर जो स्फुलिङ्ग (चिन्गारियाँ) निकलते हैं, उसे अनुचटन कहते हैं।

अन्धकार - जो प्रकाश का विरोधी है, सो अन्धकार है।

छाया - प्रकाश (उजेले) को ढकनेवाली छाया है। वह दो प्रकार की है - १. तद्वर्णपरिणति, २. प्रतिबिम्बस्वरूप। रङ्गीन काँच में से देखने पर जैसा काँच का रङ्ग हो, वैसा ही दिखाई देता है, यह तद्वर्णपरिणति कहलाती है और दर्पण, फोटो आदि में जो प्रतिबिम्ब देखा जाता है, उसे प्रतिबिम्ब स्वरूप कहते हैं।

आताप - सूर्य विमान के द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है, उसे आताप कहते हैं।

उद्योत - चन्द्रमा, चन्द्रकान्तमणि, दीपक आदि के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

सूत्र में जो 'च' शब्द कहा है, उसके द्वारा प्रेरणा, अभिघात (मारना) आदि जो पुद्गल के विकार हैं, उनका समावेश किया गया है।

उपरोक्त भेदों में 'सूक्ष्म' तथा 'संस्थान' (ये दो भेद) परमाणु और स्कन्ध दोनों में होते हैं और अन्य सब स्कन्ध के प्रकार हैं।

(३) दूसरी तरह से पुद्गल के छह भेद हैं - १. सूक्ष्म-सूक्ष्म, २. सूक्ष्म, ३. सूक्ष्मस्थूल, ४. स्थूलसूक्ष्म, ५. स्थूल और ६. स्थूलस्थूल।

१- **सूक्ष्म-सूक्ष्म** - परमाणु, सूक्ष्म-सूक्ष्म है।

२- **सूक्ष्म** - कार्माणवर्गणा, सूक्ष्म है।

३- **सूक्ष्मस्थूल** - स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द, ये सूक्ष्मस्थूल हैं, क्योंकि ये आँख से दिखाई नहीं देते, इसलिए सूक्ष्म हैं और चार इन्द्रियों से जाने जाते हैं, इसलिए स्थूल हैं।

४- **स्थूलसूक्ष्म** - छाया, परछांई, प्रकाश आदि स्थूलसूक्ष्म हैं, क्योंकि वह आँख से दिखाई देते हैं, इसलिए स्थूल हैं और उसे हाथ से पकड़ नहीं सकते, इसलिए सूक्ष्म हैं।

५- **स्थूल** - जल, तेल आदि सब स्थूल हैं, क्योंकि छेदन-भेदन से ये अलग हो जाते हैं और इकट्ठे करने से मिल जाते हैं।

६- **स्थूल-स्थूल** - पृथ्वी, पर्वत, काष्ठ आदि स्थूल-स्थूल हैं। वे पृथक् करने से पृथक् तो हो जाते हैं, किन्तु फिर मिल नहीं सकते।

परमाणु इन्द्रियगाह्य नहीं है, किन्तु इन्द्रियग्राह्य होने की उसमें योग्यता हे। इसी तरह सूक्ष्म स्कन्ध को भी समझना चाहिए।

(४) शब्द को आकाश का गुण मानना भूल है, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है; इसलिए शब्द, आकाश का गुण नहीं हो सकता। शब्द का मूर्तिकत्व साक्षात् है क्योंकि शब्द, कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण होता है, हस्तादि से तथा दीवाल आदि से रोका जाता है और हवा आदि मूर्तिक वस्तु से उसका तिरस्कार होता है, दूर जाता है। शब्द पुद्गलद्रव्य की पर्याय है इसलिए मूर्तिक है। यह प्रमाणसिद्ध है। पुद्गलस्कन्ध के परस्पर भिड़ने से/टकराने से शब्द प्रगट होता है॥२४॥

अब, पुद्गल के भेद बतलाते हैं

अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

अर्थ - पुद्गलद्रव्य [**अणवः स्कन्धाः च**] अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं।

टीका—(१) अणु - जिसका विभाग न हो सके, ऐसे पुद्गल को अणु कहते हैं। पुद्गल मूल (Simple) द्रव्य है।

स्कन्ध - दो-तीन से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं।

(२) स्कन्ध, पुद्गलद्रव्य की विशेषता है। स्पर्शगुण के कारण से वे स्कन्धरूप से परिणमते हैं। स्कन्धरूप कब होता है ? यह इस अध्याय के २६, ३३, ३६ और ३७वें सूत्र में कहा है और वह कब स्कन्धरूप में नहीं होता यह सूत्र ३४, ३५ में बताया है।

(३) ऐसी विशेषता अन्य किसी द्रव्य में नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्य अमूर्तिक हैं। यह सूत्र मिलाप के सम्बन्ध में द्रव्यों का अनेकान्तत्व बतलाता है।

(४) परमाणु स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त है, क्योंकि वह एक-प्रदेशी अविभागी हैं॥ २५॥

अब, स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥२६॥

अर्थ - परमाणुओं के [**भेदसंघातेभ्यः**] भेद (अलग होने से) संघात (मिलने से) अथवा भेद-संघात दोनों से [**उत्पद्यन्ते**] पुद्गल स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

टीका—(१) पिछले सूत्रों में (पूर्वोक्त सूत्रों में) पुद्गलद्रव्य की विशिष्टता बतलाते हुए अणु और स्कन्ध, ये दो भेद बताए; तब प्रश्न यह उठता है कि स्कन्धों की उत्पत्ति किस तरह होती है ? उसके स्पष्टरूप से तीन कारण बतलाए हैं। सूत्र में द्विवचन का प्रयोन न करते हुए बहुवचन (संघातेभ्यः) प्रयोग किया है, इससे भेद-संघात का तीसरा प्रकार व्यक्त होता है।

(२) दृष्टान्त - १०० परमाणुओं का स्कन्ध है, उसमें से दस परमाणु अलग हो जाने से ९० परमाणुओं का स्कन्ध बना, यह भेद का दृष्टान्त है। उसमें (सौ परमाणु के स्कन्ध में)

दस परमाणुओं के मिलने से एक सौ दस परमाणुओं का स्कन्ध हुआ; यह संघात का दृष्टान्त है। उसी में ही एक साथ दस परमाणुओं के अलग होने और पन्द्रह परमाणुओं के मिल जाने से एक सौ पाँच परमाणुओं का स्कन्ध हुआ, यह भेद-संघात का उदाहरण है ॥२६॥

अब, अणु की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

भेदादणुः ॥२७॥

अर्थ - [**अणुः**] अणु की उत्पत्ति [**भेदात्**] भेद से होती है॥ २७॥

दिखायी देने योग्य स्थूल स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अर्थ - [**चाक्षुषः**] चक्षु इन्द्रिय से देखनेयोग्य स्कन्ध [**भेदसंघाताभ्याम्**] भेद और संघात दोनों के एकत्ररूप होने से उत्पन्न होता है, अकेले भेद से नहीं।

टीका—(१) प्रश्न - जो चक्षुइन्द्रिय के गोचर न हो, ऐसा स्कन्ध चक्षुगोचर कैसे होता है ?

उत्तर - जिस समय सूक्ष्म स्कन्ध का भेद हो, उसी समय चक्षु इन्द्रियगोचर स्कन्ध में वह संघातरूप हो तो वह चक्षुगोचर हो जाता है। सूत्र में 'चाक्षुषः' शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ चक्षुइन्द्रियगोचर होता है। चक्षुइन्द्रियगोचर स्कन्ध अकेले भेद से या अकेले संघात से नहीं होता। *(देखो, राजवार्तिक सूत्र २८ की टीका, पृष्ठ ३९१, अर्थ प्रकाशिका, पृष्ठ २१०)*

(२) Marsh-gas treated with chlorine gives Methyl Chloride and Hydrochloric acid the formula is - $CH_4 + cl_2 = CH_3cl + H + cl$.

अर्थ - सड़े पानी में उत्पन्न गैस को 'मार्श गैस' कहते हैं। उसकी गन्ध नहीं आती, रङ्ग भी मालूम नहीं होता, किन्तु वह जल सकता है। उसे एक क्लोरीन नामक गैस जो हरिताभ पीले रङ्ग का है, उसके साथ मिलाने पर वह नेत्र इन्द्रिय से दिखायी देनेवाला एक तीसरा एसिड पदार्थ होता है, उसे मैथीलक्लोराइड हाइड्रोक्लोरिक एसिड कहते हैं। (इंग्लिश तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र के नीचे की टीका)

(३) ओक्सीजन और हाइड्रोजन दो वायु हैं, दोनों नेत्रइन्द्रिय से अगोचर स्कन्ध हैं। दोनों के मिलाप होने पर नेत्रइन्द्रियगोचर जल हो जाता है। इसलिए नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध

होने के लिए जिसमें मिलाप हो, वह नेत्रइन्द्रियगोचर होना ही चाहिए - ऐसा नियम नहीं है और सूत्र में भी नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध चाहिए ही - ऐसा कथन नहीं है। सूत्र में सामान्य कथन है॥२८॥

इस तरह छहों द्रव्यों के विशेष लक्षणों का कथन किया जा चुका।

अब, द्रव्यों का सामान्य लक्षण कहते हैं

सद् द्रव्यलक्षणम्॥२९॥

अर्थ - [**द्रव्यलक्षणम्**] द्रव्य का लक्षण [**सत्**] सत् (अस्तित्व) है।

टीका— (१) वस्तुस्वरूप के बतलानेवाले ५ महासूत्र इस अध्याय में दिये गये हैं। वे २९-३०-३२-३८ और ४२वें सूत्र हैं। उनमें भी यह सूत्र मूल नींवरूप हैं, क्योंकि किसी वस्तु के विचार करने के लिए सबसे पहले यह निश्चय होना चाहिए कि वह वस्तु है या नहीं? इसलिए जगत में जो वस्तु हो, वह सत्रूप से होनी ही चाहिए। जो वस्तु है, उसी का विशेष विचार किया जाता है।

(२) इस सूत्र में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है, वह ऐसा भी बतलाता है कि उसमें द्रव्यत्वगुण है, कि 'जिस शक्ति के कारण द्रव्य सदा एकरूप से न रहने पर उसकी अवस्था (पर्याय) हमेशा बदलती रहती है।'

(३) अब प्रश्न यह उठता है कि जबकि द्रव्य हमेशा अपनी पर्याय बदलता है, तब क्या वह द्रव्य बदलकर दूसरे द्रव्यरूप हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में प्रयोग किया गया 'सत्' शब्द देता है। 'सत्' शब्द बतलाता है कि द्रव्य में अस्तित्वगुण है और इस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता।

(४) इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्य की पर्याय समय-समय पर बदलती है तो भी द्रव्य त्रिकाल कायम (मौजूद) रहता है। यह सिद्धान्त सूत्र ३० और ३८ में दिया गया है।

(५) जिसके 'है' पन (अस्तित्व) हो, वह द्रव्य है। इस तरह 'अस्तित्व' गुण के द्वारा द्रव्य की रचना की जा सकती है। इसलिए इस सूत्र में द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा है। यह सूत्र बतलाता है कि जिसका अस्तित्व हो, वह द्रव्य है।

(६) अतः यह सिद्ध हुआ कि 'सत्' लक्षण द्वारा द्रव्य पहचाना जा सकता है। उपरोक्त कथन से दो सिद्धान्त निकले कि द्रव्य में 'प्रमेयत्व' (ज्ञान में ज्ञात होने योग्य-

Knowable) गुण है और यह द्रव्य स्वयं स्व को जाननेवाला हो अथवा अन्य द्रव्य उसे जाननेवाला हो। यदि ऐसा न हो तो निश्चित ही नहीं होता कि 'द्रव्य' है। इसलिए यह भी सिद्ध होता है कि द्रव्य में 'प्रमेयत्व' गुण है और द्रव्य या तो जाननेवाला (चेतन) अथवा नहीं जाननेवाला (अचेतन) है। जाननेवाला द्रव्य 'जीव' है और नहीं जाननेवाला 'अजीव' है।

(७) प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया (Functionality) करता ही है। यदि द्रव्य अर्थक्रिया न करे तो वह कार्यरहित हो जाये अर्थात् व्यर्थ हो जाये, किन्तु व्यर्थ का (अपने कार्यरहित) कोई द्रव्य होता ही नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य में 'वस्तुत्व' नामक गुण है।

(८) और वस्तुत्वगुण के कारण जो स्वयं अपनी क्रिया करे, वही वस्तु कही जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर नहीं सकता।

(९) पुनरपि जो द्रव्य है, उसका 'द्रव्यत्व'-'गुणत्व' जिस रूप में हो, वैसा कायम रहकर परिणमन करता है, किन्तु दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकता, इस गुण को 'अगुरुलघुत्व' गुण कहते हैं। इसी शक्ति के कारण द्रव्य का द्रव्यत्व रहता है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, और एक गुण दूसरे गुणरूप परिणमित नहीं होता, तथा एक द्रव्य के अनेक (अनन्त) गुण बिखरकर अलग नहीं हो जाते।

(१०) इस तरह प्रत्येक द्रव्य में सामान्यगुण बहुत से होते हैं किन्तु मुख्यरूप से छह सामान्यगुण हैं - १. अस्तित्व (जो इस सूत्र में 'सत्' शब्द के द्वारा स्पष्टरूप से बतलाया है), २. वस्तुत्व, ३. द्रव्यत्व, ४. प्रमेयत्व, ५. अगुरुलघुत्व और ६. प्रदेशत्व।

(११) प्रदेशत्वगुण की ऐसी व्याख्या है कि जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य हो।

(१२) इन प्रत्येक सामान्यगुणों में 'सत्' (अस्तित्व) मुख्य है, क्योंकि उसके द्वारा द्रव्य का अस्तित्व (होने रूप-सत्ता) निश्चित होता है। यदि द्रव्य हो तो ही दूसरे गुण हो सकते हैं, इसलिए यहाँ 'सत्' को द्रव्य का लक्षण कहा है।

(१३) प्रत्येक द्रव्य के विशेष लक्षण पहले कहे जा चुके हैं, वे निम्न प्रकार हैं - (१) जीव-अध्याय २, सूत्र १ तथा ८ (२) अजीव के पाँच भेदों में से पुद्गल अध्याय ५ सूत्र २३। धर्म और अधर्म-अध्याय ५ सूत्र १७। आकाश-अध्याय ५, सूत्र १८ और काल-अध्याय ५, सूत्र २२।

जीव तथा पुद्गल की विकारी अवस्था का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इस अध्याय के सूत्र १९, २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, ३२, ३५, ३६, ३८ में दिया है; उनमें जीव का एक दूसरे का सम्बन्ध सूत्र २० में बताया है। जीव का पुद्गल के साथ का सम्बन्ध सूत्र १९, २० में बताया है और पुद्गल का परस्पर का सम्बन्ध बाकी के सूत्रों में बताया गया है।

(१४) 'सत्' लक्षण कहने से यह सिद्ध हुआ कि स्व की अपेक्षा से 'द्रव्य सत्' है। इसका यह अर्थ हुआ कि वह स्व-रूप से है पर-रूप से नहीं। 'अस्तित्व' प्रगटरूप से और 'नास्तित्व' गर्भितरूप से (इस सूत्र में) कहकर यह बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्व से है और पररूप से न होने से एक द्रव्य अपना सब कुछ कर सकता है, किन्तु दूसरे द्रव्य का कभी कुछ नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त का नाम 'अनेकान्त' है और वह इस अध्याय के ३२वें सूत्र में बतलाया गया है॥२९॥

अब, सत् का लक्षण बताते हैं

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥३०॥

अर्थ - [**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं**] जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हो, [**सत्**] सो सत् है।

टीका— (१) जगत् में सत् के सम्बन्ध से कई असत् मान्यतायें चल रही हैं। कोई 'सत्' को सर्वथा कूटस्थ - जो कभी न बदले ऐसा मानते हैं, कोई ऐसा कहते हैं कि सत् ज्ञानगोचर नहीं है, इसलिए 'सत्' का यथार्थ त्रिकाली अबाधित स्वरूप इस सूत्र में कहा है।

(२) प्रत्येक वस्तु का स्वरूप 'स्थायी रहते हुए बदलता है' उसे इंग्लिश में Permanancy with a change (बदलने के साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह यों भी कहते हैं कि No Substance is destroyed, every substance changes its from. (कोई वस्तु नाश नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है।)

(३) उत्पाद - चेतन अथवा अचेतन द्रव्य में नवीन अवस्था का प्रगट होना, सो उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद होने पर पूर्वकाल से चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है, वह कभी छूट नहीं सकती।

व्यय - स्वजाति यानी मूलस्वभाव के नष्ट हुए बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्य में पूर्व अवस्था का विनाश (उत्पाद के समय ही) होना, सो व्यय है।

ध्रौव्य – अनादि-अनन्त काल तक सदा बना रहनेवाला मूलस्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नहीं होता, उसे ध्रौव्य कहते हैं। *(देखो, तत्त्वार्थसार अध्याय ३, गाथा ६ से ८)*

(४) सर्वार्थसिद्धि में ध्रौव्य की व्याख्या इस सूत्र की टीका में पृष्ठ १०५ में संस्कृत में निम्नप्रकार दी है –

'अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः।'

अर्थ – जो अनादि पारिणामिकस्वभाव के द्वारा व्यय तथा उत्पाद के अभाव से ध्रुव रहता है – स्थिर रहता है, वह ध्रुव है।

(५) इस सूत्र में 'सत्' का अनेकान्तरूप बतलाया है। यद्यपि त्रिकालापेक्षा से सत् 'ध्रुव' है तो भी समय-समय पर नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट होती है अर्थात् द्रव्य में समा जाती है, वर्तमान काल की अपेक्षा से अभावरूप होता है – इस तरह कथञ्चित् नित्यत्व और कथञ्चित् अनित्यत्व द्रव्य का अनेकान्तपन है।

(६) इस सूत्र में पर्याय का भी अनेकान्तपन बतलाया है। जो उत्पाद है, सो अस्तिरूप पर्याय है और जो व्यय है, सो नास्तिरूप पर्याय है। स्व की पर्याय स्व से होती है, पर से नहीं होती – ऐसा 'उत्पाद' से बताया। स्व पर्याय की नास्ति/अभाव भी स्व से ही होता है, पर से नहीं होता। 'प्रत्येक द्रव्य का उत्पाद-व्यय स्वतन्त्र उस द्रव्य से है' – ऐसा बताकर द्रव्य, गुण तथा पर्याय की स्वतन्त्रता बतलायी – पर का असहायकपन बतलाया।

(७) धर्म (शुद्धता) आत्मा में द्रव्यरूप से त्रिकाल भरपूर है, अनादि से जीव के पर्याय रूप में धर्म प्रगट नहीं हुआ, किन्तु जीव जब पर्याय में धर्म व्यक्त करे, तब व्यक्त होता है, ऐसा उत्पाद शब्द का प्रयोग बताया और उसी समय विकार का व्यय होता है, ऐसा व्यय शब्द को कहकर बताया। उस अविकारीभाव के प्रगट होने और विकारीभाव के व्यय का लाभ त्रिकाल मौजूद रहनेवाले ऐसे ध्रुवद्रव्य के प्राप्त होता है, ऐसा ध्रौव्य शब्द अन्त में देकर बतलाया है।

(८) प्रश्न – 'युक्तं' शब्द एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का पृथक्त्व बतलाता है। जैसे दण्डयुक्त दंडी। ऐसा होने से उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का द्रव्य से भिन्न होना समझा जाता है अर्थात् द्रव्य के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का द्रव्य में अभाव का प्रसङ्ग आता है, उसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तर - 'युक्तं' शब्द जहाँ अभेद की अपेक्षा हो, वहाँ भी प्रयोग किया जाता है। जैसे - सार युक्त स्तम्भ। यहाँ युक्त शब्द अभेदनय से कहा है। यहाँ युक्तं शब्द एकमेकतारूप अर्थ में समझना।

(९) सत् स्वतन्त्र और स्व सहायक है। अत: उत्पाद और व्यय भी प्रत्येक द्रव्य में स्वतन्त्ररूप से होते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार गाथा १०७ में पर्याय को भी सत्पना कहा है - 'सद्द्रव्यं सच्च गुण: सच्चेव च पर्याय इति विस्तार:।'

प्रश्न - जीव में होनेवाली विकारी पर्याय पराधीन कही जाती है, इसका क्या कारण है?

उत्तर - पर्याय भी एक समय स्थायी अनित्य सत् होने से विकारी पर्याय भी जीव जब स्वतन्त्ररूप से अपने पुरुषार्थ के द्वारा करे, तब होती है। यदि वैसा न माना जाए तो द्रव्य का लक्षण 'सत्' सिद्ध न हो और इसलिए द्रव्य का नाश हो जाए। जीव स्वयं स्वतन्त्ररूप से अपने भाव में पर के आधीन होता है, इसलिए विकारी पर्याय को पराधीन कहा जाता है, किन्तु ऐसा मानना न्यायसङ्गत नहीं है कि 'परद्रव्य जीव को आधीन करता है, इसलिए विकारी पर्याय होती है।'

प्रश्न - क्या यह मान्यता ठीक है कि 'जब द्रव्यकर्म का बल होता है, तब कर्म जीव को आधीन कर लेते हैं, क्योंकि कर्म में महान शक्ति है?'

उत्तर - नहीं, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का प्रभाव और शक्ति उसके क्षेत्र में रहती है। जीव में कर्म की शक्ति नहीं जा सकती, इसलिए कर्म जीव को कभी भी आधीन नहीं कर सकता। यह नियम श्री समयसार नाटक में दिया गया है, जो उपयोगी होने से यहाँ दिया जाता है—

१- अज्ञानियों के विचार में राग-द्वेष का कारण—

दोहा - कोऊ मूरख यों कहै, राग द्वेष परिनाम।
पुद्गल की जोरावरी, वरतै आतमराम॥६२॥
ज्यौं ज्यौं पुद्गल बल करै, धरिधरि कर्मज भेष।
रागद्वेष कौ परिनमन, त्यौं त्यौं होइ विशेष॥६३॥

अर्थ - कोई-कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मा में राग-द्वेषभाव पुद्गल की

जबरदस्ती से होता है॥६२॥ पुद्गल कर्मरूप परिणमन के उदय में जितना-जितना बल करता है, उतनी-उतनी बाहुल्यता से राग-द्वेष परिणाम होते हैं॥६३॥

- अज्ञानियों को सत्यमार्ग का उपदेश -

दोहा - इहिविध जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोई।
सो नर राग विरोधसों, कबहूं भिन्न न होई॥६४॥
सुगुरु कहै जग में रहै, पुद्गल संग सदीव।
सहज शुद्ध परिनमनिकौ, औसर लहै न जीव॥६५॥
तातैं चिदभावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यात में, समकितमैं सिव भाउ॥६६॥

(देखो, समयसार नाटक, पृष्ठ २७६-२७७, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार, सोनगढ़ से प्रकाशित)

अर्थ - ऊपर जो रीति कही है, वह तो विपरीत पक्ष है। जो कोई उसे ग्रहण करता है या श्रद्धान करता है, उस जीव के राग-द्वेष और मोह कभी पृथक् होते ही नहीं। श्रीगुरु कहते हैं कि जीव के पुद्गल का साथ सदा (अनादि से) रहता है तो फिर सहज शुद्ध परिणमन का अवसर जीव को कभी मिले ही नहीं। इसलिए चैतन्य का भाव करने में चेतन-राजा ही समर्थ है; वह मिथ्यात्वदशा में स्व से राग-द्वेषरूप होता है और सम्यक्त्वदशा में - शिव भाउ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है।

२- जीव को कर्म का उदय कुछ असर नहीं कर सकता अर्थात् निमित्त, उपादान को कुछ नहीं कर सकता। इन्द्रियों के भोग, लक्ष्मी, सगे सम्बन्धी या मकान आदि के सम्बन्ध में भी यही नियम है। यह नियम श्री समयसार नाटक के सर्वविशुद्धि द्वार में निम्नरूप में दिया है -

सवैया

कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है?
पुद्गल करम जोग किंधौं इन्द्रिनिको भोग,
किंधौं धन किंधौं परिजन किंधौं भौन है॥
गुरु कहै छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है।

कोऊ दरब काहूकौ न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥६१॥

अर्थ - शिष्य कहता है कि हे स्वामी! राग-द्वेष परिणाम का मूल प्रेरक कौन है, सो आप कहौ, पुद्गल कर्म या इन्द्रियों के भोग या धन या घर के मनुष्य या मकान? श्रीगुरु समाधान करते हैं कि छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में सदा असहाय परिणमते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कभी भी प्रेरक नहीं है। राग-द्वेष का कारण मिथ्यात्वरूपी मदिरा का पान है।

(१०) पञ्चाध्यायी, अध्याय १ गाथा ८९ में भी वस्तु की हर एक अवस्था (पर्याय भी) 'स्वतः सिद्ध' एवं 'स्वसहाय' है, ऐसा कहा है -

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थिति भंगमयं तत् सदेतदिह नियमात्॥८९॥

अर्थ - जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है, वैसे ही यह 'स्वतः परिणमनशील' भी है, इसलिए यहाँ पर यह सत् नियम से उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है। इस प्रकार किसी भी वस्तु की कोई भी अवस्था, किसी भी समय, पर के द्वारा नहीं की जा सकती; वस्तु सदा स्वतः परिणमनशील होने से अपनी पर्याय यानी अपने हरएक गुण के वर्तमान (अवस्थाविशेष) का वह स्वयं ही सृष्टा-रचयिता है॥३०॥

अब, नित्य का लक्षण कहते हैं

तद्भावाव्ययं नित्यम्॥३१॥

अर्थ - **[तद्भावाव्ययं]** तद्भाव से जो अव्यय है - नाश नहीं होना सो **[नित्यम्]** नित्य है।

टीका—(१) जो पहले समय में हो, वही दूसरे समय में हो, उसे तद्भाव कहते हैं, वह नित्य होता है - अव्यय=अविनाशी होता है।

(२) इस अध्याय के चौथे सूत्र में कहा है कि द्रव्य का स्वरूप नित्य है। उसकी व्याख्या इस सूत्र में दी गई है।

(३) प्रत्यभिज्ञान के हेतु को तद्भाव कहते हैं। जैसे कि द्रव्य को पहले समय में

देखने के बाद दूसरे आदि समयों में देखने से 'यह वही है जिसे मैंने पहले देखा था'—ऐसा जो जोड़रूप ज्ञान है, वह द्रव्य का द्रव्यत्व बतलाता है, परन्तु यह नित्यता कथञ्चित् है, क्योंकि यह सामान्य स्वरूप की अपेक्षा से होती है। पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य अनित्य है। इस तरह जगत में समस्त द्रव्य नित्यानित्यरूप हैं। यह प्रमाण दृष्ट है।

(४) आत्मा में सर्वथा नित्यता मानने से मनुष्य, नरकादिकरूप संसार तथा संसार से अत्यन्त छूटनेरूप मोक्ष नहीं बन सकता। सर्वथा नित्यता मानने से संसार स्वरूप का वर्णन और मोक्ष-उपाय का कथन करने में विरोध आता है, इसलिए सर्वथा नित्य मानना न्यायसङ्गत नहीं है॥३१॥

एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति बतलाते हैं

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

अर्थ - [**अर्पितानर्पितसिद्धेः**] प्रधानता और गौणता से पदार्थों की सिद्धि होती है।

टीका—(१) प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, यह सिद्धान्त इस सूत्र में स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, तथापि वे वस्तु को वस्तुपने में निष्पन्न (सिद्ध) करनेवाले हैं, इसीलिए वे प्रत्येक द्रव्य में होते ही हैं। उनका कथन मुख्य-गौणरूप से होता है, क्योंकि सभी धर्म एकसाथ नहीं कहे जा सकते। जिस समय जिस धर्म को सिद्ध करना हो, उस समय उसकी मुख्यता की जाती है। उस मुख्यता-प्रधानता को 'अर्पित' कहा जाता है और उस समय जिस धर्म को गौण रखा हो, उसे अनर्पित कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि अनर्पित किया हुआ धर्म यद्यपि उस समय कहने में नहीं आया तो भी वह धर्म वस्तु में रहते ही हैं।

(२) जिस समय द्रव्य को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य कहा है, उसी समय वह पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। सिर्फ उस समय 'अनित्यता' कही नहीं गई, किन्तु गर्भित रखी है। इसी प्रकार जब पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य को अनित्य कहा है, उसी समय वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, सिर्फ उस समय नित्यता कही नहीं है, क्योंकि दोनों धर्म एकसाथ कहे नहीं जा सकते।

(३) अर्पित और अनर्पित के द्वारा अनेकान्तस्वरूप का कथन -

अनेकान्त की व्याख्या निम्न प्रकार है:—

'एक वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एक ही साथ प्रकाशित होना, सो अनेकान्त है।' जैसे कि जो वस्तु सत् है, वही असत् है अर्थात् जो अस्ति है, वही नास्ति है; जो एक है, वही अनेक है; जो नित्य है, वही अनित्य है, इत्यादि।

(समयसार, सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार, पृष्ठ ५६५)

अर्पित और अनर्पित का स्वरूप समझने के लिए यहाँ कितने ही दृष्टान्तों की जरूरत है, वे यहाँ दिये जाते हैं -

(१) 'जीव चेतन है'—ऐसा कहने से 'जीव अचेतन नहीं है'—ऐसा उसमें स्वयं गर्भितरूप से आ गया। इसमें 'जीव चेतन है' यह कथन अर्पित हुआ और 'जीव अचेतन नहीं है' यह कथन अनर्पित हुआ।

(२) 'अजीव जड़ है'—ऐसा कहने से 'अजीव चेतन नहीं है'—ऐसा उसमें स्वयं गर्भितरूप से आ गया, इसमें पहला कथन अर्पित है और उसमें 'अजीव चेतन नहीं है' यह भाव अनर्पित-गौणरूप से आ गया अर्थात् बिना कहे भी उसमें गर्भित है - ऐसा समझ लेना चाहिए।

(३) 'जीव अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है'—ऐसा कहने पर 'जीव परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् है' ऐसा बिना कहे भी आ गया। पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(४) 'जीव द्रव्यपने एक है'—ऐसा कहने पर उसमें यह आ गया कि 'जीव गुण और पर्याय से अनेक हैं।' पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(५) 'जीव द्रव्य-गुण से नित्य है'—ऐसा कहने से उसमें यह कथन आ गया कि 'जीव पर्याय से अनित्य है।' पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(६) 'जीव स्व से तत् (Identical) है'—ऐसा कहने से उसमें यह कथन आ गया कि 'जीव पर से अतत् है।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(७) 'जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से अभिन्न हैं'—ऐसा कहने से उसमें यह कथन आ गया कि 'जीव परद्रव्य, उसके गुण और पर्याय से भिन्न है।' पहला कथन अर्पित और दूसरा कथन अनर्पित है।

(८) 'जीव अपनी पर्याय का कर्ता हो सकता है'—ऐसा कहने पर 'जीव परद्रव्य का

कुछ कर नहीं सकता' यह आ गया। इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(९) 'प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का भोक्ता हो सकता है'—ऐसा कहने से यह भी आ गया कि 'कोई परद्रव्य का भोक्ता नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१०) 'कर्म का विपाक कर्म में आ सकता है'—ऐसा कहने से यह कथन भी आ गया कि 'कर्म का विपाक जीव में नहीं आ सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(११) 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है'—ऐसा कहने पर यह कथन भी आ गया कि 'पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध ये मोक्षमार्ग नहीं हैं' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१२) 'शरीर परद्रव्य हैं'—ऐसा कहने पर यह कथन भी आ गया कि 'जीव शरीर की कोई क्रिया नहीं कर सकता, उसे हलाचला नहीं सकता, उसकी सम्भाल नहीं रख सकता, उसका कुछ कर नहीं सकता; वैसे ही शरीर की क्रिया से जीव को राग, द्वेष, मोह, सुख, दुःख वगैरह नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१३) 'निमित्त, परद्रव्य है'—ऐसा कहने पर उसमें यह कथन भी आ गया कि 'निमित्त परद्रव्य का कुछ कर नहीं सकता, उसे सुधार या बिगाड़ नहीं सकता, सिर्फ वह अनुकूल संयोगरूप से होता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१४) 'घी का घड़ा' कहने से उसमें यह कथन भी आ गया कि 'घड़ा घीमय नहीं किन्तु मिट्टीमय है; घी का घड़ा है, यह तो मात्र व्यवहार कथन है।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१५) 'मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है'—इस कथन से यह भी आ गया कि 'जीव उस समय की अपनी विपरीत श्रद्धा को लेकर मिथ्यादृष्टि होता है, वास्तव में मिथ्यात्व कर्म के उदय के कारण जीव, मिथ्यादृष्टि नहीं होता। मिथ्यात्वकर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है,' यह तो उपचारमात्र व्यवहार कथन है, वास्तव में तो जीव जब स्वयं मिथ्याश्रद्धानरूप परिणमा, तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के जो रजकण उस समय उदयरूप हुए, उन पर निर्जरा का आरोप न आकर विपाक/उदय का आरोप आया। इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१६) 'जीव जड़कर्म के उदय से ग्यारहवें गुणस्थान से गिरा'—ऐसा कहने से यह कथन भी आ गया कि 'जीव अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से गिरा, जड़ कर्म परद्रव्य है और ११वें गुणस्थान में तो मोहकर्म का उदय ही नहीं है। वास्तव में (सचमुच) तो कर्मोदय से जीव गिरता नहीं है, किन्तु जिस समय अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से गिरा, तब मोहकर्म के उदय से गिरा - ऐसा आरोप (उपचार-व्यवहार) आया।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१७) 'जीव पञ्चेन्द्रिय है'—ऐसा कहने से यह कथन भी आ गया कि 'जीव चेतनात्मक है, जड़ इन्द्रियात्मक नहीं है; पाँचों इन्द्रियाँ जड़ हैं, मात्र उसे उनका संयोग है।' इसमें पहला कथन अर्पित दूसरा अनर्पित है।

(१८) 'निगोद का जीव, कर्म का उदय मन्द होने पर ऊँचा चढ़ता है'—यह कहने से उसमें यह कथन आ गया कि 'निगोदिया जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा मन्द कषाय करने पर चढ़ता है, कर्म परद्रव्य है, इसलिए कर्म के कारण से जीव ऊँचा नहीं चढ़ा (अपनी योग्यता से चढ़ा है)' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१९) 'कर्म के उदय से जीव असंयमी होता है, क्योंकि चारित्रमोह के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है'—ऐसा कहने से यह कथन आ गया कि 'जीव अपने पुरुषार्थ के दोष के कारण अपने चारित्रगुण के विकार को नहीं टालता और असंयमरूप परिणमता है, इसलिए वह असंयमी होता है, यद्यपि उस समय चारित्रमोह के कर्म भी झड़ जाते हैं तो भी जीव के विकार का निमित्त पाकर नवीन कर्म स्वयं बाँधता है, इसलिए पुराने चारित्र-मोहकर्म पर उदय का आरोप आता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(२०) 'कर्म के उदय से जीव ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में जाता है, क्योंकि आनुपूर्वी कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है'—ऐसा कहने से उसमें यह कथन भी आ गया कि 'जीव की क्रियावतीशक्ति की उस समय की वैसी योग्यता है, इसलिए जीव ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिर्यग्लोक में आता है, उस समय उसे अनुकूल आनुपूर्वी नामकर्म का उदय संयोगरूप से होता है। कर्म परद्रव्य है, इसलिए वह जीव को किसी जगह नहीं ले जा सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

—उपरोक्त दृष्टान्त ध्यान में रखकर शास्त्र में कैसा भी कथन किया हो, उसका निम्नलिखित अनुसार अर्थ कहना चाहिए -

पहले यह निश्चय करना चाहिए कि शब्दार्थ के द्वारा यह कथन किस नय से किया है। उसमें जो कथन जिस नय से किया हो, वह कथन अर्पित है, ऐसा समझना और सिद्धान्त के अनुसार उसमें गौणरूप से जो दूसरे भाव गर्भित हैं, यद्यपि वे भाव जो कि वहाँ शब्दों में नहीं कहे तो भी ऐसा समझ लेना चाहिए कि वे गर्भितरूप से कहे हैं, यह अनर्पित कथन है। इस प्रकार अर्पित और अनर्पित दोनों पहलुओं को समझकर यदि जीव अर्थ करे तो ही जीव को प्रमाण और नय का सत्य ज्ञान हो। यदि दोनों पहलुओं को यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान, अज्ञानरूप में परिणमा है; इसलिए उसका ज्ञान, अप्रमाण और कुनयरूप है। प्रमाण को सम्यक् अनेकान्त भी कहा जाता है।

जहाँ-जहाँ निमित्त और औदयिकभाव की सापेक्षता का कथन हो, यहाँ औदयिकभाव जीव का स्वतत्त्व होने से-निश्चय से निरपेक्ष ही है, सापेक्ष नहीं है, इस मुख्य बात का स्वीकार होना चाहिए। एकान्त सापेक्ष मानने से शास्त्र का सच्चा अर्थ नहीं होगा।

(४) अनेकान्त का प्रयोजन

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसा निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य दूसरे हेतु से उपकारी नहीं है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कर सकता है, इस मान्यता से आनेवाले दोषों का वर्णन

जगत में छहों द्रव्य अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से रहे हुए हैं, वे स्वयं निज में अन्तर्मग्न रहते हुए अपने अनन्त धर्मों के चक्र को घूमते हैं-स्पर्श करते हैं, तो भी वे परस्पर में एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाए और यदि पररूप हो जाए तो निम्नलिखित दोष आवें—

१- **संकर दोष—**दो द्रव्य एकरूप हो जायें तो संकर दोष आता है।

'सर्वेषाम् युगपत्प्राप्तिः संकरः' - जो अनेक द्रव्यों के एकरूपता को प्राप्ति है, सो संकर दोष हे। जीव अनादि से अज्ञानदशा में शरीर को, शरीर की क्रिया को, द्रव्य इन्द्रियों को, भाव इन्द्रियों को तथा उनके विषयों को स्व से एकरूप मानता है, यह ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष है। इस सूत्र में कहे हुये अनेकान्त स्वरूप को समझने पर अर्थात् जीव जीवरूप से है, कर्मरूप से नहीं, इसलिए जो कर्म, इन्द्रियाँ, शरीर, जीव की विकारी और अपूर्ण दशा है, सो

ज्ञेय है, किन्तु वह जीव का स्वरूप (ज्ञान) नहीं है—ऐसा समझकर भेदविज्ञान प्रगट करे, तब ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष दूर होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर ही संकर दोष टलता-दूर होता है।

जीव जितने अंशों में मोहकर्म के साथ युक्त होकर दु:ख भोगता है, वह भाव्य-भावक संकर दोष है। उस दोष को दूर करने का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर होता है और अकषायज्ञानस्वभाव का अच्छी तरह आलम्बन करने से सर्वथा कषायभाव दूर होने पर वह संकर दोष सर्वथा दूर होता है।

२- **व्यतिकर दोष—**यदि जीव, जड़ का कुछ कार्य करे और जड़कर्म या शरीर जीव का कुछ भला-बुरा करे तो जीव, जड़रूप हो जाए और जड़, चेतनरूप हो जाए तथा एक जीव के दूसरे जीव कुछ भला-बुरा करें तो एक जीव दूसरे जीवरूप हो जाए। इस तरह एक का विषय दूसरे में चला जायेगा, इसके व्यतिकर दोष आवेगा - 'परस्परविषयगमनं व्यतिकर:।'

जड़कर्म हलका हो और मार्ग दे तो जीव के धर्म हो और जड़कर्म बलवान हो तो जीव धर्म नहीं कर सकता - ऐसा मानने में संकर और व्यतिकर दोनों दोष आते हैं।

जीव, मोक्ष का-धर्म का पुरुषार्थ न करे और अशुभभाव में रहे, तब उसे बहुकर्मी जीव कहा जाता है, अथवा यों कहा जाता है कि 'उसके कर्म का तीव्र उदय है', इसलिए वह धर्म नहीं करता। उस जीव का लक्ष्य स्वसन्मुख नहीं है, किन्तु परवस्तु पर है, इतना बताने के लिए वह व्यवहार कथन है; परन्तु ऐसे उपचार कथन को सत्यार्थ मानने से दोनों दोष आते हैं कि जड़कर्म, जीव को नुकसान करता है या जीव, जड़कर्म का क्षय करता है और ऐसा मानने में दो द्रव्य के एकत्व की मिथ्या श्रद्धा होती है।'

३- **अधिकरण दोष—**यदि जीव, शरीर का कुछ कर सकता, उसे हला-चला सकता या दूसरे जीव का कुछ कर सकता तो वह दोनों द्रव्यों का अधिकरण (स्वक्षेत्ररूप आधार) एक हो जाएगा और इससे 'अधिकरण' दोष आवेगा।

४- **परस्पराश्रय दोष—**जीव स्व की अपेक्षा से सत् है और कर्म परवस्तु है, उस अपेक्षा से जीव असत् है तथा कर्म उसकी अपनी अपेक्षा से सत् है और जीव की अपेक्षा से कर्म असत् है - ऐसा होने पर भी जीव, कर्म को बाँधे-छोड़े, उसका क्षय करे, तथा कर्म कमजोर हों तो जीव, धर्म कर सकता है - ऐसा मानने में 'परस्पराश्रय' दोष है। जीव, कर्म

इत्यादि समस्त द्रव्य सदा स्वतन्त्र हैं और स्वयं स्व से स्वतन्त्ररूप से कार्य करते हैं – ऐसा मानने से 'परस्पराश्रय' दोष नहीं आता।

५- **संशय दोष**—जीव अपने रागादि विकारभाव को जान सकता है, स्वद्रव्य के आलम्बन से रागादि दोष का अभाव हो सकता है, परन्तु उसे टालने का प्रयत्न नहीं करता और जो जड़कर्म और उसके उदय हैं, उसको नहीं देख सकता, तथापि ऐसा माने कि कर्म का उदय पतला पड़े, कमजोर हो, कर्म के आवरण हटे तो धर्म या सुख हो सकता है; जड़कर्म बलवान हो तो जीव गिर जाए, अधर्मी या दु:खी हो जाए, (जो ऐसा माने) उसके संशय (भय) दूर नहीं होता अथवा निज आत्माश्रित निश्चयरत्नत्रय से धर्म होगा या पुण्य से-व्यवहार करते-करते धर्म होगा? ऐसा संशय दूर किये बिना जीव स्वतन्त्रता की श्रद्धा और सच्चा पुरुषार्थ नहीं कर सकता और विपरीत अभिप्राय रहितनपने के सच्चे पुरुषार्थ बिना, किसी जीव को कभी धर्म या सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। कोई भी द्रव्य दूसरों का कुछ कर सकता है या नहीं – ऐसी मान्यता में संशय दोष आता है, वह सच्ची समझ से दूर करना चाहिए।

६- **अनवस्था दोष**—जीव अपने परिणाम का ही कर्ता है और अपना परिणाम उसका कर्म है। सर्व द्रव्यों के अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है, इसलिए अजीव के साथ जीव के कार्य-कारणत्व सिद्ध नहीं होता। यदि एक द्रव्य दूसरे का कार्य करे, दूसरा तीसरे का कार्य करे – ऐसी परम्परा मानने पर अनन्त द्रव्य हैं, उनमें कौन द्रव्य किस द्रव्य का कार्य करे? इसका कोई नियम नहीं रहेगा और इसलिए अनवस्था दोष आवेगा। परन्तु यदि ऐसा नियम स्वीकार करें कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही कार्य करता है, पर का कार्य नहीं कर सकता तो वस्तु की यथार्थ अवस्था ज्यों की त्यों बनी रहती और उसमें कोई अनवस्था दोष नहीं आता।

७- **अप्रतिपत्ति दोष**—प्रत्येक द्रव्य का द्रव्यत्व-क्षेत्रत्व-कालत्व (पर्यायत्व) और भावत्व (गुण) जिस प्रकार से है, उसी प्रकार से उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। जीव क्या कर सकता और क्या नहीं कर सकता, वैसे ही जड़ द्रव्य क्या कर सकते और क्या नहीं कर सकते – इसका ज्ञान न करना और तत्त्वज्ञान करने का प्रयत्न नहीं करना, सो अप्रतिपत्ति दोष है।

८- **विरोध दोष**—यदि ऐसा मानें कि एक द्रव्य स्वयं स्व से सत् है और वही द्रव्य पर से भी सत् है, तो 'विरोध' दोष आता है। क्योंकि जीव जैसे अपना कार्य करे, वैसे परद्रव्य का-कर्म अर्थात् पर जीव आदि का भी कार्य करे तो विरोध दोष लागू होता है।

९- अभाव दोष—यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करे तो उस द्रव्य का नाश हो और एक द्रव्य का नाश हो तो क्रम-क्रम से सर्व द्रव्यों का नाश होगा, इस तरह उसमें 'अभाव' दोष आता है।

इन समस्त दोषों को दूर करने और वस्तु का अनेकान्त स्वरूप समझने के लिए आचार्य भगवान ने यह सूत्र कहा है।

अर्पित (मुख्य) और अनर्पित (गौण) की विशेष समझ

समझ में तथा कथन करने के लिए किसी समय उपादान को मुख्य किया जाता है और किसी समय निमित्त को; (कभी निमित्त की मुख्यता से कार्य नहीं होता मात्र कथन में मुख्यता होती है)। किसी समय द्रव्य को मुख्य किया जाता है, तो किसी समय पर्याय को; किसी समय निश्चय को मुख्य कहा जाता है और किसी समय व्यवहार को। इस तरह जब एक पहलू को मुख्य करके कहा जावे, तब दूसरे गौण रहनेवाले पहलुओं का यथायोग्य ज्ञान कर लेना चाहिए। यह मुख्य और गौणता ज्ञान की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

परन्तु सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से हमेशा द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके उपदेश दिया जाता है, द्रव्यदृष्टि की प्रधानता में कभी भी व्यवहार की मुख्यता नहीं होती; वहाँ पर्यायदृष्टि के भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। भेददृष्टि में रुकने पर निर्विकल्पदशा नहीं होती और सरागी के विकल्प रहा करता है, इसलिए जब तक रागादिक दूर न हों, तब तक भेद को गौण कर अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया जाता है। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार, पर्याय या भेद हमेशा गौण रखा जाता है, उसे कभी मुख्य नहीं किया जाता।

(श्री समयसार गाथा ७ भावार्थ पेराग्राफ दूसरा)

अब परमाणुओं में बन्ध होने का कारण बतलाते हैं

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थ - [**स्निग्धरक्षत्वात्**] चिकने और रूखे के कारण [**बन्धः**] दो, तीन इत्यादि परमाणुओं का बन्ध होता है।

टीका—(१) पुद्गल में अनेक गुण हैं, किन्तु उनमें से स्पर्श गुण के अतिरिक्त दूसरे गुणों की पर्यायों से बन्ध नहीं होता, वैसे ही स्पर्श की आठ पर्यायों में से भी स्निग्ध और रूक्ष नाम के पर्यायों के कारण से ही बन्ध होता है और दूसरे छह प्रकार के पर्यायों से बन्ध नहीं

होता, ऐसा यहाँ बताया है। किस तरह की स्निग्ध और रूक्ष अवस्था हो, तब बन्ध हो, यह ३६वें सूत्र में कहेंगे और किस तरह के हों, तब बन्ध नहीं होता, यह ३४-३५वें सूत्र में कहेंगे। बन्ध होने पर किस जाति का परिणमन होता है, यह ३७वें सूत्र में कहा जायेगा।

(२) बन्ध - अनेक पदार्थों में एकत्व का ज्ञान करानेवाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं।

(३) बन्ध तीन तरह का होता है - १. स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध, २. रागादि के साथ जीव का बन्ध, और ३. अन्योन्यअवगाह पुद्गल-जीवात्मक बन्ध। (प्रवचनसार गाथा १७७) उनमें से पुद्गलों का बन्ध इस सूत्र में बताया है।

(४) स्निग्ध और रूक्षत्व के जो अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उसे गुण[१] कहते हैं। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह इत्यादि तथा संख्यात, असंख्यात या अनन्त स्निग्ध गुणरूप से तथा रूक्ष गुणरूप से एक परमाणु और प्रत्येक परमाणु स्वत: स्वयं परिणमता है।

(५) स्निग्ध- स्निग्ध के साथ, रूक्ष के साथ तथा एक दूसरे के साथ बन्ध होता है।

बन्ध कब नहीं होता ?

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

अर्थ - [**जघन्यगुणानाम्**] जघन्य गुणसहित परमाणुओं का [**न**] बन्ध नहीं होता।

टीका—(१) गुण की व्याख्या सूत्र ३३ की टीका में दी गयी है। 'जघन्य गुण परमाणु' अर्थात् जिस परमाणु में स्निग्धता या रूक्षता का एक अविभागी अंश हो, उसे जघन्यगुणसहित परमाणु कहते हैं। जघन्यगुण अर्थात् एक गुण समझना।

(२) परम चैतन्यस्वभाव में परिणति रखनेवाले के परमात्मस्वरूप के भावनारूप धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान के बल से जब जघन्य चिकने के स्थान में राग क्षीण हो जाता है, तथा जघन्य रुक्षता के स्थान में द्वेष क्षीण हो जाता है, तब जैसे जल और रेती का बन्ध नहीं होता, वैसे ही जघन्य-स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणु का भी किसी के साथ बन्ध नहीं होता। *(प्रवचनसार, अध्याय २, गाथा ७२, श्री जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका, हिन्दी पुस्तक, पृष्ठ २२७)* जल और रेती के दृष्टान्त में जैसे जीवों के परमानन्दमय स्वसंवेदन गुण के बल से राग-द्वेष हीन

१. यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय में आनेवाला गुण नहीं समझना, परन्तु गुण का अर्थ 'स्निग्ध-रूक्षत्व की शक्ति का नाप करने का साधन' समझना चाहिए।

हो जाता है और कर्म के साथ बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार जिस परमाणु में जघन्य स्निग्ध या रूक्षता होती है, उसके किसी से बन्ध नहीं होता। *(हिन्दी प्रवचनसार, गाथा ७३, पृष्ठ २२८)*

(३) श्री प्रवचनसार, अध्याय २, गाथा ७१ से ७६ तक तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६१४ तथा उसके नीचे की टीका में यह बतलाया है कि पुद्गलों में बन्ध कब नहीं होता और कब होता है, अत: वह बाँचना।

(४) चौतीसवें सूत्र का सिद्धान्त

(१) द्रव्य में अपने साथ जो एकत्व है, वह बन्ध का कारण नहीं होता किन्तु अपने में/निज में च्युतिरूप द्वैत-द्वित्व हो, तब बन्ध होता है। आत्मा एकभावस्वरूप है, परन्तु मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन से द्वैतभावरूप होता है और उससे बन्ध होता है। *(देखो, प्रवचनसार, गाथा १७५ की टीका)* आत्मा अपने त्रिकाली स्वरूप से शुद्ध चैतन्यमात्र है। यदि पर्याय में वह त्रिकाली शुद्ध चैतन्य के प्रति लक्ष्य करके अन्तर्मुख हो तो द्वैतपन नहीं होता, बन्ध नहीं होता अर्थात् मोह-राग-द्वेष में नहीं रूकता। आत्मा मोह-राग-द्वेष में अटकता है, वही बन्ध है। अज्ञानतापूर्वक का राग-द्वेष ही वास्तव में स्निग्ध और रूक्षत्व के स्थान में होने से बन्ध है। *(देखो, प्रवचनसार गाथा १७६ की टीका)* इस प्रकार जब आत्मा में द्वित्व हो, तब बन्ध होता है और उसका निमित्त पाकर द्रव्यबन्ध होता है।

(२) यह सिद्धान्त पुद्गल में लागू होता है। यदि पुद्गल अपने स्पर्श में एक गुणरूप परिणमे तो उसके अपने में ही बन्ध की शक्ति (भावबन्ध) प्रगट न होने से दूसरे पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता, किन्तु यदि उस पुद्गल के स्पर्श में दो गुणरूप अधिकपना आवे तो बन्ध की शक्ति (भावबन्ध की शक्ति) होने से दूसरे चार गुणवाले स्पर्श के साथ बन्ध हो जाता है, यह द्रव्यबन्ध है। बन्ध होने में द्वित्व-द्वैत अर्थात् भेद होना ही चाहिए।

(३) दृष्टान्त - दशवें गुणस्थान में सूक्ष्मसाम्पराय-जघन्य लोभ-कषाय है तो भी मोहकर्म का बन्ध नहीं होता। संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पुरुषवेद जो नववें में बन्ध को प्राप्त थे, उनकी वहाँ व्युच्छित्ति हुई, उनका बन्ध वहाँ रुक गया।

(देखो, अध्याय ६ सूत्र १४ की टीका)

दृष्टान्त पर से सिद्धान्त - जीव का जघन्य लोभ-कषाय विकार है, किन्तु वह जघन्य होने से कार्माणवर्गणा को लोभरूप से बँधने में निमित्त नहीं हुआ। (२) उस समय संज्वलन लोभकर्म की प्रकृति उदयरूप है, तथापि उसकी जघन्यता नवीन मोहकर्म के बन्ध का

निमित्त कारण नहीं होती। (३) यदि जघन्य विकार, कर्मबन्ध का कारण हो तो कोई जीव बन्धरहित नहीं हो सकता॥ ३४॥

बन्ध कब नहीं होता, इसका वर्णन करते हैं

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

अर्थ - [**गुणसाम्ये**] गुणों की समानता हो, तब [**सदृशानाम्**] समान जातिवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। जैसे कि दो गुणवाले स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता अथवा वैसे स्निग्ध परमाणु का उतने ही गुणवाले रूक्ष परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। 'न (बन्ध नहीं होता)' यह शब्द इस सूत्र में नहीं कहा, परन्तु ऊपर के सूत्र में कहा गया 'न' शब्द इस सूत्र में भी लागू होता है।

टीका—(१) सूत्र में 'सदृशानाम्' पद से यह प्रगट होता है कि गुणों की विषमता में समान जातिवाले तथा भिन्न जातिवाले पुद्गलों का बन्ध होता है।

(२) दो गुण या अधिक गुण स्निग्धता और वैसे ही दो या अधिक गुण रूक्षता समान-रूप से हो, तब बन्ध नहीं होता, ऐसा बताने के लिये 'गुणसाम्ये' पद इस सूत्र में लिया है ॥३५॥ *(देखो, सर्वार्थसिद्धि, संस्कृत हिन्दी टीका, अध्याय ५, पृष्ठ १२३)*

बन्ध कब होता है ?

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

अर्थ - [**द्व्यधिकादिगुणानां तु**] दो अधिक गुण हों, इस तरह के गुणवाले के साथ ही बन्ध होता है।

टीका—जब एक परमाणु से दूसरे परमाणु में दो अधिक गुण हों, तब ही बन्ध होता है। जैसे कि दो गुणवाले परमाणु का बन्ध, चार गुणवाले परमाणु के साथ हो, तीन गुणवाले परमाणु का पाँच गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध हो, परन्तु उससे अधिक या कम गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।[१] यह बन्ध, स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ तथा रूक्ष का स्निग्ध के साथ भी बन्ध होता है॥३६॥

---

१. श्वेताम्बर मत में इस व्यवस्था को नहीं माना है।

दो गुण अधिक के साथ मिलने पर नई व्यवस्था कैसी होती है ?

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

अर्थ - [**च**] और [**बन्धे**] बन्धरूप अवस्था में [**अधिकौ**] अधिक गुणवाले परमाणुओं जितने गुणरूप में [**पारिणामिको**] (कम गुणवाले परमाणुओं का) परिणमन होता है। (यह कथन निमित्त का है)

टीका—जो अल्प गुणधारक परमाणु हो, वह जब अधिक गुणधारक परमाणु के साथ बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह अल्पगुण धारक परमाणु अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था प्रकट करता है और एक स्कन्ध हो जाता है अर्थात् अधिक गुणधारक परमाणु की जाति का और उतने गुणवाला स्कन्ध होता है॥३७॥

द्रव्य का दूसरा लक्षण

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ॥३८॥

अर्थ - [**गुणपर्ययवत्**] गुण-पर्यायवाला [**द्रव्यम्**] द्रव्य है।

टीका—(१) गुण - द्रव्य की अनेक पर्याय बदलने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो, निरन्तर द्रव्य के साथ सहभावी रहे, वह गुण कहलाता है।

(२) जो द्रव्य के पूरे हिस्से में तथा उसकी सभी हालतों में रहे, उसे गुण कहते हैं।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न ११३)

(३) जो द्रव्य में शक्ति की अपेक्षा से भेद किया जावे वह गुण शब्द का अर्थ है। *(तत्त्वार्थसार, अध्याय ३, गाथा ९, पृष्ठ १३१)* सूत्रकार गुण की व्याख्या ४१वें सूत्र में देंगे।

(३) पर्याय - १. क्रम से होनेवाली वस्तु की-गुण की अवस्था को पर्याय कहते हैं। २. गुण के विकार को (विशेष कार्य को) पर्याय कहते हैं। *(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न १४८)* ३. द्रव्य में जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले, वह पर्याय कहलाती है।

(देखो, तत्त्वार्थसार, अध्याय ३, गाथा ९, पृष्ठ १३१)

सूत्रकार, पर्याय की व्याख्या ४२वें सूत्र में देंगे।

(४) पहले सूत्र २९-३० में कहे हुए लक्षण से यह लक्षण पृथक् नहीं है, शब्दभेद है, किन्तु भावभेद नहीं। पर्याय में उत्पाद-व्यय की और गुण से ध्रौव्य की प्रतीति हो जाती है।

(५) गुण को अन्वय, सहवर्तीपर्याय या अक्रमवर्तीपर्याय भी कहा जाता है तथा पर्याय को व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती कहा जाता है। द्रव्य का स्वभाव गुण-पर्यायरूप है, ऐसा सूत्र में कहकर द्रव्य का अनेकान्तत्व सिद्ध किया है।

(६) द्रव्य-गुण और पर्याय वस्तुरूप से अभेद-अभिन्न है। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद है, परन्तु प्रदेश से अभेद हैं, ऐसा वस्तु का भेदाभेद स्वरूप समझना।

(७) सूत्र में 'वत्' शब्द का प्रयोग किया है, वह कथञ्चित् भेदाभेदरूप सूचित करता है।

(८) जो गुण के द्वारा यह बतलावे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से द्रव्यान्तर है' उसे विशेष गुण कहते हैं। उसके द्वारा द्रव्य का विधान किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो द्रव्यों की संकरता-एकता का प्रसङ्ग हो और एक द्रव्य बदलकर दूसरा हो जाये तो व्यतिकर दोष का प्रसङ्ग होगा। इसलिए इन दोषों से रहित वस्तु का स्वरूप जैसा का तैसा समझना॥३८॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च॥३९॥

अर्थ - [**कालः**] काल [**च**] भी द्रव्य है।

टीका—(१) 'च' का अन्वय इस अध्याय के दूसरे सूत्र 'द्रव्याणि' के साथ है।

(२) काल, उत्पाद-व्यय-ध्रुव तथा गुण-पर्यायसहित है; इसलिए वह द्रव्य है।

(३) कालद्रव्यों की संख्या असंख्यात हे। वे रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक् लोक के समस्त प्रदेशों पर स्थित हैं। वह प्रत्येक कालाणु जड़, एक प्रदेशी और अमूर्तिक है। उसमें स्पर्शगुण नहीं है, इसलिए एक दूसरे के साथ मिलकर स्कन्धरूप नहीं होता। काल में मुख्यरूप से या गौणरूप से प्रदेश-समूह की कल्पना नहीं हो सकती, इसलिए उसे अकाय भी कहते हैं। वह निष्क्रिय है अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जाता।

(४) सूत्र २२वें में वर्तना मुख्य काल का लक्षण कहा है और उसी सूत्र में व्यवहारकाल का लक्षण परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व कहा है। इस व्यवहारकाल के अनन्त समय हैं, ऐसा अब इसके बाद के सूत्र में कहते हैं॥३९॥

व्यवहारकाल का प्रमाण बताते हैं

सोऽनन्तसमयः ॥४०॥

अर्थ - [**सः**] वह कालद्रव्य [**अनन्त समयः**] अनन्त समयवाला है। काल की पर्याय, यह समय है। यद्यपि वर्तमानकाल एक समयमात्र ही है, तथापि भूत-भविष्य की अपेक्षा से उसके अनन्त समय हैं।

टीका—(१) समय - मन्दगति से गमन करनेवाले एक पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना समय लगता है, वह एक समय है। यह काल की पर्याय होने से व्यवहार है। आवलि (समयों के समूह से ही जो हो) घड़ी, घण्टा आदि व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल, निश्चयकाल की पर्याय है।

निश्चयकालद्रव्य - लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह कालाणु के स्थित होने का ३९वें सूत्र की टीका में कहा है, वह प्रत्येक निश्चयकालद्रव्य है। उसका लक्षण वर्तना है, यह सूत्र २२ में कहा जा चुका है।

(२) एक समय में अनन्त पदार्थों की परिणति-पर्याय - जो अनन्त संख्या में है, उसके एक कालाणु की पर्याय निमित्त होती है, इस अपेक्षा से एक कालाणु को उपचार से 'अनन्त' कहा जाता है। मुख्य अर्थात् निश्चयकालाणु द्रव्य की संख्या असंख्यात है।

(३) समय सबसे छोटे से छोटा काल है, उसका विभाग नहीं हो सकता॥४०॥

इस तरह छह द्रव्यों का वर्णन पूर्ण हुआ। अब दो सूत्रों द्वारा गुण का और पर्याय का लक्षण बताकर यह अधिकार पूर्ण हो जायेगा।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ॥४१॥

अर्थ - [**द्रव्याश्रयाः**] जो द्रव्य के आश्रय से हों और [**निर्गुणाः**] स्वयं दूसरे गुणों से रहित हों, [**गुणाः**] वे गुण हैं।

टीका—(१) ज्ञानगुण, जीवद्रव्य के आश्रित रहता है तथा ज्ञान में और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उसमें गुण रहे तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाए, किन्तु ऐसा नहीं होता। 'आश्रयाः' शब्द भेद-अभेद दोनों बतलाता है।

(१) प्रश्न – पर्याय भी द्रव्य के आश्रित रहती है और गुण रहित है, इसलिए पर्याय में भी गुणत्व आ जायेगा और इसी से इस सूत्र में अतिव्याप्ति दोष लगेगा।

उत्तर – 'द्रव्याश्रयाः' पद होने से जो नित्य द्रव्य के आश्रित रहता है, उसकी बात है। वह गुण है, पर्याय नहीं है। इसीलिए 'द्रव्याश्रयाः' पद से पर्याय उसमें नहीं आती। पर्याय एक समयवर्ती ही है।

कोई गुण दूसरे गुण के आश्रित नहीं है और एक गुण दूसरे गुण की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता है।

(३) इस सूत्र का सिद्धान्त

प्रत्येक गुण अपने द्रव्य के आश्रित रहता है, इसलिए एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता तथा दूसरे द्रव्य को प्रेरणा, असर या मदद नहीं कर सकता, परद्रव्य निमित्तरूप से होता है, परन्तु एक द्रव्य परद्रव्य में **अकिंचित्कर** है (समयसार, गाथा २६७ की टीका) प्रेरणा, सहाय, मदद, उपकार आदि का कथन उपचारमात्र है अर्थात् निमित्त का मात्र ज्ञान कराने के लिये हैं॥४१॥

परिणाम का लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

अर्थ – **[तद्भावः]** जो द्रव्य का स्वभाव (निजभाव, निजतत्त्व) है, **[परिणामः]** सो परिणाम है।

टीका— (१) द्रव्य जिस स्वरूप से होता है तथा जिस स्वरूप से परिणमता है, वह तद्भाव परिणाम है।

(२) प्रश्न – कोई ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तर – नहीं, गुण और द्रव्य कथञ्चित् भिन्न हैं, कथञ्चित् अभिन्न हैं अर्थात् भिन्नाभिन्न हैं। संज्ञा-संख्या-लक्षण-विषयादि भेद से भिन्न हैं। वस्तुरूप से प्रदेशरूप से अभिन्न हैं, क्योंकि गुण, द्रव्य का ही परिणाम है।

(३) समस्त द्रव्यों के अनादि और आदिमान परिणाम होता है। प्रवाहरूप से अनादि परिणाम है। पर्याय उत्पन्न होती है, नष्ट होती, इसलिए वह सादि है। धर्म, अधर्म, आकाश

और काल, इन चार द्रव्यों के अनादि तथा आदिमान परिणाम आगमगम्य हैं तथा जीव और पुद्गल के अनादि परिणाम आगमगम्य हैं, किन्तु उसके आदिमान परिणाम कथञ्चित् प्रत्यक्ष भी हैं।

(४) गुण को सहवर्ती अथवा अक्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है और पर्याय को क्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है।

(५) क्रमवर्ती पर्याय का स्वरूप नियमसार गाथा १४ की टीका में कहा है 'जो सब तरफ से भेद को प्राप्त करे, सो पर्याय है।'

द्रव्य-गुण और पर्याय - ये वस्तु के तीन भेद कहे हैं, परन्तु नय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही कहे हैं, तीसरा 'गुणार्थिक' नय नहीं कहा, इसका क्या कारण है? तथा गुण क्या नय का विषय है? इसका खुलासा पहले प्रथम अध्याय के सूत्र ६ की टीका में दिया है।

(५) इस सूत्र का सिद्धान्त

सूत्र ४१ में जो सिद्धान्त कहा है, उसी प्रमाण से वह यहाँ भी लागू होता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने भाव से परिणमता है, पर के भाव से नहीं परिणमता; अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपना काम कर सकता है, किन्तु दूसरे का नहीं कर सकता॥४२॥

— उपसंहार —

इस पाँचवें अध्याय में मुख्यरूप से अजीवतत्त्व का कथन है। अजीवतत्त्व का कथन करते हुए, उसका जीवतत्त्व के साथ सम्बन्ध बताने की आवश्यकता होने पर, जीव का स्वरूप भी यहाँ बताया गया है। पुनरपि छहों द्रव्यों का सामान्य स्वरूप भी जीव और अजीव के साथ लागू होने के कारण कहा है। इस तरह इस अध्याय में निम्न विषय आये हैं—

(१) छहों द्रव्यों के एक समान रीति से लागू होनेवाले नियम का स्वरूप, (२) द्रव्यों की संख्या और उनके नाम, (३) जीव का स्वरूप, (४) अजीव का स्वरूप, (५) स्याद्वाद सिद्धान्त और (६) अस्तिकाय।

(१) छहों द्रव्यों को लागू होनेवाला स्वरूप

(१) द्रव्य का लक्षण अस्तित्व (होनेरूप-विद्यमान) सत् है (सूत्र २९) (२) विद्यमान- (सत् का) का लक्षण यह है कि त्रिकाल कायम रहकर प्रत्येक समय में जूनी अवस्था को दूर (व्यय) कर नयी अवस्था उत्पन्न करना। (सूत्र ३०) (३) द्रव्य अपने गुण

और अवस्थावाला होता है; गुण, द्रव्य के आश्रित रहता है और गुण में गुण नहीं होता। वह निज का जो भाव है, उस भाव से परिणमता है (सूत्र ३८, ४८) (४) द्रव्य के निजभाव का नाश नहीं होता, इसलिए नित्य है और परिणमन करता है, इसलिए अनित्य है। (सूत्र ३१, ४२)

(२) द्रव्यों की संख्या और उनके नाम

(१) जीव अनेक हैं (सूत्र ३), प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं (सूत्र ८), वह लोकाकाश में ही रहता है (सूत्र १२), जीव के प्रदेश सङ्कोच और विस्तार को प्राप्त होते हैं, इसलिए लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर समस्त लोक के अवगाहरूप से है (सूत्र ५,१५), लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही जीव के प्रदेश हैं। एक जीव के, धर्मद्रव्य के और अधर्मद्रव्य के प्रदेशों की संख्या समान है (सूत्र ८); परन्तु जीव के अवगाह और धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य के अवगाह में अन्तर है। धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं, जबकि जीव के प्रदेश सङ्कोच और विस्तार को प्राप्त होते हैं। (सूत्र १३, १६)

(२) जीव को विकारी अवस्था में, सुख-दुःख तथा जीवन-मरण में पुद्गलद्रव्य निमित्त है; जीवद्रव्य भी परस्पर उन कार्यों में निमित्त होता है। संसारी जीव के संयोगरूप से कार्मणादि शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास होता है। (सूत्र १९, २०, २१)

(३) जीव क्रियावान है, उसकी क्रियावतीशक्ति की पर्याय कभी गतिरूप और कभी स्थितिरूप होती है, जब गतिरूप होती है, तब धर्मद्रव्य और जब स्थितिरूप होती है, तब अधर्मद्रव्य निमित्त है। (सूत्र १७)

(४) जीवद्रव्य से नित्य है, उसकी संख्या एक सदृश रहनेवाली है और वह अरूपी है (सूत्र ४)।

नोट - छहों द्रव्यों का जो स्वरूप ऊपर नम्बर-१ में चार पहलुओं से बतलाया है, वही स्वरूप प्रत्येक जीवद्रव्य के लागू होता है। अध्याय-२ सूत्र-८ में जीव का लक्षण उपयोग कहा जा चुका है।

(४) अजीव का स्वरूप

जिनमें ज्ञान नहीं है, ऐसे अजीवद्रव्य पाँच हैं - १. एक धर्म, २. एक अधर्म, ३. एक आकाश, ४. अनेक पुद्गल तथा ५. असंख्यात कालाणु (सूत्र १, ३९)। अब पाँच उपविभागों द्वारा उन पाँचों द्रव्यों का स्वरूप कहा जाता है।

(अ) धर्मद्रव्य— धर्मद्रव्य एक, अजीव, बहुप्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६) वह नित्य, अवस्थित, अरूपी और हलन-चलन रहित है (सूत्र ४, ७)। इसके लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेश हैं और वह समस्त लोकाकाश में व्याप्त है (सूत्र ८, १३)। वह स्वयं हलन-चलन करनेवाले जीव तथा पुद्गलों को गति में निमित्त है (सूत्र १७), उसे अवकाश देने में आकाश निमित्त है और परिणमन में काल निमित्त है (सूत्र १८, २२) अरूपी (सूक्ष्म) होने से धर्म और अधर्मद्रव्य लोकाकाश में एक समान (एक दूसरे को व्याघात पहुँचाये बिना) व्याप्त हो रहे हैं (सूत्र १३)।

(ब) अधर्मद्रव्य— उपरोक्त समस्त बातें अधर्मद्रव्य के भी लागू होती हैं, इतनी विशेषता है कि धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों को गति में निमित्त है, तथा अधर्मद्रव्य, गमनपूर्वक ठहरे हुए जीव-पुद्गलों को स्थिति में निमित्त है।

(क) आकाशद्रव्य— आकाशद्रव्य एक, अजीव, अनन्त प्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६, ९) नित्य अवस्थित, अरूपी और हलन-चलन रहित है। (सूत्र ४, ७) अन्य पाँचों द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त है। (सूत्र १८) उसके परिणमन में कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र २२)। आकाश का सबसे छोटा भाग प्रदेश है।

(ड) कालद्रव्य— कालद्रव्य प्रत्येक अणुरूप, अरूपी, अस्तिरूप से किन्तु कायरहित, नित्य और अवस्थित अजीव पदार्थ है (सूत्र २, ३९, ४) वह समस्त द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है (सूत्र २२) कालद्रव्य को स्थान देने में आकाशद्रव्य निमित्त है (सूत्र १८) एक आकाश के प्रदेश में रहे हुये अनन्त द्रव्यों के परिणमन में एक कालाणु निमित्त होता है, इस कारण से उसे उपचार से अनन्त समय कहा जाता है तथा भूत-भविष्य की अपेक्षा से अनन्त है। काल की एक पर्याय को समय कहते हैं (सूत्र ४०)।

(इ) पुद्गलद्रव्य— (१) यह पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं, वह प्रत्येक एक प्रदेशी हैं (सूत्र १, २, १०, ११)। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि विशेष गुण हैं; अतः वह रूपी है (सूत्र २३, ५) उन विशेष गुणों में से स्पर्शगुण की स्निग्ध या रूक्ष की जब अमुक प्रकार की अवस्था होती है, तब बन्ध होता है (सूत्र ३३) बन्ध प्राप्त पुद्गलों को स्कन्ध कहा जाता है। उनमें से जीव के संयोगरूप होनेवाले स्कन्ध शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूप से परिणमते हैं (सूत्र २५, १९)। कितनेक स्कन्ध जीव के सुख-दुःख, जीवन और मरण में निमित्त होते हैं (सूत्र २०)।

(२) स्कन्धरूप से परिणमे हुए परमाणु संख्यात-असंख्यात और अनन्त होते हैं तथा बन्ध की ऐसी विशेषता है कि एक प्रदेश में अनेक रहते हैं, अनेक स्कन्ध संख्यात प्रदेशों को और असंख्यात प्रदेशों को रोकते हैं तथा एक महास्कन्ध लोकप्रमाण असंख्यात आकाश के प्रदेशों को रोकता है (सूत्र १०, १४, १२)।

(३) जिस पुद्गल की स्निग्धता या रूक्षता जघन्यरूप से हो, वह बन्ध के पात्र नहीं तथा एक समान गुणवाले पुद्गलों का बन्ध नहीं होता (सूत्र ३४, ३५)। जघन्य गुण को छोड़कर दो अंश ही अधिक हों, वहाँ स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रूक्ष का यक्ष के साथ, तथा स्निग्ध रूक्ष का परस्पर में बन्ध होता है और जिसके अधिक गुण हों, उसरूप से समस्त स्कन्ध हो जाता है (सूत्र ३६, ३७) स्कन्ध की उत्पत्ति परमाणुओं के भेद (छूटे पड़ने से-अलग होने से), संघात (मिलने से) अथवा एक ही समय दोनों प्रकार से (भेद-संघात से) होती है (सूत्र २६) और अणु की उत्पत्ति भेद से होती है (सूत्र २७) भेद-संघात दोनों से मिलकर उत्पन्न हुआ, स्कन्ध, चक्षुइन्द्रियगोचर होता है (सूत्र २८)।

(४) शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत, ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं।

(५) पुद्गलद्रव्य के हलन-चलन में धर्मद्रव्य और स्थिति में अधर्मद्रव्य निमित्त है (सूत्र १७); अवगाहन में आकाशद्रव्य निमित्त है और परिणमन में कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र १८, २२)।

(६) पुद्गल स्कन्धों को शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूप से परिणमाने में जीव निमित्त है (सूत्र १९); बन्धरूप होने में परस्पर निमित्त है (सूत्र ३३)।

नोट - स्निग्धता और रूक्षता के अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। एक अविभागी अंश को गुण कहते हैं, ऐसा यहाँ गुण शब्द का अर्थ है।

(५) स्याद्वाद का सिद्धान्त

प्रत्येक द्रव्य गुण-पर्यायात्मक है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है, सप्तभङ्गस्वरूप है। इस तरह द्रव्य में त्रिकाली अखण्ड स्वरूप और प्रत्येक समय में प्रवर्तमान अवस्था - ऐसे दो पहलू होते हैं। पुनरपि स्वयं स्व से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है। इसीलिए द्रव्य, गुण और पर्याय सब अनेकान्तात्मक[१] (अनेक धर्मरूप) हैं। अल्पज्ञ जीव किसी भी

१. अनेकान्त = अनेक + अन्त (धर्म) = अनेक धर्म।

पदार्थ का विचार क्रमपूर्वक करता है, परन्तु समस्त पदार्थ को एक साथ विचार में नहीं ले सकता, विचार में आनेवाले पदार्थ के भी एक पहलू का विचार कर सकता है और फिर दूसरे पहलू का विचार कर सकता है; इस प्रकार उसके विचार और कथन में क्रम पड़े बिना नहीं रहता। इसीलिए जिस समय त्रिकाली ध्रुव पहलू का विचार करे, तब दूसरे पहलू विचार के लिये स्थगित रहें; अत: जिसका विचार किया जावे, उसे मुख्य और जो विचार में बाकी रहें, उन्हें गौण किया जावे। इस प्रकार वस्तु के अनेकान्तस्वरूप का निर्णय करने में क्रम पड़ता है। इन अनेकान्तस्वरूप का कथन करने के लिये तथा उसे समझने के लिये उपरोक्त पद्धति ग्रहण करना, इसी का नाम 'स्याद्वाद' है और वह इस अध्याय के ३२वें सूत्र में बताया है। जिस समय जिस पहलू (अर्थात् धर्म) को ज्ञान में लिया जावे, उसे 'अर्पित' कहा जाता है और उसी समय जो पहलू अर्थात् धर्म ज्ञान में गौण रहे हों, वह 'अनर्पित' कहलाते हैं। इस तरह समस्त स्वरूप की सिद्धि-प्राप्ति-निश्चित-ज्ञान हो सकता है। उस निखिल पदार्थ के ज्ञान को प्रमाण और एक धर्म के ज्ञान को नय कहते हैं और 'स्यात् अस्ति-नास्ति' के भेदों द्वारा उसी पदार्थ के ज्ञान को 'सप्तभङ्गी' स्वरूप कहा जाता है।

(६) अस्तिकाय

छह द्रव्यों में से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल, ये पाँच अस्तिकाय हैं (सूत्र १, २, ३) और काल अस्ति है (सूत्र २, ३९) किन्तु काय-बहुप्रदेशी नहीं है (सूत्र १)

(७) जीव और पुद्गलद्रव्य की सिद्धि १-२

(१) 'जीव' एक पद हैं और इसीलिए वह जगत् की किसी वस्तु को-पदार्थ को बतलाता है, इसलिए अपने को यह विचार करना है कि वह क्या है ? इसके विचारने में अपने को एक मनुष्य का उदाहरण लेना चाहिए, जिससे विचार करने में सुगमता हो।

(२) हमने एक मनुष्य को देखा, वहाँ सर्वप्रथम हमारी दृष्टि उसके शरीर पर पड़ेगी तथा यह भी ज्ञात होगा कि वह मनुष्य ज्ञानसहित पदार्थ भी है। ऐसा जो निश्चित् किया कि शरीर है, वह इन्द्रियों से निश्चित किया, किन्तु उस मनुष्य के ज्ञान है, जो निश्चय किया, वह इन्द्रियों से निश्चित नहीं किया, क्योंकि अरूपी ज्ञान, इन्द्रियगम्य नहीं है, किन्तु उस मनुष्य के वचन या शरीर की चेष्टा पर से निश्चय किया गया है। उनमें से इन्द्रियों द्वारा शरीर का निश्चय किया, इस ज्ञान को अपन इन्द्रियजन्य कहते हैं और उस मनुष्य में ज्ञान होने का जो निश्चय किया, सो अनुमानजन्य ज्ञान है।

(३) इस प्रकार मनुष्य में हमें दो भेद मालूम हुए - १. इन्द्रियजन्य ज्ञान से शरीर, २. अनुमानजन्य ज्ञान से ज्ञान। फिर चाहे किसी मनुष्य के ज्ञान अल्पमात्रा में प्रगट हो या किसी के ज्यादा-विशेष ज्ञान प्रगट हो। हमें यह निश्चय करना चाहिए कि उन दोनों बातों के जानने पर वे दोनों एक ही पदार्थ के गुण हैं या भिन्न-भिन्न पदार्थों के वे गुण हैं ?

(४) जिस मनुष्य को हमने देखा, उसके सम्बन्ध में निम्न प्रकार से दृष्टान्त दिया जाता है -

(१) उस मनुष्य के हाथ में कुछ लगा और शरीर में से खून निकलने लगा।

(२) उस मनुष्य ने रक्त निकलता हुआ जाना और वह रक्त तुरन्त ही बन्द हो जाए तो ठीक, ऐसी तीव्र भावना भायी।

(३) किन्तु उसी समय रक्त ज्यादा निकलने लगा और कई उपाय किये, किन्तु उसके बन्द होने में बहुत समय लगा।

(४) रक्त बन्द होने के बाद हमें जल्दी आराम हो जाये, ऐसी उस मनुष्य ने निरन्तर भावना करना जारी रखी।

(५) किन्तु भावना के अनुसार परिणाम निकलने के बदले में वह भाग सड़ता गया।

(६) उस मनुष्य को शरीर में ममत्व के कारण बहुत दु:ख हुआ और उसे उस दु:ख का अनुभव भी हुआ।

(७) दूसरे सगे-सम्बन्धियों ने यह जाना कि उस मनुष्य को दु:ख होता है, किन्तु वे उस मनुष्य के दु:ख अनुभव का कुछ भी अंश न ले सके।

(८) अन्त में उसने हाथ के सड़े हुए भाग को कटवाया।

(९) वह हाथ कटा, तथापि उस मनुष्य का ज्ञान उतना ही रहा और विशेष अभ्यास से ज्यादा बढ़ गया और बाकी रहा हुआ शरीर बहुत कमजोर होता गया तथा वजन में भी घटता गया।

(१०) शरीर कमजोर हुआ, तथापि उसके ज्ञानाभ्यास के बल से धैर्य रहा और शान्ति बढ़ी।

५- हमें यह जानना चाहिए कि ये दस बातें क्या सिद्ध करती हैं ? मनुष्य में विचार शक्ति (Reasoning Faculty) है और वह तो प्रत्येक मनुष्य के अनुभवगम्य है। अब, विचार करने पर निम्न सिद्धान्त प्रगट होते हैं—

(१) शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु, ये दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, क्योंकि उस ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ने 'खून तत्क्षण ही बन्द हो जाय तो ठीक—ऐसी इच्छा की' तथापि खून बन्द नहीं हुआ; इतना ही नहीं, किन्तु इच्छा से विरुद्ध शरीर की और खून की अवस्था हुई। यदि शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों एक ही हों तो ऐसा न हो।

(२) यदि वह दोनों वस्तुएँ एक ही होती तो जब ज्ञान करनेवाले ने इच्छा की, उसी समय खून बन्द हो जाता।

(३) यदि वह दोनों एक ही वस्तु होती तो रक्त तुरन्त ही बन्द हो जाता, इतना ही नहीं किन्तु ऊपर नम्बर (४-५) में बताये गये माफिक भावना करने के कारण शरीर का वह भाग भी नहीं सड़ता, इसके विपरीत जिस समय इच्छा की, उस समय तुरन्त ही आराम हो जाता। किन्तु दोनों पृथक् होने से वैसा नहीं होता।

(४) ऊपर नम्बर (६-७) में जो हकीकत बतलायी गयी है, वह सिद्ध करती है कि जिसका हाथ सड़ा है, वह और उसके सगे-सम्बन्धी सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं। यदि वे एक ही होते तो वे उस मनुष्य का दु:ख एक होकर भोगते और वह मनुष्य अपने दु:ख का भाग उनको देता अथवा घनिष्ट सम्बन्धीजन उसका दु:ख लेकर वे स्वयं भोगते, किन्तु ऐसा नहीं बन सकता, अत: यह सिद्ध हुआ कि वे भी इस मनुष्य से भिन्न स्वतन्त्र ज्ञानरूप और शरीरसहित व्यक्ति हैं।

(५) ऊपर नम्बर (८-९) में जो विगत बतलायी है, उससे सिद्ध होता है कि शरीर संयोगी पदार्थ है; इसीलिए हाथ जितना भाग उसमें से अलग हो सका। यदि वह एक अखण्ड पदार्थ होता तो हाथ जितना टुकड़ा काटकर अलग नहीं किया जा सकता। पुनश्च वह यह सिद्ध करता है कि शरीर से ज्ञान स्वतन्त्र है क्योंकि शरीर का अमुक भाग कटाया, तथापि उतने प्रमाण में ज्ञान कम नहीं होता, किन्तु उतना ही रहता है और यद्यपि शरीर कमजोर होता जाए, तथापि ज्ञान बढ़ता जाता है अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि शरीर और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं।

(६) उपरोक्त नम्बर (१०) से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि ज्ञान बढ़ा तो भी वजन नहीं बढ़ा परन्तु ज्ञान के साथ सम्बन्ध रखनेवाले धैर्य, शान्ति आदि में वृद्धि हुई; यद्यपि शरीर वजन में घटा, तथापि ज्ञान में घटती नहीं हुई, इसलिए ज्ञान और शरीर ये दोनों भिन्न, स्वतन्त्र, विरोधी गुणवाले पदार्थ हैं। जैसे कि (अ) शरीर वजनसहित और ज्ञान वजनरहित है (ब)

शरीर घटा, ज्ञान बढ़ा, (क) शरीर का भाग कम हुआ, ज्ञान उतना ही रहा और फिर बढ़ा (ड) शरीर इन्द्रियगम्य है, संयोगी है और अलग हो सकता है, किसी दूसरी जगह उसका भाग अलग होकर रह सकता है; ज्ञानवस्तु इन्द्रियगम्य नहीं, किन्तु ज्ञानगम्य है, उसके टुकड़े या हिस्से नहीं हो सकते, क्योंकि वह असंयोगी है और सदा अपने द्रव्य-क्षेत्र (आकार) काल और भावों से अपने में अखण्डित रहता है और इसलिए उसका कोई भाग अलग होकर, अन्यत्र नहीं रह सकता तथा किसी को दे नहीं सकता; (इ) यह शरीर संयोगी पदार्थ से बना है, उसके टुकड़े / हिस्से हो सकते हैं, परन्तु ज्ञान नहीं मिलता; किसी संयोग से कोई अपना ज्ञान दूसरे को दे नहीं सकता, किन्तु अपने अभ्यास से ही ज्ञान बढ़ा सकनेवाला, असंयोगी और निज में से आनेवाला होने से ज्ञान स्व के ही-आत्मा के आश्रित रहनेवाला है।

(७) 'ज्ञान' गुणवाचक नाम है, वह गुणी के बिना नहीं होता; इसलिए ज्ञानगुण को धारण करनेवाली ऐसी एक वस्तु है। उसे जीव, आत्मा, सचेतन पदार्थ, चैतन्य इत्यादि नामों से पहिचाना जा सकता है। इस तरह जीव पदार्थ ज्ञानसहित, असंयोगी, अरूपी और अपने ही भावों का अपने में कर्ता-भोक्ता सिद्ध हुआ और उससे विरुद्ध शरीर ज्ञानरहित अजीव, संयोगी, रूपी पदार्थ सिद्ध हुआ; वह पुद्गल नाम से पहचाना जाता है। शरीर के अतिरिक्त जो-जो पदार्थ दृश्यमान होते हैं, वे सभी शरीर की तरह पुद्गल ही हैं और वे सब पुद्गल सदा अपने ही भावों के अपने में कर्ता-भोक्ता हैं, जीव से सदा भिन्न होने पर भी, अपना कार्य करने में सामर्थ्यवान हैं।

(८) पुनश्च ज्ञान का ज्ञानत्व कायम रहकर उसमें हानि-वृद्धि होती है। उस हानि-वृद्धि को ज्ञान की तारतम्यतारूप अवस्था कहा जाता है। शास्त्र की परिभाषा में उसे 'पर्याय' कहते हैं। जो नित्य ज्ञानत्व स्थिर रहता है, सो 'ज्ञानगुण' है।

(९) शरीर संयोगी सिद्ध हुआ; इसलिए वह वियोगसहित ही होता है। पुनश्च शरीर के छोटे-छोटे हिस्से करें तो कई हों और जलाने पर राख हो। इसीलिए यह सिद्ध हुआ कि शरीर अनेक रजकणों का पिण्ड है। जैसे जीव और ज्ञान, इन्द्रियगम्य नहीं किन्तु विचार (Reasoning) गम्य है; उसी तरह पुद्गलरूप अविभागी रजकण भी इन्द्रियगम्य नहीं, किन्तु ज्ञानगम्य है।

(१०) शरीर यह मूलवस्तु नहीं, किन्तु अनेक रजकणों का पिण्ड है और रजकण स्वतन्त्र वस्तु है अर्थात् असंयोगी पदार्थ है और स्वयं परिणमनशील है।

(११) जीव और रजकण असंयोगी हैं, अत: यह सिद्ध हुआ कि वे अनादि-अनन्त हैं; क्योंकि जो पदार्थ किसी संयोग से उत्पन्न न हुआ हो, उसका कदापि नाश भी नहीं होता।

(१२) शरीर एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु अनेक पदार्थों की संयोगी अवस्था है। अवस्था हमेशा प्रारम्भसहित ही होती है, इसलिए शरीर शुरुआत/प्रारम्भसहित है। वह संयोगी होने से वियोगी भी है।

६- जीव अनेक और अनादि-अनन्त हैं तथा रजकण अनेक और अनादि-अनन्त हैं। एक जीव किसी दूसरे जीव के साथ पिण्डरूप नहीं हो सकता, परन्तु स्पर्श के कारण रजकण पिण्डरूप होते हैं। अत: द्रव्य का लक्षण सत्, अनेक द्रव्य, रजकण, उसके स्कन्ध, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इत्यादि विषय इस अध्याय में कहे गये हैं, वे सिद्ध हुए।

७- इस तरह जीव और पुद्गल का पृथक्त्व तथा अनादि-अनन्तत्व सिद्ध होने पर पीछे लिखी लौकिक मान्यताएँ असत्य ठहरती हैं—

(१) अनेक रजकणों के एकमेरूप होने पर उनमें से नया जीव उत्पन्न होता है, यह मान्यता असत्य है, क्योंकि रजकण सदा ज्ञानरहित जड़ हैं, इसीलिए ज्ञानरहित कितने भी पदार्थों का संयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नहीं होता। जैसे अनेक अन्धकारों के एकत्रित करने पर उनमें से प्रकाश नहीं होता, उसी तरह अजीव में से जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

(२) ऐसी मान्यता असत्य है कि जीव का स्वरूप क्या है, वह अपने को मालूम नहीं होता—क्योंकि ज्ञान क्या नहीं जानता? ज्ञान की रुचि बढ़ाने पर आत्मा का स्वरूप बराबर जाना जा सकता है, इसलिए यह विचार से गम्य है (Reasoning-दलीलगम्य) है - ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

(३) कोई ऐसा मानते हैं कि जीव और शरीर ईश्वर ने बनाये, किन्तु यह मान्यता असत्य है, क्योंकि दोनों पदार्थ अनादि-अनन्त हैं। अनादि-अनन्त पदार्थों का कोई कर्ता हो ही नहीं सकता।

८- उपरोक्त पैरा ४ के पैरे में जो १०वाँ उप पैरा दिया है, उस पर से यह सिद्ध होता है कि जीव, शरीर का कुछ कर सकता है अथवा शरीर, जीव का कुछ कर सकता है - ऐसी मान्यता मिथ्या है। इस विषय का सिद्धान्त इस अध्याय के सूत्र ४१ की टीका में भी दिया है।

(८) उपादान-निमित्त सम्बन्धी सिद्धान्त

जीव, पुद्गल के अतिरिक्त दूसरे चार द्रव्यों की सिद्धि करने से पहले हमें उपादान-निमित्त के सिद्धान्त को और उसकी सिद्धि को समझ लेना आवश्यक है। उपादान अर्थात् वस्तु को सहजशक्ति-निजशक्ति और निमित्त का अर्थ है, संयोगरूप परवस्तु।

इसका दृष्टान्त - एक मनुष्य का नाम देवदत्त है; इसका अर्थ है कि देवदत्त स्वयं स्व से स्व-रूप है, किन्तु वह यज्ञदत्त इत्यादि किसी दूसरे पदार्थरूप नहीं है, ऐसा समझने से दो पदार्थ भिन्नरूप से सिद्ध होते हैं, १- देवदत्त स्वयं, २- यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ। देवदत्त का अस्तित्व सिद्ध करने में दो कारण हुए - १. देवदत्त स्वयं, २. यज्ञदत्त इत्यादि। दूसरे पदार्थ जो जगत् में सद्भावरूप हैं, किन्तु उनका देवदत्त में अभाव। इन दो कारणों में देवदत्त का स्वयं का अस्तित्व निजशक्ति होने से मूलकारण अर्थात् उपादानकारण है और जगत् के यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थों का अपने-अपने में सद्भाव और देवदत्त में अभाव, वह देवदत्त का अस्तित्व सिद्ध करने में निमित्तकारण है। यदि इस तरह न माना जाए और यज्ञदत्त आदि अन्य किसी पदार्थ का देवदत्त में सद्भाव माना जाए तो वह भी देवदत्त हो जायेगा। ऐसा होने से देवदत्त की स्वतन्त्र सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी।

पुनश्च, यदि यज्ञदत्त इतयादि दूसरे पदार्थों की सत्ता ही-सद्भाव ही माने तो देवदत्त का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक मनुष्य को दूसरे से भिन्न बताने के लिए उसे देवदत्त कहा; इसलिए देवदत्त की सत्तारूप में देवदत्त मूल उपादानकारण और जिससे उसे पृथक बतलाया वैसे अन्य पदार्थ, सो निमित्तकारण हैं - इससे ऐसा नियम भी सिद्ध हुआ कि निमित्तकारण उपादान के लिये अनुकूल होता है, किन्तु प्रतिकूल नहीं होता। देवदत्त के देवदत्तपने में परद्रव्य उसके अनुकूल हैं, क्योंकि वे देवदत्त नहीं होते। यदि वे देवदत्तरूप से हो जाएँ तो प्रतिकूल हो जाएँ और ऐसा होने पर दोनों का (देवदत्त और पर का) नाश हो जाए।

इस तरह दो सिद्धान्त निश्चित हुए - (१) प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की जो स्व से अस्ति है, सो उपादानकारण है और परद्रव्य-गुण-पर्याय की जो उसमें नास्ति है, सो निमित्तकारण है; निमित्तकारण तो मात्र आरोपित कारण है, यथार्थ कारण नहीं है तथा वह उपादानकारण को कुछ भी नहीं करता। जीव के उपादान में जिस जाति का भाव हो, उस भाव को अनुकूलरूप होने का निमित्त में आरोप किया जाता है। सामने सत् निमित्त हो, तथापि कोई जीव यदि विपरीत भाव करे तो उस जीव के विरुद्धभाव में भी उपस्थित वस्तु को

अनुकूल निमित्त बनाया–ऐसा कहा जाता है। जैसे कोई जीव तीर्थङ्कर भगवान के समवसरण में गया और दिव्यध्वनि में वस्तु का जो यथार्थस्वरूप कहा गया, वह सुना, परन्तु उस जीव के गले में बात नहीं उतरी अर्थात् स्वयं समझा नहीं, इसलिए वह विमुख हो गया, तो कहा जाता है कि उस जीव ने अपने विपरीत भाव के लिये भगवान की दिव्यध्वनि को अनुकूल निमित्त बनाया।

(९) उपरोक्त सिद्धान्त के आधार से जीव, पुद्गल के अतिरिक्त चार द्रव्यों की सिद्धि

दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों में चार बातें देखने में आती हैं – (१) ऐसा देखा जाता है कि वह पदार्थ ऊपर, नीचे, यहाँ, वहाँ हैं, (२) वही पदार्थ अभी, फिर, जब, तब, तभी से अभी तक– इस तरह देखा जाता है, (३) वही पदार्थ स्थिर, स्तब्ध, निश्चल इस तरह से देखा जाता है और (४) वही पदार्थ हिलता–डुलता, चञ्चल, अस्थिर देखा जाता है। यह चार बातें पदार्थों को देखने पर स्पष्ट समझ में आती हैं, तो भी इन विषयों द्वारा पदार्थों की किञ्चित् आकृति नहीं बदलती। उन–उन कार्यों का उपादानकारण तो वह प्रत्येक द्रव्य है, किन्तु उन चारों प्रकार की क्रिया भिन्न–भिन्न प्रकार की होने से उस क्रिया के सूचक निमित्तकारण पृथक् ही होते हैं।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना कि किसी पदार्थ में पहली, दूसरी और तीसरी अथवा पहली, दूसरी और चौथी बातें एक साथ देखी जाती है। किन्तु तीसरी, चौथी और पहली अथवा तीसरी, चौथी और दूसरी, यह बातें कभी एक साथ नहीं होतीं।

अब, हमें एक–एक के बारे में क्रमशः देखना चाहिए।

अ. आकाश की सिद्धि –३

जगत की प्रत्येक वस्तु का अपना क्षेत्र होता है अर्थात् उसे लम्बाई–चौड़ाई होती है, यानि उसे अपना अवगाहन होता है। वह अवगाहन अपना उपादानकारण हुआ और उसमें निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु होती है।

निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसके साथ उपादान वस्तु अवगाहन में एकरूप न हो जाए। उपादान स्वयं अवगाहनरूप है, तथापि अवगाहन में जो परद्रव्य निमित्त है, उससे वह विभिन्नरूप में कायम रहे, अर्थात् परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य स्व–स्व के अवगाहन में ही है।

पुनश्च, वह वस्तु जगत के समस्त पदार्थों को एक साथ निमित्तकारण चाहिए, क्योंकि जगत के समस्त पदार्थ अनादि हैं और सभी के अपना-अपना क्षेत्र है, वह उसका अवगाहन है। अवगाहन में निमित्त होनेवाली वस्तु समस्त अवगाहन लेनेवाले द्रव्यों से बड़ी चाहिए। जगत में ऐसी एक वस्तु अवगाहन में निमित्तकारणरूप है, उसे 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है।

और फिर जगत में सूक्ष्म, स्थूल—ऐसे दो प्रकार के तथा रूपी और अरूपी—ऐसे दो प्रकार के पदार्थ हैं। उन उपादानरूप पदार्थों के निमित्तरूप से अनुकूल कोई परद्रव्य होना चाहिए और उसका उपादान में अभाव चाहिए और फिर अबाधित अवगाहन देनेवाला पदार्थ अरूपी ही हो सकता है। इस तरह आकाश एक, सर्व व्यापक, सबसे बड़ा, अरूपी और अनादि द्रव्यरूप सिद्ध होता है।

यदि आकाशद्रव्य को न माना जाए तो द्रव्य में स्वक्षेत्रत्व नहीं रहेगा और ऊपर-नीचे, यहाँ-वहाँ ऐसा निमित्त का ज्ञान करानेवाला स्थान नहीं रहेगा। अल्पज्ञानवाले मनुष्य को निमित्त द्वारा ज्ञान कराये बिना वह उपादान और निमित्त दोनों का यथार्थ ज्ञान नहीं कर सकता, इतना ही नहीं किन्तु यदि उपादान को न मानें तो निमित्त को भी नहीं मान सकेंगे और निमित्त को न मानें तो वह उपादान को नहीं मान सकेंगे। दोनों को यथार्थरूप से माने बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस तरह उपादान और निमित्त दोनों को शून्यरूप से अर्थात् नहीं होनेरूप से मानना पड़ेगा और इस तरह समस्त पदार्थों को शून्यत्व प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा बन ही नहीं सकता।

ब. काल की सिद्धि - ४

द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्थारूप से होता है, उसे वर्तना कहते हैं। इस वर्तना में उस वस्तु की निजशक्ति उपादानकारण है, क्योंकि यदि निज में वह शक्ति न हो तो स्वयं न परिणमे। पहिले यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्य के लिये दो कारण स्वतन्त्ररूप से होते हैं; इसीलिए निमित्तकारण संयोगरूप से होना चाहिए। अतः उस वर्तना में निमित्तकारण एक वस्तु है, उस वस्तु को 'कालद्रव्य' कहा जाता है और फिर निमित्त अनुकूल होता है। सबसे छोटा द्रव्य एक रजकण है, इसलिए उसे निमित्तकारण भी एक रजकण बराबर चाहिए; अतः यह सिद्ध हुआ कि कालाणु एकप्रदेशी है।

प्रश्न - यदि कालद्रव्य को अणुप्रमाण न मानें और बड़ा मानें तो क्या दोष लगेगा?

उत्तर - उस अणु के परिणमन होने में छोटे से छोटा समय न लगकर अधिक समय

लगेगा और परिणमनशक्ति के अधिक समय लगेगा तो निज-शक्ति न कहलायेगी। पुनश्च अल्प से अल्प काल एक समय जितना न होने से कालद्रव्य बड़ा हो तो उसकी पर्याय बड़ी होगी। इस तरह दो समय, दो घण्टे, क्रमशः न होकर एक साथ होंगे जो बन नहीं सकते। एक-एक समय करके काल को बड़ा मानें तो ठीक है, किन्तु एक साथ लम्बा काल (अधिक समय) नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो किसी भी समय की गिनती न हो सके।

प्रश्न - यह सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य एकप्रदेशी है, उससे बड़ा नहीं, परन्तु ऐसा किसलिए मानना कि कालाणु समस्त लोक में हैं ?

उत्तर - जगत में आकाश के एक-एक प्रदेश पर अनेक पुद्गल परमाणु और उतने ही क्षेत्र को रोकनेवाले सूक्ष्म अनेक पुद्गल स्कन्ध हैं और उनके परिणमन में निमित्तकारण प्रत्येक आकाश के प्रदेश में एक-एक कालाणु होना सिद्ध होता है।

प्रश्न - एक आकाश के प्रदेश में अधिक कालाणु स्कन्धरूप मानने में क्या विरोध आता है ?

उत्तर - जिसमें स्पर्श गुण हो, उसी में स्कन्धरूप बन्ध होता है और वह तो पुद्गलद्रव्य है। कालाणु, पुद्गल द्रव्य नहीं, अरूपी है; इसलिए उसका स्कन्ध ही नहीं होता।

क. अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकाय की सिद्धि ५-६

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में क्रियावतीशक्ति होने से उनके हलन-चलन होता है, किन्तु वह हलन-चलनरूप क्रिया निरन्तर नहीं होती। वे किसी समय स्थिर होते और किसी समय गतिरूप होते हैं, क्योंकि स्थिरता या हलन-चलनरूप क्रिया गुण नहीं है, किन्तु क्रियावती -शक्ति की पर्याय है। उस क्रियावतीशक्ति की स्थिरतारूप परिणमन का मूलकारण द्रव्य स्वयं है, उसका निमित्तकारण उससे अन्य चाहिए। यह पहले बताया गया है कि जगत में निमित्तकारण होता ही है। इसीलिए जो स्थिरतारूप परिणमन का निमित्तकारण है, उस द्रव्य को अधर्मद्रव्य कहते हैं। क्रियावतीशक्ति के हलन-चलनरूप परिणमन का मूलकारण द्रव्य स्वयं है और हलन-चलन में जो निमित्त है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। हलन-चलन का निमित्तकारण अधर्मद्रव्य से विपरीत चाहिए और वह धर्मद्रव्य है।

(१०) इन छह द्रव्यों के एक ही जगह होने की सिद्धि

हमने पहले जीव-पुद्गल की सिद्धि करने में मनुष्य का दृष्टान्त लिया था, उस पर से यह सिद्धि सरल होगी।

(१) जीव ज्ञानगुण धारक पदार्थ है।

(२) यह शरीर यह सिद्ध करता है कि शरीर संयोगी, जड़, रूपी पदार्थ है, यह भी उसी जगह है, इसका मूल अनादि-अनन्त पुद्गलद्रव्य है।

(३) वह मनुष्य आकाश के किसी भाग में हमेशा होता है, इसीलिए उसी स्थान पर आकाश भी है।

(४) उस मनुष्य की एक अवस्था दूर होकर दूसरी अवस्था होती है। इस अपेक्षा से उसी स्थान पर कालद्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

(५) उस मनुष्य के जीव के असंख्यात प्रदेश में समय-समय पर एक क्षेत्रावगाहरूप से नोकर्म वर्गणाएँ और नवीन-नवीन कर्म बँधकर वहाँ स्थिर होते हैं, इस दृष्टि से उसी स्थान पर अधर्मद्रव्य की सिद्धि होती है।

(६) उस मनुष्य के जीव की असंख्यात प्रदेश के साथ प्रतिसमय अनेक परमाणु आते -जाते हैं, इस दृष्टि से उसी स्थान पर धर्मद्रव्य की सिद्धि होती है।

इस तरह छहों द्रव्यों का एक क्षेत्र में अस्तित्व सिद्ध हुआ।

(११) अन्य प्रकार से छह द्रव्यों के अस्तित्व की सिद्धि

१-२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य

जो स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसे शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकड़ी इत्यादि में ज्ञान नहीं है अर्थात् वे अजीव हैं; इन पदार्थों को तो अज्ञानी भी देखता है। उन पदार्थों में वृद्धि-ह्रास होता रहता है अर्थात् वे मिल जाते हैं और बिछुड़ जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों को पुद्गल कहा जाता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये पुद्गलद्रव्य के गुण हैं; इसीलिए पुद्गल द्रव्य काला-सफेद, सुगन्ध-दुर्गन्ध, खट्टा-मीठा, हल्का-भारी, इत्यादिरूप से जाना जाता है, यह सब पुद्गल की ही अवस्थाएँ हैं। जीव तो काला-सफेद, सुगन्धित-दुर्गन्धित, इत्यादिरूप से नहीं है, जीव तो ज्ञानवाला है। शब्द सुनाई देता है या बोला जाता है, वह भी पुद्गल की ही हालत है। उन पुद्गलों से जीव अलग है। जगत में किसी अचेत मनुष्य को देखकर कहा जाता है कि इसका चेतन कहाँ चला गया? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है, वह तो जानता नहीं, किन्तु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया? अर्थात् जीव कहाँ गया? इसमें जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की सिद्धि हुई।

३- **आकाशद्रव्य**—लोग अव्यक्तरूप से यह तो स्वीकार करते हैं कि 'आकाश' नाम का द्रव्य है। दस्तावेजों में ऐसा लिखते हैं कि 'अमुक मकान इत्यादि स्थान का आकाश से पाताल पर्यन्त हमारा हक है' अर्थात् यह निश्चय हुआ कि आकाश से पातालरूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाश से पाताल पर्यन्त कोई वस्तु ही न हो तो ऐसा क्यों लिखा जाता है कि 'आकाश से पाताल तक का हक (दावा) है ?' वस्तु है, इसलिए उसका हक माना जाता है। आकाश से पाताल तक अर्थात् सर्वव्यापी रही हुई वस्तु को 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञान रहित और अरूपी है, उसमें रङ्ग, रस वगैरह नहीं है।

४- **कालद्रव्य**—जीव, पुद्गल और आकाशद्रव्य को सिद्ध किया; अब यह सिद्ध किया जाता है कि 'काल' नाम की एक वस्तु है। लोग दस्तावेज कराते और उसमें लिखाते हैं कि 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ अर्थात् जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे, तब तक हमारा हक है।' इसमें कालद्रव्य को स्वीकार किया। इसी समय ही हक है, ऐसा नहीं, किन्तु काल जैसा बढ़ता जाता है, उस समस्त काल में हमारा हक है; इस प्रकार काल को स्वीकार करता है। 'हमारा वैभव भविष्य में ऐसा ही बना रहे' - इस भावना में भी भविष्यत काल को भी स्वीकार किया, और फिर ऐसा कहते हैं कि हम तो सात पैढ़ी से सुखी हैं, वहाँ भी भूतकाल स्वीकार करता है। भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल, ये समस्त भेद निश्चय कालद्रव्य की व्यवहार पर्याय के हैं। यह कालद्रव्य भी अरूपी हैं और उसमें ज्ञान नहीं है।

इस तरह जीव, पुद्गल, आकाश और कालद्रव्य की सिद्धि हुई। अब धर्म और अधर्म, ये दो द्रव्य शेष रहे।

५- **धर्मद्रव्य**—जीव इस धर्मद्रव्य को भी अव्यक्तरूप से स्वीकार करता है। छहों द्रव्यों के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आना, जाना, रहना, इत्यादि सभी में छहों द्रव्यों की अस्ति सिद्ध हो जाती है। चार द्रव्य तो सिद्ध हो चुके हैं, अब बाकी के दो द्रव्य सिद्ध करना है। यह कहने में धर्मद्रव्य सिद्ध हो जाता है कि 'एक ग्राम से दूसरे ग्राम आया।' एक ग्राम से दूसरे ग्राम आया, इसका क्या अर्थ है ? यानि जीव और शरीर के परमाणुओं की गति हुई, एक क्षेत्र से दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलने के कार्य में किस द्रव्य को निमित्त कहेंगे ? क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्तकारण होते ही हैं। यह विचार करते हैं कि जीव और पुद्गलों को एक ग्राम से दूसरे ग्राम आने में निमित्त कौनसा द्रव्य है ? प्रथम तो 'जीव और पुद्गल, ये उपादान हैं' उपादान

स्वयं निमित्त नहीं कहलाता। निमित्त तो उपादान से भिन्न होता है, इसलिए जीव या पुद्गल, ये क्षेत्रान्तर के निमित्त नहीं हैं। कालद्रव्य तो परिणमन में निमित्त है अर्थात् पर्याय बदलने में निमित्त है किन्तु कालद्रव्य क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं है; आकाशद्रव्य समस्त द्रव्यों को रहने के लिए स्थान देता है। जब ये पहले क्षेत्र में थे, तब भी जीव और पुद्गलों को आकाश निमित्त था और दूसरे क्षेत्र में भी वही निमित्त है, इसलिए आकाश को भी क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं कह सकते। तो फिर यह निश्चित होता है कि क्षेत्रान्तररूप जो कार्य हुआ, उसका निमित्त इन चार द्रव्यों के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करने में कोई एक द्रव्य निमित्तरूप से है, किन्तु कौन सा द्रव्य है, इसका जीव ने कभी विचार नहीं किया, इसीलिए उसकी खबर नहीं है। क्षेत्रान्तर होने में निमित्तरूप जो द्रव्य है, उस द्रव्य को 'धर्मद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञानरहित है।

६- **अधर्मद्रव्य**—जिस तरह गति करने में धर्मद्रव्य निमित्त है, उसी तरह स्थिति में उससे विरुद्ध अधर्म-द्रव्य निमित्तरूप है। 'एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आकर स्थिर रहा' यहाँ स्थिर रहने में निमित्त कौन है? आकाश स्थिर रहने में निमित्त नहीं है; क्योंकि आकाश का निमित्त तो रहने के लिये है, गति के समय भी रहने में आकाश निमित्त था, इसीलिए स्थिति का निमित्त कोई अन्य द्रव्य चाहिए, वह द्रव्य 'अधर्मद्रव्य' हैं। यह भी अरूपी और ज्ञानरहित है।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों की सिद्धि की। इन छह के अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य है ही नहीं, और इन छह में से एक भी न्यून नहीं है, बराबर छह ही द्रव्य हैं और ऐसा मानने से ही यथार्थ वस्तु की सिद्धि होती है। यदि इन छह के अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य हो तो यह बताओ कि उसका क्या कार्य है? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इन छह से बाहर हो, इसलिए सातवाँ द्रव्य नहीं है। यदि इन छह द्रव्यों में से एक भी कम हो तो यह बताओ कि उसका कार्य कौन करेगा? छह द्रव्यों में से एक भी द्रव्य ऐसा नहीं कि जिसके बिना विश्व का नियम चल सके।

छह द्रव्य सम्बन्धी कुछ जानकारी

१- **जीव** - इस जगत में अनन्त जीव हैं। ज्ञातृत्व चिह्न के (विशेष गुण के) द्वारा जीव पहचाना जाता है। क्योंकि जीव के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में ज्ञातृत्व नहीं है। जीव अनन्त हैं, वे सभी एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। सदैव जाननेवाले हैं।

२- **पुद्गल** - इस जगत में अनन्तानन्त पुद्गल हैं। वह अचेतन हैं। स्पर्श, रस, गन्ध

और वर्ण के द्वारा पुद्गल पहचाना जाता है, क्योंकि पुद्गल के सिवाय अन्य किसी पदार्थ में स्पर्श, रस, गन्ध या वर्ण नहीं है। जो इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं, वे सब पुद्गल के बने हुए स्कन्ध है।

३- **धर्म** - यहाँ धर्म कहने से आत्मा का धर्म नहींए किन्तु 'धर्म' नाम का द्रव्य समझना चाहिए। यह द्रव्य एक अखण्ड और समस्त लोक में व्याप्त है। जीव और पुद्गलों के गमन करते समय यह द्रव्य निमित्तरूप से पहचाना जाता है।

४- **अधर्म** - यहाँ अधर्म कहने से आत्मा का दोष नहीं, किन्तु अधर्म नाम का द्रव्य समझना चाहिए। यह एक अखण्ड द्रव्य है, जो समस्त लोक में व्याप्त है। जीव और पुद्गल गमन करके जब स्थिर होते हैं, तब यह द्रव्य निमित्तरूप से जाना जाता है।

५- **आकाश** - यह एक अखण्ड सर्वव्यापक द्रव्य है। समस्त पदार्थों को स्थान देने में यह द्रव्य निमित्तरूप से पहचाना जाता है। इस द्रव्य के जितने भाग में अन्य पाँचों द्रव्य रहते हैं, उतने भाग को 'लोकाकाश' कहा जाता है और जितना भाग अन्य पाँचों द्रव्यों से रिक्त है, उसे 'अलोकाकाश' कहा जाता है। खाली स्थान का अर्थ होता है, 'अकेला आकाश।'

६- **काल** - असंख्य कालद्रव्य हैं। इस लोक के असंख्य प्रदेश हैं; उस प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य रहा हुआ है। असंख्य कालाणु हैं, वे सब एक दूसरे से अलग हैं। वस्तु के रूपान्तर (परिवर्तन) होने में यह द्रव्य निमित्तरूप से जाने जाते हैं। [जीवद्रव्य के अतिरिक्त यह पाँचों द्रव्य सदा अचेतन हैं, उनमें ज्ञान, सुख या दुःख कभी नहीं हैं।]

इन छह द्रव्यों को सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। सर्वज्ञदेव ने इन छह द्रव्यों को जाना है और उन्हीं ने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है; इसीलिए सर्वज्ञ के सत्यमार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी मत में छह द्रव्यों का स्वरूप हो ही नहीं सकता; क्योंकि दूसरे अपूर्ण (अल्पज्ञ) जीव उन द्रव्यों को नहीं जान सकते; इसलिए छह द्रव्यों के स्वरूप की यथार्थ प्रतीति करना चाहिए।

टोपी के दृष्टान्त से छह द्रव्यों की सिद्धि

(१) देखो, यह कपड़े की टोपी है, यह अनन्त परमाणुओं से मिलकर बनी है और इसके फट जाने पर परमाणु अलग हो जाते हैं। इस तरह मिलना और बिछुड़ना पुद्गल का स्वभाव है। पुनश्च यह टोपी सफेद है, दूसरी कोई काली, लाल आदि रङ्ग की भी टोपी होती हैं; रङ्ग, पुद्गलद्रव्य का चिह्न है, इसलिए जो दृष्टिगोचर होता है, वह पुद्गलद्रव्य है।

(२) 'यह टोपी है, पुस्तक नहीं' ऐसा जाननेवाला ज्ञान है और ज्ञान जीव का चिह्न है, अत: जीव भी सिद्ध हुआ।

(३) अब यह विचारना चाहिए कि टोपी कहाँ रही हुई है ? यद्यपि निश्चय से तो टोपी, टोपी में ही है, किन्तु टोपी, टोपी में ही है, यह कहने से टोपी का बराबर ख्याल नहीं आ सकता, इसलिए निमित्तरूप से यह पहचान कराई जाती है कि 'अमुक स्थान में टोपी रही हुई है।' जो स्थान कहा जाता है, वह आकाशद्रव्य का अमुक भाग है, अत: आकाशद्रव्य सिद्ध हुआ।

(४) अब यह टोपी दुहरी मुड़ जाती है, जब टोपी सीधी थी, तब आकाश में थी और जब मुड़ गयी, तब भी आकाश में ही है, अत: आकाश के निमित्त द्वारा टोपी का दुहरापन नहीं जाना जा सकता। तो फिर टोपी की दुहरे होने की क्रिया हुई अर्थात् पहले उसका क्षेत्र लम्बा था, अब वह थोड़े क्षेत्र में रही हुई है - इस तरह टोपी क्षेत्रान्तर हुई है और क्षेत्रान्तर होने में जो वस्तु निमित्त है, वह धर्मद्रव्य है।

(५) अब टोपी टेढ़ी-मेढ़ी स्थिर पड़ी है, तो यहाँ स्थिर होने में उसे निमित्त कौन है ? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान देने में निमित्त है। टोपी चले या स्थिर रहे, इसमें आकाश का निमित्त नहीं है। जब टोपी ने सीधी दशा में से टेढ़ी अवस्थारूप होने के लिये गमन किया, तब धर्मद्रव्य का निमित्त था, तो अब स्थिर रहने की क्रिया में उसके विरुद्ध निमित्त चाहिए। गति में धर्मद्रव्य निमित्त था, तो अब स्थिर रहने में अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है।

(६) टोपी पहले सीधी थी, इस समय टेढ़ी है और वह अमुक समय तक रहेगी - ऐसा जाना, वहाँ 'काल' सिद्ध हो गया। भूत, वर्तमान, भविष्य अथवा पुराना-नया, दिवस घण्टा इत्यादि जो भेद होते हैं, वे भेद किसी एक मूलवस्तु के बिना नहीं हो सकते, अत: भेद-पर्यायरूप व्यवहारकाल का आधार-कारण-निश्चय कालद्रव्य सिद्ध हुआ। इस तरह टोपी पर से छह द्रव्य सिद्ध हुए।

इन छह द्रव्यों में से एक भी द्रव्य न हो तो जगत् का व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल न हो तो टोपी ही न हो। यदि जीव न हो तो टोपी के अस्तित्व का निश्चय कौन करे ? यदि आकाश न हो तो यह पहचान नहीं हो सकती कि टोपी कहाँ है ? यदि धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो टोपी में हुआ फेरफार (क्षेत्रान्तर और स्थिरता) मालूम नहीं हो सकता और यदि कालद्रव्य न हो तो पहले जो टोपी सीधी थी, वह इस समय टेढ़ी है, ऐसा पहले और पीछे टोपी का अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता, अत: टोपी को सिद्ध करने के लिए

छहों द्रव्यों को स्वीकार करना पड़ता है। जगत की किसी भी एक वस्तु को स्वीकार करने से व्यक्तरूप से या अव्यक्तरूप से छहों द्रव्यों का स्वीकार हो जाता है।

मनुष्य-शरीर के दृष्टान्त से छह द्रव्यों की सिद्धि

(१-२) यह शरीर जो दृष्टिगोचर होता है, यह पुद्गल का बना हुआ है और शरीर में जीव रहा हुआ है। यद्यपि जीव और पुद्गल एक आकाश की जगह में रहते हैं, तथापि दोनों पृथक् हैं। जीव का स्वभाव जानने का है और पुद्गल का यह शरीर कुछ जानता नहीं। शरीर का कोई भाग कट जाने पर भी जीव का ज्ञान नहीं कट जाता, जीव पूर्ण ही रहता है, क्योंकि शरीर और जीव सदा पृथक् ही हैं। दोनों का स्वरूप पृथक् है और दोनों का काम पृथक् ही है। यह जीव और पुद्गल तो स्पष्ट हैं। (३) जीव और शरीर कहाँ रह रहे हैं? अमुक ठिकाने, पाँच फुट जगह में, दो फुट जगह में रह रहे हैं, अत: 'जगह' कहने से आकाशद्रव्य सिद्ध हुआ।

यह ध्यान रहे कि यह जो कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाश में रहे हुए हैं, वहाँ यथार्थ में जीव, शरीर और आकाश तीनों स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् ही हैं, कोई एक दूसरे के स्वरूप में नहीं घुस गया। जीव तो ज्ञानत्वस्वरूप से ही रहा है, रङ्ग, गन्ध इत्यादि शरीर में ही हैं, वे जीव या आकाश आदि किसी में नहीं हैं। आकाश में वर्ण-गन्ध इत्यादि नहीं है तथा ज्ञान भी नहीं, वह अरूपी-अचेतन है; जीव में ज्ञान है किन्तु वर्ण-गन्ध इत्यादि नहीं, अर्थात् वह अरूपी चेतन है, पुद्गल में वर्ण-गन्ध इत्यादि हैं, किन्तु ज्ञान नहीं अर्थात् वह रूपी-अचेतन हैं। इस तरह तीनों द्रव्य एक दूसरे से भिन्न-स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र होने से कोई दूसरी वस्तु किसी का कुछ नहीं कर सकती, यदि एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ कुछ करता हो तो वस्तु को स्वतन्त्र कैसे कहा जायेगा?

(४) जीव, पुद्गल और आकाश निश्चित किये, अब काल का निश्चय करते हैं। ऐसा पूछा जाता है कि 'तुम्हारी आयु कितनी है?' (यहाँ 'तुम्हारी' अर्थात् शरीर के संयोगरूप आयु की बात समझना) शरीर की उम्र ४०-५० वर्ष आदि कही जाती है और जीव अनादि-अनन्त अस्तिरूप से है। यह कहा जाता है कि यह मेरी अपेक्षा पाँच वर्ष छोटा है, यह पाँच वर्ष बड़ा है, यहाँ शरीर के कद से छोटे-बड़ेपन की बात नहीं है, किन्तु काल की अपेक्षा से छोटे-बड़पेन की बात है। यदि कालद्रव्य की अपेक्षा न लें तो यह नहीं कह सकते कि यह छोटा, यह बड़ा, यह बालक, यह युवा या वह वृद्ध है। पुरानी-नई अवस्था बदलती रहती है, इसी पर से कालद्रव्य का अस्तित्व निश्चित होता है।

कहीं जीव और शरीर स्थिर होता है और कहीं गति करता है। स्थिर होते समय तथा गमन करते समय दोनों समय वह आकाश में ही है, अर्थात् आकाश पर से उसका गमन या स्थिर रहनेरूप निश्चित नहीं हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहनेरूप दशा, इन दोनों की पृथक्-पृथक् पहचान करने के लिए उन दोनों दशा में भिन्न-भिन्न निमित्तरूप ऐसे दो द्रव्यों को पहचानना होगा। धर्मद्रव्य के निमित्त द्वारा जीव-पुद्गल का गमन पहचाना जा सकता है और अधर्मद्रव्य के निमित्त द्वारा स्थिरता पहचानी जा सकती है। यदि ये धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो गमन और स्थिरता के भेद को नहीं जाना जा सकता।

यद्यपि धर्म-अधर्मद्रव्य, जीव-पुद्गल को कहीं गति या स्थिति करने में मदद नहीं करते हैं, परन्तु एक द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य की अपेक्षा बिना पहचाना नहीं जा सकता। जीव के भाव को पहचानने के लिए अजीव की अपेक्षा की जाती है। जो जाने, सो जीव-ऐसा कहने से ही 'ज्ञानत्व से रहित जो अन्य द्रव्य हैं, वे जीव नहीं हैं' इस प्रकार अजीव की अपेक्षा आ जाती है व ऐसा बताने पर आकाश की अपेक्षा हो जाती है कि 'जीव अमुक जगह है।' इस प्रकार छहों द्रव्यों में समझ लेना। एक आत्मद्रव्य का निर्णय करने पर छहों द्रव्य मालूम होते हैं; यह ज्ञान की विशालता है और इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वद्रव्यों को जान लेने का ज्ञान का स्वभाव है। एक द्रव्य को सिद्ध करने से छहों द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं; इसमें द्रव्य की पराधीनता नहीं है; परन्तु ज्ञान की महिमा है। जो पदार्थ होता है, वह ज्ञान में अवश्य जाना जाता है। पूर्ण ज्ञान में जितना जाना जाता है, इस जगत में उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। पूर्ण ज्ञान में छह द्रव्य बतलाये हैं, छह द्रव्य से अधिक अन्य कुछ नहीं है।

कर्मों के कथन से छहों द्रव्यों की सिद्धि

कर्म पुद्गल की अवस्था है; जीव के विकारीभाव के निमित्त से वह जीव के साथ रहे हुए हैं; कितनेक कर्म बन्धरूप से स्थिर हुए हैं, उनको अधर्मास्तिकाय का निमित्त है; प्रतिक्षण कर्म उदय में आकर झड़ जाते हैं, झड़ जाने में क्षेत्रान्तर भी होता है, उसे धर्मास्तिकाय का निमित्त है। यह कहा जाता है कि कर्म की स्थिति ७० कोडाकोड़ी सागर और कम से कम अन्तर्मुहूर्त की है, इसमें कालद्रव्य की अपेक्षा हो जाती है; बहुत से कर्म-परमाणु एक क्षेत्र में रहते हैं, इसमें आकाशद्रव्य की अपेक्षा है। इस तरह छह द्रव्य सिद्ध हुए।

द्रव्यों की स्वतन्त्रता

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य (कर्म) दोनों एकदम

पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं और दोनों अपने-अपने में स्वतन्त्र हैं, कोई एक-दूसरे का कुछ भी नहीं करते। यदि जीव और कर्म एक हो जाएँ, तो इस जगत् में छह द्रव्य ही नहीं रह सकते। जीव और कर्म सदा पृथक् ही हैं। द्रव्यों का स्वभाव अपने अमर्यादित अनन्त गुणों में अनादि-अनन्त रहकर प्रतिसमय बदलने का है। सभी द्रव्य अपनी शक्ति से स्वतन्त्ररूप से अनादि-अनन्त रहकर स्वयं अपनी अवस्था बदलते हैं। जीव की अवस्था जीव बदलता है, पुद्गल की हालत पुद्गल बदलता है। पुद्गल का जीव कुछ नहीं करता और न पुद्गल, जीव का कुछ करता है। व्यवहार से भी किसी का परद्रव्य में कर्तापना नहीं है। 'घी का घड़ा' के समान व्यवहार से कर्तापने का कथन होता है, जो सत्यार्थ नहीं है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव

द्रव्य का और द्रव्य की अवस्थाओं का कोई कर्ता नहीं है। यदि कोई कर्ता हो तो उसने द्रव्यों को किस तरह बनाया? किसमें से बनाया? वह कर्ता स्वयं किसका बना? जगत् में छहों द्रव्य स्व-स्वभाव से ही हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति ही नहीं होती। किसी भी प्रयोग से नये जीव की या नये परमाणु की उत्पत्ति नहीं हो सकती; किन्तु जैसा पदार्थ हो, वैसा ही रहकर उनमें अपनी अवस्थाओं का रूपान्तर होता है। यदि द्रव्य हो तो उसका नाश नहीं होता, जो द्रव्य नहीं, वह उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य होता है, वह स्वशक्ति से प्रतिक्षण अपनी अवस्था बदलता ही रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धान्त को उत्पाद-व्यय-ध्रुव अर्थात् नित्य रहकर बदलना कहा जाता है।

द्रव्य को कोई बनानेवाला नहीं है, इसलिए सातवाँ कोई नया द्रव्य नहीं हो सकता और किसी द्रव्य का कोई नाश करनेवाला नहीं है; इसलिए छह द्रव्यों से कभी कमी नहीं होती। शाश्वतरूप से छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवान ने सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा छह द्रव्य जाने और वही उपदेश में दिव्यध्वनि द्वारा निरूपित किये। सर्वज्ञ वीतरागदेव प्रणीत परम सत्यमार्ग के अतिरिक्त इन छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

द्रव्य की शक्ति (गुण)

द्रव्य की विशिष्ट शक्ति (चिह्न, विशेष गुण) पहले संक्षिप्तरूप में कही जा चुकी है, एक द्रव्य की जो विशिष्ट शक्ति है, वह अन्य द्रव्य में नहीं होती। इसीलिए विशिष्ट शक्ति के द्वारा द्रव्य को पहचाना जा सकता है। जैसे कि ज्ञान जीवद्रव्य की विशिष्ट शक्ति है। जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में ज्ञान नहीं है, इसीलिए ज्ञानशक्ति के द्वारा जीव पहचाना जा सकता है।

यहाँ अब द्रव्यों की सामान्य शक्ति सम्बन्धी कुछ कथन किये जाते हैं। जो शक्ति सभी द्रव्यों में हो, उसे सामान्य शक्ति कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये मुख्य सामान्य ६ गुण हैं, ये सभी द्रव्यों में हैं।

१- अस्तित्वगुण के कारण द्रव्य के अस्तिरूप का कभी नाश नहीं होता। ऐसा नहीं है कि द्रव्य अमुक काल के लिये है और फिर नष्ट हो जाता है; द्रव्य नित्य कायम रहनेवाले हैं। यदि अस्तित्वगुण न हो तो वस्तु ही नहीं हो सकती और वस्तु ही न हो तो समझाना किसको?

२- वस्तुत्वगुण के कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। जैसे घड़ा पानी को धारण करता है, उसी तरह द्रव्य स्वयं ही अपने गुण-पर्यायों का प्रयोजनभूत कार्य करता है। एक द्रव्य किसी प्रकार किसी दूसरे का कार्य नहीं करता ओर न कर सकता है।

३- द्रव्यत्वगुण के कारण द्रव्य निरन्तर एक अवस्था में से दूसरी अवस्था में द्रवा करता है - परिणमन किया करता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तिरूप है, तथापि वह सदा एक सदृश (कूटस्थ) नहीं है; परन्तु निरन्तर नित्य बदलनेवाला-परिणामी है। यदि द्रव्य में परिणमन न हो तो जीव के संसारदशा का नाश होकर मोक्षदशा की उत्पत्ति कैसे हो? शरीर को बाल्यदशा में से युवकदशा कैसे हो? छहों द्रव्यों में द्रव्यत्वशक्ति होने से सभी स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी पर्याय में परिणम रहे हैं, कोई द्रव्य अपनी पर्याय परिणमाने के लिए दूसरे द्रव्य की सहायता या अपेक्षा नहीं रखता है।

४- प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य ज्ञात होते हैं। छहों द्रव्यों में इस प्रमेयशक्ति के होने से ज्ञान छहों द्रव्य के स्वरूप का निर्णय कर सकता है। यदि वस्तु में प्रमेयत्वगुण न हो तो वह स्वयं को किस तरह बतला सकता है कि 'यह वस्तु है।' जगत का कोई पदार्थ ज्ञान-अगोचर नहीं है; आत्मा में प्रमेयत्वगुण होने से आत्मा स्वयं निज को जान सकता है।

५- अगुरुलघुत्वगुण के कारण प्रत्येक वस्तु निज-निज स्वरूप से ही कायम रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणुरूप नहीं हो जाता; परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नहीं हो जाता; जड़ सदा जड़रूप से और चेतन सदा चेतनरूप से ही रहता है। ज्ञान का विकास विकारदशा में चाहे जितना स्वल्प हो, तथापि जीवद्रव्य बिल्कुल ज्ञानशून्य हो जाए - ऐसा कभी नहीं होता। इस शक्ति के कारण द्रव्य का एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे तथा एक द्रव्य के अनेक या अनन्त गुण अलग-अलग नहीं हो जाते तथा कोई दो पदार्थ एकरूप होकर तीसरा नई तरह का पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वस्तु का स्वरूप अन्यथा कदापि नहीं होता।

६- प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के अपना-अपना आकार अवश्य होता है। प्रत्येक अपने-अपने स्वाकार में ही रहता है। सिद्धदशा होने पर एक जीव दूसरे जीव में नहीं मिल जाता, किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकार में स्वतन्त्ररूप से कायम रहता है।

ये छह सामान्यगुण मुख्य हैं, इनके अतिरिक्त भी दूसरे सामान्यगुण हैं। इस तरह गुणों द्वारा द्रव्य का स्वरूप विशेष स्पष्टता से जाना जा सकता है।

छह कारक (कारण) [लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका से]

(१) कर्ता - जो स्वतन्त्रता से (स्वाधीनता से) अपने परिणाम को करे, सो कर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपने में स्वतन्त्र व्यापक होने से अपने ही परिणामों का कर्ता है।

(२) कर्म (कार्य) - कर्ता जिस परिणाम को प्राप्त करता है, वह परिणाम उसका कर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्य लक्षणवाला प्रत्येक द्रव्य का परिणामरूप कर्म होता है। [उस कर्म (कार्य) में प्रत्येक द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस परिणाम का कर्त्ता है।]

(३) करण - उस परिणाम का साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन को करण कहते हैं।

(४) सम्प्रदान - कर्म (परिणाम-कार्य) जिसे दिया जाये या जिसके लिये किया जाता है, उसे सम्प्रदान कहते हैं।

(५) अपादान - जिसमें से कर्म किया जाता है, उस ध्रुववस्तु को अपादान कहते हैं।

(६) अधिकरण - जिसमें या जिसके आधार से कर्म किया जाता है, उसे अधिकरण कहते हैं।

सर्व द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में यह छहों कारक एक साथ वर्तते हैं, इसलिए आत्मा और पुद्गल शुद्धदशा में या अशुद्धदशा में स्वयं ही छहों कारकरूप परिणमन करते हैं और अन्य किसी कारकों (कारणों) की अपेक्षा नहीं रखते हैं।*(पञ्चास्तिकाय, गाथा ६२ संस्कृत टीका)*

प्रश्न - कार्य कैसे होता है ?

उत्तर - ''कारणानुविधायित्वादेव 'कार्याणां' कारणानुविधायीनि कार्याणि'' - कारण जैसे ही कार्य होने से कारण जैसा ही कार्य होता है। कार्य को - क्रिया, कर्म, अवस्था, पर्याय,

हालत, दशा, परिणाम, परिणमन और परिणति भी कहते हैं। [यहाँ कारण को उपादानकारण समझना क्योंकि उपादानकारण ही सच्चा कारण है।]

प्रश्न – कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – कार्य की उत्पादक सामग्री को कारण कहते हैं।

प्रश्न – उत्पादक सामग्री के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो हैं – उपादान और निमित्त। उपादान को निजशक्ति अथवा निश्चय और निमित्त को परयोग अथवा व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न – उपादानकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – (१) जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादानकारण कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टी। (२) अनादिकाल से द्रव्य में जो पर्यायों का प्रवाह चला आ रहा है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उपादानकारण है और अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय कार्य है। (३) उस समय की पर्याय की योग्यता उपादानकारण है और वह पर्याय कार्य है। उपादान सच्चा (वास्तविक) कारण है।

(नं० १ ध्रुव उपादान द्रव्यार्थिकनय से है, नं० २-३ क्षणिक उपादान पर्यायार्थिकनय से है।)

प्रश्न – योग्यता किसे कहते हैं ?

उत्तर – (१) 'योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति' (न्याय०दी०पृष्ठ २७) योग्यता ही विषय का प्रतिनियामक कारण है [यह कथन ज्ञान की योग्यता (सामर्थ्य) के लिये हैं, परन्तु योग्यता का कारणपना सर्व में सर्वत्र समान है।]

(२) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत वे 'योग्यता' शब्द के अर्थ हैं।

प्रश्न – निमित्तकारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिसमें आरोप आ सके, उस पदार्थ को निमित्तकारण कहते हैं। जैसे – घट की उत्पत्ति में कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि। (निमित्त सच्चा कारण नहीं है – अकारणवत् है, क्योंकि वह उपाचारमात्र अथवा व्यवहारमात्र कारण है।)

उपादान कारण और निमित्त की उपस्थिति का क्या नियम है ?

(बनारसी-विलास में कथित दोहा)

प्रश्न - **(१) गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।**
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन॥१॥

प्रश्न - **(२) हौं जाने था एक ही, उपादान सों काज।**
थकै सहाई पौन बिन, पानीमाँहिं जहाज॥२॥

प्रथम प्रश्न का उत्तर -

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहाँ, तहँ निमित्त व्यौहार॥३॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप नेत्र और ज्ञान में चरण अर्थात् लीनतारूप क्रिया दोनों मिलकर मोक्षमार्ग जानो। उपादानरूप निश्चयकरण जहाँ हो, वहाँ निमित्तरूप व्यवहारकारण होता ही है॥३॥

भावार्थ - (१) उपादान निश्चय अर्थात् सच्चा कारण है, निमित्त तो मात्र व्यवहार अर्थात् उपाचार कारण है, सच्चा कारण नहीं है, इसलिए तो उसे अकारणवत् कहा है और उसे उपचार (आरोप) कारण क्यों कहा कि वह उपादान का कुछ कार्य करता-कराता नहीं, तो भी कार्य के समय उसकी उपस्थिति के कारण उसे उपचारमात्र कारण कहा है।

(२) सम्यग्ज्ञान और ज्ञान में लीनता को मोक्षमार्ग जानो - ऐसा कहा। उसमें शरीराश्रित उपदेश, उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहार को मोक्षमार्ग न जानो, वह बात आ जाती है।

प्रथम प्रश्न का समाधान -

उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान प्रमाण विधि, विरला बूझे कोय॥४॥

अर्थ - जहाँ निजशक्तिरूप उपादान तैयार हो, वहाँ पर निमित्त होते ही हैं, ऐसी भेदज्ञान प्रमाण की विधि (व्यवस्था) है, यह सिद्धान्त कोई विरला ही समझता है॥४॥

भावार्थ - जहाँ उपादान की योग्यता हो, वहाँ नियम से निमित्त होता है, निमित्त की राह देखना पड़े, ऐसा नहीं है और निमित्त को हम जुटा सकते, ऐसा भी नहीं है। निमित्त की

राह देखनी पड़ती है या उसे मैं ला सकता हूँ – ऐसी मान्यता परपदार्थ में अभेदबुद्धि अर्थात् अज्ञान सूचक है। **निमित्त और उपादान दोनों असहायरूप हैं, यह तो मर्यादा है॥४॥**

उपादान बल जहँ तहाँ, नहीं निमित्त को दाव।
एक चक्रसों रथ चलै, रवि को यहँ स्वभाव॥५॥

अर्थ – जहाँ देखो वहाँ सदा उपादान का ही बल है, निमित्त होते हैं, परन्तु निमित्त का कुछ भी दाव (बल) नहीं है। जैसे एक चक्र से सूर्य का रथ चलता है; इस प्रकार प्रत्येक कार्य उपादान की योग्यता (सामर्थ्य) से ही होता है॥५॥

भावार्थ – कोई ऐसा समझता है कि निमित्त, उपादान के ऊपर सचमुच असर करते हैं, प्रभाव डालते हैं, सहाय-मदद करते हैं, आधार देते हैं, तो वह अभिप्राय गलत है, ऐसा यहाँ दोहा ४-५-६-७ में स्पष्टतया कहा है। अपने हित का उपाय समझने के लिए यह बात बड़ी प्रयोजनभूत है।

शास्त्र में जहाँ परद्रव्य को (निमित्त को) सहायक, साधन, कारण, कारक आदि कहा हो तो वह 'व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे ऐसे है नांही निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है, ऐसा जानना।' *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २४८)*

दूसरे प्रश्न का समाधान –

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन॥६॥

अर्थ – प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्रता से अपनी अवस्था को (कार्य को) प्राप्त करती है, वहाँ निमित्त कौन? जैसे जहाज प्रवाह में सहज ही पवन बिना ही तैरता है।

भावार्थ – जीव और पुद्गलद्रव्य शुद्ध या अशुद्ध अवस्था में स्वतन्त्रपने से ही अपने परिणाम को करते हैं; अज्ञानी जीव भी स्वतन्त्रपने से निमित्ताधीन परिणमन करते हैं, कोई निमित्त उसे आधीन नहीं बना सकता॥६॥

उपादान विधि निर्वचन, है निमित्त उपदेश।
बसे जु जैसे देश में, करे सु तैसे भेष॥७॥

अर्थ – उपादान का कथन एक 'योग्यता' शब्द द्वारा ही होता है; उपादान अपनी योग्यता से अनेक प्रकार परिणमन करता है, तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न-भिन्न कारणपने

का आरोप (भेष) आता है; उपादान की विधि निर्वचन होने से, निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

भावार्थ – उपादान जब जैसे कार्य को करता है, तब वैसे कारणपने का आरोप (भेष) निमित्त पर आता है। जैसे – कोई वज्रकायवान मनुष्य नरकगति के योग्य मलिनभाव करता है तो वज्रकाय पर नरक का कारणपने का आरोप आता है और यदि जीव मोक्ष प्राप्ति के योग्य निर्मलभाव करता है तो उसी निमित्त पर मोक्षकारणपने का आरोप आता है। इस प्रकार उपादान के कार्यानुसार निमित्त में कारणपने का भिन्न-भिन्न आरोप दिया जाता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्त से कार्य नहीं होता, परन्तु कथन होता है। अत: उपादान सच्चा कारण है और निमित्त आरोपित कारण है।

प्रश्न – पुद्गलकर्म, योग, इन्द्रियों के भोग, धन, घर के लोग, मकान इत्यादि इस जीव को राग-द्वेष परिणाम के प्रेरक हैं?

उत्तर – नहीं, छहों द्रव्य, सर्व अपने-अपने स्वरूप से सदा असहाय (स्वतन्त्र) परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसी का प्रेरक कभी नहीं है, इसलिए कोई भी परद्रव्य राग-द्वेष के प्रेरक नहीं हैं, परन्तु मिथ्यात्वमोहरूप मदिरापान है, वही (अनन्तानुबन्धी) राग-द्वेष का कारण है।

प्रश्न – पुद्गलकर्म की जोरावरी से जीव को राग-द्वेष करना पड़ते हैं; पुद्गलद्रव्य कर्मों का भेष धर-धरकर ज्यों-ज्यों बल करते हैं, त्यों-त्यों जीव को राग-द्वेष अधिक होते हैं – क्या यह बात सत्य है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि जगत में पुद्गल का सङ्ग तो हमेशा रहता है, यदि उनकी जोरावरी से जीव को रागादि विकार हों तो शुद्धभावरूप होने का कभी अवसर नहीं आ सकता, इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करने में चेतन स्वयं समर्थ है। *(समयसार नाटक सर्वविशुद्धद्वार काव्य ६१ से ६६)*

निमित्त के कहीं प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद कहे हों तो वहाँ वे गमनक्रियावान् या इच्छाआदिवान् हैं या नहीं—ऐसा समझाने के लिए हैं, परन्तु उपादान के लिये तो सर्व प्रकार के निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन ही कहे हैं।

(देखो, श्री पूज्यपादाचार्यकृत इष्टोपदेश गाथा ३५)

प्रश्न - निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - उपादान स्वतः कार्यरूप परिणमता है, उस समय भावरूप या अभावरूप कौन उचित (योग्य) निमित्तकारण* का उसके साथ सम्बन्ध है, यह बताने के लिये उस कार्य को नैमित्तिक कहते हैं। इस तरह से भिन्न-भिन्न पदार्थों के स्वतन्त्र सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं। *(*देखो प्रश्न 'निमित्तकारण' पृष्ठ ३९७)*

[निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परतन्त्रता का सूचक नहीं है, किन्तु नैमित्तिक के साथ में कौन निमित्तरूप पदार्थ है, उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्य को नैमित्तिक कहा है, उसी को उपादान की अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं।]

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के दृष्टान्त

(१) केवलज्ञान नैमित्तिक है और लोकालोकरूप सब ज्ञेय निमित्त है।
(प्रवचनसार, गाथा २६ की टीका)

(२) सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है और सम्यग्ज्ञानी का उपदेशादि निमित्त हैं।
(आत्मानुशासन, गाथा १० की टीका)

(३) सिद्धदशा नैमित्तिक है और पुद्गलकर्म का अभाव निमित्त है।
(समयसार गाथा ८३ की टीका)

(४) 'जैसे अधःकर्म से उत्पन्न और उद्देश से उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता; इसी प्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा, उसके निमित्त से होनेवाले भाव को नहीं त्यागता।' इसमें जीव का बन्धसाधकभाव नैमित्तिक है और वह परद्रव्य निमित्त हैं। *(समयसार गाथा २८६-२८७ की टीका)*

पञ्चाध्यायी शास्त्र में नयाभासों के वर्णन में 'जीव शरीर का कुछ कर सकता नहीं है-परस्पर बन्ध्य-बन्धकभाव नहीं है' ऐसा कहकर शरीर और आत्मा को निमित्त-नैमित्तिक भाव का प्रयोजन क्या है, उसके उत्तर में 'प्रत्येक द्रव्य स्वयं और स्वतः परिणमन करता है, वहाँ निमित्तपने का कुछ प्रयोजन ही नहीं है' ऐसा समाधान श्लोक ५७१ में कहा है।

श्लोक - **अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः।**
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया॥ ५७१॥

अन्वयार्थ - [अथ चेत्] यदि कदाचित् यह कहा जाये कि [मिथः] परस्पर [एतन्नि-

मित्तनैमित्तिकत्वं] इन दोनों में निमित्त और नैमित्तिकपना [अवश्यं अस्ति] अवश्य है तो इस प्रकार कहना भी [न] ठीक नहीं है, [यतः] क्योंकि [स्वयं] स्वयं [वा] अथवा [स्वतः] स्वतः [परिणममानस्य] परिणमन करनेवाली वस्तु को [निमित्ततया] निमित्तपने से [किं] क्या फायदा है अर्थात् स्वतः परिणमनशील वस्तु को निमित्तकारण से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस विषय में स्पष्टता के लिये पञ्चाध्यायी भाग १ श्लोक ५६५ से ५८५ तक देखना चाहिए।

प्रयोजनभूत—इस तरह छह द्रव्य का स्वरूप अनेक प्रकार से वर्णन किया। इन छह द्रव्यों में प्रतिसमय परिणमन होता है, उसे 'पर्याय' (हालत, अवस्था Condition) कहते हैं। धर्म-अधर्म-आकाश और काल इन चार द्रव्यों की पर्याय तो सदा शुद्ध ही है, अवशिष्ट जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में शुद्ध पर्याय होती है अथवा अशुद्ध पर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में से भी पुद्गलद्रव्य में ज्ञान नहीं है, उसमें जानपना (ज्ञानत्व) नहीं, इसी से उसमें ज्ञान की विपरीतरूप भूल नहीं, अतएव पुद्गल को सुख या दुःख नहीं होता। यथार्थ ज्ञान के द्वारा सुख और विपरीतज्ञान के द्वारा दुःख होता है, परन्तु पुद्गलद्रव्य में ज्ञानगुण ही नहीं है, इसीलिए उसके सुख-दुःख नहीं; उसमें सुखगुण ही नहीं। ऐसा होने से तो पुद्गलद्रव्य के शुद्धदशा हो या अशुद्धदशा, दोनों समान हैं। शरीर पुद्गलद्रव्य की अवस्था है; इसलिए शरीर में सुख-दुःख नहीं होते; शरीर चाहे निरोग हो या रोगी, उसके साथ सुख-दुःख का सम्बन्ध नहीं है।

अब शेष रहा जाननेवाला जीवद्रव्य

छहों द्रव्यों में यह एक ही द्रव्य ज्ञानशक्तिवाला है। जीव में ज्ञानगुण है और ज्ञान का फल सुख है, इसलिए जीव में सुखगुण है। यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं पहचानता और ज्ञान से भिन्न अन्य वस्तुओं में सुख की कल्पना करता है। यह उसके ज्ञान की भूल है और उस भूल को लेकर ही जीव के दुःख हैं। जो अज्ञान है, सो जीव की अशुद्धपर्याय है, जीव की अशुद्धपर्याय दुःखरूप है। अतः उस दशा को दूर कर यथार्थ ज्ञान के द्वारा शुद्धदशा करने का उपाय समझाया जाता है; क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख तो जीव को शुद्धदशा में ही है, इसलिए जो छह द्रव्य जाने, उनमें से जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों के गुण-पर्याय के साथ तो जीव को प्रयोजन नहीं है, किन्तु जीव के अपने गुण-पर्याय के साथ ही प्रयोजन है।

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र के पाँचवें अध्याय की गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र

अध्याय छट्ठा

भूमिका

१- पहले अध्याय के चौथे सूत्र में सात तत्त्व कहे हैं और यही पहले अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है कि उन तत्त्वों की जो यथार्थ श्रद्धा है, सो सम्यग्दर्शन है। दूसरे से पाँचवें अध्याय-पर्यन्त जीव और अजीवतत्त्व का वर्णन किया है। इस छट्ठे अध्याय और सातवें अध्याय में आस्रवतत्त्व का स्वरूप समझाया गया है। आस्रव की व्याख्या पहले की जा चुकी है, जो यहाँ लागू होती है।

२- सात तत्त्वों की सिद्धि

(वृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ७१-७२ के आधार से)

इस जगत् में जीव और अजीव द्रव्य हैं और उनके परिणमने से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व होते हैं। इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्व हैं।

अब यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि हे गुरुदेव! (१) यदि जीव तथा अजीव ये दोनों द्रव्य एकान्त से (- सर्वथा) परिणामी ही हों तो उनके संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है, और (२) यदि वे सर्वथा अपरिणामी हों तो जीव और अजीव द्रव्य, ऐसे दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। यदि ऐसा है तो आस्रवादि तत्त्व किस तरह सिद्ध होते हैं?

श्रीगुरु उसका **उत्तर** देते हैं - जीव और अजीवद्रव्य 'कथञ्चित् परिणामी' होने से अवशिष्ट पाँच तत्त्वों का कथन न्याययुक्त सिद्ध होता है।

(१) अब यह कहा जाता है कि 'कथञ्चित् परिणामित्व' का क्या अर्थ है? जैसे स्फटिक यद्यपि स्वभाव से निर्मल है, तथापि जपा-पुष्प आदि के सामीप्य से अपनी योग्यता के कारण से पर्यायान्तर परिणति ग्रहण कराती है। यद्यपि स्फटिकमणि, पर्याय में उपाधि का ग्रहण करती है तो भी निश्चय से अपना जो निर्मल स्वभाव है, उसे वह नहीं छोड़ती। इसी प्रकार जीव का स्वभाव भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय से तो सहजशुद्ध चिदानन्द एकरूप है, परन्तु

स्वयं अनादि कर्मबन्धरूप पर्याय के वशीभूत होने से वह रागादि परद्रव्य उपाधि पर्याय को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव, पर्याय में परपर्यायरूप से (परद्रव्य के आलम्बन से हुई अशुद्ध पर्यायरूप से) परिणमता है, तथापि निश्चयनय से शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता। ऐसा ही पुद्गल द्रव्य का भी होता है। इस कारण से जीव-अजीव का परस्पर सापेक्ष परिणमन होना, वही 'कथञ्चित् परिणामित्व' शब्द का अर्थ है।

(२) इस प्रकार 'कथञ्चित् परिणामित्व' सिद्ध होने पर, जीव और पुद्गल के संयोग की परिणति (परिणाम) से बने हुये बाकी के आस्रवादि पाँच तत्त्व सिद्ध होते हैं। जीव में आस्रवादि पाँच तत्त्वों के परिणमन के समय पुद्गलकर्मरूप निमित्त का सद्भाव या अभाव होता है और पुद्गल में आस्रवादि पाँच तत्त्वों के परिणमन में जीव के भावरूप निमित्त का सद्भाव या अभाव होता है। इसी से ही सात तत्त्वों को 'जीव और पुद्गल के संयोग की परिणति से रचित' कहा जाता है। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जीव और पुद्गल की एकत्रित परिणति होकर बाकी के पाँच तत्त्व होते हैं।

पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्यों को इन पाँच तत्त्वों में मिलाने पर कुल सात तत्त्व होते हैं और उसमें पुण्य-पाप को यदि अलग गिना जावे तो नव पदार्थ होते हैं। पुण्य और पाप नाम के दो पदार्थों का अन्तर्भाव (समावेश) अभेद नय से यदि जीव-आस्रव-बन्ध पदार्थ में किया जावे तो सात तत्त्व कहे जाते हैं।

३- सात तत्त्वों का प्रयोजन

(वृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ७२-७३ के आधार से)

शिष्य फिर **प्रश्न** करता है कि हे भगवन्! यद्यपि जीव-अजीव के कथञ्चित् परिणामित्व मानने पर भेद-प्रधान पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सात तत्त्व सिद्ध हो गये, तथापि उनसे जीव का क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? क्योंकि जैसे अभेदनय से पुण्य-पाप इन दो पदार्थों का पहले सात तत्त्वों में अन्तर्भाव किया है, उसी तरह से विशेष अभेदनय की विवक्षा से आस्रवादि पदार्थों का भी जीव और अजीव, इन दो ही पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेने से ये दो ही पदार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

श्रीगुरु इस प्रश्न का **समाधान** करते हैं - कौन तत्त्व हेय हैं और कौन तत्त्व उपादेय हैं- इसका परिज्ञान हो, इस प्रयोजन से आस्रवादि तत्त्वों का निरूपण किया जाता है।

अब यह कहते हैं कि हेय और उपादेय तत्त्व कौन हैं? जो अक्षय अनन्त सुख है,

वह उपादेय है; उसका कारण मोक्ष है; मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है, उसका कारण विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव से निज-आत्मतत्त्व स्वरूप के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण लक्षणस्वरूप निश्चयरत्नत्रय है। उस निश्चयरत्नत्रय की साधना चाहनेवाले जीव को व्यवहाररत्नत्रय क्या है - यह समझकर, विपरीत अभिप्राय छोड़कर, परद्रव्य तथा राग से अपना लक्ष्य हटाकर निज-आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप की ओर अपना लक्ष्य ले जाना चाहिए अर्थात् स्वसंवेदन-स्वसन्मुख होकर स्वानुभूति प्रगट करना चाहिए। ऐसा करने से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसके बल से संवर, निर्जरा तथा मोक्ष प्रगट होता है; इसलिए ये तीन तत्त्व उपादेय हैं।

अब यह बतलाते हैं कि हेय तत्त्व कौन हैं? आकुलता को उत्पन्न करनेवाले ऐसे निगोद-नरकादि गति के दुःख तथा इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुए जो कल्पित सुख हैं, सो हेय (छोड़ने योग्य) हैं; उसका कारण, स्वभाव से च्युतिरूप संसार है; संसार के कारण, आस्रव तथा बन्ध ये दो तत्त्व हैं; पुण्य-पाप दोनों बन्ध तत्त्व हैं, उन आस्रव तथा बन्ध के कारण, पहले कहे हुए निश्चय तथा व्यवहाररत्नत्रय से विपरीत लक्षण के धारक ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। इसीलिए आस्रव और बन्ध तत्त्व हेय हैं।

इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्वों का ज्ञान होने के लिये ज्ञानीजन सात तत्त्वों का निरूपण करते हैं।

४. तत्त्व की श्रद्धा कब हुई कही जाय?

(१) जैन शास्त्रों में कहे हुए, जीव के त्रस-स्थावर आदि भेदों को, गुणस्थान, मार्गणा इत्यादि भेदों को तथा जीव-पुद्गल आदि भेदों को तथा वर्णादि भेदों को तो जीव जानता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रों में भेदविज्ञान के कारणभूत और वीतरागदशा होने के कारणभूत वस्तु का जैसा निरूपण किया है, वैसा जो नहीं जानता, उसके जीव और अजीवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(२) पुनश्च, किसी प्रसङ्ग से भेदविज्ञान के कारणभूत और वीतरागदशा के कारणभूत वस्तु के निरूपण का जानना मात्र शास्त्रानुसार हो, परन्तु निज को निजरूप जानकर उसमें पर का अंश भी (मान्यता में) न मिलाना तथा निज का अंश भी (मान्यता में) पर में न मिलाना; जहाँ तक जीव ऐसा श्रद्धान न करे, वहाँ तक उसके जीव और अजीवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(३) जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि बिना निश्चय के (निर्णयरहित) पर्यायबुद्धि से (देहदृष्टि से) ज्ञानत्व में तथा वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करते हैं, उसी प्रकार जो जीव आत्माश्रित ज्ञानादि में तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रिया में निजत्व मानता है तो उसके जीव-अजीवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। ऐसा जीव किसी समय शास्त्रानुसार यथार्थ बात भी कहे परन्तु वहाँ उसके अन्तरङ्ग निश्चयरूप श्रद्धा नहीं है, इसीलिए जिस तरह नशायुक्त मनुष्य माता को माता कहे तो भी वह समझदार नहीं है, उसी तरह यह जीव भी सम्यग्दृष्टि नहीं है।

(४) पुनश्च, यह जीव जैसे किसी दूसरे की ही बात करता हो, वैसे ही आत्मा का कथन करता है, परन्तु 'यह आत्मा मैं ही हूँ,' ऐसा भाव उसके प्रतिभासित नहीं होता और फिर जैसे किसी दूसरे को दूसरे से भिन्न बतलाता हो, वैसे ही वह इस आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है, परन्तु 'मैं इस शरीरादिक से भिन्न हूँ' ऐसा भाव उसके नहीं भासता, इसीलिए उसके जीव-अजीव की यथार्थ श्रद्धा नहीं।

(५) पर्याय में (वर्तमान दशा में) जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन सबको दो द्रव्यों के मिलाप से बनी हुई मानता है, किन्तु उसके ऐसा भिन्न-भिन्न भाव नहीं भासता कि 'यह जीव की क्रिया है और यह पुद्गल की क्रिया है।' ऐसा भिन्न भाव भासे बिना उसको जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव अजीव के जानने का प्रयोजन तो यही था, जो कि इसे हुआ नहीं।

(देखो, देहली सस्ती ग्रन्थमाला का मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७, पृ. ३३१)

(६) पहले अध्याय के ३२वें सूत्र में '**सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्**' कहा है, वह समझकर विपरीत अभिप्रायरहित होकर सत्-असत् का भेदज्ञान करना चाहिए, जहाँ तक ऐसी यथार्थ श्रद्धा न हो, वहाँ तक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। उसमें 'सत्' शब्द से यह समझने के लिए कहा है कि जीव स्वयं त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप क्यों है और 'असत्' शब्द से यह बताया है कि जीव में होनेवाला विकार जीव में से दूर किया जा सकता है, इसलिए वह पर हैं। परपदार्थ और आत्मा भिन्न होने से कोई पर का कुछ कर नहीं सकता; आत्मा की अपेक्षा से परपदार्थ असत् हैं - नास्तिरूप हैं। जब ऐसा यथार्थ समझे, तभी जीव के सत्-असत् के विशेष का यथार्थ ज्ञान होता है। जीव के जहाँ तक ऐसा ज्ञान न हो, वहाँ तक आस्रव दूर नहीं होते; जहाँ तक जीव अपना और आस्रव का भेद नहीं जानता, वहाँ तक

उसके विकार दूर नहीं होते; इसीलिए यह भेद समझाने के लिए छट्ठे और सातवें अध्याय में आस्रव का स्वरूप कहा है।

यह आस्रव अधिकार है, इसमें प्रथम योग के भेद और उसका स्वरूप कहते हैं —

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥१॥

अर्थ - [**कायवाङ्मनः कर्म**] शरीर, वचन और मन के अवलम्बन से आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना, सो [**योगः**] योग है।

टीका—१. आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना, सो योग है; सूत्र में जो योग के तीन भेद कहे हैं, वे निमित्त की अपेक्षा से हैं। उपादानरूप योग में तीन भेद नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रकार है। दूसरी तरह से योग के दो भेद किये जा सकते हैं - १. भावयोग और २. द्रव्ययोग। कर्म, नोकर्म के ग्रहण करने में निमित्तरूप आत्मा की शक्तिविशेष को भावयोग कहते हैं और उस शक्ति के कारण से जो आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना, सो द्रव्ययोग है (यहाँ 'द्रव्य' का अर्थ 'आत्मद्रव्य के प्रदेश' होता है।)

२- यह आस्रव अधिकार है। जो योग है, सो आस्रव है - ऐसा दूसरे सूत्र में कहेंगे। इस योग के दो प्रकार हैं - १. कषाययोग और २. अकषाययोग। (देखो, सूत्र चौथा)

३- यद्यपि भावयोग एक ही प्रकार का है तो भी निमित्त की अपेक्षा से उसके १५ भेद होते हैं। जब यह योग, मन की ओर झुकता है, तब उसमें मन निमित्त होने से, योग और मन का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाने के लिये, उस योग को मनोयोग कहा जाता है, इसी प्रकार से जब वचन की ओर झुकाव होता है, तब वचनयोग कहा जाता है और जब काय की ओर झुकाव होता है, तब काययोग कहा जाता है। इसमें मनोयोग के ४, वचनयोग के ४ और काययोग के ७ भेद हैं; इस तरह निमित्त की अपेक्षा से भावयोग के कुल १५ भेद होते हैं।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न २२०, ४३२, ४३३)

४- आत्मा के अनन्त गुणों में एक योगगुण है, यह अनुजीवी गुण है। इस गुण की पर्याय में दो भेद होते हैं - १. परिस्पंदरूप अर्थात् आत्मप्रदेशों के कम्पनरूप और २. आत्मप्रदेशों की निश्चलतारूप निष्कम्परूप। प्रथम प्रकार योगगुण की अशुद्धपर्याय और दूसरा भेद योगगुण की शुद्धपर्याय है।

इस सूत्र में योगगुण की कम्पनरूप अशुद्धपर्याय को 'योग' कहा है।

अब, आस्रव का स्वरूप कहते हैं

स आस्रवः ॥२॥

अर्थ - [**सः**] वह योग [**आस्रवः**] आस्रव है।

टीका—१- आगे चौथे सूत्र में यह कहेंगे कि सकषाययोग और अकषाययोग आस्रव अर्थात् आत्मा का विकारभाव है।

२- कितने ही जीव कषाय का अर्थ क्रोध-मान-माया-लोभ करते हैं, किन्तु यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। मोह के उदय में युक्त होने पर जीव के मिथ्यात्व-क्रोधादि भाव होते हैं, सामान्यरूप से उस सबका नाम 'कषाय' है। (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४०) सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वभाव नहीं है, इसलिए उसके जो क्रोधादिभाव हों, सो कषाय है।

३- योग की क्रिया, नवीन कर्म के आस्रव का निमित्तकारण है। इस सूत्र में कहे हुए 'आस्रव' शब्द में द्रव्यास्रव का समावेश होता है। योग की क्रिया तो निमित्तकारण है; इसमें परद्रव्य के द्रव्यास्रवरूप कार्य का उपचार करके इस सूत्र में योग की क्रिया को ही आस्रव कहा है।

एक द्रव्य के कारण को दूसरे द्रव्य के कार्य में मिलाकर व्यवहारनय से कथन किया जाता है। यह पद्धति यहाँ ग्रहण करके जीव के भावयोग की क्रियारूप कारण को द्रव्यकर्म के कार्य में मिलाकर इस सूत्र में कथन किया है; ऐसे व्यवहारनय को इस शास्त्र में नैगमनय से कथन किया कहा जाता है; क्योंकि योग की क्रिया में द्रव्यकर्मरूप कार्य का सङ्कल्प किया गया है।

४- **प्रश्न** - आस्रव को जानने की आवश्यकता क्या है?

उत्तर - दुःख का कारण क्या है, यह जाने बिना दुःख दूर नहीं किया जा सकता; मिथ्यात्वादिक भाव स्वयं ही दुःखमय हैं, उसे जैसा है यदि वैसा न जाने तो जीव उसका अभाव भी न करेगा और इसलिए जीव के दुःख ही रहेगा; इसीलिए आस्रव को जानना आवश्यक है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. ७८)*

५- **प्रश्न** - जीव को आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा अनादि से क्या है?

उत्तर - मिथ्यात्व और शुभाशुभ रागादिक प्रगटरूप से दुःख के देनेवाले हैं, तथापि

उनके सेवन करने से सुख होगा—ऐसा मानना, सो आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

६- **प्रश्न** - सूत्र १-२ में योग को आस्रव कहा है और अन्यत्र तो मिथ्यात्वादि को आस्रव कहा है - इसका क्या कारण है ?

उत्तर - चौथे सूत्र में यह स्पष्ट कहा है कि योग दो प्रकार का है - सकषाययोग और अकषाययोग; इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि सकषाययोग में मिथ्यात्वादि का समावेश हो जाता है।

७- इन दोनों प्रकार के योगों में से जिस पद में जो योग हो, वह जीव की विकारी पर्याय है, उसके अनुसार आत्म-प्रदेश में नवीन द्रव्यकर्म आते हैं, इसीलिए वह योग, द्रव्यास्रव का निमित्तकारण कहा जाता है।

८- **प्रश्न** - पहले योग दूर होता है या मिथ्यात्वादि दूर होते हैं ?

उत्तर - सबसे पहले मिथ्यात्वभाव दूर होता है। योग तो चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में दूर होता है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान-वीर्यादि सम्पूर्ण प्रगट होते हैं, तथापि योग होता है; इसलिए पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिए और मिथ्यात्व दूर होने पर उससे सम्बन्धित योग सहज ही दूर होता है।

९- सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होने से उसके उस प्रकार का भाव-आस्रव होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व दूर हो जाने से अनन्तानुबन्धी कषाय का तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अविरति और योगभाव का अभाव हो जाता है (देखो, समयसार गाथा १७६ का भावार्थ) और फिर मिथ्यात्व दूर हो जाने से उसके साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं हैं। जड़ से काटे गये वृक्ष के हरे पत्तों की तरह वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखनेयोग्य हैं। संसार का मूल अर्थात् संसार का कारण मिथ्यात्व ही है।

(समयसार, गाथा १६८ टीका-भावार्थ)

अब योग के निमित्त से आस्रव के भेद बतलाते हैं

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३ ॥

अर्थ - [**शुभः**] शुभयोग [**पुण्यस्य**] पुण्यकर्म के आस्रव में कारण है और [**अशुभः**] अशुभ योग [**पापस्य**] पापकर्म के आस्रव में कारण है।

टीका—१- योग में शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं; किन्तु आचरणरूप उपयोग में (चारित्रगुण की पर्याय में) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है; इसीलिए शुभोपयोग के साथ के योग को उपचार से शुभयोग कहते हैं और अशुभोपयोग के साथ के योग को उपचार से अशुभयोग कहा जाता है।

२- पुण्यास्त्रव और पापास्त्रव के सम्बन्ध में होनेवाली विपरीतता

प्रश्न - मिथ्यादृष्टि जीव की आस्त्रव सम्बन्धी क्या विपरीतता है ?

उत्तर - आस्त्रवतत्त्व में जो हिंसादिक पापास्त्रव है, उसे तो हेय जानता है किन्तु जो अहिंसादिकरूप पुण्यास्त्रव है, उसे उपादेय मानता है, भला मानता है; अब ये दोनों आस्त्रव होने से कर्म-बन्ध के कारण हैं, उनमें उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है। यही बात समयसार गाथा २५४ से २५६ में कही है। सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख, अपने-अपने कर्मोदय के निमित्त से होता है, तथापि जहाँ ऐसा मानना कि अन्य जीव अन्य जीव के कार्यों का कर्त्ता होता है, यही मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है। अन्य जीव के जिलाने या सुखी करने का अध्यवसाय हो, सो तो पुण्य-बन्ध का कारण है और जो मारने या दुःखी करने का अध्यवसाय होता है, वह पाप-बन्ध का कारण है। यह सब मिथ्याअध्यवसाय हैं, वह त्याज्य है; इसलिए हिंसादिक की तरह अहिंसादिक को भी बन्ध के कारणरूप जानकर हेय समझना। हिंसा में जीव के मारने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयु पूर्ण हुये बिना वह नहीं मरता और अपनी द्वेष परिणति से स्वयं ही पापबन्ध करता है तथा अहिंसा में पर की रक्षा करने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयु के अवशेष न होने से वह नहीं जीता, मात्र अपनी शुभराग परिणति से स्वयं ही पुण्य बाँधता है। इस तरह ये दोनों हेय हैं किन्तु जहाँ जीव वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारूप होवे वहाँ ही निर्बन्धता है, इसलिए वह उपादेय है।

जहाँ तक ऐसी दशा न हो, वहाँ तक शुभरागरूप प्रवर्ते परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखना चाहिए कि यह भी बन्ध का कारण है-हेय है। यदि **श्रद्धान में उसे मोक्ष का मार्ग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।** *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२६)*

३- शुभयोग तथा अशुभयोग के अर्थ

शुभयोग - पञ्च परमेष्ठी की भक्ति, प्राणियों के प्रति उपकारभाव, रक्षाभाव, सत्य बोलने का भाव, परधन हरण न करने का भाव - इत्यादि शुभपरिणाम से निर्मित योग को शुभयोग कहते हैं।

अशुभयोग – जीवों की हिंसा करना, असत्य बोलना, परधन हरण करना, ईर्ष्या करना – इत्यादि भावोंरूप अशुभ परिणाम से बने हुये योग को अशुभयोग कहते हैं।

४– आस्त्रव में शुभ और अशुभ भेद क्यों ?

प्रश्न – आत्मा को पराधीन करने में पुण्य और पाप दोनों समान कारण हैं – सोने की सांकल और लोहे की सांकल की तरह पुण्य और पाप दोनों आत्मा को स्वतन्त्रता का अभाव करने में समान हैं, तो फिर उसमें शुभ और अशुभ—ऐसे दो भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तर – उनके कारण से मिलनेवाली इष्ट–अनिष्ट गति, जाति इत्यादि की रचना के भेद का ज्ञान कराने के लिये उसमें भेद कहे हैं अर्थात् संसार की अपेक्षा से भेद हैं, धर्म की अपेक्षा से भेद नहीं अर्थात् दोनों प्रकार के भाव 'अधर्म' हैं। प्रवचनसार गाथा ७७ में कहा है कि इस प्रकार पुण्य और पाप में भेद (अन्तर) नहीं है, ऐसा जो जीव नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

५– शुभ तथा अशुभ दोनों से सात या आठ कर्म बँधते हैं, तथापि यहाँ ऐसा क्यों नहीं कहा ?

प्रश्न – रागी जीव के आयु के अतिरिक्त सातों कर्म का निरन्तर आस्त्रव होता है, तथापि इस सूत्र में शुभपरिणाम को पुण्यास्त्रव का ही कारण और अशुभपरिणाम को पापास्त्रव का ही कारण क्यों कहा ?

उत्तर – यद्यपि संसारी रागी जीव के सातों कर्म का निरन्तर आस्त्रव होता है, तथापि संक्लेश (अशुभ) परिणाम से देव, मनुष्य और तिर्यञ्च आयु के अतिरिक्त १४५ प्रकृतियों की स्थिति बढ़ जाती है और मन्द (शुभ) परिणाम से उन समस्त कर्मों की स्थिति घट जाती है और उपरोक्त तीन आयु की स्थिति बढ़ जाती है।

और फिर तीव्र कषाय से शुभ प्रकृति का रस तो घट जाता है और असातावेदनीयादिक अशुभ प्रकृति का रस अधिक हो जाता है। मन्द कषाय से पुण्य–प्रकृति में रस बढ़ता है और पाप–प्रकृति में रस घटता है; इसलिए स्थिति तथा रस (अनुभाग) की अपेक्षा से शुभपरिणाम को पुण्यास्त्रव और अशुभपरिणाम को पापास्त्रव कहा है।

६– शुभ–अशुभ कर्मों के बँधने के कारण से शुभ–अशुभयोग, ऐसे भेद नहीं हैं

प्रश्न – शुभपरिणाम के कारण से शुभयोग और अशुभपरिणाम के कारण से अशुभयोग

है, ऐसा मानने के स्थान पर यह मानने में क्या बाधा है कि शुभ-अशुभ कर्मों के बन्ध के निमित्त से योग के शुभ-अशुभ भेद होता है ?

उत्तर - यदि कर्म के बन्ध के अनुसार योग माना जायेगा तो शुभयोग ही न रहेगा, क्योंकि शुभयोग के निमित्त से ज्ञानावरणादि अशुभ कर्म भी बँधते हैं; इसीलिए शुभ-अशुभ कर्म बँधने के कारण से शुभ-अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं। परन्तु ऐसा मानना न्याय-संगत है कि मन्द कषाय के कारण से शुभयोग और तीव्र कषाय के कारण से अशुभयोग है।

७- शुभभाव से पाप की निर्जरा नहीं होती

प्रश्न - यह तो ठीक है कि शुभभाव से पुण्य का बँध होता है, किन्तु ऐसा मानने में क्या दोष है कि उससे पाप की निर्जरा होती है ?

उत्तर - इस सूत्र में कही हुई तत्त्वदृष्टि से देखने पर यह मान्यता भूल भरी है। शुभभाव से पुण्य का बन्ध होता है; बन्ध, संसार का कारण है और जो संवरपूर्वक निर्जरा है, सो धर्म है। यदि शुभभाव से पाप की निर्जरा मानें तो वह (शुभभाव) धर्म हुआ और धर्म से बन्ध कैसे होगा ? इसलिए यह मान्यता ठीक नहीं कि शुभभाव से पुराने पापकर्म की निर्जरा होती है (आत्मप्रदेश से पापकर्म खिर जाते हैं); निर्जरा, शुद्धभाव से ही होती है अर्थात् तत्त्वदृष्टि के बिना संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती। विशेष समाधान के लिये देखो, अध्याय ७ सूत्र १ की टीका में शास्त्राधार।

८- तीसरे सूत्र का सिद्धान्त

शुभभाव और अशुभभाव दोनों कषाय हैं, इसीलिए वे संसार के ही कारण हैं। शुभभाव बढ़ते-बढ़ते उससे शुद्धभाव नहीं हो सकता। जब शुद्ध के अभेद आलम्बन से शुभ को दूर करे, तब शुद्धता हो। जितने अंश में शुद्धता प्रगट होती है, उतने अंश में धर्म है। ऐसा मानना ठीक है कि शुभ या अशुभ में धर्म का अंश भी नहीं है। ऐसी मान्यता किये बिना सम्यग्दर्शन कभी नहीं होता। कितनेक ऐसा मानते हैं कि जो शुभयोग है, सो संवर है; यह यथार्थ नहीं है - ऐसा बताने के लिये इस सूत्र में स्पष्टरूप से दोनों योगों को आस्रव कहा है ॥३॥

अब इसका खुलासा करते हैं कि आस्रव सर्व संसारियों के समान फल का कारण होता है या इसमें विशेषता है

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

अर्थ - [**सकषायस्य साम्परायिकस्य**] कषायसहित जीव के संसार के कारणरूप कर्म का आस्रव होता है और [**अकषायस्य ईर्यापथस्य**] कषायरहित जीव के स्थितिरहित कर्म का आस्रव होता है।

टीका—१- कषाय का अर्थ मिथ्यादर्शन-क्रोधादि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवों के मिथ्यादर्शनरूप कषाय नहीं होती, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों के लागू होनेवाला कषाय का अर्थ 'चारित्र में अपनी कमजोरी से होनेवाले क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि' ऐसा समझना। मिथ्यादर्शन का अर्थ है—आत्मा के स्वरूप की मिथ्या मान्यता-विपरीत मान्यता।

२- **साम्परायिक आस्रव** - यह आस्रव, संसार का ही कारण है। मिथ्यात्वभावरूप आस्रव अनन्त संसार का कारण है। मिथ्यात्व का अभाव होने के बाद होनेवाला आस्रव अल्प संसार का कारण है।

३- **ईर्यापथ आस्रव** - यह आस्रव स्थिति और अनुभागरहित है और यह अकषायी जीवों के ११-१२ और १३वें गुणस्थान में होता है। चौदहवें गुणस्थान में रहनेवाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिए वहाँ आस्रव है ही नहीं।

४- कर्मबन्ध के चार भेद

कर्मबन्ध के चार भेद हैं - प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग। इनमें पहले दो प्रकार के भेदों का कारण, योग है और अन्तिम दो भेदों का कारण, कषाय है। कषाय, संसार का कारण है और इसीलिए जहाँ तक कषाय हो, वहाँ तक के आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं और कषाय दूर होने के बाद अकेला योग रहता है। कषायरहित योग से होनेवाले आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। आत्मा के उस समय का प्रगट होनेवाला जो भाव है, सो भाव-ईर्यापथ है और द्रव्यकर्म का जो आस्रव है, सो द्रव्य-ईर्यापथ है। इसी तरह भाव और द्रव्य ऐसे दो भेद साम्परायिक आस्रव में भी समझ लेना। ११ से १३वें गुणस्थान पर्यन्त ईर्यापथ आस्रव होता है, उससे पहले के गुणस्थानों में साम्परायिक आस्रव होता है।

जिस प्रकार बड़ का फल आदि वस्त्र के कषायले रङ्ग में निमित्त होते हैं; उसी तरह मिथ्यात्व, क्रोधादिक आत्मा को कर्म-रङ्ग लगने का निमित्त हैं, इसीलिए उन भावों को कषाय कहा जाता है। जैसे कोरे घड़े को रज लगकर चली जाती है; उसी तरह कषायरहित आत्मा के कर्म-रज लगकर उसी समय चली जाती है, इसी को ईर्यापथ आस्रव कहा जाता है।

साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थ - [**इन्द्रियाणि पंच**] स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, [**कषायाः चतुः**] क्रोधादि चार कषाय [**अव्रतानि पंच**] हिंसा इत्यादि पाँच अव्रत और [**क्रियाः पंचविंशतिः**] सम्यक्त्व आदि पच्चीस प्रकार की क्रियायें [**संख्याः भेदाः**] इस तरह कुल ३९ भेद [**पूर्वस्य**] पहले (साम्पराथिक) आस्रव के हैं, अर्थात् इन सर्व भेदों के द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है।

टीका—१- इन्द्रिय - दूसरे अध्याय के १५ से १९वें सूत्र में इन्द्रिय का विषय आ चुका है। पुद्गल-इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं, उनसे आत्मा को लाभ या हानि नहीं होती, मात्र भावेन्द्रिय के उपयोग में वह निमित्त होते हैं। इन्द्रिय का अर्थ होता है भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इन्द्रिय का विषय; ये तीनों ज्ञेय हैं; ज्ञायक आत्मा के साथ उनके जो एकत्व की मान्यता है, सो (मिथ्यात्वभाव) ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष है। *(देखो, श्री समयसार, गाथा ३१ टीका)*

कषाय - राग-द्वेषरूप जो आत्मा की प्रवृत्ति है, सो कषाय है। यह प्रवृत्त तीव्र और मन्द के भेद से दो प्रकार की होती है।

अव्रत - हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ये पाँच प्रकार के अव्रत हैं।

२- क्रिया - आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दरूप जो योग है, सो क्रिया है। इसमें मन, वचन और काय निमित्त होता है। यह क्रिया सकषाय योग में दसवें गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन या काय की कोई भी क्रिया आत्मा की नहीं है और न आत्मा को लाभकारक या हानिकारक है। जब आत्मा सकषाय योगरूप से परिणमे और नवीन कर्मों का आस्रव हो, तब आत्मा का सकषाययोग उन पुद्गल-आस्रव में निमित्त है और पुद्गल स्वयं उस आस्रव का उपादानकारण है; भावास्रव का उपादानकारण आत्मा की उस-उस अवस्था की योग्यता है और निमित्त पुराने कर्मों का उदय है।

३- पच्चीस प्रकार की क्रियाओं के नाम और उनके अर्थ

(१) सम्यक्त्व क्रिया - चैत्य, गुरु और प्रवचन (शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्यों से सम्यक्त्व की वृद्धि होती है, इसीलिए यह सम्यक्त्व क्रिया है। यहाँ मन, वचन, काय की जो क्रिया होती है, वह सम्यक्त्वी जीव के शुभभाव में निमित्त है; वे शुभभाव को धर्म नहीं मानते, इसीलिए उस मान्यता की दृढ़ता के द्वारा उनके सम्यक्त्व की वृद्धि होती है; इसलिए

यह मान्यता आस्रव नहीं, किन्तु जो सकषाय (शुभभावसहित) योग है, सो भाव-आस्रव है; वह सकषाय योग, द्रव्यकर्म के आस्रव में मात्र निमित्तकारण है।

(२) मिथ्यात्वक्रिया - कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के पूजा, स्तवनादिरूप मिथ्यात्व के कारणवाली क्रियाएँ हैं, सो मिथ्यात्वक्रिया है।

(३) प्रयोगक्रिया - हाथ, पैर इत्यादि चलाने के भावरूप इच्छारूप जो क्रिया है, सो प्रयोगक्रिया है।

(४) समादान क्रिया - संयमी का असंयम के सन्मुख होना।

(५) ईर्यापथ क्रिया - समादान क्रिया से विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढ़ाने के लिये साधु जो क्रिया करते हैं, वह ईर्यापथ क्रिया है। ईर्यापथ पाँच समितिरूप है; उसमें जो शुभभाव है, सो ईर्यापथ क्रिया है। [समिति का स्वरूप ९वें अध्याय के ५वें सूत्र में कहा जायेगा।]

अब पाँच क्रियाएँ कही जाती हैं; इसमें पर हिंसा के भाव की मुख्यता है

(६) प्रादोषिक क्रिया - क्रोध के आवेश से द्वेषादिकरूप बुद्धि करना, सो प्रादोषिक क्रिया है।

(७) कायिकी क्रिया - उपर्युक्त दोष उत्पन्न होने पर हाथ से मारना, मुख से गाली देना, इत्यादि प्रवृत्ति का जो भाव है, सो कायिकी क्रिया है।

(८) अधिकरणिकी क्रिया - हिंसा के साधनभूत बन्दूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना, सो सब अधिकरणिकी क्रिया है।

(९) परिताप क्रिया - दूसरे को दु:ख देने में लगना।

(१०) प्राणातिपात क्रिया - दूसरे के शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वास को नष्ट करना, सो प्राणातिपात क्रिया है।

नोट - यह व्यवहार-कथन है, इसका अर्थ ऐसा समझना कि जीव जब निज में इस प्रकार के अशुभभाव करता है, तब इस क्रिया में बतायी गयी परवस्तुएँ स्वयं ब्राह्य निमित्तरूप से होती हैं। ऐसा नहीं मानना कि जीव, परपदार्थों का कुछ कर सकता है या परपदार्थ, जीव का कुछ कर सकते हैं।

अब ११ से १५ तक की ५ क्रियाएँ कहते हैं। इनका सम्बन्ध इन्द्रियों के भोगों के साथ है

(११) दर्शन क्रिया - सौन्दर्य देखने की इच्छा है, सो दर्शनक्रिया है।

(१२) स्पर्शन क्रिया - किसी चीज के स्पर्श करने की जो इच्छा है, सो स्पर्शक्रिया है (इसमें अन्य इन्द्रियों सम्बन्धी वाञ्छा का समावेश समझना चाहिए)।

(१३) प्रात्ययिकी क्रिया - इन्द्रिय के भोगों की वृद्धि के लिये नवीन-नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना, सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) समंतानुपात क्रिया - स्त्री, पुरुष तथा पशुओं के उठने-बैठने के स्थान को मलमूत्र से खराब करना, सो समन्तानुपात क्रिया है।

(१५) अनाभोग क्रिया - बिना देखी या बिना शोधी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना-उठाना, सो अनाभोग क्रिया है।

अब १६ से २० तक की पाँच क्रियाएँ कहते हैं, ये उच्च धर्माचरण में धक्का पहुँचानेवाली हैं

(१६) स्वहस्त क्रिया - जो काम दूसरे योग्य हो, उसे स्वयं करना, सो स्वहस्त क्रिया है।

(१७) निसर्ग क्रिया - पाप के साधनों के लेने-देने में सम्मति देना।

(१८) विदारण क्रिया - आलस्य के वश हो अच्छे काम न करना और दूसरे के दोष प्रगट करना, सो विदारण क्रिया है।

(१९) आज्ञाव्यापादिनी क्रिया - शास्त्र की आज्ञा का स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना, सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

(२०) अनाकांक्षा क्रिया - उन्मत्तपना या आलस्य के वश होकर प्रवचन (शास्त्रों) में कही गई आज्ञाओं के प्रति आदर या प्रेम न रखना, सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब अन्तिम पाँच क्रियाएँ कहते हैं, इनके होने से धर्म धारण करने में विमुखता रहती है

(२१) आरम्भ क्रिया - हानिकारक कार्यों में रुकना, छेदना, तोड़ना, भेदना या अन्य कोई वैसा करे तो हर्षित होना, सो आरम्भ क्रिया है।

(२२) परिग्रह क्रिया - परिग्रह का कुछ भी नाश न हो - ऐसे उपायों में लगे रहना, सो परिग्रह क्रिया है।

(२३) माया क्रिया - मायाचार से ज्ञानादि गुणों को छिपाना।

(२४) मिथ्यादर्शन क्रिया - मिथ्यादृष्टियों की तथा मिथ्यात्व से परिपूर्ण कार्यों की प्रशंसा करना, सो मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) अप्रत्याख्यान क्रिया - जो त्याग करने योग्य हो, उसका त्याग न करना, सो अप्रत्याख्यान क्रिया है। (प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है, विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग करने के बदले उनमें आसक्ति करना, सो अप्रत्याख्यान है।)

नोट - नं. १० की क्रिया के नीचे जो नोट है, वह नं. ११ से २५ तक की क्रिया में भी लागू होता है।

नं. ६ से २५ तक की क्रियाओं में आत्मा का अशुभभाव है। अशुभभावरूप जो सकषाय योग है, सो पाप-आस्रव का कारण है, परन्तु जड़ मन, वचन या शरीर की क्रिया है, सो किसी आस्रव का कारण नहीं है। भावास्रव का निमित्त पाकर, जड़ रजकणरूप कर्म, जीव के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से बँधते हैं। इन्द्रिय, कषाय तथा अव्रत कारण है और क्रिया उसका कार्य है॥५॥

आस्रव में विशेषता (हीनाधिकता) का कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

अर्थ - **[तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यः]** तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेष से **[तद्विशेषः]** आस्रव में विशेषता-हीनाधिकता होती है।

टीका—तीव्रभाव - अत्यन्त बढ़े हुए क्रोधादि के द्वारा जो तीव्ररूप भाव होता है, वह तीव्रभाव है।

मन्दभाव - कषायों की मन्दता से जो भाव होता है, उसे मन्दभाव कहते हैं।

ज्ञातभाव - जानकर इरादापूर्वक करने में आनेवाली प्रवृत्ति, ज्ञातभाव है।

अज्ञातभाव - बिना जाने असावधानी से प्रवर्तना, सो अज्ञातभाव है।

अधिकरण - जिस द्रव्य का आश्रय लिया जावे, वह अधिकरण है।

वीर्य - द्रव्य की स्वशक्तिविशेष को वीर्य (बल) कहते हैं॥६॥

अब अधिकरण के भेद बतलाते हैं

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥७॥

अर्थ - [**अधिकरणं**] अधिकरण [**जीवाऽजीवाः**] जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ऐसे दो भेदरूप है; इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मा में जो कर्मास्रव होता है, उसमें दो प्रकार का निमित्त होता है - एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त।

टीका—१- यहाँ अधिकरण का अर्थ निमित्त होता है। छट्ठे सूत्र में आस्रव की तारतम्यता के कारण में 'अधिकरण' एक कारण कहा है। उस अधिकरण के प्रकार बताने के लिये इस सूत्र में यह बताया है कि जीव-अजीव, कर्मास्रव में निमित्त हैं।

२- जीव और अजीव के पर्याय अधिकरण हैं, ऐसा बताने के लिये सूत्र में द्विवचन का प्रयोग न कर बहुवचन का प्रयोग किया है। जीव-अजीव सामान्य अधिकरण नहीं किन्तु जीव-अजीव के विशेष (पर्याय) अधिकरण होते हैं। यदि जीव-अजीव के सामान्य को अधिकरण कहा जाए तो सर्व जीव और सर्व अजीव अधिकरण हों किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि जीव-अजीव की विशेष — पर्यायविशेष ही अधिकरणस्वरूप होती है॥७॥

जीव-अधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भसमारम्भयोगकृतकारितानुमत-
कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

अर्थ - [**आद्यं**] पहला अर्थात् जीव अधिकरण-आस्रव [**संरम्भ समारम्भारम्भ योग, कृतकारितानुमतकषायविशेषैः च**] संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ, मन-वचन-कायरूप तीन योग, कृत-कारिता-अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायों की विशेषता से [**त्रिः त्रिः त्रिः चतुः**] ३×३×३×४ [**एकशः**] १०८ भेदरूप हैं।

टीका—संरम्भादि तीन भेद हैं, उन प्रत्येक में मन-वचन-काय ये तीन भेद लगाने से नवभेद हुये; इन प्रत्येक भेद में कृत-कारित-अनुमोदना, ये तीन भेद लगाने से २७ भेद हुये और इन प्रत्येक में क्रोध-मान-माया-लोभ, ये चार भेद लगाने से १०८ भेद होते हैं। ये सब भेद जीवाधिकरण आस्रव के हैं।

सूत्र में च शब्द अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के चार भेद बतलाता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय – जिस कषाय से जीव अपना स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट न कर सके, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं अर्थात् जो आत्मा के स्वरूपाचरणचारित्र को घाते, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व को अनन्त कहा जाता है; उसके साथ जिस कषाय का बन्ध होता है, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय – जिस कषाय से जीव एकदेशरूप संयम (सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रत) किञ्चित्मात्र भी प्राप्त न कर सके, उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यान कषाय – जिस कषाय से जीव, सम्यग्दर्शनपूर्वक सकल संयम को ग्रहण न कर सके, उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषाय – जिस कषाय से जीव का संयम तो बना रहे, परन्तु शुद्धस्वभाव में – शुद्धोपयोग में पूर्णरूप से लीन न हो सके, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

संरम्भ – किसी भी विकारी कार्य के करने के संकल्प करने को संरम्भ कहा जाता है। (संकल्प दो तरह का है – १. मिथ्यात्वरूप संकल्प, २. अस्थिरतारूप संकल्प)

समारम्भ – उस निर्णय के अनुसार साधन मिलाने के भाव को समारम्भ कहा जाता है।

आरम्भ – उस कार्य के प्रारम्भ करने को आरम्भ कहा जाता है।

कृत – स्वयं करने के भाव को कृत कहते हैं।

कारित – दूसरे से कराने के भाव को कारित कहते हैं।

अनुमत – जो दूसरे करें, उसे भला समझना, सो अनुमत है॥८॥

अजीवाधिकरण आस्रव के भेद बतलाते हैं

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्॥९॥

अर्थ – [**परम्**] दूसरा अजीवाधिकरण आस्रव [**निर्वर्तना द्वि**] दो प्रकार की निर्वर्तना, [**निक्षेप चतुः**] चार प्रकार के निक्षेप [**संयोग द्वि**] दो प्रकार के संयोग और [**निसर्गाः त्रिभेदाः**] तीन प्रकार के निसर्ग ऐसे कुल ११ भेदरूप हैं।

टीका—निर्वर्तना - रचना करना-निपजाना, सो निर्वर्तना है। उसके दो भेद हैं - १. शरीर से कुचेष्टा उत्पन्न करना, सो देहदु:प्रयुक्त निर्वर्तना है और २. शस्त्र इत्यादि हिंसा के उपकरण की रचना करना, सो उपकरण निर्वर्तना है अथवा दूसरी तरह से दो भेद इस तरह होते हैं - १. पाँच प्रकार के शरीर, मन, वचन, श्वासोच्छ्वास का उत्पन्न करना, सो मूलगुण निर्वर्तना है और २. काष्ट, मिट्टी, इत्यादि से चित्र आदि की रचना करना, सो उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेप - वस्तु को रखने को (धरने को) निक्षेप कहते हैं, उसके चार भेद हैं - १. बिना देखे वस्तु का रखना, सो अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है; २. यत्नाचाररहित होकर वस्तु को रखना, सो दु:प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है, ३. भयादिक से या अन्य कार्य करने की जल्दी में पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीरादि के मैल को रखना, सो सहसानिक्षेपाधिकरण है और ४. जीव है या नहीं - ऐसा बिना देखे और बिना विचार किए शीघ्रता से पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीर के मैल को रखना और जहाँ वस्तु रखनी चाहिए, वहाँ न रखना, सो अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

संयोग - मिलाप होना, सो संयोग है। उसके दो भेद हैं - १. भक्तपान संयोग और २. उपकरण संयोग। एक आहार-पानी को दूसरे आहार-पानी के साथ मिला देना, सो भक्तपान संयोग है और ठण्डी पुस्तक, कमण्डलु, शरीरादिक को धूप से गरम हुई पीछी आदि से पोंछना तथा शोधना, सो उपकरण संयोग है।

निसर्ग - प्रवर्तन को निसर्ग कहते हैं। उसके तीन भेद हैं - १. मन को प्रवर्ताना, सो मन निसर्ग है, २. वचनों को प्रवर्ताना, सो वचन निसर्ग है और ३. शरीर को प्रवर्ताना, सो काय निसर्ग है।

नोट - जहाँ-जहाँ पर के करने-कराने की बात कही है, वहाँ-वहाँ व्यवहार-कथन समझना। जीव, पर का कुछ कर नहीं सकता तथा परपदार्थ, जीव का कुछ कर नहीं सकते, किन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दिखाने के लिये इस सूत्र का कथन है॥९॥

यहाँ तक सामान्य आस्रव के कारण कहे; अब विशेष आस्रव के कारण वर्णित करते हैं, उसमें प्रत्येक कर्म के आस्रव के कारण बतलाते हैं -

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव का कारण

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

अर्थ - **[तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्यो तराया सादनोपघाताः]** ज्ञान और दर्शन के सम्बन्ध में करने में आये हुए प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात, ये **[ज्ञानदर्शनावरणयोः]** ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मास्रव के कारण हैं।

टीका—१. प्रदोष - मोक्ष का कारण अर्थात् मोक्ष का उपाय तत्त्वज्ञान है, उसका कथन करनेवाले पुरुष की प्रशंसा न करते हुए अन्तरङ्ग में जो दुष्ट परिणाम होना, सो प्रदोष है।

निह्नव - वस्तुस्वरूप के ज्ञानादि का छुपाना-जानते हुये भी ऐसा कहना कि मैं नहीं जानता, सो निह्नव है।

मात्सर्य - वस्तुस्वरूप के जानते हुये भी यह विचारकर किसी को न पढ़ाना कि 'यदि मैं इसे कहूँगा तो यह पण्डित हो जायेगा', सो मात्सर्य है।

अन्तराय - यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में विघ्न करना, सो अन्तराय है।

आसादन - पर के द्वारा प्रकाश होनेयोग्य ज्ञान को रोकना, सो आसादन है।

उपघात - यथार्थ प्रशस्त ज्ञान में दोष लगाना अथवा प्रशंसायोग्य ज्ञान को दूषण लगाना, सो उपघात है।

इस सूत्र में 'तत्' का अर्थ ज्ञान-दर्शन होता है।

उपरोक्त छह दोष यदि ज्ञानावरण सम्बन्धी हों तो ज्ञानावरण के निमित्त हैं और दर्शनावरण सम्बन्धी हों तो दर्शनावरण के निमित्त हैं।

२. इस सूत्र में जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के आस्रव के छह कारण कहे हैं, उनके बाद ज्ञानावरण के लिये विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसार के चौथे अध्याय की १३ से १६वीं गाथा में निम्न प्रकार दिये हैं—

७. तत्त्वों का उत्सूत्र कथन करना।

८. तत्त्व का उपदेश सुनने में अनादर करना।

९. तत्त्वोपदेश सुनने में आलस्य रखना।

१०. लोभबुद्धि से शास्त्र बेचना।

११. अपने को-निज को बहुश्रुतज्ञ (उपाध्याय) मानकर अभिमान से मिथ्या उपदेश देना।

१२. अध्ययन के लिये जिस समय का निषेध है, उस समय में (अकाल में) शास्त्र पढ़ना।

१३. सच्चे आचार्य तथा उपाध्याय से विरुद्ध रहना।

१४. तत्त्वों में श्रद्धा न रखना।

१५. तत्त्वों का अनुचिन्तन न करना।

१६. सर्वज्ञ भगवान के शासन के प्रचार में बाधा डालना।

१७. बहुश्रुत ज्ञानियों का अपमान करना।

१८. तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने में शठता करना।

३- यहाँ यह तात्पर्य है कि जो काम करने से अपने तथा दूसरे के तत्त्वज्ञान में बाधा आवे या मलिनता हो, वे सब ज्ञानावरणकर्म के आस्रव के कारण हैं। जैसे कि एक ग्रन्थ के असावधानी से लिखने पर किसी पाठ को छोड़ देना अथवा कुछ का कुछ लिख देना, सो ज्ञानावरणकर्म के आस्रव का कारण होता है। *(देखो, तत्त्वार्थसार, पृष्ठ २००-२०१)*

४- और फिर दर्शनावरण के लिये इस सूत्र में कहे गये छह कारणों के पश्चात् अन्य विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसार के चौथे अध्याय की १७-१८-१९ वीं गाथा में निम्नप्रकार दिये हैं—

७- किसी की आँख निकाल लेना, ८. बहुत सोना, ९. दिन में सोना, १०. नास्तिकपन की भावना रखना, ११. सम्यग्दर्शन में दोष लगाना, १२. कुतीर्थवालों की प्रशंसा करना १३. तपस्वियों (दिगम्बर मुनियों) को देखकर ग्लानि करना - ये सब दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

५. शङ्का - नास्तिकपने की वासना आदि से दर्शनावरण का आस्रव कैसे होगा, उनसे तो दर्शनमोह का आस्रव होना सम्भव है, क्योंकि सम्यग्दर्शन से विपरीत कार्यों के द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है, न कि दर्शन-उपयोग?

समाधान - जैसे बाह्य इन्द्रियों से मूर्तिक पदार्थों का दर्शन होता है, वैसे ही विशेष-ज्ञानियों के अमूर्तिक आत्मा का भी दर्शन होता है। जैसे सर्व ज्ञानों में आत्मज्ञान अधिक पूज्य है, वैसे ही बाह्य पदार्थों के दर्शन करने से अन्तर्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसीलिए आत्मदर्शन में बाधक कारणों को दर्शनावरण कर्म के आस्रव का कारण मानना

अनुचित नहीं है। इस प्रकार नास्तिकपने की मान्यता आदि जो कारण लिखे हैं, वे दोष दर्शनावरण कर्म के आस्रव के हेतु हो सकते हैं। *(देखो, तत्त्वार्थसार, पृष्ठ २०१-२०२)*

यद्यपि आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मों का आस्रव प्रति समय हुआ करता है, तथापि प्रदोषादिभावों के द्वारा जो ज्ञानावरणादि खास-विशेष कर्म का बन्ध होना बताया है, वह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की अपेक्षा से समझना अर्थात् प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो सब कर्मों का हुआ करता है किन्तु उस समय ज्ञानावरणादि खास कर्म का स्थिति और अनुभागबन्ध विशेष-अधिक होता है॥१०॥

असातावेदनीय के आस्रव के कारण

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्म-
परोभयस्थानान्यद्वेद्यस्य॥११॥

अर्थ - [**आत्मपरोभयस्थानानि**] अपने में, पर में और दोनों के विषय में स्थित [**दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनानि**] दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन, ये [**असद्वेद्यस्य**] असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

टीका—१. दुःख - पीड़ारूप परिणाम विशेष को दुःख कहते हैं।

२. शोक - अपने को लाभदायक मालूम होनेवाले पदार्थ का वियोग होने पर विकलता होना, सो शोक है।

३. ताप - संसार में अपनी निंदा आदि होने पर पश्चाताप होना।

४. आक्रन्दन - पश्चाताप से अश्रुपात करके रोना, सो आक्रन्दन है।

५. वध - प्राणों का वियोग करने को वध कहते हैं।

६. परिदेवन - संक्लेश परिणामों के कारण से ऐसा रुदन करना कि जिससे सुननेवाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जाये, सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक, ताप आदि दुःख के ही भेद हैं, तथापि दुःख की जातियाँ बताने के लिये ये दो भेद बताये हैं।

२. स्वयं को, पर को या दोनों को एकसाथ दुःख-शोकादि उत्पन्न करना, सो असातावेदनीय कर्म के आस्रव का कारण होता है।

प्रश्न - यदि दु:खादिक निज में, पर मे, या दोनों में स्थित होने से असातावेदनीय कर्म के आस्रव का कारण होता है तो अर्हन्त मत के माननेवाले जीव केशलोंच, अनशन-तप, आतपस्थान इत्यादि दु:ख के निमित्त स्वयं करते हैं और दूसरों को भी वैसा उपदेश देते हैं, तो इसीलिए उनके भी आसातावेदनीय कर्म का आस्रव होगा?

उत्तर - नहीं, यह दूषण नहीं है। यह विशेष कथन ध्यान में रखना कि यदि अन्तरङ्ग क्रोधादिक परिणामों के आवेशपूर्वक खुद को, दूसरे को या दोनों को दु:खादि देने का भाव हो तो ही वह असातावेदनीय कर्म के आस्रव का कारण होता है। भावार्थ यह है कि अन्तरङ्ग क्रोधादिक के वश होने से आत्मा के जो दु:ख होता है, वह दु:ख केशलोंच, अनशन तप या आतापयोग इत्यादि धारण करने में सम्यग्दृष्टि मुनि के नहीं होता, इसलिए उनके इससे असातावेदनीय आस्रव नहीं होता, वह तो उनका शरीर के प्रति वैराग्यभाव है।

यह बात दृष्टान्त द्वारा समझायी जाती है -

दृष्टान्त - जैसे कोई दया के अभिप्रायवाला-दयालु और शल्यरहित वैद्य, संयमी पुरुष के फोड़े को काटने या चीरने का काम करता है और उस पुरुष को दु:ख होता है, तथापि उस बाह्य निमित्तमात्र के कारण पापबन्ध नहीं होता, क्योंकि वैद्य के भाव उसे दु:ख देने के नहीं हैं।

सिद्धान्त - वैसे ही संसार सम्बन्धी महादु:ख से उद्विग्न हुए मुनि, संसार सम्बन्धी महादु:ख का अभाव करने के उपाय के प्रति लग रहे हैं, उनके संक्लेश परिणाम का अभाव होने से, शास्त्र विधान करने में आये हुये कार्यों में स्वयं प्रवर्तने से या दूसरों को प्रवर्ताने से पापबन्ध नहीं होता, क्योंकि उनका अभिप्राय दु:ख देने का नहीं, इसलिए वह असातावेदनीय के आस्रव के कारण नहीं हैं।

३- इस सूत्र का सिद्धान्त

बाह्य निमित्तों के अनुसार आस्रव या बन्ध नहीं होता, किन्तु जीव स्वयं जैसा भाव करे, उस भाव के अनुसार आस्रव और बन्ध होता है। यदि जीव स्वयं विकारभाव करे तो बन्ध हो और विकारभाव न करे तो बन्ध नहीं होता॥११॥

सातावेदनीय के आस्रव के कारण

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः
शौचमिति सद्वेद्यस्य॥१२॥

अर्थ - [**भूतव्रत्यनुकंपा**] प्राणियों के प्रति और व्रतधारियों के प्रति अनुकम्पा-दया [**दान-सरागसंयमादियोगः**] दान, सराग संयमादि के योग, [**क्षांतिः शौचमिति**] क्षमा और शौच, अर्हन्तभक्ति इत्यादि [**सद्वेद्यस्य**] सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

टीका—१. भूत = चारों गतियों के प्राणी।

व्रती = जिन्होंने सम्यग्दर्शनपूर्वक अणुव्रत या महाव्रत धारण किये हों - ऐसा जीव; इन दोनों पर अनुकम्पा - दया करना सो, भूतव्रत्यनुकम्पा है।

प्रश्न - जब कि 'भूत' कहने पर उसमें समस्त जीव आ गये तो फिर 'व्रती' बतलाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर - सामान्य प्राणियों से व्रती जीवों के प्रति अनुकम्पा की विशेषता बतलाने के लिये यह कहा गया है; व्रती जीवों के प्रति भक्तिपूर्वक भाव होना चाहिए।

दान = दुःखित, भूखे आदि जीवों के उपकार के लिये धन, औषधि, आहारादिक देना तथा व्रती सम्यग्दृष्टि सुपात्र जीवों को भक्तिपूर्वक दान देना, सो दान है।

सरागसंयम = सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र के धारक मुनि के जो महाव्रतरूप शुभभाव है, संयम के साथ वह राग होने से सरागसंयम कहा जाता है। वस्तुतः राग कुछ संयम नहीं; जितना वीतरागभाव है, वह संयम है।

प्रश्न - चारित्र दो तरह के बताये गये हैं - एक वीतरागचारित्र और दूसरा सरागचारित्र और चारित्र, बन्ध का कारण नहीं है, तो फिर यहाँ सरागसंयम को आस्रव और बन्ध का कारण क्यों कहा है ?

उत्तर - जहाँ सरागसंयम को बन्ध का कारण कहा, वहाँ ऐसा समझना कि वास्तव में चारित्र (संयम) बन्ध का कारण नहीं, किन्तु जो राग है, वह बन्ध का कारण है। जैसे - चावल दो तरह के हैं - एक तो भूसेसहित और दूसरा भूसेरहित; वहाँ भूसा, चावल का स्वरूप नहीं है, किन्तु चावल में वह दोष है। अब यदि कोई सयाना पुरुष, भूसेसहित चावल का संग्रह करता हो तो उसे देखकर कोई भोला मनुष्य, भूसे को ही चावल मानकर उसका संग्रह करे तो वह निरर्थक खेद-खिन्न ही होगा। वैसे ही चारित्र (संयम) दो भेदरूप है - एक सराग तथा दूसरा वीतराग। यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है, वह चारित्र का स्वरूप नहीं किन्तु चारित्र में वह दोष है। अब यदि कोई सम्यग्ज्ञानी पुरुष, प्रशस्त रागसहित चारित्र को

धारण करे तो उसे देखकर कोई अज्ञानी, प्रशस्त राग को ही चारित्र मानकर उसे धारण करे तो वह निरर्थक खेद-खिन्न ही होगा। *(देखो, आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७ पृष्ठ २४५ तथा श्री समयसार, पृष्ठ ५५८)*

मुनि को चारित्रभाव मिश्ररूप है। कुछ तो वीतराग हुआ है और कुछ सराग है; वहाँ जिस अंश से वीतराग हुआ है, उसके द्वारा तो संवर है और जिस अंश से सराग रहा है, उसके द्वारा बन्ध है। सो एक भाव से तो दो कार्य बनते हैं, किन्तु एक प्रशस्त राग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना, यह भ्रम है। अपने मिश्रभाव में ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि के ही होती है कि 'यह सरागता है और यह वीतरागता है।' इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभाव को हेयरूप श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टि के ऐसी परीक्षा न होने से सरागभाव में संवर के भ्रम द्वारा प्रशस्त-रागरूप कार्य को उपादेय मानता है।

(देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३४-३३५)

इस तरह सराग-संयम में जो महाव्रतादि पालन करने का शुभभाव है, वह आस्रव होने से बन्ध का कारण है, किन्तु जितना निर्मल चारित्र प्रगट हुआ है, वह बन्ध का कारण नहीं है।

३- इस सूत्र में 'आदि' शब्द है, उसमें संयमासंयम, अकामनिर्जरा, और बालतप का समावेशा होता है।

संयमासंयम - सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रत।

अकामनिर्जरा - पराधीनता से (अपनी बिना इच्छा के) भोग-उपभोग का निरोध होने पर संक्लेशतारहित होना अर्थात् कषाय की मन्दता करना, सो अकामनिर्जरा है।

बालतप - मिथ्यादृष्टि के मन्द कषाय से होनेवाला तप।

४- इस सूत्र में 'इति' शब्द है, उसमें अरहन्त का पूजन, बाल, वृद्ध या तपस्वी मुनियों की वैयावृत्य करने में उद्यमी रहना, योग की सरलता और विनय का समावेश हो जाता है।

योग - शुभपरिणामसहित निर्दोष क्रियाविशेष को योग कहते हैं।

क्षान्ति - शुभपरिणाम की भावना से क्रोधादि कषाय में होनेवाली तीव्रता के अभाव को क्षांति (क्षमा) कहते हैं।

शौच - शुभपरिणामपूर्वक जो लोभ का त्याग है, सो शौच है। वीतरागी निर्विकल्प क्षमा और शौच को 'उत्तम क्षमा' और 'उत्तम शौच' कहते हैं, वह आस्रव का कारण नहीं है।

अब अनन्त संसार के कारणीभूत दर्शनमोह के आस्रव के कारण कहते हैं

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अर्थ - [**केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः**] केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अवर्णवाद करना, सो [**दर्शनमोहस्य**] दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है।

टीका—१. अवर्णवाद - जिसमें जो दोष न हो, उसमें उस दोष का आरोपण करना, सो अवर्णवाद है।

केवलित्व, मुनित्व और देवत्व, ये आत्मा की ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के स्वरूप हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि, ये पाँचों पद निश्चय से आत्मा ही हैं (देखो, योगीन्द्रदेवकृत योगसार, गाथा १०४, परमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३९३, ३९४) इसलिए उनका स्वरूप समझने में यदि भूल हो और उनमें न हो, ऐसा दोष कल्पित किया जाये तो आत्मा का स्वरूप न समझे और मिथ्यात्वभाव का पोषण हो। धर्म, आत्मा का स्वभाव है; इसलिए धर्म-सम्बन्धी झूठी दोष-कल्पना करना, सो भी महान् दोष है।

२. श्रुत का अर्थ है शास्त्र; वह जिज्ञासु जीवों के आत्मा का स्वरूप समझने में निमित्त है, इसीलिए मुमुक्षुओं को सच्चे शास्त्रों के स्वरूप का भी निर्णय करना चाहिए।

३- केवली भगवान के अवर्णवाद का स्वरूप

१. भूख और प्यास, यह पीड़ा है, उस पीड़ा से दुःखी हुए जीव ही आहार लेने की इच्छा करते हैं। भूख और प्यास के कारण दुःख का अनुभव होना, सो आर्त्तध्यान है। केवली भगवान के सम्पूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख होता है तथा उनके परम शुक्लध्यान रहता है। इच्छा तो वर्तमान में रहनेवाली दशा के प्रति द्वेष और परवस्तु के प्रति राग का अस्तित्व सूचित करती है। केवली भगवान के इच्छा ही नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि केवली भगवान अन्न का आहार (कवलाहार) करते हैं, यह न्याय-विरुद्ध है। केवली भगवान के समपूर्ण वीर्य प्रगट हुआ होने से उनके भूख और प्यास की पीड़ा ही नहीं होती और अनन्त सुख प्रगट होने से इच्छा ही नहीं होती, और बिना इच्छा कवल-आहार कैसा? जो इच्छा है, सो दुःख है -लोभ है, इसलिए केवली भगवान में आहार लेने का दोष कल्पित करना, सो केवली का और अपने शुद्धस्वरूप का अवर्णवाद है। यह दर्शनमोहनीयकर्म के आस्रव का कारण है, अर्थात् यह अनन्त संसार का कारण है।

(२) आत्मा को वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होने के बाद शरीर में शौच या दूसरा कोई दर्द (रोग) हो और उसकी दवा लेने या दवा लाने के लिये किसी को कहना, यह अशक्य है[१] दवा लेने की इच्छा होना और दवा लाने के लिये किसी शिष्य को कहना, ये सब दु:ख का अस्तित्व सूचित करता है। अनन्तसुख के स्वामी केवली भगवान के आकुलता, विकल्प, लोभ इच्छा या दु:ख होने की कल्पना, अर्थात् केवली भगवान को सामान्य छद्मस्थ की तरह मानना न्याय-विरुद्ध है। यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को समझे तो आत्मा की समस्त दशाओं का स्वरूप ध्यान में आ जाये। भगवान, छद्मस्थ मुनिदशा में करपात्र (हाथ में भोजन करनेवाले) होते हैं और आहार के लिये स्वयं जाते हैं, किन्तु यह अशक्य है कि केवलज्ञान होने के बाद रोग हो, दवा की इच्छा उत्पन्न हो और वह लाने के लिये शिष्य को आदेश दें। केवलज्ञान होने पर शरीर की दशा उत्तम होती है और शरीर परम औदारिकरूप में परिणमित हो जाता है। उस शरीर में रोग होता ही नहीं। यह अबाधित सिद्धान्त है कि 'जहाँ तक राग हो, वहाँ तक रोग हो, परन्तु भगवान को राग नहीं है, इसी कारण उनके शरीर को रोग भी कभी होता ही नहीं। इसलिए इससे विरुद्ध मानना, सो अपने आत्मस्वरूप का और उपचार से अनन्त केवलीभगवन्तों का अवर्णवाद है।

(३) किसी भी जीव के गृहस्थदशा में केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा मानना बड़ी भूल है। गृहस्थदशा छोड़े बिना भावसाधुत्व आ ही नहीं सकता, भावसाधुत्व हुए बिना भी केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है? भावसाधुत्व छट्ठे-सातवें गुणस्थान में होता है और केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में होता है, इसलिए गृहस्थदशा में कभी भी किसी जीव के केवलज्ञान नहीं होता। इससे विरुद्ध जो मान्यता है, सो अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवानों का अवर्णवाद है।

(४) छद्मस्थ जीवों के जो ज्ञान-दर्शन-उपयोग होता है, वह ज्ञेय-सन्मुख होने से होता है, इस दशा में एक ज्ञेय से हटकर दूसरे ज्ञेय की तरफ प्रवृत्ति करता है, ऐसी प्रवृत्ति के बिना छद्मस्थ जीव का ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता; इसी से पहले चार ज्ञान पर्यन्त के कथन में उपयोग शब्द का प्रयोग उसके अर्थ के अनुसार ('उपयोग' के अन्वयार्थ के अनुसार) कहा जा सकता है; परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन तो अखण्ड अविच्छिन्न है; उसको ज्ञेय-सन्मुख नहीं होना पड़ता, अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन को एक ज्ञेय से हटकर दूसरे

१. *तीर्थङ्कर भगवान के जन्म से ही मल-मूत्र नहीं होता और समस्त केवली भगवानों के केवलज्ञान होने के बाद रोग, आहार-निहार आदि नहीं होता।*

ज्ञेय की तरफ नहीं लगाना पड़ता। केवली भगवान के केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ ही होते हैं, फिर भी ऐसा मानना मिथ्यामान्यता है कि 'केवली भगवान के तथा सिद्ध भगवान के जिस समय ज्ञानोपयोग होता है, तब दर्शनोपयोग नहीं होता और जब दर्शनोपयोग होता है, तब ज्ञानोपयोग नहीं होता।' – ऐसा मानना कि 'केवली भगवान को तथा सिद्ध भगवान को केवलज्ञान प्रगट होने के बाद जो अनन्तकाल है, उसके अर्धकाल में ज्ञान के कार्य बिना और अर्द्धकाल दर्शन के कार्य बिना व्यतीत करना पड़ता है' ठीक है क्या? नहीं, यह मान्यता भी न्याय-विरुद्ध ही है, इसलिए ऐसी खोटी (मिथ्या) मान्यता रखना, सो अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवानों का अवर्णवाद है।

(५) चतुर्थ गुणस्थान (सम्यग्दर्शन) साथ ले जानेवाला आत्मा पुरुषपर्याय में ही जन्मता है, स्त्रीरूप में कभी भी पैदा नहीं होता; इसलिए स्त्रीरूप से कोई तीर्थङ्कर नहीं हो सकता, क्योंकि तीर्थङ्कर होनेवाला आत्मा, सम्यग्दर्शनसहित ही जन्मता है और इसीलिए वह पुरुष ही होता है। यदि ऐसा मानें कि किसी काल में एक स्त्री तीर्थङ्कर हो तो भूत और भविष्य की अपेक्षा से (चाहे जितने लम्बे समय में हो तथापि) अनन्त स्त्रियाँ तीर्थङ्कर हों और इसी कारण यह सिद्धान्त भी टूट जायेगा कि सम्यग्दर्शनसहित आत्मा स्त्रीरूप में पैदा नहीं होता; इसलिए स्त्री को तीर्थङ्कर मानना, सो मिथ्यामान्यता है और ऐसा माननेवाले ने आत्मा की शुद्धदशा का स्वरूप नहीं जाना। वह यथार्थ में अपने शुद्धस्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवानों का अवर्णवाद है।

(६) किसी भी कर्मभूमि की स्त्री के प्रथम के तीन उत्तम संहनन का उदय ही नहीं होता;[१] जब जीव के केवलज्ञान हो, तब पहला ही संहनन होता है – ऐसा केवलज्ञान और पहले संहनन के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। स्त्री के पाँचवें गुणस्थान से ऊपर की अवस्था प्रगट नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि स्त्री के शरीरवान जीव को उसी भव में केवलज्ञान होता है, सो अपने शुद्धस्वरूप का अवर्णवाद है और उपचार से अनन्त केवली भगवानों का तथा साधुसंघ का अवर्णवाद है।

(७) भगवान की दिव्यध्वनि को देव, मनुष्य, तिर्यञ्च – सर्व जीव अपनी-अपनी भाषा में अपने ज्ञान की योग्यतानुसार समझते हैं; उस निरक्षर ध्वनि को ॐकार ध्वनि भी कहा है। श्रोताओं के कर्णप्रदेश तक वह ध्वनि न पहुँचे, वहाँ तक वह अनक्षर ही है, और

१. देखो, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३२

जब वह श्रोताओं के कर्ण में प्राप्त हो, तब अक्षररूप होती है। *(गो० जी० गाथा २२७ टीका)*

तालु, ओष्ठ आदि के द्वारा केवली भगवान की वाणी नहीं खिरती किन्तु सर्वाङ्ग निरक्षरी वाणी खिरती है; इससे विरुद्ध मानना, सो आत्मा के शुद्धस्वरूप का और उपचार से केवली भगवान का अवर्णवाद है।

(८) सातवें गुणस्थान से वंद्य-वन्दकभाव नहीं होता, इसलिए वहाँ व्यवहार विनय-वैयावृत्य आदि नहीं होते। ऐसा मानना कि केवली किसी का विनय करे या कोई जीव केवलज्ञान होने के बाद गृहस्थ-कुटुम्बियों के साथ रहे या गृह-कार्य में भाग लेता है - सो तो वीतराग को सरागी मानना है। ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है कि किसी भी द्रव्यस्त्री के केवलज्ञान उत्पन्न होता है। 'कर्मभूमि की महिला के प्रथम तीन संहनन होते ही नहीं और चौथा संहनन हो, तब वह जीव ज्यादा से ज्यादा सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है' (देखो, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २९-३२) इससे विरुद्ध मानना, सो आत्मा के शुद्धस्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवान का अवर्णवाद है।

(९) कुछ लोगों को ऐसा मानना है कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, सो यह मान्यता भूल से भरी हुई है। आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है। ज्ञान क्या नहीं जानता? ज्ञान सबको जानता है, ऐसी उसमें शक्ति है और वीतराग-विज्ञान के द्वारा वह शक्ति प्रगट कर सकता है। पुनश्च, कोई ऐसा मानते हैं कि केवलज्ञानी आत्मा सर्वद्रव्य, उसके अनन्तगुण और उसकी अनन्त पर्यायों को एक साथ जानता है, तथापि उसमें से कुछ जानने में नहीं आता - जैसे कि एक बच्चा दूसरे से कितना बड़ा, कितने हाथ लम्बा, एक घर दूसरे घर से कितने हाथ दूर है, इत्यादि बातें केवलज्ञान में मालूम नहीं होती। सो यह मान्यता सदोष है। इसमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवानों का अवर्णवाद है। भाविकाल में होनहार, सर्वद्रव्य की सर्वपर्यायें भी केवलज्ञानी के वर्तमान ज्ञान में निश्चितरूप से प्रतिभासित हैं, ऐसा न मानना, वह भी केवली को न मानना है।

(१०) ऐसा मानना कि केवली तीर्थङ्कर भगवान ने ऐसा उपदेश किया है कि 'शुभराग से धर्म होता है, शुभ व्यवहार करते-करते निश्चय धर्म होता है' सो यह उनका अवर्णवाद है। 'शुभभाव के द्वारा धर्म होता है, इसीलिए भगवान ने शुभभाव किये थे। भगवान ने तो दूसरों का भला करने में अपना जीवन अर्पण कर दिया था'—इत्यादिरूप से भगवान की जीवन-कथा कहना या लिखना, सो अपने शुद्धस्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवानों का अवर्णवाद है।

(११) प्रश्न – यदि भगवान ने पर का कुछ नहीं किया तो फिर जगदुद्धारक, तरण-तारण, जीवन-दाता, बोधि-दाता इत्यादि उपनामों से क्यों पहचाने जाते हैं ?

उत्तर – ये सब नाम उपचार से हैं। जब भगवान को दर्शनविशुद्धि की भूमिका में अनिच्छकभाव से धर्मराग हुआ, तब तीर्थङ्करनामकर्म बँध गया। तत्त्वस्वरूप यों है कि भगवान को तीर्थङ्कर प्रकृति बँधते समय जो शुभभाव हुआ था, उसे उन्होंने उपादेय नहीं माना था, किन्तु उस शुभभाव और उस तीर्थङ्करनामकर्म-दोनों का अभिप्राय में निषेध ही था। इसीलिए वे राग को नष्ट करने का प्रयत्न करते थे। अन्त में राग दूर कर वीतराग हुए, फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ और स्वयं दिव्यध्वनि प्रगट हुई; योग्य जीवों ने उसे सुनकर मिथ्यात्व को छोड़कर स्वरूप समझा और ऐसे जीवों ने उपचार विनय से जगत्उद्धारक, तरण-तारण, इत्यादि नाम भगवान को दिये। यदि वास्तव में भगवान ने दूसरे जीवों का कुछ किया हो या कर सकते हों तो जगत् के सब जीवों को मोक्ष में साथ क्यों नहीं ले गये ? इसलिए शास्त्र का कथन किस नय का है, यह लक्ष में रखकर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिए। भगवान को पर का कर्ता ठहराना भी भगवान का अवर्णवाद है।

इत्यादि प्रकार से आत्मा के शुद्धस्वरूप में दोषों की कल्पना, आत्मा के अनन्त संसार का कारण है। इस प्रकार केवली भगवान के अवर्णवाद का स्वरूप कहा।

४. श्रुत के अवर्णवाद का स्वरूप

(१) जो शास्त्र, न्याय की कसौटी पर चढ़ाने पर अर्थात् सम्यग्ज्ञान के द्वारा परीक्षा करने पर प्रयोजनभूत बातों में सच्चे-यथार्थ मालूम पड़ें, उन्हें ही यथार्थ-ठीक मानना चाहिए। जब लोगों की स्मरण-शक्ति कमजोर हो, तब ही शास्त्र लिखने की पद्धति होती है; इसीलिए लिखे हुए शास्त्र गणधर श्रुतकेवली के गूथे हुए शब्दों में ही न हों, किन्तु सम्यग्ज्ञानी आचार्यों ने उनके यथार्थ भाव जानकर अपनी भाषा में गूँथे हों, वह भी सत्श्रुत हैं।

(२) सम्यग्ज्ञानी आचार्य आदि के बनाये हुये शास्त्रों की निन्दा करना, सो अपने सम्यग्ज्ञान की ही निन्दा करने के सदृश है; क्योंकि जिसने सच्चे शास्त्र की निन्दा की, उसका ऐसा भाव हुआ कि मुझे ऐसे सच्चे निमित्त का संयोग न हो, किन्तु खोटे निमित्त का संयोग हो, अर्थात् मेरा उपादान सम्यग्ज्ञान के योग्य न हो, किन्तु मिथ्याज्ञान के योग्य हो।

(३) किसी ग्रन्थ के कर्ता के रूप में तीर्थङ्कर भगवान का, केवली का, गणधर का या आचार्य का नाम दिया हो, इसलिए उसे सच्चा शास्त्र मान लेना, सो न्याय-सङ्गत नहीं है।

मुमुक्षु जीवों को तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करके सत्य-असत्य का निर्णय करना चाहिए। भगवान के नाम से किसी ने कल्पित शास्त्र बनाया हो, उसे सत्श्रुत मान लेना, सो सत्श्रुत का अवर्णवाद है। जिन शास्त्रों में मांस-भक्षण, मदिरा-पान, वेदना से पीड़ित मैथुन सेवन, रात्रि-भोजन इत्यादि को निर्दोष कहा हो, भगवती सती को पाँच पति कहे हों, तीर्थङ्कर भगवान के दो माता, दो पिता कहे हों, वे शास्त्र यथार्थ नहीं है; इसलिए सत्यासत्य की परीक्षा कर असत्य की मान्यता छोड़ना।

५. संघ के अवर्णवाद का स्वरूप

प्रथम निश्चय सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्रगट करना चाहिए - ऐसा नियम है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जिसे सातवाँ-छट्ठा गुणस्थान प्रगट हो, उसके सच्चा साधुत्व होता है, उनके शरीर पर की स्पर्शेन्द्रिय का राग, लज्जा तथा रक्षादिक का राग भी दूर हो जाता है; इसीलिए उनके सर्दी, गर्मी, बरसात आदि से रक्षा करने का भाव नहीं होता; मात्र संयम के हेतु इस पद के योग्य निर्दोष शुद्ध आहार की इच्छा होती है, इसी से उस गुणस्थानवाले जीवों के अर्थात् साधु के शरीर या संयम की रक्षा के लिये भी वस्त्र नहीं होते। तथापि ऐसा मानना कि जब तीर्थङ्कर भगवान दीक्षा लेते हैं, तब धर्मबुद्धि से देव उन्हें वस्त्र देते हैं और भगवान उसे अपने साथ रखते हैं, सो न्याय-विरुद्ध है। इसमें संघ और देव दोनों का अवर्णवाद है। स्त्रीलिङ्ग के साधुत्व मानना, अतिशूद्र जीवों को साधुत्व होना मानना, सो संघ का अवर्णवाद है। देह के ममत्व से रहित, निर्ग्रन्थ, वीतराग मुनियों के देह को अपवित्र कहना, निर्लज्ज कहना, बेशर्म कहना तथा ऐसा कहना कि 'जब यहाँ भी दु:ख भोगते हैं, तो परलोक में कैसे सुखी होंगे,' सो संघ अवर्णवाद है।

साधु-संघ चार प्रकार का है। वह इस प्रकार है - जिनके ऋद्धि प्रगट हुई हो, सो ऋषि; जिनके अवधि-मन:पर्ययज्ञान हो, सो मुनि; जो इन्द्रियों को जीते, सो यति और अनगार यानी सामान्य साधु।

६. धर्म के अवर्णवाद का स्वरूप

जो आत्मस्वभाव के स्वाश्रय से शुद्ध परिणमन है, सो धर्म है; सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर यह धर्म प्रारम्भ होता है। शरीर की क्रिया से धर्म नहीं होता; पुण्य विकार है, अत: उससे धर्म नहीं होता तथा वह धर्म में सहायक नहीं होता। ऐसा धर्म का स्वरूप है। इससे विपरीत मानना, सो धर्म का अवर्णवाद है। 'जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए धर्म में कुछ भी गुण

नहीं है, उसके सेवन करनेवाले असुर होंगे, तीर्थङ्कर भगवान ने जो धर्म कहा है, उसी रूप से जगत् के अन्य मतों के प्रवर्तक भी कहते हैं, सबका ध्येय समान है'—ऐसा मानना, सो धर्म का अवर्णवाद है।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझना और सच्ची मान्यता करना तथा खोटी मान्यता छोड़ना, सो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से आत्मा की अहिंसा है और क्रम-क्रम से सम्यक्चारित्र बढ़ने पर जितना राग-द्वेष का अभाव होता है, उतनी चारित्र-अपेक्षा आत्मा की अहिंसा है। राग-द्वेष सर्वथा दूर हो जाता है, यह आत्मा की सम्पूर्ण अहिंसा है। ऐसी अहिंसा, जीव का धर्म है; इस प्रकार अनन्त ज्ञानियों ने कहा है; इससे विरुद्ध जो मान्यता है, सो धर्म का अवर्णवाद है।

७. देव के अवर्णवाद का स्वरूप

स्वर्ग के देव के एक प्रकार का अवर्णवाद ५वें पैराग्राफ में बतलाया है। उसके बाद ये देव माँस-भक्षण करते हैं, मद्यपान करते हैं, भोजनादिक करते हैं, मनुष्यिनी-स्त्रियों के साथ कामसेवन करते हैं - इत्यादि मान्यता देव का अवर्णवाद है।

८. ये पाँच प्रकार के अवर्णवाद दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण हैं, और जो दर्शन -मोह है, सो अनन्त संसार का कारण है।

९. इस सूत्र का सिद्धान्त

शुभविकल्प से धर्म होता है—ऐसी मान्यतारूप अगृहीत-मिथ्यात्व तो जीव के अनादि से चला आया है। मनुष्यगति में जीव जिस कुल में जन्म पाता है, उस कुल में अधिकतर किसी न किसी प्रकार के धर्म की मान्यता होती है। पुनश्च उस कुलधर्म में किसी को देवरूप से, किसी को गुरुरूप से, किसी पुस्तक को शास्त्ररूप से और किसी क्रिया को धर्मरूप से माना जाता है। जीव को बचपन में इस मान्यता का पोषण मिलता है और बड़ी उम्र में अपने कुल के धर्मस्थान में जाने पर वहाँ भी मुख्यरूप से उसी मान्यता का पोषण मिलता है। इस अवस्था में जीव विवेकपूर्वक सत्य-असत्य का निर्णय अधिकतर नहीं करता और सत्य-असत्य के विवेक से रहित दशा होने से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर अनेक प्रकार झूठे आरोप करता है। यह मान्यता इस भव में नई ग्रहण की हुई होने से और मिथ्या होने से उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ये अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व अनन्त संसार के कारण हैं। इसलिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र-धर्म का और अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर अगृहीत तथा गृहीत दोनों मिथ्यात्व का नाश करने के लिए ज्ञानियों का उपदेश है।

(अगृहीत मिथ्यात्व का विषय आठवें बन्ध अधिकार में आवेगा)। आत्मा को न मानना, सत्य मोक्षमार्ग को दूषित-कल्पित करना, असत् मार्ग को सत्य मोक्षमार्ग मानना, परम सत्य वीतरागी विज्ञानमय उपदेश की निन्दा करना - इत्यादि जो-जो कार्य सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं, वे सब दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण हैं॥९३॥

अब चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण बतलाते हैं

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य॥१४॥

अर्थ - **[कषायोदयात्]** कषाय के उदय से **[तीव्रपरिणामः]** तीव्र परिणाम होना, सो **[चारित्रमोहस्य]** चारित्रमोहनीय के आस्रव का कारण है।

टीका—१- कषाय की व्याख्या इस अध्याय के पाँचवें सूत्र में कही जा चुकी है। उदय का अर्थ विपाक-अनुभव है। ऐसा समझना चाहिए कि जीव, कषाय-कर्म के उदय में युक्त होकर जितना राग-द्वेष करता है, उतना उस जीव के कषाय का उदय-विपाक (अनुभव) हुआ। कषायकर्म के उदय में युक्त होने से जीव को जो तीव्रभाव होता है, वह चारित्रमोहनीयकर्म के आस्रव का कारण (निमित्त) है - ऐसा समझना।

२- चारित्रमोहनीय के आस्रव का इस सूत्र में संक्षेप में वर्णन है; उसका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है -

(१) अपने तथा पर को कषाय उत्पन्न करना।

(२) तपस्वीजनों को चारित्र-दोष लगाना।

(३) संक्लेशपरिणाम को उत्पन्न करानेवाला भेष, व्रत इत्यादि धारण करना—इत्यादि लक्षणवाला परिणाम, कषायकर्म के आस्रव का कारण है।

(१) गरीबों का अति हास्य करना।

(२) बहुत ज्यादा व्यर्थ प्रलाप करना। (३) हँसी का स्वभाव रखना—इत्यादि लक्षणवाला परिणाम, हास्यकर्म के आस्रव का कारण है।

(१) विचित्र क्रीड़ा करने में तत्परता होना।

(२) व्रत-शील में अरुचि परिणाम करना—इत्यादि लक्षणवाले परिणाम, रतिकर्म के आस्रव का कारण हैं।

(१) पर को अरति उत्पन्न कराना। (२) पर की रति का विनाश करना।

(३) पाप करने का स्वभाव होना। (४) पाप का संसर्ग करना—इत्यादि लक्षणवाले परिणाम, अरतिकर्म के आस्रव का कारण हैं।

(१) दूसरे को शोक पैदा करना। (२) दूसरे के शोक में हर्ष मानना—इत्यादि लक्षणवाले परिणाम, शोककर्म के आस्रव का कारण हैं।

(१) स्वयं के भयरूप भाव रखना। (२) दूसरे को भय उत्पन्न कराना—इत्यादि लक्षणवाले परिणाम, भयकर्म के आस्रव के कारण हैं।

भली क्रिया - आचार के प्रति ग्लानि आदि के परिणाम होना, सो जुगुप्साकर्म के आस्रव का कारण है।

(१) झूठ बोलने का स्वभाव होना। (२) मायाचार में तत्पर रहना। (३) पर के छिद्र की आकांक्षा अथवा बहुत ज्यादा राग होना—इत्यादि परिणाम, स्त्रीवेदकर्म के आस्रव का कारण हैं।

(१) थोड़ा क्रोध होना। (२) इष्ट पदार्थों में आशक्ति का कम होना। (३) अपनी स्त्री में सन्तोष होना—इत्यादि परिणाम, पुरुषवेदकर्म के आस्रव का कारण हैं।

(१) कषाय की प्रबलता होना। (२) गुह्य इन्द्रियों को छेदन करना। (३) परस्त्रीगमन करना—इत्यादि परिणाम होना, सो नपुंसकवेद के आस्रव का कारण है।

३- 'तीव्रता बन्ध का कारण है और सर्वजघन्यता बन्ध का कारण नहीं है' यह सिद्धान्त आत्मा के समस्त गुणों में लागू होता है। आत्मा में होनेवाला मिथ्यादर्शन का जो जघन्य से भी जघन्यभाव होता है, वह दर्शनमोहनीयकर्म के आस्रव का कारण नहीं है। यदि अन्तिम अंश भी बन्ध का कारण हो तो कोई भी जीव व्यवहार में कर्मरहित नहीं हो सकता। (देखो, अध्याय ५, सूत्र ३४ की टीका) ॥१४॥

अब, आयु के आस्रव के कारण कहते हैं—

नरकायु के आस्रव के कारण

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

अर्थ - [**बह्वारम्भपरिग्रहत्वं**] बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना, सो [**नारकस्यायुषः**] नरकायु के आस्रव का कारण है।

टीका—१. बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखने का जो भाव है, सो नरकायु के

आस्रव का कारण है। 'बहु' शब्द संख्यावाचक तथा परिणामवाचक है; ये दोनों अर्थ यहाँ लागू होते हैं। अधिक संख्या में आरम्भ-परिग्रह रखने से नरकायु का आस्रव होता है। आरम्भ -परिग्रह रखने के बहु परिणाम से नरकायु का आस्रव होता है; बहु आरम्भ-परिग्रह का जो भाव है, सो उपादानकारण है और जो बाह्य बहुत आरम्भ-परिग्रह है, सो निमित्तकारण है।

२. आरम्भ - हिंसादि प्रवृत्ति का नाम आरम्भ है। जितना भी आरम्भ किया जाता है उसमें स्थावरादि जीवों का नियम से वध होता है। आरम्भ के साथ 'बहु' शब्द का समास करके ज्यादा आरम्भ अथवा बहुत तीव्रपरिणाम से जो आरम्भ किया जाता है, वह बहु आरम्भ है - ऐसा अर्थ समझना।

३. परिग्रह - 'यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ' - ऐसा पर में अपनेपन का अभिमान अथवा परवस्तु में 'यह मेरी है' ऐसा जो सङ्कल्प है, सो परिग्रह है। केवल बाह्य धन-धान्यादि पदार्थों में ही 'परिग्रह' नाम लागू होता है, यह बात नहीं है; बाह्य में किसी भी पदार्थ के न होने पर भी यदि भाव में ममत्व हो तो वहाँ भी परिग्रह कहा जा सकता है।

४. सूत्र में जो नरकायु के आस्रव के कारण बताये हैं, वे संक्षेप से हैं, उन भावों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है -

(१) मिथ्यादर्शनसहित हीनाचार में तत्पर रहना। (२) अत्यन्त मान करना। (३) शिलाभेद की तरह अत्यन्त तीव्र क्रोध करना। (४) अत्यन्त तीव्र लोभ का अनुराग रहना। (५) दयारहित परिणामों का होना। (६) दूसरों को दुःख देने का विचार रखना। (७) जीवों को मारने तथा बाँधने का भाव करना। (८) जीवों के निरन्तर घात करने का परिणाम रखना। (९) जिसमें दूसरे प्राणी का वध हो, ऐसे झूठे वचन बोलने का स्वभाव रखना। (१०) दूसरों के धन हरण करने का स्वभाव रखना। (११) दूसरों की स्त्रियों को आलिङ्गन करने का स्वभाव रखना। (१२) मैथुन-सेवन से विरक्त न होना। (१३) अत्यन्त आरम्भ में इन्द्रियों को लगाये रखना। (१४) काम-भोगों की अभिलाषा को सदैव बढ़ाते रहना। (१५) शील सदाचाररहित स्वभाव रखना। (१६) अभक्ष्य-भक्षण को ग्रहण करने अथवा कराने का भाव रखना। (१७) अधिक काल तक वैर बाँधे रखना। (१८) महा क्रूर स्वभाव रखना। (१९) बिना विचारे रोने-कूटने का स्वभाव रखना। (२०) देव-गुरु-शास्त्रों में मिथ्या दोष लगाना। (२१) कृष्ण लेश्या के परिणाम रखना। (२२) रौद्रध्यान में मरण करना।

—इत्यादि लक्षणवाले परिणाम, नरकायु के कारण होते हैं॥१५॥

अब, तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण बतलाते हैं

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

अर्थ - [**माया**] माया-छलकपट [**तैर्यग्योनस्य**] तिर्यञ्चायु के आस्रव का कारण है।

टीका—जो आत्मा का कुटिल स्वभाव है, उससे तिर्यञ्च योनि का आस्रव होता है। इस सूत्र में तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारणों का जो वर्णन किया है, वह संक्षेप में है। उन भावों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है -

(१) माया से मिथ्याधर्म का उपदेश देना। (२) बहुत आरम्भ-परिग्रह में कपटयुक्त परिणाम करना। (३) कपट-कुटिल कर्म में तत्पर होना। (४) पृथ्वीभेद सदृश क्रोधीपना होना। (५) शीलरहितपना होना। (६) शब्द से-चेष्टा से तीव्र मायाचार करना। (७) पर के परिणाम में भेद उत्पन्न करना। (८) अति अनर्थ प्रगट करना। (९) गन्ध-रस-स्पर्श का विपरीतपना होना। (१०) जाति-कुल-शील में दूषण लगाना। (११) विसंवाद में प्रीति रखना। (१२) दूसरे के उत्तम गुण को छिपाना। (१३) अपने में जो गुण नहीं है, उन्हें भी बतलाना। (१४) नील-कपोत लेश्यारूप परिणाम करना। (१५) आर्तध्यान में मरण करना।

—इत्यादि लक्षणवाले परिणाम, तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण हैं॥ १६॥

अब, मनुष्यायु के आस्रव के कारण बतलाते हैं

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अर्थ - [**अल्पारम्भपरिग्रहत्वं**] थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रहपन [**मानुषस्य**] मनुष्य-आयु के आस्रव का कारण है।

टीका—नरकायु के आस्रव का कथन १५वें सूत्र में किया जा चुका है। उस नरकायु के आस्रव से जो विपरीत है, सो मनुष्यायु के आस्रव का कारण है। इस सूत्र में मनुष्यायु के कारण का संक्षेप में कथन है, उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) मिथ्यात्वसहित बुद्धि का होना। (२) स्वभाव में विनय होना। (३) प्रकृति में भद्रता होना। (४) परिणामों में कोमलता होना और मायाचार का भाव न होना। (५) श्रेष्ठ आचरणों में सुख मानना। (६) बालू की रेखा के समान क्रोध का होना। (७) विशेष गुणी पुरुषों के साथ प्रिय व्यवहार होना। (८) थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह रखना। (९) सन्तोष रखने में रुचि करना। (१०) प्राणियों के घात से विरक्त होना। (११) बुरे कार्यों से

निवृत्त होना। (१२) मन में जो बात है, उसी के अनुसार सरलता से बोलना। (१३) व्यर्थ बकवाद न करना। (१४) परिणामों में मधुरता का होना। (१५) सभी लोगों के प्रति उपकारबुद्धि रखना। (१६) परिणामों में वैराग्यवृत्ति रखना। (१७) किसी के प्रति ईर्ष्याभाव न रखना। (१८) दान देने का स्वभाव रखना। (१९) कपोत तथा पीत लेश्यासहित होना। (२०) धर्मध्यान में मरण होना।

—इत्यादि लक्षणवाले परिणाम, मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न - जिसकी बुद्धि मिथ्यादर्शनसहित हो, उसके मनुष्यायु का आस्रव क्यों कहा?

उत्तर - मनुष्य, तिर्यञ्च के सम्यक्त्वपरिणाम होने पर वे कल्पवासी देव की आयु का बन्ध करते हैं, वे मनुष्यायु का बन्ध नहीं करते, इतना बताने के लिये उपरोक्त कथन किया है॥१७॥

मनुष्यायु के आस्रव का कारण (चालू है)

स्वभावमार्दवं च॥१८॥

अर्थ - [**स्वभावमार्दवं**] स्वभाव से ही सरल परिणाम होना [**च**] भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

टीका— १- इस सूत्र को सत्रहवें सूत्र से पृथक् लिखने का कारण यह है कि इस सूत्र में बताई हुई, बात देवायु के आस्रव का भी कारण होती है।

२- यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ 'आत्मा का शुद्ध स्वभाव' न समझना, क्योंकि निज-स्वभाव बन्ध का कारण नहीं होता। यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ है 'किसी के बिना सिखाये।' मार्दव भी आत्मा का एक शुद्धस्वभाव है, परन्तु यहाँ मार्दव का अर्थ 'शुभभावरूप (मन्दकषायरूप) सरल परिणाम' करना; क्योंकि जो शुद्धभावरूप मार्दव है, वह बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु शुभभावरूप जो मार्दव है, वही बन्ध का कारण है॥१८॥

अब, सभी आयुयों के आस्रव के कारण बतलाते हैं

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्॥१९॥

अर्थ - [**निःशीलव्रतत्वं च**] शील और व्रत का जो अभाव है, वह भी [**सर्वेषाम्**] सभी प्रकार की आयु के आस्रव का कारण है।

टीका—प्रश्न - जो शील और व्रतरहित होता है, उसके देवायु का आस्रव कैसे होता है ?

उत्तर - भोगभूमि के जीवों के शील व्रतादिक नहीं हैं तो भी देवायु का ही आस्रव होता है।

यह बात विशेष ध्यान में रहे कि मिथ्यादृष्टि के सच्चे शील या व्रत नहीं होते। मिथ्यादृष्टि जीव, चाहे जितने शुभरागरूप शीलव्रत पालता हो तो भी वह सच्चे शीलव्रत से रहित ही है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद यदि जीव अणुव्रत या महाव्रत धारण करे तो उतने मात्र से वह जीव आयु के बन्ध से रहित नहीं हो जाता; सम्यग्दृष्टि के अणुव्रत भी देवायु के आस्रव के कारण हैं, क्योंकि वह भी राग है। मात्र वीतरागभाव ही बन्ध का कारण नहीं होता, किसी भी प्रकार का राग हो, वह आस्रव होने से बन्ध का ही कारण है॥१९॥

अब, देवायु के आस्रव के कारण बतलाते हैं

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य॥२०॥

अर्थ - [**सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि**] सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप [**दैवस्य**] ये देवायु के आस्रव के कारण हैं।

टीका—१- इस सूत्र में बताये गये भावों का अर्थ पहले १२ वें सूत्र की टीका में आ चुका है। परिणाम बिगड़े बिना मन्दकषाय रखकर दुःख सहन करना, सो अकामनिर्जरा है।

२- मिथ्यादृष्टि के सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते, किन्तु 'बालतप' होता है। इसलिए बाह्यव्रत धारण किये होने मात्र से ऐसा नहीं मान लेना कि उस जीव के सरागसंयम या संयमासंयम है। सम्यग्दर्शन होने के बाद पाँचवें गुणस्थान में अणुव्रत अर्थात् संयमासंयम और छट्ठे गुणस्थान में महाव्रत अर्थात् सरागसंयम होता है। ऐसा भी होता है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते। ऐसे जीवों के वीतरागदेव के दर्शन-पूजा, स्वाध्याय, अनुकम्पा इत्यादि शुभभाव होते हैं, पहले से चौथे गुणस्थानपर्यन्त उस तरह के शुभभाव होते हैं; किन्तु वहाँ व्रत नहीं होते। अज्ञानी के माने हुए व्रत और तप को बातलप कहा है। 'बालतप' शब्द तो इस सूत्र में बतलाया है और बालव्रत का समावेश ऊपर के (१९वें) सूत्र में होता है।

३- यहाँ भी यह जानना कि सरागसंयम और संयमासंयम में जितना वीतरागीभावरूप संयम प्रगट हुआ है, वह आस्रव का कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ जो राग रहता है, वह आस्रव का कारण है॥२०॥

देवायु के आस्रव के कारण

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

अर्थ - [**सम्यक्त्वं च**] सम्यग्दर्शन भी देवायु के आस्रव का कारण है, अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ रहा हुआ जो राग है, वह भी देवायु के आस्रव का कारण है।

टीका—१- यद्यपि सम्यग्दर्शन, शुद्धभाव होने से किसी भी कर्म के आस्रव का कारण नहीं है, तथापि उस भूमिका में जो रागांश मनुष्य और तिर्यञ्च के होता है, वह देवायु के आस्रव का कारण होता है। सरागसंयम और संयमासंयम के सम्बन्ध में भी यही बात है - यह ऊपर कहा गया है।

२- देवायु के आस्रव के कारण सम्बन्धी २०वाँ सूत्र कहने के बाद यह सूत्र पृथक् लिखने का यह प्रयोजन है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा तिर्यञ्च को जो राग होता है, वह वैमानिक देवायु के ही आस्रव का कारण होता है, वह राग हलके देवों की (भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की) आयु का कारण नहीं होता।

३- सम्यग्दृष्टि के जितने अंश में राग नहीं है, उतने अंश में आस्रव-बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में आस्रव-बन्ध है। (देखो, श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय-गाथा २१२ से २१४) सम्यग्दर्शन स्वयं अबन्ध है, अर्थात् वह स्वयं किसी तरह के बन्ध का कारण नहीं है और ऐसा होता ही नहीं कि मिथ्यादृष्टि को किसी भी अंश में राग का अभाव हो, इसीलिए वह सम्पूर्णरूप से हमेशा बन्धभाव में ही होता है।

यहाँ आयुकर्म का आस्रव सम्बन्धी वर्णन पूर्ण हुआ॥२१॥

अब, नामकर्म के आस्रव का कारण बताते हैं—

अशुभनामकर्म के आस्रव के कारण

योगवक्रता विसम्बादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

अर्थ - [**योगवक्रता**] योग में कुटिलता [**विसम्बादनं च**] और विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवर्तन [**अशुभस्य नाम्नः**] अशुभ नामकर्म के आस्रव का कारण है।

टीका—१- आत्मा के परिस्पन्दन का नाम योग है; (देखो, इस अध्याय के पहले सूत्र की टीका) मात्र अकेला योग सातावेदनीय के आस्रव का कारण है। योग में वक्रता नहीं होती, किन्तु उपयोग में वक्रता (कुटिलता) होती है। जिस योग के साथ उपयोग की वक्रता

रही हो, वह अशुभनामकर्म के आस्रव का कारण है। आस्रव के प्रकरण में योग की मुख्यता है और बन्ध के प्रकरण में बन्ध-परिणाम की मुख्यता है, इसीलिए इस अध्याय में और इस सूत्र में योग शब्द का प्रयोग किया है। परिणामों की वक्रता जड़-मन, वचन या काय में नहीं होती, किन्तु उपयोग में होती है। यहाँ आस्रव का प्रकरण होने और आस्रव का कारण योग होने से, उपयोग की वक्रता को उपचार से योग कहा है। योग के विसंवादन के सम्बन्ध में भी इसी तरह समझना।

२. प्रश्न - विसंवादन का अर्थ अन्यथा प्रवर्तन होता है और उसका समावेश वक्रता में हो जाता है, तथापि 'विसंवादन' शब्द अलग किसलिए कहा?

उत्तर - जीव की स्व की अपेक्षा से योग-वक्रता कही जाती है और पर की अपेक्षा से विसंवादन कहा जाता है। मोक्षमार्ग में प्रतिकूल ऐसी मन-वचन-काय द्वारा जो खोटी प्रयोजना करना, सो योग-वक्रता है और दूसरे को वैसा करने के लिये कहना, विसंवादन है। कोई जीव शुभ करता हो, उसे अशुभ करने को कहना भी विसंवादन है। कोई जीव शुभराग करता हो और उसमें धर्म मानता हो, उसे ऐसा कहना कि शुभराग से धर्म नहीं होता, किन्तु बन्ध होता है और यथार्थ समझ तथा वीतरागभाव से धर्म होता है - ऐसा उपदेश देना, सो विसंवादन नहीं है, क्योंकि उसमें तो सम्यक् न्याय का प्रतिपादन है, इसीलिए उस कारण से बन्ध नहीं होता।

३- इस सूत्र में 'च' शब्द में मिथ्यादर्शन का सेवन, किसी को बुरा वचन बोलना, चित्त की अस्थिरता, कपटरूप माप-तौल, पर की निन्दा, अपनी प्रशंसा इत्यादि का समावेश हो जाता है॥२२॥

शुभनामकर्म के आस्रव का कारण

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

अर्थ - [**तद्विपरीतं**] उससे अर्थात् अशुभनामकर्म के आस्रव के जो कारण कहे, उनसे विपरीतभाव [**शुभस्य**] शुभनामकर्म के आस्रव का कारण है।

टीका—१- बाईसवें सूत्र में योग की वक्रता और विसंवाद को अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण कहे, उससे विपरीत अर्थात् सरलता होना और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव होना, सो शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं।

२- यहाँ 'सरलता' शब्द का अर्थ 'अपनी शुद्धस्वभावरूप सरलता' नहीं समझना, किन्तु 'शुभभावरूप सरलता' समझना और जो अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव है, सो भी शुभभावरूप समझना। शुद्धभाव, आस्रव-बन्ध का कारण नहीं होता॥२३॥

अब तीर्थङ्कर नामकर्म के आस्रव के कारण बतलाते हैं

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसाधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहु श्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सल्यत्वमिति तीर्थकरत्वस्य॥२४॥

अर्थ - **[दर्शनविशुद्धिः]** १- दर्शनविशुद्धि, **[विनयसम्पन्नता]** २- विनयसम्पन्नता, **[शीलव्रतेष्वनतिचारः]** ३-शील और व्रतों में अनतिचार अर्थात् अतिचार का न होना, **[अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः]** ४- निरन्तर ज्ञानोपयोग, **[संवेगः]** ५- संवेग अर्थात् संसार से भयभीत होना, **[शक्तितस्त्यागतपसी]** ६-७ - शक्ति के अनुसार त्याग तथा तप करना, **[साधु-समाधिः]** ८- साधुसमाधि, **[वैयावृत्यकरणम्]** ९- वैयावृत्य करना, **[अर्हदाचार्यबहु -श्रुतप्रवचनभक्तिः]** १०-१३ - अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति करना, **[आवश्यकापरिहाणिः]** १४- आवश्यक में हानि न करना, **[मार्गप्रभावना]** १५- मार्गप्रभावना और **[प्रवचनवत्सल्यत्वम्]** १६- प्रवचन-वात्सल्य **[इति तीर्थकरत्वस्य]** ये सोलह भावना तीर्थङ्करनामकर्म के आस्रव का कारण हैं।

टीका—इन सभी भावनाओं में दर्शनविशुद्धि मुख्य है, इसीलिए वह प्रथम ही बतलाई गई है, इसके अभाव में अन्य सभी भावनाएँ हों, तो भी तीर्थङ्करनामकर्म का आस्रव नहीं होता।

सोलह भावनाओं के सम्बन्ध में विशेष वर्णन -

(१) दर्शन-विशुद्धि—दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन की विशुद्धि। सम्यग्दर्शन स्वयं आत्मा की शुद्धपर्याय होने से बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन की भूमिका में एक खास प्रकार की कषाय की विशुद्धि होती है, वह तीर्थङ्करनामकर्म के बन्ध का कारण होती है। **दृष्टान्त** - वचन-कर्म को (अर्थात् वचनरूपी कार्य को) योग कहा जाता है, परन्तु 'वचनयोग' का अर्थ ऐसा होता है कि 'वचन द्वारा होनेवाला जो आत्मकर्म, सो योग है'

क्योंकि जड़ वचन किसी बन्ध के कारण नहीं हैं। आत्मा में जो आस्रव होता है, वह आत्मा की चञ्चलता से होता है, पुद्गल तो निमित्तमात्र है।

सिद्धान्त - दर्शनविशुद्धि को तीर्थङ्करनामकर्म के आस्रव का कारण कहा है, वहाँ वास्तव में दर्शन की शुद्धि स्वयं आस्रव-बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु राग ही बन्ध का कारण है। इसीलिए दर्शनविशुद्धि का अर्थ ऐसा समझना योग्य है कि 'दर्शन के साथ रहा राग।' किसी भी प्रकार के बन्ध का कारण, कषाय ही है। सम्यग्दर्शनादि बन्ध के कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शन जो आत्मा को बन्ध से छुड़ानेवाला है, वह स्वयं बन्ध का कारण कैसे हो सकता है? तीर्थङ्करनामकर्म भी आस्रव-बन्ध ही है, इसीलिए सम्यग्दर्शनादि भी वास्तव में उसका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव के जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मार्ग में जो दर्शनसम्बन्धी धर्मानुराग होता है, वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शन के शङ्कादि दोष दूर हो जाने से वह विशुद्धि होती है। *(देखो, तत्त्वार्थसार, अध्याय ४, गाथा ४९ से ५२ की टीका, पृष्ठ २२१)*

(२) विनयसम्पन्नता—१- विनय से परिपूर्ण रहना, सो विनयसम्पन्नता है। सम्यग्ज्ञानादि गुणों का तथा ज्ञानादि गुणसंयुक्त ज्ञानी का आदर उत्पन्न होना, सो विनय है। इस विनय में जो राग है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है।

२- विनय दो तरह की है - एक शुद्धभावरूप विनय है, उसे निश्चय-विनय भी कहा जाता है। अपने शुद्धस्वरूप में स्थिर रहना, सो निश्चय-विनय है। यह विनय, बन्ध का कारण नहीं है। दूसरी शुभभावरूप विनय है, उसे व्यवहार-विनय भी कहते हैं। अज्ञानी के यथार्थ विनय होती ही नहीं। सम्यग्दृष्टि के शुभभावरूप विनय होती है और वह तीर्थङ्करनामकर्म के आस्रव का कारण है। छट्ठे गुणस्थान के बाद व्यवहार-विनय नहीं होती, किन्तु निश्चय-विनय होती है।

(३) शील और व्रतों में अनतिचार—'शील' शब्द के तीन अर्थ होते हैं (१) सत् स्वभाव, (२) स्वदार सन्तोष और (३) दिग्व्रत आदि सात व्रत; जो अहिंसादि व्रत की रक्षा के लिये होते हैं। सत् स्वभाव का अर्थ क्रोधादि कषाय के वश न होना है, यह शुभभाव है। जब अतिमन्द कषाय होती है, तब वह होता है। यहाँ 'शील' का प्रथम और तृतीय अर्थ लेना; दूसरा अर्थ व्रत शब्द में आ जाता है। अहिंसा आदि व्रत हैं। अनतिचार का अर्थ है, दोषों से रहितपन।

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ है—सदा ज्ञानोपयोग में

रहना। सम्यग्ज्ञान के द्वारा प्रत्येक कार्य में विचारकर उसमें प्रवृत्ति करना, सो ज्ञानोपयोग का अर्थ है। ज्ञान का साक्षात् तथा परम्परा फल विचारना। यथार्थ ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति और हिताहित की समझ होती है, इसीलिए यह भी ज्ञानोपयोग का अर्थ है। अत: यथार्थ ज्ञान को अपना हितकारी मानना चाहिए। ज्ञानोपयोग में जो वीतरागता है, वह बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जो शुभभावरूप राग है, वह बन्ध का कारण है।

(५) **संवेग**—सदा संसार के दु:खों से भीरुता का जो भाव है, सो संवेग है। उसमें जो वीतरागभाव है, वह बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जो शुभराग है, वह बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टियों के जो व्यवहार-संवेग होता है, वह रागभाव है। जब निर्विकल्पदशा में नहीं रह सकता, तब ऐसा संवेगभाव निरनतर होता है।

(६-७) **शक्त्यनुसार त्याग तथा तप**—१- त्याग दो तरह का है - शुद्धभावरूप और शुभभावरूप। उसमें जितनी शुद्धता होती है, उतने अंश में वीतरागता है और वह बन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि के शक्त्यनुसार शुभभावरूप त्याग होता है, शक्ति से कम या ज्यादा नहीं होता। शुभरागरूप त्यागभाव, बन्ध का कारण है। 'त्याग' का अर्थ दान देना भी होता है।

२- निज आत्मा का शुद्धस्वरूप में संयमन करने से; और स्वरूप-विश्रान्त निस्तरङ्ग चैतन्यप्रतपन, सो तप है। इच्छा के निरोध को तप कहते हैं, अर्थात् ऐसा होने पर शुभाशुभभाव का जो निरोध, सो तप है। यह तप सम्यग्दृष्टि के ही होता है, उसके निश्चयतप कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि के जितने अंश में वीतरागभाव है, उतने अंश में निश्चयतप है और वह बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जितने अंश में शुभरागरूप व्यवहार तप है, वह बन्ध का कारण है। मिथ्यादृष्टि के यथार्थ तप नहीं होता; उसके शुभरागरूप तप को 'बालतप' कहा जाता है। 'बाल' का अर्थ है अज्ञान, मूढ़। अज्ञानी का तप आदि का शुभभाव, तीर्थङ्करप्रकृति के आस्रव का कारण हो ही नहीं सकता।

(८) **साधु समाधि**—सम्यग्दृष्टि साधु के तप में तथा आत्मसिद्धि में विघ्न आता देखकर उसे दूर करने का भाव और उनके समाधि बनी रहे - ऐसा जो भाव है, सो साधु-समाधि है; यह शुभराग है। यथार्थतया ऐसा राग, सम्यग्दृष्टि के ही होता है, किन्तु उनके उस राग की भावना नहीं होती।

(९) **वैयावृत्त्यकरण**—वैयावृत्त्य का अर्थ है—सेवा। रोगी, छोटी उमर के या वृद्ध

मुनियों की सेवा करना, सो वैयावृत्त्यकरण है। 'साधु-समाधि' का अर्थ है कि उसमें साधु का चित्त सन्तुष्ट रखना और 'वैयावृत्त्यकरण' में तपस्वियों के योग्य साधन एकत्रित करना, जो सदा उपयोगी हों - इस हेतु से जो दान दिया जावे, सो वैयावृत्त्य है, किन्तु साधु-समाधि नहीं। साधुओं के स्थान को साफ रखना, दु:ख के कारण उत्पन्न हुए देखकर उनके पैर दबाना इत्यादि प्रकार से जो सेवा करना, सो भी वैयावृत्त्य है; यह शुभराग है।

(१०-१३) अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत और प्रवचनभक्ति—भक्ति दो तरह की है - एक शुद्धभावरूप और दूसरी शुभभावरूप। सम्यग्दर्शन परमार्थभक्ति अर्थात् शुद्धभावरूप भक्ति है। सम्यग्दृष्टि की निश्चयभक्ति शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप होने से बन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जो शुभभावरूप सरागभक्ति होती है, वह पञ्च परमेष्ठी की आराधनारूप है। (देखो, श्री हिन्दी समयसार, आस्रव-अधिकार, गाथा १७३ से १७६ जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका, पृष्ठ २५०)

१- अर्हत और आचार्य का पञ्च परमेष्ठी में समावेश हो जाता है। सर्वज्ञ केवली जिन भगवान अरहन्त हैं, वे सम्पूर्ण धर्मोपदेश में विधाता है; वे साक्षात् ज्ञानी, पूर्ण वीतराग हैं। २- साधु संघ में जो मुख्य साधु हों, उनको आचार्य कहते हैं; वे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र के पालक हैं और दूसरों को उसमें निमित्त होते हैं, और वे विशेष गुणाढ्य होते हैं। ३- बहुश्रुत का अर्थ 'बहुज्ञानी' 'उपाध्याय' या 'सर्व शास्त्रसम्पन्न' होता है। ४- सम्यग्दृष्टि की जो शास्त्र की भक्ति है, सो प्रवचनभक्ति है। इस भक्ति में जितना रागभाव है, वह आस्रव का कारण है - ऐसा समझना।

(१४) आवश्यक अपरिहाणि—आवश्यक अपरिहाणि का अर्थ है 'आवश्यक क्रियाओं में हानि न होने देना।' जब सम्यग्दृष्टि जीव, शुद्धभाव में नही रह सकता, तब अशुभभाव दूर करने से शुभभाव रह जाता है; इस समय शुभरागरूप आवश्यक क्रियाएँ उसके होती हैं। उस आवश्यक क्रिया के भाव में हानि न होने देना, उसे आवश्यक अपरिहाणि कहा जाता है। वह क्रिया, आत्मा के शुभभावरूप है, किन्तु जड़ शरीर की अवस्था में आवश्यक क्रिया नहीं होती और न आत्मा से शरीर की क्रिया हो सकती है।

(१५) मार्ग-प्रभावना—सम्यग्ज्ञान के माहात्म्य के द्वारा, इच्छा-निरोधरूप सम्यक्तप के द्वारा तथा जिनपूजा इत्यादि के द्वारा धर्म को प्रकाशित करना, सो मार्ग-प्रभावना है। प्रभावना में सबसे श्रेष्ठ आत्म-प्रभावना है, जो कि रत्नत्रय के तेज से दैदीप्यमान होने से

सर्वोत्कृष्ट फल देती है। सम्यग्दृष्टि के जो शुभरागरूप प्रभावना है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है, परन्तु सम्यग्दर्शनादिरूप जो प्रभावना है, वह आस्रव-बन्ध का कारण नहीं है।

(१६) प्रवचन-वात्सल्य— साधर्मियों के प्रति प्रीति रखना, सो वात्सल्य है। वात्सल्य और भक्ति में यह अन्तर है कि वात्सल्य तो छोटे-बड़े सभी साधर्मियों के प्रति होता है और भक्ति अपने से जो बड़े हो, उसके प्रति होती है। श्रुत और श्रुत के धारण करनेवाले दोनों के प्रति वात्सल्य रखना, सो प्रवचन-वात्सल्य है। यह शुभरागरूप भाव है, सो आस्रव-बन्ध का कारण है।

तीर्थङ्करों के तीन भेद

तीर्थङ्करदेव तीन तरह के हैं - (१) पञ्च कल्याणक (२) तीन कल्याणक और (३) दो कल्याणक। जिनके पूर्वभव में तीर्थङ्करप्रकृति बँध गयी हो, उनके तो नियम से गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण, ये पाँच कल्याणक होते हैं। जिनके वर्तमान मनुष्य-पर्याय के भव में ही गृहस्थ अवस्था में तीर्थङ्करप्रकृति बँध जाती है, उनके तप, ज्ञान और निर्वाण, ये तीन कल्याणक होते हैं और जिनके वर्तमान मनुष्य-पर्याय के भव में मुनि दीक्षा लेकर फिर तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है, उनके ज्ञान और निर्वाण, ये दो ही कल्याणक होते हैं। दूसरे और तीसरे प्रकार के तीर्थङ्कर महाविदेहक्षेत्र में ही होते हैं। महाविदेह में जो पञ्च कल्याणकवाले तीर्थङ्कर है, उनके अतिरिक्त दो और तीन कल्याणकवाले भी तीर्थङ्कर होते हैं तथा वे महाविदेह के जिस क्षेत्र में दूसरे तीर्थङ्कर न हों, वहाँ ही होते हैं। महाविदेहक्षेत्र के अलावा भरत-ऐरावतक्षेत्रों में जो तीर्थङ्कर होते हैं, उन सभी के नियम से पञ्च कल्याणक ही होते हैं।

अरिहन्तों के सात भेद

ऊपर जो तीर्थङ्करों के तीन भेद कहे, वे तीनों भेद अरिहन्तों के समझना और उनके अनन्तर दूसरे भेद निम्न प्रकार हैं—

(४) सातिशय केवली - जिन अरिहन्तों के तीर्थङ्करप्रकृति का उदय नहीं होता, परन्तु गन्धकुटी इत्यादि विशेषता होती है, उन्हें सातिशय केवली कहते हैं।

(५) सामान्य केवली - जिन अरिहन्तों के गन्धकुटी इत्यादि विशेषता न हो, उन्हें सामान्य केवली कहते हैं।

(६) अन्तकृत केवली - जो अरिहन्त, केवलज्ञान प्रगट होने पर लघु अन्तर्मुहूर्तकाल

में ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं; उन्हें अन्तकृत केवली कहा जाता है।

(७) उपसर्ग केवली - जिसके उपसर्ग अवस्था में ही केवलज्ञान हुआ हो, उन अरिहन्तों को उपसर्ग केवली कहा जाता है (देखो, सनावद से प्रकाशित आधुनिक हिन्दी सत्तास्वरूप, पृष्ठ २०)। केवलज्ञान होने के बाद उपसर्ग हो ही नहीं सकता।

अरिहन्तों के ये भेद पुण्य और संयोग की अपेक्षा से समझना; केवलज्ञानादि गुणों में तो सभी अरिहन्त समान ही हैं।

इस सूत्र का सिद्धान्त

(१) जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, उस भाव को अथवा उस प्रकृति को जो जीव, धर्म माने या उपादेय माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह राग को-विकार को धर्म मानता है। जिस शुभभाव से तीर्थङ्करनामकर्म का आस्रव-बन्ध हो, उस भाव या उस प्रकृति को सम्यग्दृष्टि उपादेय नहीं मानते। सम्यग्दृष्टि के जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति बँधती है, वह पुण्यभाव है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते। (देखो, परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५४ की टीका, पृष्ठ १९४)

(२) जिसे आत्मा के स्वरूप की प्रतीति नहीं, उसके शुद्धभावरूप भक्ति अर्थात् भाव-भक्ति तो होती ही नहीं, किन्तु इस सूत्र में कही हुई सत् के प्रति शुभरागवाली व्यवहार-भक्ति अर्थात् द्रव्यभक्ति भी वास्तव में नहीं होती, लौकिक भक्ति भले हो। (देखो, परमात्मप्रकाश, अध्याय २, गाथा १४३ की टीका, पृष्ठ २०३, २८८)

(३) सम्यग्दृष्टि के सिवाय अन्य जीवों के तीर्थङ्करप्रकृति होती ही नहीं। इससे सम्यग्दर्शन का परम माहात्म्य जानकर, जीवों को उसे प्राप्त करने के लिये मन्थन करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ अन्य किसी से नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन ही धर्म की प्रारम्भिक इकाई है और सिद्धदशा उस धर्म की पूर्णता है ॥२४॥

अब, गोत्रकर्म के आस्रव का कारण कहते हैं -

नीचगोत्र के आस्रव का कारण

परामत्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

अर्थ - **[परामत्मनिन्दाप्रशंसे]** दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना

[सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च] तथा प्रगट गुणों को छिपाना और अप्रगट गुणों को प्रसिद्ध करना, सो **[नीचैर्गोत्रस्य]** नीचगोत्रकर्म के आस्रव का कारण है।

टीका—एकेन्द्रिय से संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त तक सभी तिर्यञ्च, नारकी तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य – इन सबके नीचगोत्र है। देवों के उच्चगोत्र है, गर्भज मनुष्यों के दोनों प्रकार के गोत्रकर्म होते हैं॥२५॥

उच्चगोत्रकर्म के आस्रव का कारण

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चौत्तरस्य॥२६॥

अर्थ – **[तद्विपर्ययः]** उस नीचगोत्रकर्म के आस्रव के कारणों से विपरीत, अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा इत्यादि **[च]** तथा **[नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ]** नम्र वृत्ति होना तथा मद का अभाव, सो **[उत्तरस्य]** दूसरे गोत्रकर्म, अर्थात् उच्चगोत्रकर्म के आस्रव का कारण है।

टीका—यहाँ नम्रवृत्ति होना और मद का अभाव होना, सो अशुभभाव का अभाव समझना; उसमें जो शुभभाव है, सो उच्चगोत्रकर्म के आस्रव का कारण है। 'अनुत्सेक' का अर्थ है अभिमान का न होना॥२६॥

यहाँ तक सात कर्मों के आस्रव के कारणों का वर्णन किया। अब अन्तिम अन्तरायकर्म के आस्रव का कारण बताकर यह अध्याय पूर्ण करते हैं।

अन्तरायकर्म के आस्रव का कारण

विघ्नकरणमन्तरायस्य॥२७॥

अर्थ – **[विघ्नकरणम्]** दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना, सो **[अंतरायस्य]** अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है।

टीका—इस अध्याय के १० से २७ तक के सूत्रों में कर्म के आस्रव का जो कथन किया है, वह अनुभाग सम्बन्धी नियम बतलाता है। जैसे किसी पुरुष के दान देने के भाव में किसी ने अन्तराय किया तो उस समय उसके जिन कर्मों का आस्रव हुआ, यद्यपि वह सातों कर्मों में बँट गया, तथापि उस समय दानान्तराय कर्म में अधिक अनुभाग पड़ा और अन्य प्रकृतियों में मन्द अनुभाग पड़ा। प्रकृति और प्रदेशबन्ध में योग निमित्त है तथा स्थिति और अनुभागबन्ध में कषायभाव निमित्त है॥२७॥

— उपसंहार —

(१) यह आस्रव अधिकार है। जो कषायसहित योग होता है, वह आस्रव का कारण है, उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं। कषाय शब्द में मिथ्यात्व, अविरति, और कषाय इन तीनों का समावेश हो जाता है; इसीलिए अध्यात्म-शास्त्रों में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग को आस्रव का भेद गिना जाता है। यदि उन भेदों को बाह्यरूप से स्वीकार करे और अन्तरङ्ग में उन भावों की जाति की यथार्थ पहचान न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है और उसके आस्रव होता है।

(२) योग को आस्रव का कारण कहकर येाग के उपविभाग करके सकषाय योग और अकषाय योग को आस्रव का कारण कहा है और २५ प्रकार की विकारी क्रिया और उसका पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है, यह भी बताया गया है।

(३) अज्ञानी जीवों के जो राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवभाव हैं, उनके नाश करने की तो उसे चिन्ता नहीं और बाह्य क्रिया तथा बाह्य निमित्तों को दूर करने का यह जीव उपाय करता है; परन्तु इसके मिटने से कहीं आस्रव नहीं मिटते। **दृष्टान्त** - द्रव्यलिङ्गी मुनि, अन्य कुदेवादिकी सेवा नहीं करता, हिंसा तथा विषय में प्रवृत्ति नहीं करता, क्रोधादि नहीं करता तथा मन-वचन-काय को रोकने का भाव करता है, तो भी उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव होते हैं। पुनश्च ये कार्य वे कपट से भी नहीं करते, क्योंकि यदि कपट से करे तो वह ग्रैवेयक तक कैसे पहुँच? - इससे यह सिद्ध होता है कि जो बाह्य शरीरादिक की क्रिया है, वह आस्रव नहीं है, किन्तु अन्तरङ्ग अभिप्राय में जो मिथ्यात्वादि रागादिकभाव है, वही आस्रव है। जो जीव उसे नहीं पहचानता, उस जीव के आस्रवतत्त्व का यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

(४) सम्यग्दर्शन हुए बिना आस्रवतत्त्व किञ्चित्मात्र भी दूर नहीं होता, इसलिए जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का यथार्थ उपाय प्रथम करना चाहिए। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के बिना किसी भी जीव के आस्रव दूर नहीं होते और न धर्म होता है।

(५) मिथ्यादर्शन, संसार का मूलकारण है और आत्मा के स्वरूप का जो अवर्णवाद है, सो मिथ्यात्व के आस्रव का कारण है; इसलिए अपने स्वरूप का तथा आत्मा की शुद्ध पर्यायों का अवर्णवाद न करना अर्थात् जैसा स्वरूप है, वैसा यथार्थ समझकर प्रतीति करना। (देखो, सूत्र १३ तथा उसकी टीका)

(६) इस अध्याय में बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के समिति, अनुकम्पा, व्रत, सरागसंयम, भक्ति, तप, त्याग, वैयावृत्त्य, प्रभावना, आवश्यक क्रिया इत्यादि जो शुभभाव हैं,

वे सब आस्रव हैं, बन्ध के ही कारण हैं। मिथ्यादृष्टि के तो वास्तव में ऐसे शुभभाव होते ही नहीं, उसके व्रत-तप के शुभभाव को 'बालव्रत' और 'बालतप' कहा जाता है।

(७) मृदुता, पर की प्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रता, अनुत्सेकता, ये शुभराग होने से बन्ध के कारण हैं तथा राग कषाय का अंश है; अत: इससे घाति तथा अघाति दोनों प्रकार के कर्म बँधते हैं तथा यह शुभभाव है; अत: अघाति कर्मों में शुभआयु, शुभगोत्र, सातावेदनीय तथा शुभनामकर्म बँधते हैं और इससे विपरीत अशुभभावों के द्वारा अशुभ अघातिकर्म भी बँधते हैं। इस तरह शुभ और अशुभ दोनों भाव, बन्ध के ही कारण हैं अर्थात् यह सिद्धान्त निश्चित है कि शुभ या अशुभभाव करते-करते उससे कभी शुद्धता प्रगट नहीं होती। व्यवहार करते-करते सच्चा धर्म हो जायेगा - ऐसी धारणा गलत ही है।

(८) सम्यग्दर्शन, आत्मा का पवित्र भाव है, यह स्वयं बन्ध का कारण नहीं; किन्तु यहाँ यह बताया है कि जब सम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग हो, तब उस निमित्त से किस तरह के कर्म का आस्रव होता है। वीतरागता प्रगट होने पर मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है, यह आस्रव एक ही समय का होता है (अर्थात् इसमें लम्बी स्थिति नहीं होती तथा अनुभाग भी नहीं होता)। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जितने-जितने अंश में वीतरागता होती है, उतने-उतने अंश में आस्रव और बन्ध नहीं होते तथा जितने अंश में राग-द्वेष होता है, उतने अंश में आस्रव और बन्ध होता है। अत: ज्ञानी के तो अमुक अंश में आस्रव-बन्ध का निरन्तर अभाव रहता है। मिथ्यादृष्टि के उस शुभाशुभराग का स्वामित्व है; अत: उसके किसी भी अंश में राग-द्वेष का अभाव नहीं होता और इसलिए उसके आस्रव-बन्ध दूर नहीं होते। सम्यग्दर्शन की भूमिका में आगे बढ़ने पर जीव के किस तरह के शुभभाव आते हैं - इसका वर्णन अब सातवें अध्याय में करके आस्रव का वर्णन पूर्ण करेंगे। उसके बाद आठवें अध्याय में बन्धतत्त्व का और नवमें अध्याय में संवर तथा निर्जरातत्त्व का स्वरूप कहा जायेगा। धर्म का प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शन से ही होता है। सम्यग्दर्शन होने पर संवर होता है, संवरपूर्वक निर्जरा होती है और निर्जरा होने पर मोक्ष होता है; इसीलिए मोक्षतत्त्व का स्वरूप अन्तिम अध्याय में बतलाया गया है।

इस अध्याय में यह भी बताया है कि जीव के विकारीभावों का परद्रव्य के साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इस तरह श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद में छट्ठा अध्याय समाप्त हुआ।

मोक्षशास्त्र

अध्याय सातवाँ

भूमिका

आचार्य भगवान ने इस शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए पहले ही सूत्र में यह कहा है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।' उसमें गर्भितरूप से यह भी आ गया कि इससे विरुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभभाव मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु संसारमार्ग है। इस प्रकार इस सूत्र में जो विषय गर्भित रखा था, वह विषय आचार्यदेव ने इन छट्ठे-सातवें अध्याय में स्पष्ट किया है। छट्ठे अध्याय में कहा है कि शुभाशुभ दोनों आस्रव हैं और इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए इस सातवें अध्याय में मुख्यरूप से शुभास्रव का अलग वर्णन किया है।

पहले अध्याय के चौथे सूत्र में जो सात तत्त्व कहे हैं, उनमें से जगत् के जीव आस्रव-तत्त्व की अजानकारी के कारण ऐसा मानते हैं कि 'पुण्य से धर्म होता है।' कितने ही लोग शुभयोग को संवर मानते हैं तथा कितने ही ऐसा मानते हैं कि अणुव्रत, महाव्रत, मैत्री इत्यादि भावना, तथा करुणाबुद्धि इत्यादि से धर्म होता है अथवा वह धर्म का (संवर का) कारण होता है, किन्तु यह मान्यता अज्ञान से भरी हुई है। ये अज्ञान दूर करने के लिए विशेषरूप से यह एक अध्याय अलग बनाया है और उसमें इस विषय को स्पष्ट किया है।

धर्म की अपेक्षा से पुण्य और पाप का एकत्व गिना जाता है। श्री समयसार में यह सिद्धान्त १४५ से लेकर १६३वीं गाथा तक में समझाया है। उसमें ही १४५वीं गाथा में कहा है कि लोग ऐसा मानते हैं कि अशुभकर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है, परन्तु जो संसार में प्रवेश कराये, वह सुशील कैसे होगा? नहीं हो सकता। इसके बाद १५४वीं गाथा में कहा है कि जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं, वे मोक्ष के कारण को नहीं जानते हुए (-यद्यपि पुण्य, संसार का कारण है, तथापि) अज्ञान से पुण्य को चाहते हैं। इस तरह धर्म की अपेक्षा से पुण्य-पाप का एकत्व बतलाया है। पुनश्च श्री प्रवचनसार गाथा ७७ में भी कहा है कि पुण्य-पाप में विशेष नहीं (अर्थात् समानता है), जो ऐसा नहीं मानता, वह मोह से आच्छन्न है और घोर अपार संसार में भ्रमण करता है।

उपरोक्त कारणों से आचार्यदेव ने इस शास्त्र में पुण्य और पाप का एकत्व स्थापन करने के लिये उन दोनों का ही आस्रव में समावेश करके उसे लगातार छट्ठे और सातवें इन दो अध्यायों में कहा है; उसमें छट्ठा अध्याय पूर्ण होने के बाद इस सातवें अध्याय में आस्रव अधिकार चालू रखा है और उसमें शुभास्रव का वर्णन किया है।

इस अध्याय में बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीव के होनेवाले व्रत, दया, दान, करुणा, मैत्री इत्यादि भाव भी शुभ आस्रव हैं और इसीलिए वे बन्ध के कारण हैं; तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव के (जिसके यथार्थ व्रत हो ही नहीं सकते) उसके शुभभाव धर्म, संवर, निर्जरा या उसका कारण किस तरह हो सकता है? कभी हो ही नहीं सकता।

प्रश्न - शास्त्र में कई जगह कहा जाता है कि शुभभाव परम्परा से धर्म का कारण है, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि जीव जब अपने चारित्र-स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकते, तब भी राग-द्वेष तोड़ने का पुरुषार्थ करते हैं, किन्तु पुरुषार्थ कमजोर होने से अशुभभाव दूर होता है और शुभभाव रह जाता है। वे उस शुभभाव को धर्म या धर्म का कारण नहीं मानते, किन्तु उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं। इसीलिए जब वह शुभभाव दूर हो जाए, तब जो शुभभाव दूर हुआ उसे शुद्धभाव (धर्म) का परम्परा से कारण कहा जाता है। साक्षात् रूप से वह भाव शुभास्रव होने से बन्ध का कारण है और जो बन्ध का कारण होता है, वह संवर का कारण कभी नहीं हो सकता।

अज्ञानी के शुभभाव को परम्परा अनर्थ का कारण कहा है। अज्ञानी तो शुभभाव को धर्म या धर्म का कारण मानता है और उसे वह भला जानता है; उसे थोड़े समय में दूर करके स्वयं अशुभरूप से परिणमेगा। इस तरह अज्ञानी का शुभभाव तो अशुभभाव का (पाप का) परम्परा कारण कहा जाता है अर्थात् वह शुभ को दूर कर जब अशुभरूप से परिणमता है, तब पूर्व का जो शुभभाव दूर हुआ, उसे अशुभभाव का परम्परा से कारण हुआ कहा जाता है।

(पञ्चास्तिकाय गाथा १६८ श्री जयसेनाचार्यकृत टीका)

इतनी भूमिका लक्ष्य में रखकर इस अध्याय के सूत्रों में रहे हुए भाव बराबर समझने से वस्तुस्वरूप की भूल दूर हो जाती है।

व्रत का लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१ ॥

अर्थ - **[हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः]** हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थों के प्रति ममत्वरूप परिणमन - इन पाँच पापों से (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना, सो **[व्रतम्]** व्रत है।

टीका—१. इस अध्याय में आास्रवतत्त्व का निरूपण किया है। छट्ठे अध्याय के १२वें सूत्र में कहा था कि व्रती के प्रति जो अनुकम्पा है, सो सातावेदनीय के आस्रव का कारण है, किन्तु वहाँ मूल सूत्र में व्रती की व्याख्या नहीं की गई थी, इसीलिए यहाँ इस सूत्र में व्रत का लक्षण दिया गया है। इस अध्याय के १८वें सूत्र में कहा कि "**निःशल्यो व्रती**"- मिथ्यादर्शन आदि शल्यरहित ही जीव व्रती होता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि के कभी व्रत होते ही नहीं, सम्यग्दृष्टि जीव के ही व्रत हो सकते हैं। भगवान ने मिथ्यादृष्टि के शुभरागरूप व्रत को बालव्रत कहा है। (देखो, श्री समयसार गाथा १५२ तथा उसकी टीका। 'बाल' का अर्थ अज्ञान है।)

२. इस अध्याय में महाव्रत और अणुव्रत भी आस्रवरूप कहे हैं, इसलिए वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो बन्ध का ही साधक है, अतः महाव्रत और अणुव्रत भी बन्ध के साधक हैं और वीतरागस्वभावरूप जो चारित्र है, सो मोक्ष का साधक है; इससे महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना सम्भव नहीं। "सर्व कषाय रहित जो उदासीनभाव है, उसी का नाम चारित्र है। जो चारित्रमोह के उदय में युक्त होने से महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह चारित्र का मल है, उसे छूटता न जानकर उनका त्याग नहीं करता, सावद्ययोग का ही त्याग करता है। जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि अधिक दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है तथा दूसरे हरित्काय का आहार करता है, किन्तु उसे धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि, श्रावक हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करता है तथा कोई मन्दकषायरूप महाव्रत-अणुव्रतादि पालता है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता।"

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२९-२३०)

प्रश्न - यदि यह बात है तो महाव्रत और देशव्रत को चारित्र के भेद में किसलिए कहा है?

उत्तर - वहाँ उस महाव्रतादि को व्यवहारचारित्र कहा गया है और व्यवहार नाम उपचार का है। निश्चय से तो निष्कषायभाव है, वही यथार्थ चारित्र है। सम्यग्दृष्टि का भाव

मिश्ररूप है अर्थात् कुछ वीतरागरूप हुआ है और कुछ सराग है; अतः जहाँ अंश में वीतराग चारित्र प्रगट हुआ है, वहाँ जिस अंश में सरागता है, वह महाव्रतादिरूप होता है, ऐसा सम्बन्ध जानकर उस महाव्रतादिरूप में चारित्र का उपचार किया है; किन्तु वह स्वयं यथार्थ चारित्र नहीं, परन्तु शुभभाव है – आस्रवभाव है, अतः बन्ध का कारण है। इसीलिए शुभभाव में धर्म मानने का अभिप्राय, आस्रवतत्त्व को संवरतत्त्व माननेरूप है, इसलिए यह मान्यता मिथ्या है।

(आधुनिक मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८-२३०)

चारित्र का विषय इस शास्त्र के ९वें अध्याय के १८वें सूत्र में लिया है, वहाँ इस सम्बन्धी टीका लिखी है, वह यहाँ भी लागू होती है।

४- व्रत दो प्रकार के हैं – निश्चय और व्यवहार। राग-द्वेषादि विकल्प से रहित होना, सो निश्चयव्रत है। (देखो, द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका) सम्यग्दृष्टि जीव के स्थिरता की वृद्धिरूप जो निर्विकल्पदशा है, सो निश्चयव्रत है, उसमें जितने अंश में वीतरागता है, उतने अंश में यथार्थ चारित्र है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने के बाद परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप जो शुभभाव है, सो अणुव्रत-महाव्रत है, उसे व्यवहारव्रत कहते हैं। इस सूत्र में व्यवहारव्रत का लक्षण दिया है; इसमें अशुभभाव दूर होता है, किन्तु शुभभाव रहता है, वह पुण्यास्रव का कारण है।

५- श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५२ की टीका में व्रत, पुण्यबन्ध का कारण है और अव्रत, पापबन्ध का कारण है, यह बताकर इस सूत्र का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

''इसका अर्थ है कि प्राणियों को पीड़ा देना, झूठ वचन बोलना, परधन-हरण करना, कुशील का सेवन और परिग्रह – इनसे विरक्त होना सो व्रत है; ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, यह व्यवहारनय से एकदेश व्रत हैं – ऐसा कहा है।

जीवघात से निवृत्ति, जीवदया में प्रवृत्ति, असत्य-वचन से निवृत्ति और सत्यवचन में प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति, अचौर्य में प्रवृत्ति इत्यादिरूप से वह एकदेश व्रत है।'' (परमात्मप्रकाश, पृष्ठ १९१-१९२) यहाँ अणुव्रत और महाव्रत दोनों को एकदेश व्रत कहा है।

उसके बाद वहीं निश्चयव्रत का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है (निश्चयव्रत अर्थात् स्वरूपस्थिरता अथवा सम्यक्चारित्र)—

''और राग-द्वेषरूप सङ्कल्प-विकल्पों की तरङ्गों से रहित, तीन गुप्तियों से गुप्त

समाधि में शुभाशुभ के त्याग से परिपूर्ण व्रत होता है।'' *(परमात्मप्रकाश, पृष्ठ १९२)*

सम्यग्दृष्टि के जो शुभाशुभ का त्याग और शुद्ध का ग्रहण है, सो निश्चयव्रत है और उनके अशुभ का त्याग और शुभ का जो ग्रहण है, सो व्यवहारव्रत है – ऐसा समझना। मिथ्या-दृष्टि के निश्चय या व्यवहार दोनों में से किसी भी तरह के व्रत नहीं होते। तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण मिथ्याचारित्र ही है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष ही नहीं होता।

१- व्रतादि शुभोपयोग वास्तव में बन्ध का कारण है। पञ्चाध्यायी भाग २ गाथा ७५९ से ६२ में कहा है कि ''**यद्यपि रूढ़ि से शुभोपयोग भी 'चारित्र' इस नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु अपनी अर्थक्रिया को करने में असमर्थ है**'' इसलिए वह निश्चय से सार्थक नामवाला नहीं है ॥७५९॥ किन्तु वह अशुभोपयोग के समान बन्ध का कारण है, इसलिए यह श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ तो वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥७६०॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है, यह बात विचार करने पर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, **क्योंकि शुभोपयोग एकान्त से बन्ध का कारण होने से** वह शुद्धोपयोग के अभाव में ही पाया जाता है ॥७६१॥ बुद्धि के दोष से ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोग एकदेश निर्जरा का कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बन्ध के अभाव का कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्ध के अभाव का कारण है ॥७६२॥ *(श्री वर्णी ग्रन्थमाला से प्र० पञ्चाध्यायी, पृष्ठ २७२-७३)*

२- सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग से भी बन्ध की प्राप्ति होती है, ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार गाथा ११ में कहा है। उसमें श्री अमृतचन्द्राचार्य उस गाथा की सूचनिका में कहते हैं कि 'अब जिनका चारित्रपरिणाम के साथ सम्पर्क है, ऐसे जो शुद्ध और शुभ (दो प्रकार) के परिणाम हैं। उनके ग्रहण और त्याग के लिए (शुद्ध परिणाम के ग्रहण और शुभपरिणाम के त्याग के लिए) उनका फल विचारते हैं—

धर्मेण परिणतात्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम्॥११॥

अन्वयार्थ - धर्म में परिणमित स्वरूपवाला आत्मा, यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभ उपयोगवाला हो तो स्वर्ग के सुख को (बन्ध को) प्राप्त करता है।

टीका - जब यह आत्मा धर्मपरिणत स्वभाववाला वर्तता हुआ शुद्धोपयोग परिणति

को धारण करता है – बनाये रखता है, तब विरोधीशक्ति से रहित होने के कारण अपना कार्य करने के लिये समर्थ है – ऐसा चारित्रवान होने से साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है और जब वह धर्मपरिणत स्वभाववाला होने पर भी, शुभोपयोग परिणति के साथ युक्त होता है, तब जो विरोधीशक्तिसहित होने से **स्वकार्य करने में असमर्थ और कथञ्चित् विरुद्ध कार्य करनेवाला** है – ऐसे चारित्र से युक्त होने से, जैसे अग्नि से गर्म किया गया घी किसी मनुष्य पर डाल दिया जाए तो वह उसकी जलन से दुखी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्ग के सुख के बन्ध को प्राप्त होता है, इसलिए शुद्धोपयोग उपादेय (प्रगट करने के लिए) है और शुभोपयोग हेय है।' *(प्रवचनसार, गाथा ११ की टीका)*

मिथ्यादृष्टि को या सम्यग्दृष्टि को भी, राग तो बन्ध का ही कारण है;
शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से ही मोक्ष है।

३- समयसार के पुण्य-पाप अधिकार के ११० वें कलश में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबन्धाय तन्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

अर्थ – जब तक ज्ञान की कर्मविरति बराबर परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्वपना शास्त्र में कहा है; उनके एकसाथ रहने में कोई भी क्षति अर्थात् विरोध नहीं है; परन्तु यहाँ इतना विशेष जानना कि आत्मा में अवशरूप से जो कर्म प्रगट होते हैं अर्थात् उदय होता है, **वह तो बन्ध का कारण होता है और मोक्ष का कारण तो, जो एक परम ज्ञान ही है, वह एक ही होता है** कि जो ज्ञान स्वतः विमुक्त है अर्थात् त्रिकाल परद्रव्य-भावों से भिन्न है।

भावार्थ – जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक सम्यग्दृष्टि को दो धाराएँ रहती हैं – शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। वे दोनों साथ रहने में कुछ भी विरोध नहीं है। (जिस प्रकार मिथ्याज्ञान को और सम्यग्ज्ञान को परस्पर विरोध है, उसी प्रकार कर्म सामान्य को और ज्ञान को विरोध नहीं है।) **उस स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के**

विकल्प अथवा व्रत-नियम के विकल्प, शुद्धस्वरूप का विकल्प तक कर्मबन्ध का कारण है। शुद्धपरिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

(समयसार, नई गुजराती आवृत्ति, पृष्ठ २६३-६४)

पुनश्च, इस कलश के अर्थ में श्री राजमल्लजी भी साफ स्पष्टीकरण करते हैं कि—

''**यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा** – 'मिथ्यादृष्टि को यतिपना क्रियारूप है, वह तो बन्ध का कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टि को जो यतिपना शुभ-क्रियारूप है, वह मोक्ष का कारण है; क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूपी क्रिया – यह दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करते हैं।' – **ऐसा प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करता है, उसका समाधान इस प्रकार है** –

जो कोई भी शुभ-अशुभ क्रिया-बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्य के विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूप के विचार इत्यादि हैं – वह सब कर्मबन्ध का कारण है; **ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का ऐसा तो कोई भेद नहीं है** (अर्थात् अज्ञानी के उपरोक्त कथनानुसार शुभक्रिया मिथ्यादृष्टि को तो बन्ध का कारण हो और वही क्रिया सम्यग्दृष्टि को मोक्ष का कारण हो – ऐसा तो उनका भेद नहीं है) **ऐसी क्रिया से तो उसे (सम्यक्त्वी को भी) बन्ध है और शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है।** यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी है; किन्तु उसमें **जो विक्रियारूप परिणाम है, उससे तो मात्र बन्ध होता है; उससे कर्म का क्षय एक अंश भी नहीं होता** – ऐसा वस्तु का स्वरूप है – जो फिर इलाज क्या ? – उस काल ज्ञानी को शुद्ध स्वरूप का अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान द्वारा उस समय कर्म का क्षय होता है, उससे एक अंशमात्र भी बन्धन नहीं होता – ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है; वह जैसा है, वैसा कहते हैं।''

(देखो, समयसार कलश टीका, हिन्दी पुस्तक, पृष्ठ ११२ सूरत से प्रकाशित)

उपरोक्तानुसार स्पष्टीकरण करके फिर उस कलश का अर्थ विस्तारपूर्वक लिखा है; उसमें तत्सम्बन्धी भी स्पष्टता है; उसमें अन्त में लिखते हैं कि—''**शुभक्रिया कदापि मोक्ष का साधन नहीं हो सकती, वह मात्र बन्धन ही करनेवाली है – ऐसी श्रद्धा करने से ही मिथ्याबुद्धि का नाश होकर सम्यग्ज्ञान का लाभ होगा। मोक्ष का उपाय तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रयमय आत्मा की शुद्ध वीतराग-परिणति है।**''

४- श्री राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका (सूरत से प्रकाशित) पृ. ११४ पंक्ति

१७ में ऐसा लिखा है कि ''यहाँ पर इस बात को दृढ़ किया है कि कर्म - निर्जरा का साधन मात्र शुद्ध ज्ञानभाव है, जितने अंश कालिमा है, उतने अंश तो बन्ध ही है, शुभक्रिया कभी भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकती, केवल बन्ध को ही करनेवाली है, ऐसा श्रद्धान करने से ही मिथ्याबुद्धि का नाश होकर सम्यग्ज्ञान लाभ होता है।

मोक्ष का उपाय तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रयमयी आत्मा की शुद्ध-वीतराग-परिणति है। जैसे पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है ''असमग्रं भावयतो... गा. २११॥ येनांशेन सुदृष्टि॥२१२॥ फिर भावार्थ में लिखा है कि जहाँ शुद्धभाव की पूर्णता नहीं हुई, वहाँ भी रत्नत्रय है, परन्तु जो वहाँ कर्मों का बन्ध है, सो रत्नत्रय से नहीं है, किन्तु अशुद्धता से-रागभाव से है, क्योंकि जितनी वहाँ अपूर्णता है, या शुद्धता में कमी है, वह मोक्ष का उपाय नहीं है, वह तो कर्मबन्ध ही करनेवाली है। जितने अंश में शुद्धदृष्टि है या सम्यग्दर्शनसहित शुद्धभाव की परिणति है, उतने अंश नवीन कर्म-बन्ध नहीं करती, किन्तु संवर-निर्जरा करती है और उसी समय जितने अंश रागभाव है, उतने अंश से कर्म-बन्ध भी होता है।

५- श्री राजमल्लजी ने '**वृत्तं कर्म स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहिं**' पुण्य-पाप अध्याय की इस कलश की टीका में लिखा है कि 'जितनी शुभ या अशुभ क्रियारूप आचरण है - चारित्र है, उससे स्वभावचारित्र-ज्ञान का (शुद्ध चैतन्यवस्तु का) शुद्ध परिणमन न होइ इसी निहचो छै (ऐसा निश्चय है।) भावार्थ - जितनी शुभाशुभ क्रिया-आचरण हैं अथवा बाह्य वक्तव्य या सूक्ष्म अन्तरङ्गरूप चिन्तवन अभिलाषा, स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्ध परिणमन है, वह शुद्ध परिणमन नहीं है, इससे वह बन्ध का कारण है - मोक्ष का कारण नहीं है। जैसे - कम्बल का नाहर (कपड़े पर चित्रित शिकारी पशु) कहने का नाहर है, वैसे - **शुभक्रिया आचरणरूप चारित्र कथनमात्र चारित्र है, परन्तु चारित्र नहीं है, निःसन्देहपने ऐसा जानो।'**

(देखो, रा० कलश टीका हिन्दी, पृष्ठ १०८)

६- राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका पृ० ११३ में सम्यग्दृष्टि के भी शुभभाव को क्रिया को बन्धक कहा है - '**बन्धाय समुल्लसति**' कहते जितनी क्रिया है, उतनी ज्ञानावरणादि कर्म-बन्ध करती है, संवर-निर्जरा अंशमात्र भी नहीं करती; '**तत् एकं ज्ञानं मोक्षाय स्थितं**' परन्तु वह एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश ज्ञानावरणादि कर्मक्षय का निमित्त है। भावार्थ ऐसा है जो एक जीव में शुद्धत्व, अशुद्धत्व एक ही समय (एक ही साथ में) होते हैं, परन्तु जितना अंश शुद्धत्व है, उतना अंश कर्मक्षपन है और जितने अंश अशुद्धत्व है, उतने

अंश कर्मबन्ध होते हैं, एक ही समय दोनों कार्य होते हैं, ऐसे ही है, उनमें सन्देह करना नहीं।
(कलश टीका पृष्ठ ११३)

कविवर बनारसीदासजी ने कहा है कि.... पुण्य-पाप की दोउ क्रिया मोक्षपंथ की कतरणी; बन्ध की करैया दोउ, दुहू में भली कोउ, बाधक विचार में निषिद्ध कीनी करनी॥ १२॥

जौलों अष्ट कर्म को विनाश नांहि सरवथा,
तौलों अन्तरातमा में धारा दोई वरनी॥
एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्मधारा,
दुह की प्रकृति न्यारी, न्यारो न्यारी धरनी॥
इतनौ विशेष जु करमधारा बन्धरूप,
पराधीन सकति विविध बन्ध करनी॥
ज्ञानधारा मोखरूप मोख की करनहार,
दोख की हरनहार भौ-समुद्र तरनी॥१४॥

७ - श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पु०सि० उपाय गाथा २१२ से १४ में सम्यग्दृष्टि के सम्बन्ध में कहा है कि जिन अंशों से यह आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमता है, वे अंश सर्वथा बन्ध के हेतु नहीं हैं; किन्तु जिन अंशों से यह रागादिक विभावरूप परिणमन करता है, वे ही अंश बन्ध के हेतु हैं। श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित पु०सि० में गाथा १११ का अर्थ भाषा टीकाकार ने असङ्गत कर दिया है, जो अब निम्न लेखानुसार दिखाते हैं। (अनगार धर्मामृत में भी फुटनोट में गलत अर्थ है।)

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवस्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥२११॥

अन्वयार्थ - असम्पूर्ण रत्नत्रय को भावन करनेवाले पुरुष के जो शुभकर्म का बन्ध है, सो बन्ध है, वह बन्ध विपक्षकृत या बन्ध रागकृत होने से अवश्य हो मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं। अब सुसङ्गत-सच्चे अर्थ के लिये देखो, श्री टोडरमलजीकृत पु०सि० ग्रन्थ, प्रकाशक जिनवाणी-प्रचारक कार्यालय कलकत्ता, पृष्ठ ११५ गाथा १११।

अन्वयार्थ - असमग्रं रत्नत्रय भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति सः विपक्षकृत रत्नत्रय तु मोक्षोपाय अस्ति, न बन्धनोपायः।

अर्थ - एकदेशरूप रत्नत्रय को पानेवाले पुरुष के जो कर्मबन्ध होता है, वह रत्नत्रय

से नहीं होता। किन्तु रत्नत्रय के विपक्षी जो राग-द्वेष हैं, उनसे होता है। वह रत्नत्रय तो वास्तव में मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं होता।

भावार्थ - सम्यग्दृष्टि जीव जो एकदेश रत्नत्रय को धारण करता है, उनमें जो कर्मबन्ध होता है, वह रत्नत्रय से नहीं होता, किन्तु उसकी जो शुभ कषायें हैं, उन्हीं से होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली शुभ कषायें हैं, किन्तु रत्नत्रय नहीं है।

अब रत्नत्रय और राग का फल दिखाते हैं। वहाँ पर गाथा २१२ से २१४ में गुणस्थानानुसार सम्यग्दृष्टि के राग को बन्ध का ही कारण कहा है और वीतरागभावरूप सम्यक्रत्नत्रय को मोक्ष का ही कारण कहा है। फिर गाथा २२० में कहा है कि - 'रत्नत्रयरूप धर्म, मोक्ष का कारण है और दूसरी गति का कारण नहीं है और फिर जो रत्नत्रय के सद्भाव में जो शुभप्रकृतियों का आस्रव होता है, वह सब शुभ कषाय-शुभोपयोग से ही होता है अर्थात् वह **शुभोपयोग का ही अपराध है** किन्तु रत्नत्रय का नहीं है। कोई ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग में (शुभभाव में) आंशिक शुद्धता है, किन्तु ऐसा मानना विपरीत है, कारण कि निश्चय सम्यक्त्व होने के बाद चारित्र की आंशिक शुद्धता सम्यग्दृष्टि के होती है, वह तो चारित्रगुण की शुद्ध परिणति है और जो शुभोपयोग है, वह तो अशुद्धता है।'

कोई ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग मोक्ष का सच्चा कारण है अर्थात् उससे संवर-निर्जरा है; अतः वे बन्ध का कारण नहीं हैं, तो यह दोनों मान्यता अयथार्थ ही है, ऐसा उपरोक्त शास्त्राधारों से सिद्ध होता है।

६. इस सूत्र का सिद्धान्त

जीवों को सबसे पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करना चाहिए, उसे प्रगट करने के बाद निजस्वरूप में स्थिर रहने का प्रयत्न करना और जब स्थिर न रह सके, तब अशुभभाव को दूर कर देशव्रत-महाव्रतादि शुभभाव में लगे, किन्तु उस शुभ को धर्म न माने तथा उसे धर्म का अंश या धर्म का सच्चा साधन न माने। पश्चात् उस शुभभाव को भी दूर कर निश्चय-चारित्र प्रगट करना अर्थात् निर्विकल्पदशा प्रगट करना चाहिए।

व्रत के भेद

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

अर्थ - व्रत के दो भेद हैं - [**देशतः अणु**] उपरोक्त हिंसादि पापों का एकदेश त्याग

करना, सो अणुव्रत और [**सर्वतः महती**] सर्वदेश त्याग करना, सो महाव्रत है।

टीका—१- शुभभावरूप व्यवहारव्रत के ये दो भेद हैं। पाँचवें गुणस्थान में देशव्रत होता है और छट्ठे गुणस्थान में महाव्रत होता है। अध्याय के २९वें सूत्र में कहा गया है कि यह व्यवहारव्रत आस्रव है। निश्चयव्रत की अपेक्षा से ये दोनों प्रकार के व्रत एकदेश व्रत हैं (देखो, सूत्र १ की टीका, पैरा ५) सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पदशा होने पर यह व्यवहार महाव्रत भी छूट जाता है और आगे की अवस्था में निर्विकल्पदशा विशेष-विशेष दृढ़ होती है, इसीलिए वहाँ भी ये महाव्रत नहीं होते।

२- सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक होता है। वह सङ्कल्पपूर्वक त्रसजीव की हिंसा न करे, न करावे तथा यदि दूसरा कोई करे तो उसे भला नहीं समझता। उसके स्थावरजीवों की हिंसा का त्याग नहीं, तथापि बिना प्रयोजन स्थावरजीवों की विराधना नहीं करता और प्रयोजनवश पृथ्वी, जल इत्यादि जीवों की विराधना होती है, उसे भली-अच्छी नहीं जानता।

प्रश्न - इस शास्त्र के अध्याय ९ के सूत्र १८ में व्रत को संवर कहा है और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे संवर के कारण में गर्भित किया है, वहाँ दस प्रकार के धर्म में अथवा संयम में उसका समावेश है अर्थात् उत्तम क्षमा में अहिंसा, उत्तम सत्य में सत्य वचन, उत्तम शौच में अचौर्य, उत्तम ब्रह्मचर्य में ब्रह्मचर्य और उत्तम आकिञ्चन्य में परिग्रह-त्याग - इस तरह व्रतों का समावेश उसमें हो जाता है, तथापि यहाँ व्रत को आस्रव का कारण क्यों कहा है?

उत्तर - इसमें दोष नहीं, नववाँ संवर अधिकार है। वहाँ निवृत्तिस्वरूप वीतराग-भावरूप व्रत को संवर कहा है और यहाँ आस्रव अधिकार है, इसमें प्रवृत्ति दिखाई जाती है; क्योंकि हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि छोड़ देने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य - दी गयी वस्तु का ग्रहण वगैरह क्रिया होती है, इसीलिए ये व्रत शुभकर्मों के आस्रव के कारण हैं। इन व्रतों में भी अव्रतों की तरह कर्मों का प्रवाह होता है, इससे कर्मों की निवृत्ति नहीं होती, इसीलिए आस्रव अधिकार में व्रतों का समावेश किया है।

(देखो, सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५-६)

४- मिथ्यात्व सदृश महापाप को मुख्यरूप से छुड़ाने की प्रवृत्ति न करना और कुछ बातों में हिंसा बताकर उसे छुड़ाने की मुख्यता करना, सो क्रम-भङ्ग उपदेश है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ५, पृष्ठ १६१)

५- एकदेश वीतराग और श्रावक की व्रतरूप दशा के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात् एकदेश वीतरागता होने पर श्रावक के व्रत होते ही हैं। इस तरह वीतरागता के और

महाव्रत के भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, धर्म की परीक्षा अन्तरङ्ग वीतरागभाव से होती है, शुभभाव और बाह्य-संयोग से नहीं होती।

६. इस सूत्र में कहे हुए त्याग का स्वरूप

यहाँ छद्मस्थ के बुद्धिगोचर स्थूलत्व की अपेक्षा से लोक-प्रवृत्ति की मुख्यतासहित कथन किया है, किन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मत्व की दृष्टि से नहीं कहा, क्योंकि इसका आचरण हो नहीं सकता। इसका उदाहरण—

(१) अहिंसा व्रत सम्बन्धी—अणुव्रती के त्रसहिंसा का त्याग कहा है; उसके स्त्रीसेवनादि कार्यों में तो त्रसहिंसा होती है, पुनश्च यह भी जानता है कि जिनवाणी में त्रसजीव कहे हैं, परन्तु उसके त्रसजीव मारने का अभिप्राय नहीं तथा लोक में जिसका नाम त्रसघात है, उसे वह नहीं करता; इस अपेक्षा से उसके त्रसहिंसा का त्याग है।

महाव्रतधारी मुनि के स्थावर-हिंसा का भी त्याग कहा। अब मुनि पृथ्वी, जलादिक में गमन करते हैं; वहाँ त्रस का भी सर्वथा अभाव नहीं है, क्योंकि त्रस जीवों की भी ऐसी सूक्ष्म अवगाहना है कि जो दृष्टिगोचर भी नहीं होती, तथा उनकी स्थिति भी पृथ्वी जलादिक में है। पुनश्च मुनि जिनवाणी से यह जानते हैं और किसी समय अवधिज्ञानादि के द्वारा भी जानते हैं, परन्तु मुनि के प्रमाद से स्थावर-त्रसहिंसा का अभिप्राय नहीं होता। लोक में पृथ्वी खोदना, अप्रासुक जल से क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्ति का नाम स्थावर-हिंसा है और स्थूल त्रस जीवों को पीड़ा पहुँचाने का नाम त्रसहिंसा है। उसे मुनि नहीं करते, इसलिए उनके हिंसा का सर्वथा त्याग कहा जाता है।

(२) सत्यादि चार व्रत सम्बन्धी—मुनि के असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग है, परन्तु केवलज्ञान में जानने की अपेक्षा से असत्य वचनयोग बारहवें गुणस्थान पर्यन्त कहा है, अदत्त कर्म-परमाणु आदि परद्रव्यों का ग्रहण तेरहवें गुणस्थान तक है, वेद का उदय नववें गुणस्थान तक है, अन्तरङ्ग परिग्रह दसवें गुणस्थान तक है, तथा समवसरणादि बाह्य परिग्रह केवली भगवान के भी होता है, परन्तु वहाँ प्रमादपूर्वक पापरूप अभिप्राय नहीं है। लोक-प्रवृत्ति में जिन क्रियाओं से ऐसा नाम प्राप्त करता है कि 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है तथा परिग्रह रखता है', वे क्रियाएँ उनके नहीं हैं, इसलिए उनके असत्यादिक का त्याग कहा गया है।

(३) मुनि के मूलगुणों में पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग कहा है, किन्तु इन्द्रियों

का जानना तो नहीं मिटता तथा यदि विषयों में राग-द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो वहाँ यथाख्यातचारित्र हो जाए, वह तो यहाँ हुआ नहीं, परन्तु स्थूलरूप से विषय-इच्छा का अभाव हुआ है तथा बाह्य विषय-सामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है, इसीलिए उनके इन्द्रिय के विषयों का त्याग कहा है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार)*

(४) त्रसहिंसा के त्याग सम्बन्धी—यदि किसी ने त्रसहिंसा का त्याग किया तो वहाँ उसे चरणानुयोग में अथवा लोक में जिसे त्रसहिंसा कहते हैं, उसका त्याग किया है, किन्तु केवलज्ञान के द्वारा जो त्रसजीव देखे जाते हैं, उनकी हिंसा का त्याग नहीं बनता। यहाँ जिस त्रसहिंसा का त्याग किया, उसमें तो उस हिंसारूप मन का विकल्प न करना, सो मन से त्याग है, वचन न बोलना, सो वचन से त्याग है और शरीर से न प्रवर्तना, सो काय से त्याग है ॥२॥ *(मोक्षमार्गप्रकाशक से)*

अब व्रतों में स्थिरता के कारण बतलाते हैं

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

अर्थ - **[तत्स्थैर्यार्थं]** उन व्रतों की स्थिरता के लिये **[भावनाः पंच पंच]** प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं।

किसी वस्तु का बार-बार विचार करना, सो भावना है ॥३॥

अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥४॥

अर्थ - **[वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि]** वचनगुप्ति-वचन को रोकना, मनगुप्ति-मन की प्रवृत्ति को रोकना, ईर्यासमिति-चार हाथ जमीन देखकर चलना, आदाननिक्षेपणसमिति-जीवरहित भूमि देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना धरना और आलोकितपानभोजन-देखकर-शोधकर भोजन-पानी ग्रहण करना **[पंच]** ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं।

टीका—१- जीव, परद्रव्य का कुछ कर नहीं सकता, इसीलिए वचन, मन इत्यादि की प्रवृत्ति को जीव रोक नहीं सकता, किन्तु बोलने के भाव की तथा मन की तरफ लक्ष्य करने के भाव को रोक सकता है, उसे वचनगुप्ति तथा मनगुप्ति कहते हैं। ईर्यासमिति आदि में भी इसी प्रकार से अर्थ होता है। जीव, शरीर को चला नहीं सकता, किन्तु स्वयं एक क्षेत्र

से दूसरे क्षेत्र में जाने का भाव करता है और शरीर अपनी उस समय की क्रियावतीशक्ति की योग्यता के कारण चलने लायक हो तो स्वयं चलता है। जब जीव चलने का भाव करता है, तब प्रायः शरीर उसकी अपनी योग्यता से स्वयं चलता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। इसीलिए व्यवहारनय की अपेक्षा से 'वचन को रोकना, मन को रोकना, देखकर चलना, विचारकर बोलना' ऐसा कहा जाता है। इस कथन का यथार्थ अर्थ शब्दानुसार नहीं, किन्तु भाव-अनुसार होता है।

२. **प्रश्न** - यहाँ गुप्ति और समिति को पुण्यास्रव में बताया और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे संवर के कारण में बताया है, इस तरह से तो कथन में परस्पर विरोध होगा?

उत्तर - यह विरोध नहीं, क्योंकि यहाँ गुप्ति तथा समिति का अर्थ अशुभवचन का निरोध तथा अशुभ विचार का निरोध होता है, तथा नववें अध्याय के दूसरे सूत्र में शुभाशुभ दोनों भावों का निरोध अर्थ होता है। *(देखो, तत्त्वार्थसार, अध्याय ४, गाथा ३३, हिन्दी टीका, पृष्ठ २१९)*

३. **प्रश्न** - यहाँ कायगुप्ति को क्यों नहीं लिया?

उत्तर - ईर्यासमिति और आदाननिक्षेपणसमिति इन दोनों में कायगुप्ति का अन्तर्भाव हो जाता है।

४. आलोकितपान-भोजन में रात्रिभोजन त्याग का समावेश हो जाता है॥४४॥

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणां च पंच॥५॥

अर्थ - **[क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि]** क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध का त्याग करना, लोभ का त्याग करना, भय का त्याग करना, हास्य का त्याग करना, **[अनुवीचिभाषणां च]** और शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना **[पंच]** ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।

टीका—१. **प्रश्न** - सम्यग्दृष्टि निर्भय है, इसीलिए निःशङ्क है और ऐसी अवस्था चौथे गुणस्थान में होती है तो फिर यहाँ सम्यग्दृष्टि श्रावक को और मुनि को भय का त्याग करने का क्यों कहा?

उत्तर - चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि अभिप्राय की अपेक्षा से निर्भय है। अनन्तानुबन्धी कषाय होती है, तब जिस प्रकार का भय होता है, उस प्रकार का भय उनके नहीं होता,

इसलिए उनको निर्भय कहा है; किन्तु वहाँ ऐसा कहने का आशय नहीं है कि वे चारित्र की अपेक्षा से सर्वथा निर्भय हुए हैं। चारित्र की अपेक्षा आठवें गुणस्थानपर्यन्त भय होता है, इसीलिए यहाँ श्रावक को तथा मुनि को भय छोड़ने की भावना करने को कहा है।

२. प्रत्याख्यान दो प्रकार का होता है - (१) निश्चयप्रत्याख्यान और (२) व्यवहार-प्रत्याख्यान। निश्चयप्रत्याख्यान निर्विकल्पदशारूप है, इसमें बुद्धिपूर्वक होनेवाले शुभाशुभभाव छूटते हैं। व्यवहारप्रत्याख्यान शुभभावरूप है; इसमें सम्यग्दृष्टि के अशुभभाव छूटकर-दूर होकर शुभभाव रह जाते हैं। आत्मस्वरूप के अज्ञानी को (वर्तमान में आत्मस्वरूप का निश्चय ज्ञान करने की मना करनेवाले को) अर्थात् आत्मस्वरूप के ज्ञान का उपदेश वर्तमान में मिलाने के प्रति जिसे अरुचि हो, उसे शुभभावरूप व्यवहारप्रत्याख्यान भी नहीं होता। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि पाँच महाव्रत निरतिचार पालते हैं, उनके भी इस भावना में बताये हुए प्रत्याख्यान नहीं होते। क्योंकि वे भावनाएँ पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के ही होती हैं, मिथ्यादृष्टि के नहीं होतीं।

३. अनुवीचिभाषण - यह भावना भी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही शास्त्र के मर्म की खबर है, इसीलिए वह सत्-शास्त्र के अनुसार निर्दोष वचन बोलने का भाव करता है। इस भावना का रहस्य यह है कि सच्चे सुख की खोज करनेवाले को जो सत्-शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता हो और अध्यात्म-रस द्वारा अपने स्वरूप का अनुभव जिसे हुआ हो, ऐसे आत्मज्ञान की सङ्गतिपूर्वक शास्त्र का अभ्यास करके उसका मर्म समझना चाहिए। शास्त्रों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोजन साधने के लिये अनेक प्रकार का उपदेश दिया है, उसे यदि सम्यग्ज्ञान के द्वारा यथार्थ प्रयोजनपूर्वक पहिचाने तो जीव के हित-अहित का निश्चय हो। इसलिए 'स्यात्' पद की सापेक्षतासहित जो जीव सम्यग्ज्ञान द्वारा ही प्रीतिसहित जिन-वचन में रमता है, वह जीव थोड़े ही समय में स्वानुभूति से शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग का प्रथम उपाय आगमज्ञान कहा है, इसलिए सच्चा आगम क्या है, इसकी परीक्षा करके आगमज्ञान प्राप्त करना चाहिए। आगमज्ञान के बिना धर्म का यथार्थ साधन नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु जीव को यथार्थ बुद्धि के द्वारा सत्य आगम का अभ्यास करना और सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। इसी से जीव का कल्याण होता है॥५॥

अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-
सधर्माऽविसंवादाः पंच॥६॥

अर्थ - [**शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माऽविसंवादाः**] शून्यागारवास-पर्वतों की गुफा, वृक्ष की पाल इत्यादि निर्जन स्थानों में रहना; विमोचितावास-दूसरों के द्वारा छोड़े गये स्थान में निवास करना; किसी स्थान पर रहते हुए दूसरों को न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थान में आवे तो उसे न रोकना; शास्त्रानुसार भिक्षा की शुद्धि रखना और साधर्मियों के साथ यह मेरा है-यह तेरा है - ऐसा क्लेश न करना [**पंच**] ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं।

टीका—समान धर्म के धारक जैन साधु-श्रावकों को परस्पर में विसंवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि विसंवाद से यह मेरा-यह तेरा—ऐसा पक्ष ग्रहण होता है और इसी से अग्राह्य के ग्रहण करने की सम्भावना हो जाती है ॥६॥

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

अर्थ - [**स्त्रीरागकथाश्रवणत्यागः**] स्त्रियों में राग बढ़ानेवाली कथा सुनने का त्याग; [**तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्यागः**] उनके मनोहर अङ्गों को निरखकर देखने का त्याग; [**पूर्वरतानुस्मरणत्यागः**] अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग; [**वृष्येष्ट-रसत्यागः**] कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग और [**स्वशरीरसंस्कारत्यागः**] अपने शरीर के संस्कारों का त्याग [**पंच**] ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ हैं।

टीका—प्रश्न - परवस्तु, आत्मा को कुछ लाभ-नुकसान नहीं करा सकती तथा आत्मा से परवस्तु का त्याग हो नहीं सकता, तो फिर यहाँ स्त्रीराग की कथा सुनने आदि का त्याग क्यों कहा है ?

उत्तर - आत्मा ने परवस्तुओं को कभी ग्रहण नहीं किया और ग्रहण कर भी नहीं सकता, इसीलिए उनका त्याग ही किस तरह बन सकता है ? इसलिए वास्तव में पर का त्याग ज्ञानियों ने कहा है, ऐसा मान लेना योग्य नहीं है। ब्रह्मचर्य पालन करनेवालों को स्त्रियों और शरीर के प्रति राग दूर करना चाहिए,अतः इस सूत्र में उनके प्रति राग का त्याग करने को कहा है। व्यवहार के कथनों को ही निश्चय के कथन की तरह नहीं मानना, परन्तु इस कथन का जो परमार्थरूप अर्थ हो वही समझना चाहिए।

यदि जीव के स्त्री आदि के प्रति राग दूर हो गया हो तो उस सम्बन्धी रागवाली बात सुनने की तरफ उसकी रुचि का झुकाव क्यों हो ? इस तरह की रुचि का विकल्प इस ओर का राग बतलाता है, इसलिए उस राग को त्याग करने की भावना इस सूत्र में बतलायी है ॥६ ॥

परिग्रहत्यागव्रत की पाँच भावनाएँ

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥८ ॥

अर्थ - [**मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि**] स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति राग-द्वेष का त्याग करना [**पंच**] सो पाँच परिग्रहत्यागव्रत की भावनाएँ हैं।

टीका—इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं - द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इसकी व्याख्या दूसरे अध्याय के १७-१८ सूत्र की टीका में दी है। भावेन्द्रिय, वह ज्ञान का विकास है, वह जिन पदार्थों को जानती है, वे पदार्थ, ज्ञान के विषय होने से ज्ञेय हैं, किन्तु यदि उनके प्रति राग-द्वेष किया जावे तो उसे उपचार से इन्द्रियों का विषय कहा जाता है। वास्तव में वह विषय (ज्ञेयपदार्थ) स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं; किन्तु जिस समय, जीव राग-द्वेष करता है, तब उपचार से उन पदार्थों को इष्टानिष्ट कहा जाता है। इस सूत्र में उन पदार्थों की ओर राग-द्वेष छोड़ने की भावना करना बताया है।

राग का अर्थ प्रीति, लोलुपता और द्वेष का अर्थ नाराजी, तिरस्कार है ॥८ ॥

हिंसा आदि से विरक्त होने की भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९ ॥

अर्थ - [**हिंसादिषु**] हिंसा आदि पाँच पापों से [**इह अमुत्र**] इस लोक में तथा परलोक में [**आपायावद्यदर्शनम्**] नाश की (दु:ख, आपत्ति, भय तथा निंद्यगति की) प्राप्ति होती है - ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए।

टीका—अपाय - अभ्युदय और मोक्षमार्ग की जीव की क्रिया को नाश करनेवाला जो उपाय है, सो अपाय है। अवद्य-निंद्य, निन्दा के योग्य है।

हिंसा आदि पापों की व्याख्या सूत्र १३ से १७ तक में की जायेगी ॥९ ॥

दुःखमेव वा ॥१०॥

अर्थ - **[वा]** अथवा ये हिंसादिक पाँच पाप **[दुःखमेव]** दुःखरूप ही हैं - ऐसा विचारना।

टीका—१. यहाँ कारण में कार्य का उपचार समझना, क्योंकि हिंसादि तो दुःख के कारण हैं, किन्तु उन्हें ही कार्य अर्थात् दुःखरूप बतलाया है।

प्रश्न - हम ऐसा देखते हैं कि विषय-रमणता से तथा भोग-विलास से रतिसुख उत्पन्न होता है, तथापि उसे दुःखरूप क्यों कहा ?

उत्तर - इन विषयादि में सुख नहीं, अज्ञानी लोग भ्रान्ति से उन्हें सुखरूप मानते हैं। ऐसा मानना कि पर से सुख होता है, सो बड़ी भूल है - भ्रान्ति है। जैसे - चर्म-माँस-रुधिर में जब विकार होता है, तब नख (नाखून) पत्थर आदि से शरीर को खुजाता है; वहाँ यद्यपि खुजलाने से अधिक दुःख होता है, तथापि भ्रान्ति से सुख मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव, पर से दुःख मानता है, यह बड़ी भ्रान्ति-भूल है।

जीव स्वयं इन्द्रियों के वश हो, यही स्वाभाविक दुःख है। यदि उसे दुःख न हो तो जीव इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति क्यों करता है ? निराकुलता ही सच्चा सुख है; बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान के वह सुख नहीं हो सकता। अपने स्वरूप की भ्रान्तिरूप मिथ्यात्व और उस पूर्वक होनेवाला मिथ्याचारित्र ही सर्व दुःखों का कारण है। दुःख कम हो, उसे अज्ञानी सुख मानते हैं, किन्तु वह सुख नहीं है। सुख-दुःख के वेदन का न होना ही सुख है अथवा जो अनाकुलता है, सो सुख है-अन्य नहीं और यह सुख, सम्यग्ज्ञान का अविनाभावी है।

३. **प्रश्न** - धन-सञ्चय से तो सुख दिखायी देता है, तथापि वहाँ भी दुःख क्यों कहते हो ?

उत्तर - धन-सञ्चय आदि में सुख नहीं। एक पक्षी के पास माँस का टुकड़ा पड़ा हो, तब दूसरे पक्षी उसे नोंचते हैं और उस पक्षी को भी चोंचे मारते हैं, उस समय उस पक्षी की जैसी हालत होती है, वैसी हालत धन-धान्य आदि परिग्रहधारी मनुष्यों की होती है। लोग सम्पत्तिशाली पुरुष को उसी तरह नोंचते हैं। धन की सम्भाल करने में आकुलता से दुःखी होना पड़ता है अर्थात् यह मान्यता भ्रमरूप हे कि धन-सञ्चय से सुख होता है। ऐसा मानना कि 'परवस्तु से सुख-दुःख या लाभ-हानि होते हैं' यही बड़ी भूल है। परवस्तु

में इस जीव के सुख-दुःख का संग्रह किया हुआ नहीं है कि जिससे वह परवस्तु जीव को सुख-दुःख दे।

४. **प्रश्न** - हिंसादि पाँच पापों से विरक्त होने की भावना करने को कहा, परन्तु मिथ्यात्व तो महापाप है, तथापि छोड़ने के लिये क्यों नहीं कहा?

उत्तर - यह अध्याय इसका प्ररूपण करता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के कैसा शुभास्रव होता है। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वरूप महापाप तो होता ही नहीं, इसीलिए इस सम्बन्धी वर्णन इस अध्याय में नहीं है। इस अध्याय में सम्यग्दर्शन के बाद होनेवाले व्रत सम्बन्धी वर्णन हैं। जिसने मिथ्यात्व छोड़ा हो, वही असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति हो सकता है - यह सिद्धान्त इस अध्याय के १८वें सूत्र में कहा है।

मिथ्यादर्शन महापाप है, उसे छोड़ने को पहले छट्ठे अध्याय के १३वें सूत्र में कहा है तथा अब फिर आठवें अध्याय के पहले सूत्र में कहेंगे॥१०॥

व्रतधारी सम्यग्दृष्टि की भावना

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु॥११॥

अर्थ - [**सत्त्वेषु मैत्री**] प्राणीमात्र के प्रति निर्वैर बुद्धि [**गुणाधिकेषु प्रमोदं**] अधिक गुणवालों के प्रति प्रमोद (हर्ष) [**क्लिश्यमानेषु कारुण्यं**] दुःखी, रोगी जीवों के प्रति करुणा और [**अविनयेषु माध्यस्थं**] हठाग्रही मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रति माध्यस्थ भावना - ये चार भावना अहिंसादि पाँच व्रतों की स्थिरता के लिये बारम्बार चिन्तवन करने योग्य हैं।

टीका—सम्यग्दृष्टि जीवों के यह चार भावनाएँ शुभभावरूप से होती हैं। ये भावनाएँ मिथ्यादृष्टि के नहीं होतीं, क्योंकि उसे वस्तुस्वरूप का विवेक नहीं है।

मैत्री - जो दूसरे को दुःख न देने की भावना है, सो मैत्री है।

प्रमोद - अधिक गुणों के धारक जीवों के प्रति प्रसन्नता आदि से अन्तरङ्ग-भक्ति प्रगट होना, सो प्रमोद है।

कारुण्य - दुःखी जीवों को देखकर उनके प्रति करुणाभाव होना, सो कारुण्य है।

माध्यस्थ - जो जीव तत्त्वार्थश्रद्धा से रहित है और तत्त्व का उपदेश देने से उलटा चिढ़ता है, उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना, सो माध्यस्थपन है।

२. इस सूत्र के अर्थ की पूर्णता करने के लिये निम्न तीन वाक्यों में से कोई एक वाक्य लगाना—

(१) 'तत्स्थैर्यार्थं भावयितव्यामि' इन अहिंसादिक पाँच व्रतों की स्थिरता के लिये भावना करनी योग्य है।

(२) 'भावयतः पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति' इस भावना के भाने से अहिंसादिक पाँच व्रतों की पूर्णता होती है।

(३) 'तत्स्थैर्यार्थम् भावयेत्' इन पाँच व्रतों की दृढ़ता के लिये भावना करे।

(देखो, सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ७, पृष्ठ २९)

३. ज्ञानी पुरुषों को अज्ञानी जीवों के प्रति द्वेष नहीं होता, किन्तु करुणा होती है। इस सम्बन्ध में श्री आत्मसिद्धि शास्त्र की तीसरी गाथा में कहा है कि—

कोई क्रियाजड़ हो रहे शुष्क ज्ञान में कोई।
माने मारग मोक्ष का करुणा उपजे जोई॥३॥

अर्थ - कोई क्रिया में ही जड़ हो रहा है, कोई ज्ञान में शुष्क हो रहा है और वे इनमें मोक्षमार्ग मान रहे हैं, उन्हें देखकर करुणा पैदा होती है।

गुणाधिक - जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों में प्रधान-मान्य-बड़ा हो, वह गुणाधिक है।

क्लिश्यमान - जो महामोहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, कुमति, कुश्रुतादि से परिपूर्ण हैं, जो विषय-सेवन करने की तीव्र तृष्णारूप अग्नि से अत्यन्त दग्ध हो रहे हैं और वास्तविक हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में जो विपरीत हैं - इस कारण से वे दुःख से पीड़ित हैं, वे जीव क्लिश्यमान हैं।

अविनयी - जो जीव मिट्टी के पिण्ड, लकड़ी या दीवाल की तरह जड़-अज्ञानी हैं, वे वस्तुस्वरूप को ग्रहण करना (समझना और धारण करना) नहीं चाहते, तर्कशक्ति से ज्ञान नहीं करना चाहते तथा दृढ़रूप से विपरीतश्रद्धावाले हैं, और जिनने द्वेषादिक के वश हो वस्तु-स्वरूप को अन्यथा ग्रहण कर रखा है, ऐसे जीव अविनयी हैं, ऐसे जीवों को अपदृष्टि-मूढ़दृष्टि भी कहते हैं॥११॥

व्रतों की रक्षा के लिये सम्यग्दृष्टि की विशेष भावना

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्॥१२॥

अर्थ - [**संवेगवैराग्यार्थम्**] संवेग अर्थात् संसार का भय और वैराग्य अर्थात् राग-द्वेष का अभाव करने के लिये [**जगत्कायस्वभावौ वा**] क्रम से संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तवन करना चाहिए।

टीका—१. जगत् का स्वभाव—छह द्रव्यों के समूह का नाम जगत् है। प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनन्त है। इनमें जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्य जड़ हैं और जीवद्रव्य चेतन है। जीवों की संख्या अनन्त है, पाँच अचेतन द्रव्यों के सुख-दुःख नहीं, जीवद्रव्य के सुख-दुःख है। अनन्त जीवों में कुछ सुखी हैं और बहुभाग के जीव दुःखी हैं। जो जीव सुखी हैं, वे सम्यग्ज्ञानी ही हैं, बिना सम्यग्ज्ञान के कोई जीव सुखी नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है। इस तरह सुख का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है और सुख की पूर्णता सिद्धदशा में होती है। स्वस्वरूप को नहीं समझनेवाले मिथ्या-दृष्टि जीव दुःखी हैं। इन जीवों के अनादि से दो बड़ी भूलें लगी हुई हैं, वे भूलें निम्नप्रकार हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि की ऐसी मान्यता है कि शरीरादि परद्रव्य का मैं कर सकता हूँ और परद्रव्य मेरा कर सकते हैं; इसप्रकार परवस्तु से मुझे लाभ-हानि होती है और जीव को पुण्य से लाभ होता है - यह मिथ्यामान्यता है। शरीरादि के प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र द्रव्य हैं, जगत् का प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। परमाणु द्रव्य स्वतन्त्र है, तथापि जीव उसे हला-चला सकता है, इसकी व्यवस्था सम्भाल सकता है, ऐसी मान्यता द्रव्यों की स्वतन्त्रता छीन लेने के बराबर है और इसमें प्रत्येक रजकण पर जीव का स्वामित्व होने की मान्यता आती है; यह अज्ञानरूप मान्यता अनन्त संसार का कारण है। प्रत्येक जीव भी स्वतन्त्र है। यदि यह जीव परजीवों का कुछ कर सकता और यदि परजीव इसका कुछ कर सकते तो एक जीव पर दूसरे जीव का स्वामित्व हो जायेगा और स्वतन्त्र वस्तु का नाश हो जायेगा। पुण्यभाव विकार है, स्वद्रव्य का आश्रय भूलकर अनन्त परद्रव्यों के आश्रय से यह भाव होता है, इससे जीव को लाभ होता है, यदि ऐसा मानें तो यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि परद्रव्य के आलम्बन से (पराश्रय-पराधीनता से) लाभ है-सुख है, किन्तु यह मान्यता अपसिद्धान्त है - मिथ्या है।

(२) मिथ्यादृष्टि जीव की अनादिकाल से दूसरी भूल यह है कि जीव विकारी अवस्था जितना ही है अथवा जन्म से मरण पर्यन्त ही है - ऐसा मानकर किसी समय में भी ध्रुवरूप त्रिकाल शुद्ध चैतन्य-चमत्कार स्वरूप को नहीं पहचानता और न उसका आश्रय करता है।

इन दो भूलोंरूप ही संसार है, यही दुःख है, इन्हें दूर किये बिना कोई जीव सम्यग्ज्ञानी-

धर्मी-सुखी नहीं हो सकता। जहाँ तक यह मान्यता हो, वहाँ तक जीव दु:खी ही है।

श्री समयसार शास्त्र, गाथा ३०८ से ३११ में से इस सम्बन्धी कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

''समस्त द्रव्यों के परिणाम जुदे-जुदे हैं, सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं; वे इन परिणामों के कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से वास्तव में किसी का किसी के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, इसलिए जीव अपने परिणाम का ही कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इसी तरह अजीव अपनी परिणाम का ही कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इस प्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है।''

(समयसार कलश १९९) ''जो अज्ञान-अन्धकार से आच्छादित होकर आत्मा को (पर का) कर्ता मानते हैं, वे चाहे मोक्ष के इच्छुक हों तो भी सामान्य (लौकिक) जनों की तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता।''

'जो जीव व्यवहार से मोहित होकर परद्रव्य का कर्तापन मानता है, वह लौकिकजन हो या मुनिजन हो - मिथ्यादृष्टि ही है।' (कलश २०१)

''क्योंकि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सारा सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसीलिए जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं, वहाँ कर्ता-कर्म की घटना नहीं होती - इस प्रकार मुनिजनों और लौकिकजनों! तत्त्व को (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) अकर्ता देखो (ऐसा श्रद्धान करना कि कोई किसी का कर्ता नहीं, परद्रव्य पर का अकर्ता ही है)''

ऐसी सत्य-यथार्थ बुद्धि को शिवबुद्धि अथवा कल्याणकारी बुद्धि कहते हैं।

—शरीर, स्त्री, पशु, धन, इत्यादि पर वस्तुओं में जीव का संसार नहीं है, किन्तु मैं उन परद्रव्यों का कुछ कर सकता हूँ अथवा मुझे उनसे सुख-दु:ख होते हैं—ऐसी विपरीत मान्यता (मिथ्यात्व) ही संसार है। संसार यानी (सं०+सृ) अच्छी तरह खिसक जाना। जीव अपने स्वरूप की यथार्थ मान्यता में से अनादि से अच्छी तरह खिसक जाने का कार्य (विपरीत मान्यतारूपी कार्य) करता है, इसीलिए यह संसार-अवस्था को प्राप्त हुआ है। अत: जीव की विकारी अवस्था ही संसार है, किन्तु जीव का संसार जीव से बाहर नहीं है। प्रत्येक जीव स्वयं अपने गुण-पर्यायों में है, जो अपने गुण-पर्याय हैं, सो जीव का जगत् है। न तो जीव में जगत् के अन्य द्रव्य हैं और न यह जीव जगत् के अन्य द्रव्यों में है।

सम्यग्दृष्टि जीव, जगत् के स्वरूप का इस प्रकार चिन्तवन करते हैं।

२. शरीर का स्वभाव—शरीर अनन्त रजकणों का पिण्ड है। जीव का कार्माणशरीर और तैजसशरीर के साथ अनादि से संयोग-सम्बन्ध है। सूक्ष्म होने से यह शरीर इन्द्रियगम्य नहीं। इसके अलावा जीव के एक स्थूल शरीर होता है; परन्तु जब एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, तब बीच में जितना समय लगता है, उतने समय तक (अर्थात् विग्रहगति में) जीव के यह स्थूल शरीर नहीं होता। मनुष्य तथा एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के तिर्यञ्चों के जो स्थूल शरीर होता है, वह औदारिकशरीर है और देव तथा नारकियों के वैक्रियिकशरीर होता है। इसके सिवाय एक आहारकशरीर होता है और वह विशुद्ध संयम के धारक मुनिराज के ही होता है। वास्तव में ये पाँचों प्रकार के शरीर जड़ हैं-अचेतन हैं अर्थात् यथार्थ में ये शरीर, जीव के नहीं हैं। कार्माणशरीर तो इन्द्रिय से दिखायी नहीं देता, तथापि ऐसा व्यवहार-कथन सुनकर कि 'संसारी जीवों के कार्माणशरीर होता है' इसका यथार्थ आशय समझने के बदले उसे निश्चय कथन मानकर अज्ञानी ऐसा मान लेते हैं कि वास्तव में जीव का ही शरीर होता है।

शरीर अनन्त रजकणों का पिण्ड है और प्रत्येक रजकण स्वतन्त्र द्रव्य है; यह हलन-चलनादिरूप अपनी अवस्था अपने कारण से स्वतन्त्ररूप से धारण करता है। प्रत्येक परमाणु-द्रव्य अपनी नवीन पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न करता है और पुरानी पर्याय का अभाव करता है। इस तरह पर्याय के उत्पाद-व्ययरूप कार्य करते हुए ये प्रत्येक परमाणु ध्रुवरूप से हमेशा बने रहते हैं। अतएव जगत् के समस्त द्रव्य स्थिर रहकर बदलनेवाले हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव ऐसा भ्रम सेवन करते हैं कि जीव, शरीर के अनन्त परमाणुद्रव्यों की पर्याय कर सकता है और जगत् के अज्ञानियों की ओर से जीव को अपनी इस विपरीत मान्यता की बलवानपने-से-विशेषरूप से पुष्टि मिला करती है। शरीर के साथ जो एकत्वबुद्धि है, सो इस अज्ञान का कारण है। अत: इसके फलस्वरूप जीव के अपने विकारभाव के अनुसार नये-नये शरीर का संयोग हुआ करता है। इस भूल को दूर करने के लिए चेतन और जड़वस्तु के स्वभाव की स्वतन्त्रता समझने की आवश्यकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इस वस्तुस्वभाव को सम्यग्ज्ञान से जानता है। यहाँ इस सम्यग्ज्ञान और यथार्थ मान्यता को विशेष स्थिर-निश्चल करने के लिये इसका बारम्बार विचार-चिन्तवन करना कहा है।

३. संवेग—सम्यग्दर्शनादि धर्म में तथा उसके फल में उत्साह होना और संसार का

भय होना, सो संवेग है। परवस्तु, संसार नहीं किन्तु अपना विकारीभाव, संसार है। इस विकारीभाव का भय रखना अर्थात् इस विकारीभाव के न होने की भावना रखना और वीतरागदशा की भावना बढ़ाना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीवों के जहाँ तक पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो, वहाँ तक अनित्य राग-द्वेष रहता है, इसीलिए उससे भय रखने को कहा है। जिस किसी भी तरह का विकारभाव नहीं होने देना और अशुभराग दूर होने पर जो शुभराग रह जाये, उससे भी धर्म न मानना, किन्तु उसके दूर करने की भावना करना चाहिए।

४. वैराग्य—राग-द्वेष के अभाव को वैराग्य कहते हैं। यह शब्द 'नास्ति' वाचक है, किन्तु कहीं भी अस्ति के बिना नास्ति नहीं होती। जब जीव में राग-द्वेष का अभाव होता है, तब किसका सद्भाव होता है? जीव में जितने अंश में राग-द्वेष का अभाव होता है, उतने अंश में वीतरागता-ज्ञान-आनन्द-सुख का सद्भाव होता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवों को संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और शरीर के स्वभाव का बारम्बार चिन्तवन करने को कहा है।

५. विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्न - यदि जीव, शरीर का कुछ नहीं करता और शरीर की क्रिया उससे स्वयं ही होती है तो शरीर में से जीव निकल जाने के बाद शरीर क्यों नहीं चलता?

उत्तर - परिणाम (पर्याय का परिवर्तन) अपने-अपने द्रव्य के आश्रय से होता है; एक द्रव्य के परिणाम को अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं होता। पुनश्च, कोई भी कार्य बिना कर्ता के नहीं होता; तथा वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं होती। इस सिद्धान्त के अनुसार जब मृतक शरीर के पुद्गलों की योग्यता लम्बाईरूप में स्थिर पड़े रहने की होती है, तब वे वैसी दशा में पड़े रहते हैं और जब उस मृतक शरीर के पुद्गलों के पिण्ड की योग्यता घर के बाहर अन्य क्षेत्रान्तर की होती है, तब वे अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण से क्षेत्रान्तर होते हैं और उस समय रागी जीव वगैरह निमित्तरूप उपस्थित होते हैं, परन्तु वे रागी जीव आदि पदार्थ, मुर्दे की कोई अवस्था नहीं करते। मुर्दे के पुद्गल स्वतन्त्र वस्तु हैं, उस प्रत्येक रजकण का परिणमन उसके अपने कारण से होता है; उन रजकणों की जिस समय जैसी अवस्था होने योग्य हो, वैसी ही अवस्था उसके स्वाधीनरूप से होती है। परद्रव्यों की अवस्था में जीव का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इतनी बात जरूर है कि उस समय रागी-जीव के अपने में जो कषायवाला उपयोग और योग होता है, उसका कर्ता स्वयं वह जीव है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही जगत् (अर्थात् संसार) और शरीर के स्वभाव का यथार्थ विचार

कर सकता है। जिनके जगत् और शरीर के स्वभाव की यथार्थ प्रतीति नहीं ऐसे जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) 'यह शरीर अनित्य है, संयोगी है, जिसका संयोग होता है, उसका वियोग होता है' इस प्रकार शरीराश्रित मान्यता से ऊपरी वैराग्य (अर्थात् मोहगर्भित या द्वेषगर्भित वैराग्य) प्रगट करते हैं, किन्तु यह सच्चा वैराग्य नहीं है। सम्यक् ज्ञानपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। आत्मा के स्वभाव को जाने बिना यथार्थ वैराग्य नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना मात्र जगत और शरीर की क्षणिकता के आश्रय से हुआ वैराग्य अनित्य जाति का है, इस भाव में धर्म नहीं है। सम्यग्दृष्टि के अपने असंयोगी नित्य ज्ञायकस्वभाव के आलम्बनपूर्वक अनित्य भावना होती है, यही सच्चा वैराग्य है॥१२॥

हिंसा–पाप का लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा॥१३॥

अर्थ – **[प्रमत्तयोगात्]** कषाय–राग–द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानी–प्रमाद) के सम्बन्ध से अथवा प्रमादी जीव के मन–वचन–काय योग से **[प्राणव्यपरोपणं]** जीव के भावप्राण का, द्रव्यप्राण का अथवा इन दोनों का वियोग करना, सो **[हिंसा]** हिंसा है।

टीका—१. जैनशासन का यह एक महासूत्र है। इसे ठीक–ठीक समझने की जरूरत है।

इस सूत्र में '**प्रमत्तयोगात्**' शब्द भाववाचक है; वह यह बतलाता है कि प्राणों के वियोग होने मात्र से हिंसा का पाप नहीं, किन्तु प्रमादभाव हिंसा है और उससे पाप है। शास्त्रों में कहा है कि प्राणियों के प्राण अलग होने मात्र से हिंसा का बन्ध नहीं होता; जैसे कि ईर्यासमितिवाले मुनि के उनके गमन के स्थान में यदि कोई जीव आ जाए और पैर के संयोग से वह जीव मर जाये तो वहाँ उस मुनि के उन जीव की मृत्यु के निमित्त से जरा भी बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनके भाव में प्रमाद–योग नहीं है।

२. आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणाम को घातनेवाला भाव ही सम्पूर्ण हिंसा है; असत्य वचनादि भेद मात्र शिष्यों को समझाने के लिये उदाहरणरूप कहे हैं। वास्तव में जैन–शास्त्र का यह थोड़े में रहस्य है कि 'रागादिभावों की उत्पत्ति न होना, सो अहिंसा है और रागादिभावों की उत्पत्ति होना, सो हिंसा है।' *(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा ४२-४४)*

प्रश्न – चाहे जीव मरे या न मरे तो भी प्रमाद के योग से (अयत्नाचार से) निश्चय हिंसा होती है, तो फिर यहाँ सूत्र में 'प्राणव्यपरोपणं' इस शब्द का किसलिए प्रयोग किया है ?

उत्तर - प्रमादयोग से जीव के अपने भावप्राणों का घात (मरण) अवश्य होता है। प्रमाद में प्रवर्तने से प्रथम तो जीव अपने ही शुद्ध भावप्राणों का वियोग करता है, फिर वहाँ अन्य जीव के प्राणों का वियोग (व्यपरोपण) हो न हो, तथापि अपने भावप्राणों का वियोग तो अवश्य होता है - यह बताने के लिये 'प्राणव्यपरोपणं' शब्द का प्रयोग किया है।

४. जिस पुरुष के क्रोधादि कषाय प्रगट होती है, उसके अपने शुद्धोपयोगरूप भाव-प्राणों का घात होता है। कषाय के प्रगट होने से जीव के भावप्राणों का जो व्यपरोपण होता है, सो भावहिंसा है और इस हिंसा के समय यदि प्रस्तुत जीव के प्राण का वियोग हो तो वह द्रव्यहिंसा है।

५. यह जैन-सिद्धान्त का रहस्य है कि आत्मा में रागादिभावों की उत्पत्ति होने का नाम ही भावहिंसा है। जहाँ धर्म का लक्षण अहिंसा कहा है, वहाँ ऐसा समझना कि 'रागादिभावों का जो अभाव है, सो अहिंसा है।' इसलिए विभावरहित अपना स्वभाव है, ऐसे भावपूर्वक जिस तरह जितना बने उतना अपने रागादिभावों का नाश करना, सो धर्म है। मिथ्यादृष्टि जीव के रागादिभावों का नाश नहीं होता; उसके प्रत्येक समय में भावमरण हुआ ही करता है। जो भावमरण है, वही हिंसा है; इसीलिए उसके धर्म का अंश भी नहीं है।

६. इन्द्रियों की प्रवृत्ति पाप में हो या पुण्य में हो, किन्तु उस प्रवृत्ति के दूर करने का विचार न करना, सो प्रमाद है। *(तत्त्वार्थसार, पृष्ठ २२३)*

७. उस हिंसा-पाप में असत्य आदि दूसरे चार पाप गर्भित हो जाते हैं। असत्य इत्यादि भेद तो मात्र शिष्य को समझाने के लिये दृष्टान्तरूप से पृथक् बतलाये हैं।

८. यदि कोई जीव दूसरे को मारना चाहता हो, किन्तु ऐसा प्रसङ्ग न मिलने से नहीं मार सका, तो भी उस जीव के हिंसा का पाप लगा, क्योंकि वह जीव प्रमादभावसहित है और प्रमादभाव ही भावप्राणों की हिंसा है।

९. जो ऐसा मानता है कि 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' वह मूढ़ है - अज्ञानी है और इससे विपरीत अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता, वह ज्ञानी है।

(समयसार, गाथा २४७)

जीवों को मारो या न मारो - अध्यवसान से ही कर्मबन्ध होता है। प्रस्तुत जीव मरे या न मरे, इस कारण से बन्ध नहीं है। *(समयसार, गाथा २६२)*

१०. यहाँ योग का अर्थ सम्बन्ध होता है। 'प्रमत्तयोगात्' का अर्थ है प्रमाद के सम्बन्ध से। यहाँ ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि मन-वचन-काय के आलम्बन से आत्मा के प्रदेशों का हलन-चलन होना, सो योग है। प्रमादरूप परिणाम के सम्बन्ध से होनेवाला योग 'प्रमत्तयोग' है।

११. प्रमाद के १५ भेद हैं - ४ विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा), ५ इन्द्रियों के विषय, ४ कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), १ निद्रा और १ प्रणय। इन्द्रियाँ वगैरह तो निमित्त हैं और जीव का जो असावधानभाव है, सो उपादानकारण है। प्रमाद का अर्थ अपने स्वरूप की असावधानी भी होता है।

तेरहवें सूत्र का सिद्धान्त

जीव का प्रमत्तभाव शुद्धोपयोग का घात करता है, इसलिए वही हिंसा है और स्वरूप के उत्साह से जितने अंश में शुद्धोपयोग का घात न हो - जागृति हो; उतने अंश में अहिंसा है। मिथ्यादृष्टि के सच्ची अहिंसा कभी नहीं होती॥१३॥

असत्य का स्वरूप

असदभिधानमनृतम्॥१४॥

अर्थ - प्रमाद के योग से **[असदभिधानं]** जीवों को दु:खदायक अथवा मिथ्यारूप वचन बोलना, सो **[अनृतम्]** असत्य है।

टीका—१. प्रमाद के सम्बन्ध से झूठ बोलना, सो असत्य है। जो शब्द निकलता है, वह तो पुद्गलद्रव्य की अवस्था है, उसे जीव नहीं परिणमाता, इसी से मात्र शब्दों के उच्चारण का पाप नहीं, किन्तु जीव का असत्य बोलने का जो प्रमादभाव है, वही पाप है।

२. सत्य का परमार्थ स्वरूप

(१) आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ, आत्मा का नहीं हो सकता और दूसरे किसी का कार्य आत्मा नहीं कर सकता - ऐसा वस्तुस्वरूप का निश्चय करना चाहिए और देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह इत्यादि परवस्तुओं के सम्बन्ध में भाषा बोलने के विकल्प के समय यह उपयोग (अभिप्राय) रखना चाहिए कि 'मैं आत्मा हूँ, एक आत्मा के अलावा अन्य कोई मेरा नहीं, मेरे आधीन नहीं और मैं किसी का कुछ भी कर नहीं सकता, अन्य आत्मा के सम्बन्ध में बोलने पर भी यह अभिप्राय, यह उपयोग (विवेक) जाग्रत रखना चाहिए कि वास्तव में 'जाति, लिङ्ग, इन्द्रियादिक उपचरित भेदवाला यह आत्मा कभी नहीं

है, परन्तु स्थूल व्यवहार से ऐसा कहा जाता है।' यदि इस तरह की पहचान के उपयोगपूर्वक सत्य बोलने का भाव हो तो वह पारमार्थिक सत्य है। वस्तुस्वरूप की प्रतीति के बिना परमार्थ सत्य नहीं होता। इस सम्बन्ध में और स्पष्ट समझाते हैं—

(अ) यदि कोई जीव आरोपित बात करे कि 'मेरी देह, मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, इत्यादि प्रकार से भाषा बोलता है, (बोलने का भाव करता है) उस समय मैं इन अन्य द्रव्यों से भिन्न हूँ, वास्तव में वे कोई मेरे नहीं, मैं उनका कुछ कर नहीं सकता, मैं भाषा बोल नहीं सकता; ऐसा स्पष्टरूप से यदि उस जीव के प्रतीति हो तो वह परमार्थ सत्य कहा जाता है।

(ब) कोई ग्रन्थकार राजा श्रेणिक और चेलना रानी का वर्णन करता हो, उस समय 'वे दोनों ज्ञानस्वरूप आत्मा थे और मात्र श्रेणिक और चेलना के मनुष्यभव में उनका सम्बन्ध था' यदि यह बात उनके लक्ष्य में हो और ग्रन्थ रचने की प्रवृत्ति हो तो वह परमार्थ सत्य है।

(देखो, श्रीमद् राजचन्द्र आवृत्ति २, पृष्ठ ६१३)

(२) जीव ने लौकिक-सत्य बोलने का अनेक बार भाव किया है, किन्तु परमार्थ सत्य का स्वरूप नहीं समझा, इसीलिए जीव का भव-भ्रमण नहीं मिटता। सम्यग्दर्शनपूर्वक अभ्यास से परमार्थ सत्यकथन की पहचान हो सकती है और उसके विशेष अभ्यास से सहज उपयोग रहा करता है। मिथ्यादृष्टि के कथन में (१) कारणविपरीतता, (२) स्वरूपविपरीतता और (३) भेदाभेदविपरीतता होती है, इसीलिए लौकिक अपेक्षा से यदि वह कथन सत्य हो, तो भी परमार्थ से उसका सर्व कथन असत्य है।

(३) जो वचन प्राणियों को पीड़ा देने के भावसहित हों, वे भी अप्रशस्त हैं और बाद में चाहे वचनों के अनुसार वस्तुस्थिति विद्यमान हो तो भी वह असत्य है।

(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वरूप वस्तु को अन्यथा कहना, सो असत्य है। वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का स्वरूप निम्न प्रकार है—

द्रव्य - गुणों के समूह अथवा अपनी त्रैकालिक सर्व पर्यायों का समूह, सो द्रव्य है। द्रव्य का लक्षण सत् है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित है। गुण-पर्याय के समुदाय का नाम द्रव्य है।

क्षेत्र - स्व के जिस प्रदेश में द्रव्य स्थिति हो, वह उसका क्षेत्र है।

काल - जिस पर्यायरूप से द्रव्य परिणमे, वह उसका काल है।

भाव - द्रव्य की जो निजशक्ति-गुण है, सो उसका भाव है।

इन चार प्रकार से द्रव्य जिस तरह है, उस तरह न मानकर अन्यथा मानना अर्थात् जीव

स्वयं शरीर इत्यादि परद्रव्यरूप हो जाता है, अपनी अवस्था कर्म या शरीर इत्यादि परद्रव्य कराता हैं, कर सकते हैं और अपने गुण दूसरे से हो सकते हैं, अथवा वे देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से प्रगट हो सकते हैं; इत्यादि प्रकार से मानना तथा उस मान्यता के अनुसार बोलना, सो असत्य-वचन है। स्व के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परवस्तुएँ नास्तिरूप हैं; यह भूलकर उनका स्वयं कुछ कर सकता है, ऐसी मान्यतापूर्वक बोलना भी असत्य है।

(५) ऐसा कहना कि आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है अथवा परलोक नहीं है, सो असत्य है। ये दोनों पदार्थ आगम से, युक्ति से तथा अनुभव से सिद्ध हो सकते हैं, तथापि उनका अस्तित्व न मानना, सो असत्य है और आत्मा का स्वरूप जैसा न हो, उसे वैसा कहना, सो भी असत्य-वचन है।

३. प्रश्न - वचन तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, उसे जीव नहीं कर सकता, तथापि असत्य-वचन से जीव को पाप क्यों लगता है?

उत्तर - वास्तव में पाप या बन्धन असत्य-वचन से नहीं होता, किन्तु 'प्रमत्तयोगात्' अर्थात् प्रमादभाव से ही पाप लगता है और बन्धन होता है। असत्य-वचन जड़ है, वह तो मात्र निमित्त है। जब जीव असत्य बोलने का भाव करता है, तब यदि पुद्गलपरमाणु वचनरूप से परिणमने के योग्य हों तो ही असत्य वचनरूप से परिणमते हैं। जीव तो मात्र असत्य बोलने का भाव करता है, तथापि वहाँ भाषावर्गणा वचनरूप नहीं भी परिणमती; ऐसा होने पर भी जीव का विकारीभाव ही पाप है, वह बन्ध का कारण है।

आठवें अध्याय के पहले सूत्र में यह कहेंगे कि प्रमाद, बन्ध का कारण है।

४- अकषाय स्वरूप में जाग्रत-सावधान रहने से ही प्रमाद दूर होता है। सम्यग्दृष्टि जीवों के चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है; पाँचवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है; छट्ठे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, किन्तु तीव्र संज्वलन कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रमाद दूर हो जाता है और बारहवें गुणस्थान में सर्व कषाय का नाश हो जाता है।

५- उज्ज्वल वचन, विनय वचन और प्रिय वचनरूप भाषावर्गणा समस्त लोक में भरी हुई है, उसकी कुछ न्यूनता नहीं, कुछ कीमत नहीं देनी पड़ती। पुनश्च, मीठे कोमलरूप वचन बोलने से जीभ नहीं दुखती, शरीर में कष्ट नहीं होता, ऐसा समझकर असत्यवचन को

दु:ख का मूल जानकर शीघ्र उस प्रमाद का भी त्याग करना चाहिए और सत्य तथा प्रियवचन की ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, ऐसा व्यवहार का उपदेश है ॥१४॥

स्तेय (चोरी) का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थ - प्रमाद के योग से [**अदत्तादानं**] बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण करना, वह [**स्तेयम्**] चोरी है।

टीका—प्रश्न - कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण चोरी कहलायेगा या नहीं ?

उत्तर - वह चोरी नहीं कहा जायेगा; जहाँ लेना-देना सम्भव हो, वहाँ चोरी का व्यवहार होता है, इस कारण से 'अदत्त' शब्द दिया है।

प्रश्न - मुनिराज के ग्राम-नगर इत्यादि में भ्रमण करने पर गली-दरवाजा आदि में प्रवेश करने से क्या अदत्तादान होता है ?

उत्तर - यह अदत्तादान नहीं कहलाता, क्योंकि यह स्थान सभी के आने-जाने के लिए खुला है। पुनश्च, गली आदि में प्रवेश करने से मुनि के प्रमत्तयोग नहीं होता।

चाहे बाह्य-वस्तु का ग्रहण हो या न भी हो, तथापि चोरी करने का जो भाव होता है, वही चोरी है और वही बन्ध का कारण है। वास्तव में परवस्तु को कोई ग्रहण कर ही नहीं सकता। परवस्तु के ग्रहण करने का जो प्रमादयुक्त भाव है, वही दोष है ॥१५॥

कुशील (अब्रह्मचर्य) का स्वरूप

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

अर्थ - [**मैथुनमब्रह्म**] जो मैथुन है, सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

टीका—१. मैथुन - चारित्रमोहनीय के उदय में युक्त होने से रागपरिणामसहित स्त्री-पुरुषों की जो परस्पर में स्पर्श करने की इच्छा है, सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुन की है।)

मैथुन दो प्रकार का है - निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूप है; आत्मा की अपने ब्रह्मस्वरूप में जो लीनता है, सो वास्तव में ब्रह्मचर्य है और पर निमित्त से-राग से लाभ माननेरूप संयोगबुद्धि या कषाय के साथ एकत्व की बुद्धि होना, सो अब्रह्मचर्य है, यही

निश्चय-मैथुन है। व्यवहार-मैथुन की व्याख्या ऊपर दी गई है।

२- तेरहवें सूत्र में कहे हुए 'प्रमत्तयोगात्' शब्द की अनुवृत्ति इस सूत्र में भी आती है, इसीलिए ऐसा समझना कि स्त्री-पुरुष के युगल सम्बन्ध से रति-सुख के लिये जो चेष्टा (प्रमाद परिणति) की जाती है, वह मैथुन है।

३- जिसके पालन से अहिंसादिक गुण वृद्धि को प्राप्त हों, वह ब्रह्म है और जो ब्रह्म से विरुद्ध है, सो अब्रह्म है। अब्रह्म (मैथुन) में हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, पुनश्च उसमें त्रस-स्थावर जीव भी नष्ट होते हैं, मिथ्यावचन बोले जाते हैं, बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण किया जाता है और चेतन तथा अचेतन परिग्रह का भी ग्रहण होता है; इसलिए यह अब्रह्म छोड़ने लायक है ॥१६॥

परिग्रह का स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

अर्थ - **[मूर्च्छा परिग्रहः]** जो मूर्च्छा है, सो परिग्रह है।

टीका—१- अन्तरङ्गपरिग्रह चौदह प्रकार के हैं - एक मिथ्यात्व, चार कषाय और नौ नोकषाय।

बाह्यपरिग्रह दस प्रकार के है - क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन।

२- परद्रव्य में ममत्वबुद्धि का नाम मूर्च्छा है। जो जीव बाह्य-संयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा सङ्कल्प करता है कि 'यह मेरा है' वह परिग्रहसहित है, बाह्य-द्रव्य तो निमित्तमात्र है।

३. प्रश्न - यदि तुम 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि को परिग्रह कहोगे तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह ठहरेंगे, क्योंकि ये मेरे हैं, ऐसी बुद्धि ज्ञानी के भी होती हैं?

उत्तर - परद्रव्य में ममत्वबुद्धि परिग्रह है। स्वद्रव्य को अपना मानना परिग्रह नहीं है। सम्यग्ज्ञानादि तो आत्मा का स्वभाव है, अतः इसका त्याग नहीं हो सकता, इसलिए उसे अपना मानना, सो अपरिग्रहत्व है।

रागादि में ऐसा सङ्कल्प करना कि 'यह मेरा है' सो परिग्रह है, क्योंकि रागादि से ही सर्व दोष उत्पन्न होते हैं।

४- तेरहवें सूत्र के 'प्रमत्तयोगात्' शब्द की अनुवृत्ति इस सूत्र में भी है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान जीव के जितने अंश में प्रमादभाव न हो, उतने अंश में अपरिग्रहीपना है ॥१७॥

व्रती की विशेषता

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

अर्थ - [**व्रती**] व्रती जीव [**निःशल्यः**] शल्यरहित ही होता है।

टीका—१. शल्य - शरीर में भोंका गया बाण, कांटा इत्यादि शस्त्र की तरह जो मन में बाधा करे, सो शल्य है अथवा जो आत्मा को कांटे की तरह दुःख दे, सो शल्य है।

शल्य के तीन भेद हैं - मिथ्यात्वशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य।

मिथ्यादर्शनशल्य - आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा का जो अभाव है, सो मिथ्यादर्शनशल्य है।

मायाशल्य - छल, कपट, ठगाई का नाम मायाशल्य है।

निदानशल्य - आगामी विषय-भोगों की वांछा का नाम निदानशल्य है।

२- मिथ्यादृष्टि जीव शल्यसहित ही है, इसीलिए उसके सच्चे व्रत नहीं होते, बाह्य-व्रत होते हैं। द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि है, इसीलिए वह भी यथार्थ व्रती नहीं है। मायावी-कपटी के सभी व्रत झूठे हैं। इन्द्रियजनित विषय-भोगों की जो वांछा है, सो तो आत्मज्ञानरहित राग है, उस रागसहित जो व्रत हैं, वे भी अज्ञानी के व्रत हैं, वह धर्म के लिये निष्फल हैं, संसार के लिये सफल हैं; इसलिए परमार्थ से शल्यरहित ही व्रती हो सकता है।

३- द्रव्यलिङ्गी का अन्यथापना

प्रश्न - द्रव्यलिङ्गी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वों को मानता है, तथापि उसे मिथ्यादृष्टि क्यों कहते हो?

उत्तर - उसके विपरीत अभिनिवेश है, अतः शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को वह अपना मानता है, (यह अजीवतत्त्व में जीवतत्त्व की श्रद्धा हुई); आस्रव-बन्धरूप शील-संयमादि परिणामों को वह संवर-निर्जरारूप मानता है। यद्यपि वह पाप से विरक्त होता है, परन्तु पुण्य में उपादेयबुद्धि रखता है, इसीलिए उसे तत्त्वार्थ की यथार्थ श्रद्धा नहीं है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न - द्रव्यलिङ्गी के धर्मसाधन में अन्यथापन क्यों है?

उत्तर - (१) संसार में नरकादिक के दुःख जानकर तथा स्वर्गादिक में भी जन्म-

मरणादि के दु:ख जानकर संसार से उदास हो, वह मोक्ष को चाहता है। अब इन दु:खों को तो सभी दु:ख जानते हैं, किन्तु इन्द्र, अहमिन्द्रादिक विषयानुराग से इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दु:ख जानकर निराकुल अवस्था को पहचानकर जो उसे मोक्ष जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

(२) विषय सुखादिक का फल नरकादिक है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है, वह पोषण करनेयोग्य नहीं तथा कुटुम्बादिक स्वार्थ के सगे हैं – इत्यादि परद्रव्यों का दोष विचारकर उसका त्याग करता है। परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धा करना, सो मिथ्यात्व है।

(३) व्रतादिक का फल स्वर्ग-मोक्ष है, तपश्चरणादिक पवित्र फल देनेवाले हैं, इनके द्वारा शरीर शोषण करनेयोग्य है तथा देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं – इत्यादि परद्रव्यों के गुण विचारकर उन्हें अङ्गीकार करता है। परद्रव्य को हितकारी या अहितकारी मानना, सो मिथ्यात्वसहित राग है।

(४) इत्यादि प्रकार से कोई परद्रव्यों को बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा कोई परद्रव्यों को भला जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है। परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान करना, सो मिथ्यात्व है। पुनश्च इसी श्रद्धान से उसकी उदासीनता भी द्वेषरूप होती है, क्योंकि किन्हीं परद्रव्यों को बुरा जानना, सो द्वेष है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक)*

(५) पुनश्च, जैसे वह पहले शरीराश्रित पापकार्यों में कर्तृत्व मानता था, उसी तरह अब शरीराश्रित पुण्यकार्यों में अपना कर्तृत्व मानता है। इस प्रकार पर्यायाश्रित (शरीराश्रित) कार्यों में अहंबुद्धि मानने की समता हुई। जैसे पहले-मैं जीव को मारता हूँ, परिग्रहधारी हूँ, इत्यादि मान्यता थी, उसी तरह अब मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, मैं परिग्रहरहित नग्न हूँ, ऐसी मान्यता हुई, सो शरीर-आश्रित कार्य में अहंबुद्धि है, सो ही मिथ्यादृष्टि है।

(४) अठारहवें सूत्र का सिद्धान्त

(१) अज्ञान-अन्धकार से आच्छादित हुए जो जीव, आत्मा को (पर का) कर्ता मानते हैं, वे यद्यपि मोक्ष के इच्छुक हों तो भी लौकिकजनों की तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता; ऐसे जीव चाहे मुनि हुए हों, तथापि वे लौकिकजन की तरह ही हैं। लोक (संसार) ईश्वर को कर्ता मानता है और उन मुनियों ने आत्मा को परद्रव्य का कर्ता (पर्यायाश्रित क्रिया का-शरीर का और उसकी क्रिया का कर्ता) माना, इस प्रकार दोनों की मान्यता समान हुई। तत्त्व को जाननेवाला पुरुष ऐसा जानता है कि 'सर्वलोक के कोई भी परद्रव्य मेरे नहीं हैं' और यह भी

सुनिश्चितरूप से जानता है कि लोक और श्रमण (द्रव्यलिङ्गी मुनि) इन दोनों के जो इस परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय है, वह उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान रहितपने के कारण ही है। जो परद्रव्य का कर्तृत्व मानता है, वह चाहे लौकिकजन हो या मुनिजन; मिथ्यादृष्टि ही है।

(देखो, श्री समयसार गाथा ३२१ से ३२७ की टीका)

प्रश्न - क्या सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्यों को बुरा जानकर त्याग करता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों को बुरा नहीं जानता, वह ऐसा जानता है कि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग हो ही नहीं सकता। वह अपने रागभाव को बुरा जानता है, इसीलिए सरागभाव को छोड़ता है और उसके निमित्तरूप परद्रव्यों का सहज में त्याग होता है। पदार्थ का विचार करने पर कोई परद्रव्य भला या बुरा है ही नहीं। मिथ्यात्वभाव ही सबसे बुरा है। सम्यग्दृष्टि ने वह मिथ्याभाव तो पहले ही छोड़ा हुआ है।

(३) प्रश्न - जिसके व्रत हो, उसे ही व्रती कहना चाहिए, उसके बदले ऐसा क्यों कहते हो कि 'जो निःशल्य हो, वह व्रती होता है ?'

उत्तर - शल्य का अभाव हुए बिना कोई जीव, हिंसादिक पापभावों के दूर होनेमात्र से व्रती नहीं हो सकता। शल्य का अभाव होने पर व्रत के सम्बन्ध से व्रतीपना होता है, इसीलिए सूत्र में निःशल्य शब्द का प्रयोग किया है॥१८॥

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अर्थ - [**अगारी**] अगारी अर्थात् सागार (गृहस्थ) [**अनगारः च**] और अनगार (गृहत्यागी भावमुनि) इस प्रकार व्रती के दो भेद हैं।

नोट - निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतों को पालनेवाले मुनि, अनगारी कहलाते हैं और देशव्रत को पालनेवाले श्रावक, सागारी कहलाते हैं॥१९॥

सागार का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थ - [**अणुव्रतः**] अणुव्रत अर्थात् एकदेशव्रत पालनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव [**अगारी**] सागार कहे जाते हैं।

टीका—यहाँ से अणुव्रतधारियों का विशेष वर्णन प्रारम्भ होता है और इस अध्याय

के समाप्त होने तक यही वर्णन है। अणुव्रत के पाँच भेद हैं - (१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ॥२०॥

अब अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत कहते हैं

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

अर्थ - **[च]** और फिर वे व्रत **[दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नः]** दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण (मर्यादा) तथा अतिथि-संविभागव्रत, ये चार शिक्षाव्रतसहित होते हैं, अर्थात् व्रतधारी श्रावक—पाँच अणुव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत - इन बारह व्रतोंसहित होता है।

टीका—१- पहले १३ से १७ तक के सूत्रों में हिंसादि पाँच पापों का जो वर्णन किया है, उनका एकदेश त्याग करना, सो पाँच अणुव्रत हैं। जो अणुव्रतों को पुष्ट करे, सो गुणव्रत हैं और जिससे मुनिव्रत पालन करने का अभ्यास हो, वह शिक्षाव्रत है।

२- तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

दिग्व्रत - मरणपर्यन्त सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति के लिए दशों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा करना, सो दिग्व्रत हैं।

देशव्रत - जीवनपर्यन्त को ली गयी दिग्व्रत की मर्यादा में से भी घड़ी, घण्टा, मास, वर्ष आदि समय तक अमुक गली आदि तक जाने-आने की मर्यादा करना, सो देशव्रत है।

अनर्थदण्डव्रत - प्रयोजनरहित, पाप को बढ़ानेवाली क्रियाओं का परित्याग करना, सो अनर्थदण्डविरतिव्रत है। अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं - (१) **पापोपदेश** (हिंसादि पापारम्भ का उपदेश करना), (२) **हिंसादान** (तलवार आदि हिंसा के उपकरण देना), (३) **अपध्यान** (दूसरे का बुरा विचारना) (४) **दुःश्रुति** (राग-द्वेष के बढ़ानेवाले खोटे शास्त्रों का सुनना) और (५) **प्रमादचर्या** (बिना प्रयोजन जहाँ-तहाँ जाना, वृक्षादिक का छेदना, पृथ्वी खोदना, जल बखेरना, अग्नि जलाना वगैरह पाप-कार्य)।

शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी, इत्यादि का किसी भी समय चिन्तवन नहीं करना, क्योंकि इन बुरे ध्यानों का फल पाप ही है। - ये तीन गुणव्रत हैं।

सामायिक - मन, वचन, काय के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से हिंसादि पाँच पापों का त्याग करना, सो सामायिक है। यह सामायिक, शुभभावरूप है। (सामायिकचारित्र का स्वरूप नववें अध्याय में दिया जायेगा।)

प्रोषधोपवास - अष्टमी और चतुर्दशी के पहले और पीछे के दिनों में एकाशनपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास आदि करके, एकान्तवास में रहकर, सम्पूर्ण सावद्ययोग को छोड़, सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर धर्म-ध्यान में रहना, सो प्रोषधोपवास है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत - श्रावकों को भोग के निमित्त से हिंसा होती है। भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण करके (मर्यादा बाँधकर) अपनी शक्ति के अनुसार भोग-उपभोग को छोड़ना, सो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रत - अतिथि अर्थात् मुनि आदि के लिए आहार, कमण्डलु, पीछी, वसतिका आदि का दान देना, सो अतिथिसंविभागव्रत है। - ये चार शिक्षाव्रत हैं।

— ध्यान में रखने योग्य सिद्धान्त —

अनर्थदण्डनामक आठवें व्रत में दुःश्रुति का त्याग कहा है, वह यह बतलाता है कि जीवों को दुःश्रुतिरूप शास्त्र कौन है और सुश्रुतिरूप शास्त्र कौन है? - इस बात का विवेक करना चाहिए। जिस जीव के धर्म के निमित्तरूप से दुःश्रुति हो, उसके सम्यग्दर्शन प्रगट ही नहीं होता और जिसके धर्म के निमित्त सुश्रुति (सत्-शास्त्र) हो, उसको भी इसका मर्म जानना चाहिए। यदि उसका मर्म समझे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है और यदि सम्यग्दर्शन प्रगट कर ले तो ही अणुव्रतधारी श्रावक या महाव्रतधारी मुनि हो सकता है। जो जीव सुशास्त्र का मर्म जानता है, वही जीव इस अध्याय के पाँचवें सूत्र में कही गई सत्यव्रत सम्बन्धी अनुवीचिभाषण अर्थात् शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलने की भावना कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सुशास्त्र और कुशास्त्र का विवेक करने के लिये योग्य है, इसलिए मुमुक्षु जीवों को तत्व-विचार की योग्यता प्रगट करके वह विवेक अवश्य करना चाहिए। यदि जीव सत्-असत् का विवेक न समझे, न करे तो वह सच्चा व्रतधारी नहीं हो सकेगा ॥२१॥

व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

अर्थ - व्रतधारी श्रावक [**मारणांतिकीं**] मरण के समय होनेवाली [**सल्लेखनां**] सल्लेखना को [**जोषिता**] प्रीतिपूर्वक सेवन करे।

टीका—१- इस लोक या परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना शरीर और कषाय को सम्यक् प्रकार कृश करना, सो सल्लेखना है।

२- **प्रश्न** - शरीर तो परवस्तु हैं, जीव उसे कृश नहीं कर सकता, तथापि यहाँ शरीर को कृश करने के लिये क्यों कहा?

उत्तर - कषाय को कृश करने पर शरीर उसके अपने कारण से कृश होने योग्य हो तो कृश होता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिये उपचार से ऐसा कहा है। वात, पित्त, कफ इत्यादि के प्रकोप से मरण के समय परिणाम में आकुलता न करना और स्व-सन्मुख आराधना से चलायमान न होना ही यथार्थ काय-सल्लेखना है; मोह-राग-द्वेषादि से मरण के समय अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान परिणाम मलिन न होने देना, सो कषाय-सल्लेखना है।

३- **प्रश्न** - समाधिपूर्वक देह का त्याग होने में आत्मघात है या नहीं?

उत्तर - राग-द्वेष-मोह से लिप्त हुए जीव यदि जहर, शस्त्र आदि से घात करें तो आत्मघात है, किन्तु यदि समाधिपूर्वक सल्लेखना-मरण करे तो उसमें रागादिक नहीं और आराधना है, इसीलिए उसके आत्मघात नहीं है। प्रमत्तयोगरहित और आत्मज्ञानसहित जो जीव, यह जानकर कि 'शरीर अवश्य विनाशीक है', उसके प्रति राग कम करता है, उसे हिंसा नहीं ॥२२॥

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः
सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥

अर्थ - [**शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः**] शङ्का, काँक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि की प्रशंसा और अन्यदृष्टि का संस्तव, ये पाँच [**सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः**] सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

टीका—१- जिस जीव का सम्यग्दर्शन निर्दोष हो, वह बराबर व्रत पाल सकता है, इसीलिए यहाँ पहले सम्यग्दर्शन के अतिचार बतलाये गये हैं, जिससे वे अतिचार दूर किये जा सकते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल होते हैं, इनमें अतिचार नहीं होते। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मल और अगाढ़ दोषसहित होता है अर्थात् इसमें अतिचार लगता है।

२- सम्यग्दृष्टि के आठ गुण (अङ्ग, लक्षण अर्थात् आचार) होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं - नि:शङ्का, नि:कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

३- सम्यग्दर्शन के जो पाँच अतिचार कहे हैं, उनमें से पहले तीन तो नि:शङ्कितादि पहले तीन गुणों में आनेवाले दोष हैं और बाकी के दो अतिचारों का समावेश अन्तिम पाँच गुणों के दोष में होता है। चौथे से सातवें गुणस्थानवाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ये अतिचार होते हैं अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनवाले मुनि, श्रावक या सम्यग्दृष्टि - इन तीनों के ये अतिचार हो सकते हैं। जो अंशरूप से भङ्ग हो (अर्थात् दोष लगे), उसे अतिचार कहते हैं और उससे सम्यग्दर्शन निर्मूल नहीं होता, मात्र मलिन होता है।

४- शुद्धात्मस्वभाव की प्रतीतिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन के सद्भाव में सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्यवहार दोष होते हैं, तथापि वहाँ मिथ्यात्व-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। पुनश्च, दूसरे गुणस्थान में भी सम्यग्दर्शनसम्बन्धी व्यवहारदोष होते हैं, तथापि वहाँ भी मिथ्यात्वप्रकृति का बन्धन नहीं है।

५- सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। अत: योग्य जीवों को यह उचित है कि जैसे भी बने वैसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से अपनी आत्मा को भूषित करे और सम्यग्दर्शन को निरतिचार बनावे। धर्मरूपी कमल के मध्य में सम्यग्दर्शनरूपी नाल शोभायमान है, निश्चयव्रत, शील इत्यादि उसकी पंखुडियाँ हैं। इसलिए गृहस्थों और मुनियों को इस सम्यग्दर्शनरूपी नाल में अतिचार न आने देना चाहिए।

६. पञ्च अतिचार के स्वरूप

शङ्का - निज-आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा, अखण्ड, अविनाशी और पुद्गल से भिन्न जानकर भी इसलोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और अकस्मात् - इन सात भयों को प्राप्त होना अथवा अरहन्त सर्वज्ञ वीतरागदेव के कहे हुए तत्त्व के स्वरूप में सन्देह होना, सो शङ्का नामक अतिचार है।

काँक्षा - इस लोक या परलोक सम्बन्धी भोगों में तथा मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान या आचरणादि में वाँछा हो आना, सो वाँछा अतिचार है। यह राग है।

विचिकित्सा - रत्नत्रय के द्वारा पवित्र किन्तु बाह्य में मलिन शरीरवाले मुनियों को

देखकर उनके प्रति अथवा धर्मात्मा के गुणों के प्रति या दु:खी दरिद्री जीवों को देखकर उनके प्रति ग्लानि हो जाना, सो विचिकित्सा अतिचार है। यह द्वेष है।

अन्यदृष्टि प्रशंसा - आत्मस्वरूप के अजानकार जीवों के ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दान आदि को निज में प्रगट करने का मन में विचार होना अथवा उसे भला जानना, सो अन्यदृष्टिप्रशंसा अतिचार है। (अन्यदृष्टि का अर्थ मिथ्यादृष्टि है।)

अन्यदृष्टि संस्तव - आत्मस्वरूप के अनजान जीवों के ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दानादिक के फल को भला जानकर वचन द्वारा उसकी स्तुति करना, सो अन्यदृष्टि संस्तव अतिचार है।

७- ये समस्त दोष होने पर सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें दोषरूप से जानता है और इन दोषों को उसे खेद है, इसलिए ये अतिचार हैं। किन्तु जो जीव इन दोषों को दोषरूप न माने और उपादेय माने, उसके तो ये अनाचार हैं अर्थात् वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

८- आत्मा का स्वरूप समझने के लिए शङ्का करके जो प्रश्न किया जावे, वह शङ्का नहीं, किन्तु आशङ्का है; अतिचारों में जो शङ्का-दोष कहा है, उसमें इसका समावेश नहीं होता। प्रशंसा और संस्तव में इतना भेद है कि प्रशंसा मन के द्वारा होती है और संस्तव वचन द्वारा होता है॥२३॥

अब, पाँच व्रत और सात शीलों के अतिचार कहते हैं

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्॥२४॥

अर्थ - [**व्रतशीलेषु**] व्रत और शीलों में भी [**यथाक्रमम्**] अनुक्रम से प्रत्येक में [**पंच पंच**] पाँच-पाँच अतिचार हैं।

नोट - व्रत कहने से अहिंसादि पाँच अणुव्रत समझना और शील कहने से तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये सात शील समझना। इन प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन अब आगे के सूत्रों में कहते हैं॥२४॥

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः॥२५॥

अर्थ - [**बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः**] बन्ध, वध, छेद, अधिक भार लादना और अन्नपान का निरोध करना - ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

टीका—बंध - प्राणियों को इच्छित स्थान में जाने से रोकने के लिये रस्सी इत्यादि से बाँधना।

वध - प्राणियों को लकड़ी इत्यादि से मारना।

छेद - प्राणियों के नाक, कान आदि अङ्ग छेदना।

अतिभारारोपण - प्राणी की शक्ति से अधिक भार लादना।

अन्नपाननिरोध - प्राणियों को ठीक समय पर खाना-पीना न देना।

यहाँ अहिंसाणुव्रत के अतिचार 'प्राण व्यपरोपण' को नहीं गिनना, क्योंकि प्राणव्यय-रोपण हिंसा का लक्षण है, अर्थात् यह अतिचार नहीं किन्तु अनाचार है। इसके सम्बन्ध में पहले १३वें सूत्र में कहा जा चुका है॥२५॥

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

अर्थ - [**मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः**] मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद - ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

टीका—मिथ्या-उपदेश - किसी जीव के अभ्युदय या मोक्ष के साथ सम्बन्ध रखनेवाली क्रिया में सन्देह उत्पन्न हुआ और उसने आकर पूछा कि इस विषय में मुझे क्या करना? इसका उत्तर देते हुए सम्यग्दृष्टि व्रतधारी ने अपनी भूल से विपरीत मार्ग का उपदेश दिया तो वह मिथ्या-उपदेश कहा जाता है और यह सत्याणुव्रत का अतिचार है और यदि जानते हुए भी मिथ्या-उपदेश करे, तो वह अनाचार है। विवाद उपस्थित होने पर सम्बन्ध को छोड़कर असम्बन्धरूप उपदेश देना, सो भी अतिचाररूप मिथ्या-उपदेश है।

रहोभ्याख्यान - किसी की गुप्त बात प्रगट करना।

कूटलेखक्रिया - पर के प्रयोग के वश से (अनजानपने से) कोई खोटा लेख लिखना।

न्यासापहार - कोई मनुष्य कुछ वस्तु दे गया और फिर वापस मांगते समय उसने कम माँगी, तब ऐसा कहकर कि 'तुम्हारा जितना हो, उतना ले जाओ' तथा बाद में कम देना, सो न्यासापहार है।

साकार मन्त्रभेद - हाथ आदि की चेष्टा पर से दूसरे के अभिप्राय को जानकर उसे प्रगट कर देना, सो साकार मन्त्रभेद हैं।

व्रतधारी को इन दोषों के प्रति खेद होता है, इसलिए ये अतिचार हैं, किन्तु यदि जीव को उनके प्रति खेद न हो तो वह अनाचार है, अर्थात् वहाँ व्रत का अभाव ही है, ऐसा समझना ॥२६॥

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतीचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-
प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७॥

अर्थ - [**स्तेनप्रयोग**] चोरी के लिये चोर को प्रेरणा करना या उसका उपाय बताना; [**तत् आहृत आदान**] चोर से चुराई हुई वस्तु को खरीदना; [**विरुद्ध राज्य अतिक्रम**] राज्य की आज्ञा के विरुद्ध चलना; [**हीनाधिक मानोन्मान**] देने-लेने के बाँट तराजू आदि कम-ज्यादा रखना; और [**प्रतिरूपक व्यवहार**] कीमती वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना, ये अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

टीका—इन अतिचारोंरूप विकल्प, पुरुषार्थ की कमजोरी (निर्बलता) से कभी आये तो भी धर्मीजीव उनका स्वामी नहीं होता, दोष को जानता है परन्तु उसे भला नहीं मानता, इसलिए वह दोष अतिचाररूप है, अनाचार नहीं है ॥२७॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीड़ाकाम-
तीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अर्थ - [**परविवाहकरण**] दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना-कराना; [**परिगृहीत इत्वरिकागमन**] पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन रखना, रागभावपूर्वक बातचीत करना; [**अपरिगृहीत इत्वरिकागमन**] पतिरहित व्यभिचारिणी स्त्री (वेश्यादि) के यहाँ जाना-आना, लेन-देन आदि का व्यवहार रखना; [**अनङ्गक्रीड़ा**] अनङ्गक्रीड़ा अर्थात् कामसेवन के लिये निश्चित् अङ्गों को छोड़कर अन्य अङ्गों से काम सेवन करना; और [**कामतीव्राभिनिवेशाः**] कामसेवन की तीव्र अभिलाषा - ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं ॥२८॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

अर्थ - [**क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमाः**] क्षेत्र और रहने के स्थान के परिमाण का उल्लंघन करना, [**हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमाः**] चाँदी और सोने के परिमाण का उल्लंघन करना [**धनधान्यप्रमाणातिक्रमाः**] धन (पशु आदि) तथा धान्य के परिमाण का उल्लंघन करना [**दासीदासप्रमाणातिक्रमाः**] दासी और दास के परिमाण का उल्लंघन करना तथा [**कुप्यप्रमाणातिक्रमाः**] वस्त्र, बर्तन आदि के परिमाण का उल्लंघन करना - ये पाँच अपरिग्रह अणुव्रत में अतिचार हैं ॥२९॥

इस तरह पाँच अणुव्रतों के अतिचारों का वर्णन किया, अब तीन गुणव्रतों के अतिचारों का वर्णन करते हैं।

दिग्व्रत के पाँच अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

अर्थ - [**ऊर्ध्वव्यतिक्रमः**] माप से अधिक ऊँचाईवाले स्थलों में जाना, [**अधः-व्यतिक्रमः**] माप से नीचे (कुआ, खान आदि) स्थानों में उतरना [**तिर्यक्व्यतिक्रमः**] समान स्थान के माप से बहुत दूर जाना [**क्षेत्रवृद्धिः**] की हुई मर्यादा में क्षेत्र को बढ़ा लेना और [**स्मृत्यंतराधानं**] क्षेत्र की की हुई मर्यादा को भूल जाना - ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं ॥३०॥

देशव्रत के पाँच अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अर्थ - [**आनयनं**] मर्यादा से बाहर की चीज को मँगाना, [**प्रेष्यप्रयोगः**] मर्यादा से बाहर नौकर आदि को भेजना [**शब्दानुपातः**] खाँसी शब्द आदि से मर्यादा के बाहर जीवों को अपना अभिप्राय समझा देना, [**रूपानुपातः**] अपना रूप आदि दिखाकर मर्यादा के बाहर के जीवों को इशारा करना और [**पुद्गलक्षेपाः**] मर्यादा के बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर अपने कार्य का निर्वाह कर लेना - ये पाँच देशव्रत के अतिचार हैं ॥३१॥

अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

अर्थ - [**कन्दर्प**] राग से हास्यसहित अशिष्ट वचन बोलना, [**कौत्कुच्यं**] शरीर की कुचेष्टा करके अशिष्ट वचन बोलना, [**मौखर्य**] घृष्टतापूर्वक जरूरत से ज्यादा बोलना, [**असमीक्ष्याधिकरणं**] बिना प्रयोजन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करना और [**उपभोग-परिभोगानर्थक्यं**] भोग-उपभोग के पदार्थों का जरूरत से ज्यादा संग्रह करना - ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं ॥३२॥

इस तरह तीन गुणव्रत के अतिचारों का वर्णन किया, अब चार शिक्षाव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

अर्थ - [**योगदुष्प्रणिधानं**] मन सम्बन्धी परिणामों की अन्यथा प्रवृत्ति करना; वचन सम्बन्धी परिणामों की अन्यथा प्रवृत्ति करना; काय सम्बन्धी परिणामों की अन्यथा प्रवृत्ति करना; [**अनादरं**] सामायिक के प्रति उत्साहरहित होना और [**स्मृत्यनुपस्थानं**] एकाग्रता के अभाव को लेकर सामायिक के पाठ आदि भूल जाना - ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं ॥३३॥

नोट - सूत्र में 'योगदुष्प्रणिधानं' शब्द है, उसे मन, वचन और काय इन तीनों में लागू करके ये तीन प्रकार के तीन अतिचार गिने गये हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणाना-दरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अर्थ - [**अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनु-पस्थानानि**] बिना देखी, बिना शोधी जमीन में मल-मूत्रादि क्षेपण करना; बिना देखे, बिना शोधे पूजन के उपकरण ग्रहण करना; बिना देखे, बिना शोधे, जमीन पर चटाई, वस्त्र आदि बिछाना; भूख आदि से व्याकुल हो आवश्यक धर्म-कार्य उत्साहरहित होकर करना और आवश्यक धर्म-कार्यों को भूल जाना - ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं ॥२४॥

उपभोग-परिभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥

अर्थ - [**सचित्त**] १. सचित्त-जीववाले (कच्चे फल आदि) पदार्थ, २. [**संबंध**] सचित्त पदार्थ के साथ सम्बन्धवाले पदार्थ, ३. [**संमिश्र**] सचित्त पदार्थ से मिले हुए पदार्थ, ४. [**अभिषव**] गरिष्ठ पदार्थ, और ५. [**दुःपक्व**] अर्थात् आधे पके या अधिक पके हुए या बुरी तरह से पके पदार्थ - [**आहाराः**] इनका आहार करना, ये पाँच उपभोग-परिभोग परिणाम शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

टीका—भोग - जो वस्तु एक ही बार उपभोग में लाई जाए, सो भोग है, जैसे अन्न। इसे परिभोग भी कहा जाता है।

उपभोग - जो वस्तु बारबार भोगी जाए, उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र आदि।

अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

अर्थ - [**सचित्तनिक्षेपः**] सचित्त पत्र आदि में रखकर भोजन देना, [**सचित्तापिधानं**] सचित पत्र आदि से ढके हुए भोजन आदि को देना [**परव्यपदेशः**] दूसरे दातार की वस्तु को देना [**मात्सर्य**] अनादरपूर्वक देना अथवा दूसरे दातार की ईर्षापूर्वक देना और [**कालातिक्रमः**] योग्य काल का उल्लंघन करके देना - ये पाँच अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के अतिचार हैं। इस तरह चार शिक्षाव्रत के अतिचार कहे ॥३६॥

अब सल्लेखना के अतिचार कहते हैं

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

अर्थ - [**जीविताशंसा**] सल्लेखना धारण करने के बाद जीने की इच्छा करना, [**मरणशंसा**] वेदना से व्याकुल होकर शीघ्र मरने की इच्छा करना, [**मित्रानुरागः**] अनुराग के द्वारा मित्रों का स्मरण करना [**सुखानुबंधं**] पहले भोगे हुये सुखों का स्मरण करना और [**निदान**] निदान करना अर्थात् आगामी विषय-भोगों की वांछा करना - ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं।

इस तरह श्रावक के अतिचारों का वर्णन पूर्ण हुआ। ऊपर कहे अनुसार सम्यग्दर्शन के ५, बारह व्रत के ६०, और सल्लेखना के ५ इस तरह कुल ७० अतीचारों का जो त्याग करता है, वही निर्दोष व्रती है ॥३७॥

दान का स्वरूप

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

अर्थ - [**अनुग्रहार्थं**] अनुग्रह-उपकार के हेतु से [**स्वस्यातिसर्गः**] धन आदि अपनी वस्तु का त्याग करना, सो [**दानं**] दान है।

टीका—१. अनुग्रह का अर्थ है अपनी आत्मा के अनुसार होनेवाला उपकार का लाभ। अपनी आत्मा को लाभ हो, इस भाव से किया गया कोई कार्य, यदि दूसरे के लाभ में निमित्त हो, तब यों कहा जाता है कि पर का उपकार हुआ। वास्तव में अनुग्रह स्व-का है, पर तो निमित्तमात्र है।

धन इत्यादि के त्याग से यथार्थरीत्या स्व के शुभभाव का अनुग्रह है, क्योंकि इससे अशुभभाव रुकता है और स्व के लोभ-कषाय का आंशिक त्याग होता है। यदि वह वस्तु (धन आदि) दूसरे के लाभ का निमित्त हो तो उपचार से ऐसा कहा जाता है कि दूसरे का उपकार हुआ, किन्तु वास्तव में दूसरे का जो उपकार हुआ, वह उसके भाव का है। उसने अपनी आकुलता मन्द की, इसीलिए उपकार हुआ; किन्तु यदि आकुलता मन्द न करे, नाराजी, क्रोध करे अथवा लोलुपता करके आकुलता बढ़ावे तो उसके उपकार नहीं होता। प्रत्येक जीव के अपने में ही स्वकीय भाव का उपकार होता है। परद्रव्य से या पर-मनुष्य से किसी जीव के सचमुच तो उपकार नहीं होता।

२. श्री मुनिराज को दान देने के प्रकरण में यह सूत्र कहा गया है। मुनि को आहार का और धर्म के उपकरणों का दान भक्तिभावपूर्वक दिया जाता है। दान देने में स्व का अनुग्रह तो यह है कि निज के अशुभराग दूर होकर शुभ होता है और धर्मानुराग बढ़ता है, और पर का अनुग्रह यह है कि दान लेनेवाले मुनि के सम्यग्ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि का निमित्त होता है। ऐसा कहना कि किसी जीव के द्वारा पर का उपकार हुआ, सो कथनमात्र है। व्यवहार से भी मैं पर को कुछ दे सकता हूँ, ऐसा मानना मिथ्या-अभिप्राय है।

३. यह बात ध्यान में रहे कि यह दान, शुभरागरूप है, इससे पुण्य का बन्ध होता है, इसीलिए वह सच्चा धर्म नहीं है, अपने से अपने में अपने लिये शुद्धस्वभाव का दान ही धर्म है। जैसा शुद्धस्वभाव है, वैसी शुद्धता पर्याय में प्रगट करना, इसी का नाम शुद्धस्वभाव का निश्चय दान है।

दूसरों के द्वारा अपनी ख्याति, लाभ या पूजा हो, इस हेतु से जो कुछ दिया जावे, सो

दान नहीं, किन्तु अपने आत्मकल्याण के लिये तथा पात्र जीवों को रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये, रक्षा के लिये या पुष्टि के लिये शुभभावपूर्वक जो कुछ दिया जावे, सो दान है। इसमें जो शुभभाव है, सो व्यवहार दान है। वस्तु लेने-देन की जो क्रिया है, वह तो पर से स्वतः होने योग्य परद्रव्य की क्रिया है और परद्रव्य की क्रिया (पर्याय) में जीव का व्यवहार नहीं हैं।

४. जिससे स्व के तथा पर के आत्मधर्म की वृद्धि हो—ऐसा दान, गृहस्थों का एक मुख्य व्रत है। इस व्रत को अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। श्रावकों के प्रतिदिन करनेयोग्य छह कर्तव्यों में भी दान का समावेश होता है।

५- इस अधिकार में शुभास्रव का वर्णन है। सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धता के लक्ष्य से शुभभावरूप दान कैसे हो, यह इस सूत्र में बताया है। सम्यग्दृष्टि ऐसा कभी नहीं मानते कि शुभभाव से धर्म होता है, किन्तु निज-स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकते, तब शुद्धता के लक्ष्य से अशुभभाव दूर होकर शुभभाव रह जाता है, अर्थात् स्वरूपसन्मुख जागृति का मन्द प्रयत्न करने से - अशुभराग न होकर शुभराग होता है। वहाँ ऐसा समझता है कि जितना अशुभराग दूर हुआ, उतना लाभ है और जो शुभराग रहा, वह आस्रव है, बन्धमार्ग है; ऐसा समझकर उसे भी दूर करने की भावना रहती है, इसीलिए उनके आंशिक शुद्धता का लाभ होता है। मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार का दान नहीं कर सकते। यद्यपि वे सम्यग्दृष्टि की तरह दान की बाह्य-क्रिया करते हैं, किन्तु इस सूत्र में कहा हुआ दान का लक्षण उनके लागू नहीं होता, क्योंकि उसे शुद्धता की प्रतीति नहीं है और वह शुभ को धर्म और अपना स्वरूप मानता है। इस सूत्र में कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टि के ही लागू होता है।

६. यदि इस सूत्र का सामान्य अर्थ किया जावे तो वह सब जीवों के लागू हो। आहार आदि तथा धर्म-उपकरण या धन आदि देने की जो बाह्य-क्रिया है, सो दान नहीं, परन्तु उस समय जीव का जो शुभभाव है, सो दान है। श्रीपूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में इस सूत्र की सूचनिका में दान की व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

'शीलविधान में अर्थात् शिक्षाव्रतों के वर्णन में अतिथिसंविभागव्रत कहा गया, किन्तु उसमें दान का लक्षण नहीं बताया, इसलिए वह कहना चाहिए, अतएव आचार्य दान के लक्षण का सूत्र कहते हैं।

उपरोक्त कथन से मालूम होता है कि इस सूत्र में कहा हुआ दान, सम्यग्दृष्टि जीव के शुभभावरूप है।

७. इस सूत्र में प्रयोग किया गया स्व-शब्द का अर्थ धन होता है, और धन का अर्थ होता है - 'अपने स्वामित्व-अधिकार की वस्तु।'

८. करुणादान

करुणादान का भाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को होता है किन्तु उनके भाव में महान अन्तर है। दान के यह चार भेद हैं - १. आहारदान, २. औषधिदान, ३. अभयदान और ४. ज्ञानदान। आवश्यकतावाले जैन-अजैन, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि किसी भी प्राणी के प्रति अनुकम्पाबुद्धि से यह दान हो सकता है। मुनि को जो आहारदान दिया जाता है, वह करुणादान नहीं किन्तु भक्तिदान है। जो अपने से महान् गुण धारण करनेवाले हों, उसके प्रति भक्तिदान होता है। इस सम्बन्धी विशेष वर्णन इसके बाद के सूत्र की टीका में किया है॥३८॥

दान में विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

अर्थ - [**विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्**] विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र की विशेषता से [**तद्विशेषः**] दान में विशेषता होती है।

टीका—विधिविशेष - नवधाभक्ति के क्रम को विधि-विशेष कहते हैं।

द्रव्यविशेष - तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण ऐसे आहारादिक को द्रव्य-विशेष कहते हैं।

दातृविशेष - जो दातार, श्रद्धा आदि सात गुणोंसहित हो, उसे दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेष - जो सम्यक्चारित्र आदि गुणोंसहित हो, ऐसे मुनि आदि को पात्रविशेष कहते हैं।

२. नवधाभक्ति का स्वरूप

(१) **संग्रह** - (प्रतिग्रहण) 'पधारो, पधारो, यहाँ शुद्ध आहार जल है' इत्यादि शब्दों के द्वारा भक्ति-सत्कारपूर्वक विनय से मुनि का आह्वान करना।

(२) **उच्चस्थान** - उनको ऊँचे आसन पर बिठाना।

(३) **पादोदकः** - गरम किए हुए (प्रासुक) शुद्ध जल से उनके चरण धोना।

(४) **अर्चन** - उनकी भक्ति-पूजा करना।

(५) **प्रणाम** - उन्हें नमस्कार करना।

(६-७-८) **मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि।**

(९) **ऐषणाशुद्धि** - आहार की शुद्धि।

ये नव क्रियाएँ क्रम से होनी चाहिए। यदि ऐसा क्रम न हो तो मुनि आहार नहीं कर सकते।

१. प्रश्न - इस प्रकार नवधाभक्तिपूर्वक स्त्री, मुनि को आहार दे या नहीं ?

उत्तर - हाँ, स्त्री का किया हुआ और स्त्री के हाथ से भी साधु आहार लेते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जब भगवान महावीर, छद्मस्थ मुनि थे, जब चन्दनवाला ने नवधाभक्तिपूर्वक उनको आहार दिया था।

मुनि को 'तिष्ठ! तिष्ठ! तिष्ठ!' (यहाँ विराजो) इस प्रकार अति पूज्यभाव से कहना तथा अन्य श्रावकादिक योग्य पात्र-जीवों को उनके पद के अनुसार आदर के वचन कहना, सो संग्रह है। जिसके हृदय में नवधाभक्ति नहीं है, उसके यहाँ मुनि आहार करते ही नहीं, और अन्य धर्मात्मा पात्र जीव भी बिना आदर के, लोभी होकर, धर्म का निरादर कराकर कभी भोजनादिक ग्रहण नहीं करते। वीतरागधर्म की दृढ़तासहित, दीनतारहित, परम सन्तोष धारण करना, सो जैनत्व है।

३. द्रव्यविशेष—पात्रदान की अपेक्षा से देनेयोग्य पदार्थ चार तरह के हैं - (१) आहार (२) औषध (३) उपकरण (पीछी, कमण्डल, शास्त्र आदि) और (४) आवास। ये पदार्थ ऐसे होने चाहिए कि तप, स्वाध्यायादि धर्मकार्य में वृद्धि के कारण हों।

४. दातृविशेष—दातार में निम्नलिखित सात गुण होने चाहिए—

(१) **ऐहिक फल अनपेक्षा** - सांसारिक लाभ की इच्छा न होना।

(२) **क्षांति** - दान देते समय क्रोधरहित शान्त-परिणाम होना।

(३) **मुदित** - दान देते समय प्रसन्नता होना।

(४) **निष्कपटता** - मायाचार-छल कपट से रहित होना।

(५) **अनुसूयत्व** - ईर्ष्यारहित होना।

(६) **अविषादित्व** - विषाद (खेद) रहित होना।

(७) निरहंकारित्व - अभिमान रहित होना।

दातार में रहे हुए इन गुणों की हीनाधिकता के अनुसार उसके दान का फल होता है

५. पात्रविशेष—सत्पात्र तीन तरह के हैं—

(१) उत्तमपात्र - सम्यक्चारित्रवान् मुनि।

(२) मध्यमपात्र - व्रतधारी सम्यक्दृष्टि।

(३) जघन्यपात्र - अविरत सम्यग्दृष्टि।

ये तीनो सम्यग्दृष्टि होने से सुपात्र हैं। जो जीव बिना सम्यग्दर्शन के बाह्य-व्रतसहित हो, वह कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शन से रहित तथा बाह्य-व्रत चारित्र से भी रहित हों, वे जीव अपात्र हैं।

६. दान सम्बन्धी जाननेयोग्य विशेष बातें

(१) अपात्र जीवों को दु:ख से पीड़ित देखकर उन पर दयाभाव के द्वारा उनके दु:ख दूर करने की भावना गृहस्थ अवश्य करे, किन्तु उनके प्रति भक्तिभाव न करे, क्योंकि ऐसों के प्रति भक्तिभाव करना, सो उनके पाप की अनुमोदना है। कुपात्र को योग्यरीति से आहारादिक का दान देना चाहिए।

२. प्रश्न - अज्ञानी के, अपात्र को दान देते समय यदि शुभभाव हो तो उसका क्या फल है ? जो कोई यों कहते हैं कि अपात्र को दान देने का फल नरक-निगोद है, सो क्या यह ठीक है ?

उत्तर - अपात्र को दान देते समय जो शुभभाव है, उसका फल नरक-निगोद नहीं हो सकता। जो आत्मा के ज्ञान और आचरण से रहित परमार्थशून्य हैं, ऐसे अज्ञानी छद्मस्थ विपरीत गुरु के प्रति सेवा भक्ति से, वैयावृत्य तथा आहारादिक दान देने की क्रिया से जो पुण्य होता है, उसका फल नीच देव और नीच मनुष्यत्व है।

(प्रवचनसार, गाथा २५७; चर्चा-समाधान पृष्ठ ४८)

(२) आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान—ऐसे भी दान के चार भेद हैं। केवली-भगवान के दानांतराय का सर्वथा नाश होने से क्षायिक दानशक्ति प्रगट हुई है। इसका मुख्य कार्य संसार के शरणागत जीवों को अभय प्रदान करना है। इस अभयदान की पूर्णता केवलज्ञानियों के होती है। तथा दिव्यध्वनि के द्वारा तत्त्वोपदेश देने से भव्य जीवों के ज्ञानदान

की प्राप्ति भी होती है। बाकी के दो दान रहे (आहार और औषध), सो वे गृहस्थ के कार्य हैं। इन दो के अतिरिक्त पहले के दो दान भी गृहस्थों के यथाशक्ति होते हैं। केवली भगवान वीतरागी हैं, उनके दान की इच्छा नहीं होती॥३९॥

— उपसंहार —

१- इस अधिकार में पुण्यास्रव का वर्णन है। व्रत, पुण्यास्रव का कारण है। अठारहवें सूत्र में व्रती की व्याख्या दी है। उसमें बतलाया है कि जो जीव मिथ्यात्व, माया, निदान इन तीन शल्यों से रहित हो, वही व्रती हो सकता है। ऐसी व्याख्या नहीं की कि 'जिसके व्रत हो, सो व्रती है', इसलिए यह खास ध्यान में रहे कि व्रती होने के लिये निश्चय-सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों होने चाहिए।

२- सम्यग्दृष्टि जीव के आंशिक वीतराग-चारित्रपूर्वक महाव्रतादिरूप शुभोपयोग हो, उसे सरागचारित्र कहते हैं। यह सरागचारित्र, अनिष्ट फलवाला होने से छोड़नेयोग्य है। जिसमें कषायकण विद्यमान हैं, अतः जो जीव को पुण्यबन्ध की प्राप्ति का कारण है, ऐसे सराग-चारित्र बीच में आ गया हो, तथापि सम्यग्दृष्टि के उसके दूर हो जाने का प्रयत्न चालू होता है। *(देखो, प्रवचनसार गाथा १-५-६ टीका)*

३- महाव्रतादि शुभोपयोग को उपादेयरूप-ग्रहणरूप मानना, सो मिथ्यादृष्टित्व है। इस अध्याय में उन व्रतों को आस्रवरूप से वर्णित किया है, तो वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो बन्ध का ही साधक है और चारित्र, मोक्ष का साधक है; इसीलिए इन महाव्रतादिरूप आस्रवभावों में चारित्र का सम्भव नहीं होता। चारित्रमोह के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय में युक्त होने से जो महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह तो चारित्र का दोष है। उसे अमुक दशातक न छूटनेवाला जानकर ज्ञानी उसका त्याग नहीं करते और सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं। किन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि अधिक दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है और कोई हरितकाय का आहार करता है किन्तु उसे धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार मुनि, हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं तथा कोई मन्द-कषायरूप महाव्रतादि को पालते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२९-२३०)*

४- इस आस्रव अधिकार में अहिंसादि व्रतों का वर्णन किया है। इससे ऐसा समझना कि किसी जीव को न मारना, ऐसे शुभभावरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहभाव, ये सब पुण्यास्रव हैं। इस अधिकार में संवर-निर्जरा का वर्णन नहीं है। यदि

ये अहिंसादि, संवर-निर्जरा का कारण होते तो इस आस्रव अधिकार में आचार्यदेव उनका वर्णन नहीं करते।

५- व्रतादि के समय भी चार घातिया कर्म बँधते हैं और घातिकर्म तो पाप है। सम्यग्दृष्टि जीव के सच्ची-यथार्थ श्रद्धा होने से दर्शनमोह-अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा नरकगति इत्यादि ४१ कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। यह तो चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन का फल है और ऊपर की अवस्था में जितने अंश में चारित्र की शुद्धता प्रगट होती है, वह वीतरागचारित्र का फल है, परन्तु महाव्रत या देशव्रत का फल शुद्धता नहीं; महाव्रत या देशव्रत का फल बन्धन है।

६- साधारण जीव लौकिकरूढ़दृष्टि से यह तो मानते हैं कि अशुभभाव में धर्म नहीं है अर्थात् इस सम्बन्धी विशेष कहने की जरूरत नहीं। परन्तु निज को धर्मी और समझदार माननेवाला जीव भी बड़े भाग में शुभभाव को धर्म या धर्म का सहायक मानता है। यह मान्यता यथार्थ नहीं है। यह बात छट्ठे और सातवें अध्याय में कही गई है कि शुभभाव, धर्म का कारण नहीं, किन्तु कर्मबन्ध का कारण है। उसके कुछ नोट निम्न प्रकार हैं—

१- शुभभाव पुण्य का आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ३
२- सम्यक्त्व क्रिया, ईर्यापथ समिति	अध्याय ६ सूत्र ५
३- जो मन्दकषाय है, सो आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ६
४- सर्वप्राणी और व्रतधारी के प्रति अनुकम्पा	अध्याय ६ सूत्र १८
५- मार्दव	अध्याय ६ सूत्र १८
६- सरागसंयम, संयमासंयम	अध्याय ६ सूत्र २०
७- योगों की सरलता	अध्याय ६ सूत्र २३
८- तीर्थङ्करनामकर्मबन्ध के कारणरूप सोलह भावना	अध्याय ६ सूत्र २४
९- परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रवृत्ति, मद का अभाव	अध्याय ६ सूत्र २६
१०- महाव्रत, अणुव्रत	अध्याय ७ सूत्र १ से ८ तथा २१
११- मैत्री आदि चार भावनाएँ	अध्याय ७ सूत्र ११
१२- जगत् और काय के स्वभाव का विचार	अध्याय ७ सूत्र १२

१३- सल्लेखना	अध्याय ७ सूत्र २२
१४- दान	अध्याय ७ सूत्र ३८-३९

उपरोक्त सभी भावों को आस्रव की रीति से वर्णन किया है। इस तरह छट्ठे और सातवें अध्याय में आस्रव का वर्णन पूर्ण करके, अब आठवें अध्याय में बन्धतत्त्व का वर्णन किया जायेगा।

७- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करना, सो व्रत है - ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार के चौथे अध्याय की १०१वीं गाथा में कहा है, अर्थात् यों बतलाया है कि यह व्रत पुण्यास्रव ही है। गाथा १०३ में कहा है कि संसारमार्ग में पुण्य और पाप के बीच भेद है, किन्तु उसके बाद पृ० २५९ गाथा १०४ में **स्पष्टरूप से कहा है कि मोक्षमार्ग में पुण्य और पाप के बीच भेद (विशेष, पृथक्त्व) नहीं है, क्योंकि ये दोनों संसार के कारण हैं** - इस तरह बतलाकर आस्रव अधिकार पूर्ण किया है।

८. प्रश्न - व्रत तो त्याग है, यदि त्याग को पुण्यास्रव कहोगे और धर्म न कहोगे तो फिर त्याग का त्याग धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर - (१) व्रत शुभभाव है; शुभभाव का त्याग दो प्रकार से होता है - एक प्रकार का त्याग तो यह कि 'शुभ को छोड़कर अशुभ में जाना' सो यह तो जीव अनादि से करता आया है, लेकिन यह त्याग, धर्म नहीं किन्तु पाप है। दूसरा प्रकार यह है कि सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्धता प्रगट करने पर शुभ का त्याग होता है; यह त्यागधर्म है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा व्रतरूप शुभभाव का भी त्याग करके ज्ञान में स्थिरता करते हैं; यह स्थिरता ही चारित्रधर्म है। इस प्रकार जितने अंश में वीतरागचारित्र बढ़ता है, उतने अंश में व्रत और अव्रतरूप शुभाशुभभाव का त्याग होता है।

(२) यह ध्यान रहे कि व्रत में शुभ-अशुभ दोनों का त्याग नहीं है, परन्तु व्रत में अशुभभाव का त्याग और शुभभाव का ग्रहण है अर्थात् व्रत राग है, और अव्रत तथा व्रत (अशुभ तथा शुभ) दोनों का जो त्याग है, सो वीतरागता है। शुभ-अशुभ दोनों का त्याग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपूर्वक ही हो सकता है।

(३) 'त्याग' तो नास्तिवाचक है। यदि वह अस्तिसहित हो, तब यथार्थ नास्ति कही जाती है। अब यदि व्रत को त्याग कहें तो वह त्यागरूप नास्ति होने पर आत्मा में अस्तिरूप

से क्या हुआ ? इस अधिकार में यह बतलाया है कि वीतरागता तो सम्यक्चारित्र के द्वारा प्रगट होती है और व्रत तो आस्रव है, इसीलिए व्रत सच्चा त्याग नहीं, किन्तु जितने अंश में वीतरागता प्रगट हुई, उतना सच्चा त्याग है। क्योंकि जहाँ जितने अंश में वीतरागता हो, वहाँ उतने अंश में सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता है, और उसमें शुभ-अशुभ दोनों का (अर्थात् व्रत-अव्रत दोनों का) त्याग होता है।

इस प्रकार श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद में यह सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र

अध्याय आठवाँ

भूमिका

पहले अध्याय के प्रथम सूत्र में कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। दूसरे सूत्र में कहा है कि तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उसके बाद चौथे सूत्र में सात तत्त्वों के नाम बतलाये; इतनें से जीव, अजीव और आस्रव इन तीन तत्त्वों का वर्णन सातवें अध्याय तक किया। आस्रव के बाद बन्धतत्त्व का नम्बर है; इसीलिए आचार्यदेव इस अध्याय में बन्धतत्त्व का वर्णन करते हैं।

बन्ध के दो भेद हैं - भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। इस अध्याय के पहले दो सूत्रों में जीव के भावबन्ध का और उस भावबन्ध का निमित्त पाकर होनेवाले द्रव्यकर्म के बन्ध का वर्णन किया है। इसके बाद के सूत्रों में द्रव्यबन्ध के भेद, उनकी स्थिति और कब छूटते हैं, इत्यादि का वर्णन किया है।

बन्ध के कारण बतलाते हैं

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ - **[मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा]** मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच **[बंधहेतवः]** बन्ध के कारण हैं।

टीका-१- यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह सूत्र बतलाता है कि संसार किस कारण से है। धर्म में प्रवेश करने की इच्छा करनेवाले जीव तथा उपदेशक जब तक इस सूत्र का मर्म नहीं समझते, तब तक एक बड़ी भूल करते हैं। वह इस प्रकार है - बन्ध के ५ कारणों में से सबसे पहले मिथ्यादर्शन दूर होता है और फिर अविरति आदि दूर होते हैं, तथापि वे पहले मिथ्यादर्शन को दूर किये बिना अविरति को दूर करना चाहते हैं और इस हेतु से उनके माने हुए बालव्रत आदि ग्रहण करते हैं तथा दूसरों को भी वैसा उपदेश देते हैं। पुनश्च, ऐसा मानते हैं कि ये बालव्रत आदि ग्रहण करने से और उनका पालन करने से मिथ्यादर्शन दूर होगा। उन

जीवों की यह मान्यता पूर्णरूपेण मिथ्या है, इसलिए इस सूत्र में 'मिथ्यादर्शन' पहले बताकर सूचित किया है।

२- इस सूत्र में बन्ध के कारण जिस क्रम से दिये हैं, उसी क्रम से वे नष्ट होते हैं, परन्तु यह क्रमभङ्ग नहीं होता कि पहला कारण विद्यमान हो और उसके बाद के कारण दूर हो जाएँ। उनके दूर करने का क्रम इस प्रकार है - (१) मिथ्यादर्शन चौथे गुणस्थान में दूर होता है, (२) अविरति पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में दूर होती है, (३) प्रमाद सातवें गुणस्थान में दूर होता है, (४) कषाय बारहवें गुणस्थान में नष्ट होती है और (५) योग चौदहवें गुणस्थान में नष्ट होता है। वस्तुस्थिति के इस नियम को न समझने से अज्ञानी पहले बालव्रत अङ्गीकार करते हैं और उसे धर्म मानते हैं। इस प्रकार अधर्म को धर्म मानने के कारण उनके मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबन्धी कषाय का पोषण होता है। इसलिए जिज्ञासुओं को वस्तुस्थिति के इस नियम को समझना विशेष आवश्यक है। इस नियम को समझकर असत् उपाय छोड़कर पहले मिथ्यादर्शन दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पुरुषार्थ करना योग्य है।

३- मिथ्यात्वादि या जो बन्ध के कारण हैं, वे जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं। जो मिथ्यात्वादि परिणाम जीव में होते हैं, वे जीव हैं, उसे भावबन्ध कहते हैं और जो मिथ्यात्वादि परिणाम पुद्गल में होते हैं, वे अजीव हैं, उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं।

(देखो, समयसार गाथा ८७-८८)

४. बन्ध के पाँच कारण कहे, उनमें अन्तरङ्ग भावों की पहचान करना चाहिए

यदि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के भेदों को बाह्यरूप से जाने किन्तु अन्तरङ्ग में इन भावों की किस्म (जाति) की पहचान न करे तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता। अन्य कुदेवादिक के सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को तो मिथ्यात्वरूप से जाने किन्तु जो अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है, उसे न पहिचाने तथा बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा के तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति हो, उसे अविरति समझे किन्तु हिंसा में मूल जो प्रमाद परिणति है तथा विषय-सेवन में अभिलाषा मूल है, उसे न देखे तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। यदि बाह्य-क्रोध करने को कषाय समझे किन्तु अभिप्राय में जो राग-द्वेष रहता है, वही मूल क्रोध है, उसे न पहचाने तो मिथ्या-मान्यता दूर नहीं होती। बाह्य-चेष्टा हो, उसे योग समझे किन्तु शक्तिभूत (आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दनरूप) योग को न जाने तो मिथ्या-मान्यता दूर नहीं होती। इसलिए उनके अन्तरङ्ग भाव को पहिचानकर उस सम्बन्धी अन्य मान्यता दूर करनी चाहिए।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२६-२२७)

५. मिथ्यादर्शन का स्वरूप

(१) अनादि से जीव के मिथ्यादर्शनरूप अवस्था है। समस्त दु:खों का मूल मिथ्यादर्शन है। जीव के जैसा श्रद्धान है, वैसा पदार्थस्वरूप न हो और जैसा पदार्थस्वरूप न हो, वैसा ये माने, उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव स्व को और शरीर को एक मानता है। किसी समय शरीर दुबला हो, किसी समय मोटा हो, किसी समय नष्ट हो जाय और किसी समय नवीन पैदा हो, तब ये सब क्रियाएँ शरीराधीन होती हैं, तथापि जीव उसे अपने आधीन मानकर खेद-खिन्न होता है।

दृष्टान्त - जैसे किसी जगह एक पागल बैठा था। वहाँ अन्य स्थान से आकर मनुष्य, घोड़ा और धनादिक उतरे, उन सबको वह पागल अपना मानने लगा, किन्तु वे सभी अपने-अपने आधीन हैं, अत: इसमें कोई आवे, कोई जाय और कोई अनेक अवस्थारूप से परिणमन करता है, इस प्रकार सबकी क्रिया अपने-अपने आधीन हैं, तथापि यह पागल उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

सिद्धान्त - उसी प्रकार यह जीव जहाँ शरीर धारण करता है, वहाँ किसी अन्य स्थान से आकर पुत्र, घोड़ा, धनादिक स्वयं प्राप्त होते हैं, यह जीव उन सबको अपना जानता है; परन्तु ये सभी अपने-अपने आधीन होने से कोई आते कोई जाते और अनेक अवस्थारूप से परिणमते हैं, क्या यह उसके आधीन हैं ? ये जीव के आधीन नहीं हैं, तो भी यह जीव उन्हें अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

(२) यह जीव स्वयं जिस प्रकार है, उसी प्रकार अपने को नहीं मानता, किन्तु जैसा नहीं है, वैसा मानता है, सो मिथ्यादर्शन है। जीव स्वयं अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारक, अनादिनिधन वस्तुरूप है, तथा शरीर मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, नवीन ही जिसका संयोग हुआ है - ऐसे यह शरीरादि पुद्गल जो कि स्व से पर हैं - इन दोनों के संयोगरूप मनुष्य-तिर्यञ्चादि अनेक प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं, उनमें यह मूढ़ जीव निजत्व धारण कर रहा है, स्व-पर का भेद नहीं कर सकता; जिस पर्याय को प्राप्त हुआ है, उसे ही निजरूप से मानता है। इस पर्याय में (१) जो ज्ञानादि गुण हैं, वे तो निज के गुण हैं, (२) जो रागादिकभाव होते हैं, वे विकारीभाव हैं तथा (३) जो वर्णादिक हैं, वे निज के गुण नहीं किन्तु शरीरादिक पुद्गल के गुण हैं और (४) शरीरादि में भी वर्णादि का तथा परमाणुओं का परिवर्तन पृथक्-पृथक् रूप से होता है, ये सब पुद्गल

की अवस्थाएँ हैं; यह जीव इन सभी को निजरूप और निजाधीन मानता है; स्वभाव और परभाव का विवेक नहीं करता। पुनश्च, स्व से प्रत्यक्ष भिन्न धन, कुटुम्बादिक का संयोग होता है, वे अपने-अपने आधीन परिणमते हैं, इस जीव के आधीन होकर नहीं परिणमते, तथापि यह जीव उनमें ममत्व करता है कि ये सब मेरे हैं, परन्तु ये किसी भी प्रकार से इसके नहीं होते, यह जीव मात्र अपनी भूल से (मिथ्या मान्यता से) उन्हें अपना मानता है।

(३) मनुष्यादि अवस्था में किसी समय देव-गुरु-शास्त्र अथवा धर्म का जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है, उसकी तो प्रतीति करता है किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है, उसका ज्ञान नहीं करना।

(४) जगत् की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने आधीन परिणमते हैं, किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता और यों मानता है कि स्वयं उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है।

ऊपर कही गई सब मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। स्व का और परद्रव्यों का जैसा स्वरूप नहीं है, वैसा मानना तथा जैसा है, वैसा न मानना, सो विपरीत अभिप्राय होने के कारण मिथ्यादर्शन है।

(५) जीव अनादिकाल से अनेक शरीर धारण करता है, पूर्व का छोड़कर नवीन धारण करता है; वहाँ एक तो स्वयं आत्मा (जीव) तथा अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर - इन दोनों के एक पिण्डबन्धरूप यह अवस्था होती है; उन सबमें यह ऐसी अहंबुद्धि करता है कि 'यह मैं हूँ।' जीव तो ज्ञानस्वरूप है और पुद्गल परमाणुओं का स्वभाव वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि है - इन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि 'ये मेरे हैं।' हलन-चलन आदि क्रिया शरीर करता है, उसे जीव ऐसा मानता है कि 'मैं करता हूँ।' अनादि से इन्द्रियज्ञान है - बाह्य की ओर दृष्टि है, इसीलिए स्वयं अमूर्तिक तो अपने को नहीं मालूम होता और मूर्तिक शरीर ही मालूम होता है, इसी कारण जीव अन्य को अपना स्वरूप जानकर उसमें अहंबुद्धि धारण करता है। निज का स्वरूप निज को पर से भिन्न नहीं मालूम हुआ अर्थात् शरीर, ज्ञानादिगुण, क्रोधादि विकार तथा सगे-सम्बन्धियों का समुदाय इन सबमें स्वयं अहंबुद्धि धारण करता है, इससे स्व का और शरीर का स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है - यह नहीं जानने से यथार्थरूप से शरीर से स्व की भिन्नता नहीं मालूम होती।

(६) स्व का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है, तथापि स्वयं केवल देखनेवाला तो नहीं रहता, किन्तु जिन-जिन पदार्थों को देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टरूप मानता है। यह

इष्टानिष्टरूप मानना मिथ्या है, क्योंकि कोई भी पदार्थ इष्टानिष्टरूप नहीं है। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपन हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो, वह सभी को इष्टरूप ही हो तथा जो पदार्थ अनिष्टरूप हो, वह सबको अनिष्टरूप ही हो, किन्तु ऐसा तो नहीं होता। जीव मात्र स्वयं कल्पना करके उसे इष्ट-अनिष्टरूप मानता है। इस मान्यता मिथ्या है - कल्पित है।

(७) जीव किसी पदार्थ का सद्भाव तथा किसी के अभाव को चाहता है, किन्तु उसका सद्भाव या अभाव जीव का किया हुआ नहीं होता **क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का या उसकी पर्याय का कर्त्ता है ही नहीं, किन्तु समस्त द्रव्य स्व से ही अपने-अपने स्वरूप में निरन्तर परिणमते हैं।**

(८) मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादिभावों के द्वारा सर्व द्रव्यों को अन्य प्रकार से परिणमाने की इच्छा करता है, किन्तु ये सर्व द्रव्य जीव की इच्छा के आधीन नहीं परिणमते। इसीलिए उसे आकुलता होती है। यदि जीव की इच्छानुसार ही सब कार्य हों, अन्यथा न हों तो ही निराकुलता रहे, किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता। **क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है।** इसलिए सम्यक् अभिप्राय द्वारा स्वसन्मुख होने से ही जीव के रागादिभाव दूर होकर निराकुलता होती है - ऐसा न मानकर मिथ्या अभिप्रायवश ऐसा मानता है कि मैं स्वयं परद्रव्य का कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता, आदि हूँ और परद्रव्य से अपने को लाभ-हानि होती है।

९. मिथ्यादर्शन की कुछ मान्यताएँ

१. स्वपर एकत्वदर्शन, २. पर की कर्तृत्वबुद्धि, ३. पर्यायबुद्धि, ४. व्यवहार-विमूढ़, ५. अतत्त्व श्रद्धान, ६. स्व-स्वरूप की भ्रान्ति, ७. राग से/शुभभाव से आत्मलाभ की बुद्धि, ८. बहिर्दृष्टि, ९. विपरीत रुचि, १०. जैसा वस्तुस्वरूप हो, वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना, ११. अविद्या, १२. पर से लाभ-हानि होती है - ऐसी मान्यता, १३. अनादि-अनन्त चैतन्यमात्र त्रिकाली आत्मा को न मानना किन्तु विकार जितना ही आत्मा मानना, १४. विपरीत अभिप्राय, १५. परसमय, १६. पर्यायमूढ़, १७. ऐसी मान्यता कि जीव, शरीर की क्रिया कर सकता है, १८. जीव को परद्रव्यों की व्यवसथा करनेवाला तथा उसका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता मानना, १९. जीव को ही न मानना, २०. निमित्ताधीन दृष्टि, २१. ऐसी मान्यता कि पराश्रय से लाभ होता है, २२. शरीराश्रित क्रिया से लाभ होता है - ऐसी मान्यता, २३. सर्वज्ञ की वाणी में जैसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप कहा है, वैसे स्वरूप की अश्रद्धा, २४. व्यवहारनय वास्तव में आदरणीय होने की मान्यता, २५. शुभाशुभभाव का स्वामित्व,

२६. शुभविकल्प से आत्मा को लाभ होता है – ऐसी मान्यता, २७. ऐसी मान्यता कि व्यवहार-रत्नत्रय करते-करते निश्चय-रत्नत्रय प्रगट होता है, २८. शुभ-अशुभ में सदृशता न मानना अर्थात् ऐसा मानना कि शुभ अच्छा है और अशुभ खराब है, २९. ममत्वबुद्धि से मनुष्य और तिर्यञ्च के प्रति करुणा होना।

६. मिथ्यादर्शन के दो भेद

(१) मिथ्यात्व के दो भेद हैं – अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व अनादिकालीन है। जो ऐसी मान्यता है कि जीव, परद्रव्य का कुछ कर सकता है या शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ होता है, सो यह अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याय में जन्म होने के बाद परोपदेश के निमित्त से जो अतत्त्वश्रद्धान करता है, सो गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत मिथ्यात्व को निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व को बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते हैं। जिसके गृहीत मिथ्यात्व हो, उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है।

अगृहीत मिथ्यात्व – शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ होता है, ऐसी अनादि से चली आयी जो जीव की मान्यता है, सो मिथ्यात्व है, यह किसी के सिखाने से नहीं हुआ, इसलिए अगृहीत है।

गृहीत मिथ्यात्व – खोटे देव-शास्त्र-गुरु की जो श्रद्धा है, सो गृहीत मिथ्यात्व है।

२. प्रश्न – जिस कुल में जीव जन्मा हो, उस कुल में माने हुए देव, गुरु, शास्त्र सच्चे हों और यदि जीव लौकिकरूढ़ दृष्टि से सच्चा मानता हो, तो उसके गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं ?

उत्तर – नहीं; उसके भी गृहीत मिथ्यात्व है, क्योंकि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र का स्वरूप क्या है तथा कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र में क्या दोष हैं ? इसका सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके सभी पहलुओं से उसके गुण (Merits) और दोष (Demerits) का यथार्थ निर्णय न किया हो, वहाँ तक जीव के गृहीत मिथ्यात्व है और वह सर्वज्ञ-वीतरागदेव का सच्चा अनुयायी नहीं है।

३. प्रश्न – इस जीव ने पहले कई बार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा होगा या नहीं ?

उत्तर – हाँ, जीव ने पहले अनन्तबार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा और द्रव्यलिङ्गी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले, परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा, इसीलिए संसार बना रहा; और

फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया। निर्ग्रन्थदशापूर्वक पञ्च महाव्रत तथा अट्ठाईस मूल गुणादिक का जो शुभविकल्प है, सो द्रव्यलिङ्ग है। गृहीत मिथ्यात्व छोड़े बिना जीव द्रव्यलिङ्गी नहीं हो सकता और द्रव्यलिङ्ग के बिना निरतिचार महाव्रत नहीं हो सकते। वीतराग भगवान ने द्रव्यलिङ्गी के निरतिचार महाव्रत को भी बालव्रत और असंयम कहा है क्योंकि उसने अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा।

७. गृहीत मिथ्यात्व के भेद

गृहीतमिथ्यात्व के पाँच भेद हैं - (१) एकान्तमिथ्यात्व (२) संशयमिथ्यात्व (३) विनयमिथ्यात्व (४) अज्ञानमिथ्यात्व और (५) विपरीत मिथ्यात्व। इन प्रत्येक की व्याख्या निम्न प्रकार है —

(१) एकान्त मिथ्यात्व - आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थों का स्वरूप अपने-अपने अनेकान्तमय (अनेक धर्मवाला) होने पर भी उसे सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना, सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव को सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य ही मानना; गुण-गुणी को सर्वथा भेद या अभेद ही मानना, सो एकान्त मिथ्यात्व है।

(२) संशय मिथ्यात्व - 'धर्म का स्वरूप यों है या यों है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो रूप का श्रद्धान। जैसे - आत्मा अपने कार्य का कर्ता होता होगा या परवस्तु के कार्य का कर्ता होगा? निमित्त और व्यवहार के आलम्बन से धर्म होगा या अपने शुद्धात्मा के आलम्बन से धर्म होगा? इत्यादिरूप से संशय रहना, सो संशय मिथ्यात्व है।

(३) विपरीत मिथ्यात्व - आत्मा के स्वरूप को अन्यथा मानने की रुचि को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे - सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, मिथ्यादृष्टि साधु को सच्चे गुरु मानना, केवली के स्वरूप को विपरीतरूप से मानना, इत्यादिरूप से जो विपरीत रुचि है, सो विपरीत मिथ्यात्व है।

(४) अज्ञान मिथ्यात्व - जहाँ हित-अहित का कुछ भी विवेक न हो या कुछ भी परीक्षा किये बिना धर्म की श्रद्धा करना, सो अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे - पशुवध में अथवा पाप में धर्म मानना, सो अज्ञान मिथ्यात्व है।

(५) विनय मिथ्यात्व - समस्त देवों को तथा समस्त धर्म-मतों को समान मानना, सो विनय मिथ्यात्व है।

८- गृहीत मिथ्यात्व के ५ भेदों का विशेष स्पष्टीकरण

(१) एकान्त मिथ्यात्व - आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थ का स्वरूप अपने-अपने अनेक धर्मों से परिपूर्ण है, ऐसा नहीं मानकर वस्तु को सर्वथा अस्तिरूप, सर्वथा नास्तिरूप, सर्वथा एकरूप, सर्वथा अनेकरूप, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, गुण-पर्यायों से सर्वथा अभिन्न, गुण-पर्यायों से सर्वथा भिन्न इत्यादिरूप से मानना, सो एकान्त मिथ्यात्व है। पुनश्च, काल ही सब करता है, काल ही सब का नाश करता है, काल ही फल-फूल आदि उत्पन्न करता है, काल ही संयोग-वियोग करता है, काल ही धर्म को प्राप्त कराता है, इत्यादि मान्यता मिथ्या है, यह एकान्त मिथ्यात्व है।

प्रत्येक वस्तु निरन्तर स्वयं अपने कारण से अपनी पर्याय को धारण करती है, यही उस वस्तु का स्वकाल है और उस समय वर्तनेवाली जो कालद्रव्य की पर्याय (समय) है, सो निमित्त है, ऐसा समझना सो यथार्थ समझ है। इसके द्वारा एकान्त मिथ्यात्व का नाश होता है।

कोई कहता है कि आत्मा तो अज्ञानी है, आत्मा अनाथ है, आत्मा के सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, ज्ञानीपन, पापीपन, धर्मित्व, स्वर्गगमन, नरकगमन इत्यादि सब ईश्वर करता है, ईश्वर संसार का कर्ता है, हर्ता भी ईश्वर है, ईश्वर से ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, इत्यादि प्रकार से ईश्वरकर्तृत्व की कल्पना करता है, सो मिथ्या है। ईश्वरत्व तो आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध (सिद्ध) दशा है। आत्मा निज-स्वभाव से ज्ञानी है किन्तु अनादि से अपने स्वरूप की विपरीत मान्यता के कारण स्वयं अपनी पर्याय में अज्ञानीपन दुःख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, पापीपन आदि प्राप्त करता है, और जब स्वयं अपने स्वरूप की विपरीत मान्यता दूर करे, तब स्वयं ही ज्ञानी-धर्मी होता है। ईश्वर (सिद्ध) तो उसका ज्ञाता-दृष्टा है।

(२) विपरीत मिथ्यात्व - १. आत्मा के स्वरूप को तथा देव-गुरु-धर्म के स्वरूप को अन्यथा मानने की रुचि को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे - १. शरीर को आत्मा मानना; सर्वज्ञ वीतराग भगवान को ग्रासाहार, रोग, उपसर्ग, वस्त्र, पात्र, पाटादि सहित और क्रमिक उपयोगसहित मानना अर्थात् रोटी आदि खानेवाला, पानी आदि पीनेवाला, बीमार होना, दवाई लेना, निहारका होना इत्यादि दोषसहित जीव को परमात्मा, अरहन्तदेव, केवलज्ञानी मानना। २. वस्त्र-पात्रादि सहित को निर्ग्रन्थ गुरु मानना, स्त्री का शरीर होने पर भी उसे मुनिदशा और उसी भव से मोक्ष मानना, सती स्त्री को पाँच पतिवाली मानना। ३. गृहस्थदशा में केवलज्ञान की उत्पत्ति मानना। ४. सर्वज्ञ-वीतरागदशा प्रगट होने पर भी वह छद्मस्थ-गुरु

की वैयावृत्य करे - ऐसा मानना। ५. छट्ठे गुणस्थान के ऊपर भी वंद्यवंदकभाव होता है और केवली भगवान को छद्मस्थ गुरु के प्रति, चतुर्विध संघ अर्थात् तीर्थ के प्रति या अन्य केवली के प्रति वंद्यवंदकभाव मानना, ६. मुनिदशा में वस्त्रों को परिग्रह के रूप में न मानना अर्थात् वस्त्रसहित होने पर भी मुनिपद और अपरिग्रहित्व मानना, ७. वस्त्र के द्वारा संयम और चारित्र का अच्छा साधन हो सकता है, ऐसी जो मान्यताएँ हैं, सो विपरीत मिथ्यात्व है।

८- सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले और बाद में छट्ठे गुणस्थान तक जो शुभभाव होता है, उस शुभभाव में भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न पदार्थ निमित्त होते हैं, क्योंकि जो शुभभाव है, सो विकार है और वह परालम्बन से होता है। कितने ही जीवों के शुभराग के समय वीतरागदेव की तदाकार प्रतिमा के दर्शन-पूजनादि निमित्तरूप से होते हैं। वीतरागी प्रतिमा का जो दर्शन-पूजन है, सो भी राग है, परन्तु किसी भी जीव के शुभराग के समय वीतरागी प्रतिमा के दर्शन-पूजनादि का निमित्त ही न हो—ऐसा मानना, सो शुभभाव के स्वरूप की विपरीत मान्यता होने से विपरीत मिथ्यात्व है।

९- वीतरागदेव की प्रतिमा के दर्शन-पूजनादि के शुभराग को धर्मानुराग कहते हैं, परन्तु वह धर्म नहीं है, धर्म तो निरावलम्बी है। जब देव-शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से छूटकर शुद्ध श्रद्धा द्वारा स्वभाव का आश्रय करता है, तब धर्म प्रगट होता है। यदि उस शुभराग को धर्म माने तो उस शुभभाव के स्वरूप की विपरीत मान्यता होने से विपरीत मिथ्यात्व है।

छट्ठे अध्याय के १३वें सूत्र की टीका में अवर्णवाद के स्वरूप का वर्णन किया है, उसका समावेश विपरीत मिथ्यात्व में होता है।

(३) संशय मिथ्यात्व - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है, यही सच्चा मोक्षमार्ग होगा या अन्य; समस्त मतों में भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाया है, वह सच्चा मार्ग होगा? उनके वचन में परस्पर विरुद्धता है और कोई प्रत्यक्ष जाननेवाला सर्वज्ञ नहीं है; परस्पर एक-दूसरे के शास्त्र नहीं मिलते, इसीलिए कोई निश्चय (निर्णय) नहीं हो सकता, इत्यादि प्रकार का जो अभिप्राय है, सो संशय मिथ्यात्व है।

(४) विनय मिथ्यात्व - १. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-संयम-ध्यानादि के बिना मात्र गुरु-पूजनादिक विनय से ही मुक्ति होगी - ऐसा मानना, सो विनय मिथ्यात्व है, २. सर्व देव, सर्व शास्त्र, समस्त मत तथा समस्त भेष धारण करनेवालों को समान मानकर, उन सभी का विनय करना, सो विनय मिथ्यात्व है और ३. ऐसा मानना कि विनयमात्र से ही अपना

कल्याण हो जायेगा, सो विनय मिथ्यात्व है। ४. संसार में जितने देव पूजे जाते हैं और जितने शास्त्र या दर्शन प्रचलित हैं, वे सब सुखदाई हैं, उनमें भेद नहीं है, उन सबसे मुक्ति (अर्थात् आत्मकल्याण की प्राप्ति) हो सकती है – ऐसी जो मान्यता है, सो विनय मिथ्यात्व है और इस मान्यतावाला जीव वैनयिक मिथ्यादृष्टि है।

गुण ग्रहण की अपेक्षा से अनेक धर्म में प्रवृत्ति करना अर्थात् सत्-असत् का विवेक दिये बिना सच्चे तथा खोटे सभी धर्मों को समानरूप से जानकर उनके सेवन करने में अज्ञान की मुख्यता नहीं है, किन्तु विनय के अतिरेक की मुख्यता है, इसीलिए उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व – १. स्वर्ग, नरक और मुक्ति किसने देखी? २. स्वर्ग के समाचार किसके आये? सभी धर्मशास्त्र झूठे हैं, कोई यथार्थ ज्ञान बतला ही नहीं सकता, ३. पुण्य-पाप कहाँ लगते हैं? अथवा पुण्य-पाप कुछ हैं ही नहीं, ४. परलोक को किसने जाना? क्या किसी के परलोक के समाचार-पत्र या तार आये?, ५. स्वर्ग-नरक आदि सब कथनमात्र हैं, स्वर्ग-नरक तो यहीं है, यहाँ सुख भोगना तो स्वर्ग है और दुःख भोगना है, सो नरक है, ६. हिंसा को पाप कहा है, और दया को पुण्य कहा है, सो यह कथनमात्र है, कोई स्थान हिंसा रहित नहीं है, सबमें हिंसा है, कहीं पैर रखने को स्थान नहीं, जमीन पवित्र है, यह पैर रखने देती है, ७. ऐसा विचार भी निरर्थक है कि यह भक्ष्य और यह अभक्ष्य है, एकेन्द्रिय वृक्ष तथा अन्न इत्यादि खाने में और माँस-भक्षण करने में अन्तर नहीं है, इन दोनों में जीवहिंसा समान है, ८. भगवान ने जीव को जीव का ही आहार बताया है अथवा जगत की सभी वस्तुएँ खाने-भोगने के लिये ही हैं, साँप-बिच्छू, शेर-बन्दर, तिड़ी, मच्छर-खटमल आदिक मार डालना चाहिए – इत्यादि यह सभी अभिप्राय अज्ञान मिथ्यात्व है।

९. ऊपर कहे गये अनुसार मिथ्यात्व का स्वरूप जानकर सब जीवों को गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यात्व छोड़ना चाहिए। सब प्रकार के बन्ध का मूलकारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व को नष्ट किये बिना-दूर किये अन्य बन्ध के कारण (अविरति आदि) कभी दूर नहीं होते, इसलिए सबसे पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिए।

१०. अविरति का स्वरूप

पाँच इन्द्रिय और मन के विषय एवं पाँच स्थावर और एक त्रस की हिंसा इन बारह प्रकार के त्यागरूप भाव न होना, सो बारह प्रकार की अविरति है।

जिसके मिथ्यात्व होता है, उसके अविरति तो होती ही है, परन्तु मिथ्यात्व छूट जाने

पर भी वह कितनेक समय तक रहती है। अविरति को असंयम भी कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद देशचारित्र के बल के द्वारा एकदेशविरति होती है, उसे अणुव्रत कहते हैं। मिथ्यात्व छूटने के बाद तुरन्त ही अविरति का पूर्ण अभाव हो जाए और यथार्थ महाव्रत तथा मुनिदशा प्रगट करे – ऐसे जीव तो अल्प और विरले ही होते हैं।

११. प्रमाद का स्वरूप

उत्तम क्षमादि दस धर्मों में उत्साह न रखना, इसे सर्वज्ञदेव ने प्रमाद कहा है। जिसके मिथ्यात्व और अविरति हो, उसके प्रमाद तो होता ही है। परन्तु मिथ्यात्व और अविरति दूर होने के बाद प्रमाद तत्क्षण ही दूर हो जाए, ऐसा नियम नहीं है; इसीलिए सूत्र में अविरति के बाद प्रमाद कहा है, यह अविरति से भिन्न है। सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही प्रमाद दूर करके अप्रमत्तदशा प्रगट करनेवाला जीव कोई विरला ही होता है।

१२. कषाय का स्वरूप

कषाय के २५ भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ; इन प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद, इस तरह १६ तथा हस्यादिक ९ नोकषाय, ये सब कषाय हैं और इन सबमें आत्महिंसा करने की सामर्थ्य है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये तीन अथवा अविरति और प्रमाद ये दो अथवा जहाँ प्रमाद हो, वहाँ कषाय तो अवश्य ही होती है, किन्तु ये तीनों दूर हो जाने पर भी कषाय हो सकती है।

१३. योग का स्वरूप

योग का स्वरूप छट्ठे अध्याय के पहले सूत्र की टीका में आ गया है। (देखो, पृष्ठ ४०६) मिथ्यादृष्टि से लेकर तेरहवें गुणस्थानपर्यन्त योग रहता है। ११-१२ और १३वें गुणस्थान में मिथ्यात्वादि चार का अभाव हो जाता है, तथापि योग का सद्भाव रहता है।

केवलज्ञानी गमनादि क्रियारहित हुए हों तो भी उनके अधिक योग है और दो इन्द्रियादि जीव गमनादि क्रिया करते हैं तो भी उनके अल्प योग होता है, इससे सिद्ध होता है कि योग बन्ध का गौण कारण है, यह तो प्रकृति और प्रदेशबन्ध का कारण है। बन्ध का मुख्य कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय है और इन चार में भी सर्वोत्कृष्ट कारण तो मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व को दूर किये बिना अविरति आदि बन्ध के कारण दूर ही नहीं होते – यह अबाधित सिद्धान्त है।

१४. किस गुणस्थान में क्या बन्ध होता है ?

मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान १) के पाँचों बन्ध होते हैं। सासादान सम्यग्दृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि (गुणस्थान २-३-४) के मिथ्यात्व के सिवाय अविरति आदि चार बन्ध होते हैं। देशसंयमी (गुणस्थान ५) के आंशिक अविरति तथा प्रमादादि तीनों बन्ध होते हैं। प्रमत्तसंयमी (गुणस्थान ६) के मिथ्यात्व और अविरति के अलावा प्रमादादि तीन बन्ध होते हैं। अप्रमत्तसंयमी के (७ से १०वें गुणस्थान तक के) कषाय और योग ये दो ही बन्ध होते हैं। ११-१२ और १३वें गुणस्थान में सिर्फ एक योग का ही सद्भाव है और चौदहवें गुणस्थान में किसी प्रकार का बन्ध नहीं है, यह अबन्ध है और वहाँ सम्पूर्ण संवर है।

१५. महापाप

प्रश्न - जीव के सबसे बड़ा पाप कौन है ?

उत्तर - एक मिथ्यात्व ही है। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ अन्य सब पापों का सद्भाव है। मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई पाप नहीं है।

१६. इस सूत्र का सिद्धान्त

आत्मस्वरूप की पहिचान के द्वारा मिथ्यात्व के दूर होने से उसके साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का तथा ४१ प्रकृतियों के बन्ध का अभाव होता है तथा बाकी के कर्मों की स्थिति अंत:कोड़ाकोड़ी सागर की रह जाती है, और जीव थोड़े ही काल में मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। संसार का मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व का अभाव किये बिना अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष या मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिए सबसे पहले यथार्थ उपायों के द्वारा सर्व प्रकार के उद्यम करके इस मिथ्यात्व का सर्वथा नाश करना योग्य है॥ १॥

बन्ध का स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः॥ २॥

अर्थ - [**जीवः सकषायत्वात्**] जीव कषायसहित होने से [**कर्मणः योग्यान्पुद्गलान्**] कर्म के योग्य पुद्गल परमाणुओं को [**आदत्ते**] ग्रहण करता है, [**स बंधः**] वह बन्ध है।

टीका-१- समस्त लोक में कार्माणवर्गणारूप पुद्गल भरे हैं। जब जीव कषाय करता है, तब उस कषाय का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप से परिणमती है और जीव के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है, इसे बन्ध कहा जाता है। यहाँ जीव और पुद्गल के एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध को बन्ध कहा है। बन्ध होने से जीव और कर्म एक पदार्थ नहीं

हो जाते, तथा वे दोनों एकत्रित होकर कोई कार्य नहीं करते अर्थात् जीव और कर्म ये दोनों मिलकर पुद्गल कर्म में विकार नहीं करते। कर्मों का उदय जीव में विकार नहीं करता, जीव कर्मों में विकार नहीं करता, किन्तु दोनों स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी पर्याय के कर्ता हैं। जब जीव अपनी विकारी अवस्था करता है, तब पुराने कर्मों के विपाक को 'उदय' कहा जाता है और यदि जीव विकारी अवस्था न करे तो उसके मोहकर्म की निर्जरा हुई - ऐसा कहा जाता है। पर का आश्रय किये बिना जीव में विकार नहीं होता; जीव जब पराश्रय द्वारा अपनी अवस्था में विकारभाव करता है, तब उस भाव के अनुसार नवीन कर्म बँधते हैं - ऐसा जीव और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसा यह सूत्र बतलाता है।

२- जीव और पुद्गल को जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह त्रिकाली द्रव्य में नहीं है, किन्तु सिर्फ एक समय की उत्पादरूप पर्याय में है अर्थात् एक समय की अवस्था जितना है। जीव में कभी दो समय का विकार एकत्रित नहीं होता, इसीलिए कर्म के साथ इसका सम्बन्ध भी दो समय का नहीं है।

प्रश्न - यदि यह सम्बन्ध एक ही समयमात्र का है तो जीव के साथ लम्बी स्थितिवाले कर्म का सम्बन्ध क्यों बतलाया है?

उत्तर - वहाँ भी यह बतलाया है कि सम्बन्ध तो वर्तमान एक समयमात्र ही है; परन्तु जीव यदि विभाव के प्रति ही पुरुषार्थ चालू रखेगा और यदि सम्यग्दर्शनरूप सत्यपुरुषार्थ न करे तो उसका कर्म के साथ कहाँ तक सम्बन्ध रहेगा।

३. इस सूत्र में सकषायत्वात् शब्द है, वह जीव और कर्म दोनों को (अर्थात् कषायरूप भाव और कषायरूप कर्म इन दोनों को) लागू हो सकता है और ऐसा होने पर उनमें से निम्न मुद्दे निकलते हैं —

(१) जीव अनादि से अपनी प्रगट अवस्था में कभी शुद्ध नहीं हुआ, किन्तु कषायसहित ही है और इसीलिए जीव-कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है।

(२) कषायभाववाला जीव, कर्म के निमित्त से नवीन बन्ध करता है।

(३) कषायकर्म को मोहकर्म कहते हैं। आठ कर्मों में से वह एक ही कर्मबन्ध का निमित्त होता है।

(४) पहले सूत्र में जो बन्ध के पाँच कारण बताये हैं, उनमें से पहले चार का यहाँ कहे हुए कषाय शब्द में समावेश हो जाता है।

(५) यहाँ जीव के साथ कर्म का बन्ध होना कहा है। यह कर्म पुद्गल है – ऐसा बताने के लिए सूत्र में पुद्गल शब्द कहा है। इसी से कितने जीवों की जो ऐसी मान्यता है कि 'कर्म आत्मा का अदृष्ट गुण है' वह दूर हो जाती है।

४– 'सकषायत्वात्' – यहाँ पाँचवीं विभक्ति लगाने का ऐसा हेतु है कि जीव जैसी तीव्र, मध्यम या मन्द कषाय करे, उसके अनुसार कर्मों में स्वयं स्थिति और अनुभागबन्ध होता है, ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५– जीव की सकषाय अवस्था में द्रव्यकर्म निमित्त है। यह ध्यान रहे कि प्रस्तुत कर्म का उदय हो, इसलिए जीव को कषाय करना ही पड़े, ऐसा नहीं है। यदि कर्म उपस्थित है, तथापि यदि जीव स्वयं स्वाश्रय में स्थिर रहकर कषायरूप से न परिणमे तो उन कर्मों को बन्ध का निमित्त नहीं कहा जाता, परन्तु उन कर्मों की निर्जरा हुई – ऐसा कहा जाता है।

६. जीव के कर्म के साथ जो संयोग–सम्बन्ध है, वह प्रवाह अनादि से चला आता है, किन्तु वह एक ही समयमात्र का है। प्रत्येक समय अपनी योग्यता से जीव नये–नये विकार करता है, इसीलिए यह सम्बन्ध चालू रहता है; किन्तु जड़कर्म जीव को विकार नहीं कराते। यदि जीव अपनी योग्यता से विकार करे तो होता है और न करे तो नहीं होता। जैसे अधिक समय से गरम किया हुआ पानी क्षण में ठण्डा हो जाता है, उसी प्रकार अनादि से विकार (अशुद्धता) करता आया तो भी वह योग्यता एक ही समयमात्र की होने से शुद्धस्वभाव के आलम्बन के बल द्वारा वह दूर हो सकता है। रागादि विकार दूर होने से कर्म के साथ का सम्बन्ध भी दूर हो जाता है।

७. प्रश्न – आत्मा तो अमूर्तिक है, हाथ–पैर से रहित है और कर्म मूर्तिक है, तब वह कर्मों को किस तरह ग्रहण करता है?

उत्तर – वास्तव में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को ग्रहण नहीं कर सकता; इसीलिए यहाँ ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है, वह मात्र उपचार से कहा है। जीव के अनादि से कर्मपुद्गल के साथ सम्बन्ध है और जीव के विकार का निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मों के साथ नवीन कर्म स्कन्धरूप होता है – इतना सम्बन्ध बताने के लिये यह उपचार किया है; वास्तव में जीव के साथ कर्मपुद्गल नहीं बँधते किन्तु पुराने कर्मपुद्गलों के साथ नवीन कर्म–पुद्गलों का बन्ध होता है; परन्तु जीव में विकार की योग्यता है और उस विकार का

निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्गल स्वयं-स्वतः बँधते हैं, इसलिए उपचार से जीव के कर्मपुद्गलों का ग्रहण कहा है।

८- जगत में अनेक प्रकार के बन्ध होते हैं, जैसे गुण-गुणी का बन्ध इत्यादि। इन सब प्रकार के बन्ध से यह बन्ध भिन्न है, ऐसा बताने के लिये इस सूत्र में बन्ध से पहले 'सः' शब्द का प्रयोग किया है।

'सः' शब्द से यह बतलाया है कि जीव और पुद्गल के गुण-गुणी सम्बन्ध या कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए यहाँ उनका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध अथवा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझना। कर्म का बन्ध जीव के समस्त प्रदेशों से होता है और बन्ध में अनन्तानन्त परमाणु होते हैं। *(अध्याय ८, सूत्र २४)*

९- यहाँ बन्ध शब्द का अर्थ व्याकरण की दृष्टि से नीचे बतलाये हुए चार प्रकार से समझना -

(१) आत्मा बँधा सो बँध; यह कर्मसाधन है।

(२) आत्मा स्वयं ही बन्धरूप परिणमता है, इसीलिए बन्ध को कर्ता कहा जाता है, यह कर्तृसाधन है।

(३) पहले बन्ध की अपेक्षा से आत्मा बन्ध के द्वारा नवीन बन्ध करता है, इसीलिए बन्ध करणसाधन है।

(४) बन्धनरूप जो क्रिया है, सो ही भाव है, ऐसी क्रियारूप भी बन्ध है, यह भावसाधन है ॥ २ ॥

बन्ध के भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अर्थ - [**तत्**] उस बन्ध के [**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः**] प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध [**विधयः**] ये चार भेद हैं।

टीका - **१. प्रकृतिबन्ध** - कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

स्थितिबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्म अपने स्वभावरूप से जितने समय रहे, सो स्थितिबन्ध है।

अनुभागबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मों के रसविशेष को अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध - ज्ञानावरणादि कर्मरूप से होनेवाले पुद्गलस्कन्धों के परमाणुओं की जो संख्या है, सो प्रदेशबन्ध है। बन्ध के उपरोक्त चार प्रकार में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध में योग निमित्त है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध में कषाय निमित्त है।

२- यहाँ जो बन्ध के भेद वर्णन किये हैं, वे पुद्गलकर्मबन्ध के हैं; अब उन प्रत्येक प्रकार के भेद-उपभेद अनुक्रम से कहते हैं॥ ३॥

प्रकृतिबन्ध के मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः॥ ४॥

अर्थ - [**आद्यो**] पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध [**ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायु-र्नामगोत्रान्तरायाः**] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ प्रकार का है।

टीका - १- **ज्ञानावरण** - जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभाव का घात करता है अर्थात् ज्ञानशक्ति को व्यक्त नहीं करता, तब आत्मा के ज्ञानगुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण - जब आत्मा स्वयं अपने दर्शनभाव का घात करता है, तब आत्मा के दर्शनगुण के घात में जिस कर्म के उदय का निमित्त हो, उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय - जब आत्मा स्वयं मोहभाव के द्वारा आकुलता करता है, तब अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप संयोग प्राप्त होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय - जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना समझे अथवा स्वरूपाचरण में असावधानी करता है, तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु - जीव अपनी योग्यता से जब नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव के शरीर में रुका रहे, तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे आयुकर्म कहते हैं।

नाम - जिस शरीर में जीव हो, उस शरीरादिक की रचना में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे नामकर्म कहते हैं।

गोत्र - जीव को उच्च या नीच आचरणवाले कुल में पैदा होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

अन्तराय - जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के विघ्न में जिस कर्म का उदय निमित्त हो, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

२- प्रकृतिबन्ध के इन आठ भेदों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे जीव के अनुजीवी गुणों की पर्याय के घात में निमित्त है और बाकी वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार को अघातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये जीव के अनुजीवी गुणों की पर्याय के घात में निमित्त नहीं, किन्तु प्रतिजीवी गुणों की पर्याय के घात में निमित्त है।

वस्तु में भावस्वरूप गुण अनुजीवी गुण और अभावस्वरूप गुण प्रतिजीवी गुण कहे जाते हैं।

३- जैसे एक समय में खाया हुआ आहार उदराग्नि के संयोग से रस, रक्त आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से हो जाता है, उसी प्रकार एक ही समय में ग्रहण किये हुए कर्म, जीव के परिणामानुसार ज्ञानावरण इत्यादि अनेक भेदरूप हो जाता है। यहाँ उदाहरण से इतना अन्तर है कि आहार तो रस, रुधिर आदिरूप से क्रम-क्रम से होता है, परन्तु कर्म तो ज्ञानावरणादिकरूप से एक साथ हो जाते हैं॥ ४॥

प्रकृतिबन्ध के उत्तर भेद

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत्द्विपंचभेदा यथाक्रमम्॥५॥

अर्थ - [**यथाक्रमम्**] उपरोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अनुक्रम से [**पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत्द्विपंचभेदाः**] पाँच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच भेद हैं।

नोट - उन भेदों के नाम अब आगे के सूत्रों में अनुक्रम से बतलाते हैं॥ ५॥

ज्ञानावरणकर्म के पांच भेद

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्॥६॥

अर्थ - [**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्**] मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये ज्ञानावरणकर्म के पाँच भेद हैं।

टीका - **प्रश्न** - अभव्य जीव के मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान की प्राप्ति करने की सामर्थ्य नहीं है, यदि यह सामर्थ्य हो तो अभव्यत्व नहीं कहा जा सकता; इसलिए इन दो ज्ञानों

की सामर्थ्य से रहित उसके इन दो ज्ञानों का आवरण कहना क्या निरर्थक नहीं है ?

उत्तर - द्रव्यार्थिकनय से अभव्य जीव के भी इन दोनों ज्ञान की शक्ति विद्यमान है और पर्यायार्थिकनय से अभव्य जीव ये दोनों ज्ञानरूप अपने अपराध से परिणमता नहीं है, इससे उसके किसी समय भी उसकी व्यक्ति नहीं होती, शक्तिमात्र है; किन्तु प्रगटरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अभव्य के नहीं होते। इसलिए शक्ति में से व्यक्ति न होने के निमित्तरूप आवरण कर्म होना ही चाहिए, इसीलिए अभव्य जीव के भी मन:पर्ययज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण विद्यमान हैं।

दर्शनावरणकर्म के नौ भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ - **[चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां]** चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शना-वरण, केवलदर्शनावरण **[निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च]** निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि - ये नव भेद दर्शनावरणकर्म के हैं।

टीका - १- छद्मस्थ जीवों के दर्शन और ज्ञान क्रम से होते हैं अर्थात् पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है; परन्तु केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं, क्योंकि दर्शन और ज्ञान दोनों के बाधक कर्मों का क्षय एक साथ होता है।

२- मन:पर्ययदर्शन नहीं होता, क्योंकि मन:पर्ययज्ञान, मतिज्ञानपूर्वक ही होता है; इसीलिए मन:पर्ययदर्शनावरण कर्म नहीं है।

३- इस सूत्र में आये हुए शब्दों का अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में से देख लेना॥ ७॥

वेदनीयकर्म के दो भेद

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ - **[सदसद्वेद्ये]** सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीयकर्म के भेद हैं।

टीका - वेदनीयकर्म की दो ही प्रकृतियाँ हैं - सातावेदनीय और असातावेदनीय।

साता नाम सुख का है। इस सुख का जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे, सो साता-वेदनीय है। असाता नाम दु:ख का है, इसका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे, सो असाता-वेदनीय है।

शङ्का – यदि सुख और दु:ख कर्मों से होता है तो कर्मों के नष्ट हो जाने के बाद जीव को सुख और दु:ख से रहित हो जाना चाहिए; क्योंकि उसके सुख और दु:ख के कारणीभूत कर्मों का अभाव हो गया है। यदि यों कहा जावे कि कर्म नष्ट हो जाने से जीव सुख और दु:ख रहित ही हो जाता है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि जीवद्रव्य के नि:स्वभाव हो जाने से अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है अथवा यदि दु:ख को ही कर्मजनित माना जावे तो सातावेदनीय कर्म का अभाव हो जायेगा, क्योंकि फिर इसका कोई फल नहीं रहता।

समाधान – दु:ख नाम की कोई भी वस्तु है तो वह मोह और असातावेदनीय कर्म के उदय में युक्त होने से होती है और वह सुखगुण की विपरीतदशा है किन्तु वह जीव का असली स्वरूप नहीं है। यदि जीव का स्वरूप माना जावे तो क्षीणकर्मा अर्थात् कर्मरहित जीवों के भी दु:ख होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान और दर्शन की तरह, कर्म का विनाश होने पर भी दु:ख का विनाश नहीं होता। किन्तु सुख कर्म से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह जीव का स्वभाव है और इसीलिए वह कर्म का फल नहीं हैं। सुख को जीव का स्वभाव मानने से सातावेदनीयकर्म का अभाव भी नहीं होता, क्योंकि दु:ख के उपशमन के कारणीभूत* सुद्रव्यों के सम्पादन में साता-वेदनीयकर्म का व्यापार होता है।

---

* धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि बाह्य-पदार्थों के संयोग-वियोग में पूर्वकर्म का उदय (निमित्त) कारण है। इसका आधार- समयसार - गाथा ८४ की टीका, प्रवचनसार-गाथा १४ की टीका, पञ्चास्तिकाय-गाथा २७, ६७ की टीका, परमात्मप्रकाश -अध्याय २ गाथा ५७, ६० तथा पृष्ठ २०-१९८, नियमसार-गाथा १५७ की टीका, पञ्चाध्यायी अध्याय १ गाथा १९१, पञ्चाध्यायी अध्याय १ गाथा ५८१, अध्याय २ गाथा ५०, ४४०, ४४१, रयणसार गाथा २९, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०, १९, ५६, ५७, ३१९, ३२०, ४२७, ४३२, पद्मनन्दि पञ्चविंशति पृष्ठ १०१, १०३, १०४, १०६, १९६, ११०, ११९, १२८, १३१, १३८, १४०, १५५, मोक्षमार्गप्रकाशक गु० अनुवाद पृष्ठ ८, २८, ३०, ४५, ६१, ६२, ६४, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ३०८ इत्यादि अनेक स्थलों में, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड पृष्ठ ९०३, श्लोकवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ९ सूत्र १६, राजवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ९ सूत्र १६।

श्रीमद् राजचन्द्र (गुजराती द्वितीयावृत्ति) पृष्ठ २३५, ४४३ तथा मोक्षमाला पाठ ३, सत्तास्वरूप पृष्ठ २६, अनगार धर्मामृत-पृष्ठ ६०, ७६।

श्रीषट्खण्डागम पुस्तक १ पृष्ठ १०५, गोम्मटसार जी० पीठिका पृष्ठ १४, १५, ३७५, गो० क० गा० २ पृष्ठ ३ पृष्ठ ९०२-९०३; गाथा ३८०, समयसार गाथा १३२ से १३६ की तथा २२४, २२७, २७५, ३२४ से ३२७, जयसेनाचार्यकृत टीका; समयसार गाथा २२५ मूल। पण्डित राजमल्लजी समयसार कलश टीका, पृष्ठ १६३ से १६६, १७१, १७२, १७५, १७८, १९५। प्रवचनसार गाथा ७२ की जयसेनाचार्यकृत टीका। नियमसार शास्त्र में कलश २९। रयणसार गाथा २९। भगवती आराधना पृष्ठ ५४७-८ तथा गाथा १७३१, १७३३, १७३४-५, १७४२, १७४३, १७४८, १७५२। पद्मनन्दि पञ्चविंशति प्रथम अध्याय गाथा १८१, १८४ से १९१, १९५-९६, पद्मनन्दी अ० श्लोक २०, ३८, ४४, अनित्य अ० श्लोक ६, ९, १०, ४२। आत्मानुशासन गाथा २१, ३१, ३७, १४८। सुभाषित रत्नसंदोह गाथा ३५६-५७-५९-६०-६६-३७०, ३७२। महापुराण सर्ग० ५ श्लोक १४ से १८; सर्ग ६ में श्लोक १९५, २०२-३; सर्ग २८ में श्लोक ११३ से २२०; पर्व ३७ श्लोक १९० से २००। सत्तास्वरूप पृष्ठ १७ जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, पृष्ठ ३३६-३७ पुण्यकर्म, पापकर्म।

ऐसी व्यवसथा मानने से सातावेदनीय प्रकृति को पुद्गलविपाकित्व प्राप्त हो जायेगा, ऐसी आशङ्का नहीं करना; क्योंकि दुःख के उपशम से उत्पन्न हुए दुःख के अविनाभावी, उपचार से ही सुख संज्ञा को प्राप्त और जीव से अभिन्न ऐसे स्वास्थ्य के कण का हेतु होने से सूत्र में सातावेदनीयकर्म को जीवविपाकित्व और सुखहेतुत्व का उपदेश दिया गया है। यदि ऐसा कहा जावे कि उपरोक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्म को जीवविपाकित्व और पुद्गलविपाकत्व प्राप्त होता है; तो यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव का अस्तित्व अन्यथा नहीं बन सकता, इसी से इस प्रकार के उपदेश के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। सुख और दुःख के कारणभूत द्रव्यों का सम्पादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई कर्म मिलता नहीं। *(धवला, टीका पुस्तक ६, पृष्ठ ३५-३६)*

मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद बतलाते हैं

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यतिशोकभय-जुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

अर्थ - [**दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः**] दर्शनमोहनीय, चारित्र-मोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीयकर्म है और इसके भी अनुक्रम से [**त्रिद्विनवषोडशभेदाः**] तीन, दो, नव और सोलह भेद हैं। वे इस प्रकार से है - [**सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि**] सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, और सम्यग्-मिथ्यात्वमोहनीय ये दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं; [**अकषायकषायौ**] अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद चारित्रमोहनीय के हैं; [**हास्यरत्यतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः**] हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद वे अकषायवेदनीय के नव हैं, और [**अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः च**] अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन के भेद से तथा [**एकशः क्रोधमानमायालोभाः**] इन प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार - ये सोलह भेद कषायवेदनीय के हैं। इस तरह मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद है।

नोट - अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय का चारित्रमोहनीय में समावेश हो जाता है, इसीलिए इनको अलग नहीं गिनाया गया है।

टीका - १- मोहनीयकर्म के मुख्य दो भेद हैं - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। जीव का मिथ्यात्वभाव ही संसार का मूल है, इसमें मिथ्यात्वमोहनीयकर्म निमित्त है; यह दर्शनमोहनीय का एक भेद है। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं - मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति। इन तीन में से एक मिथ्यात्वप्रकृति का ही बन्ध होता है। जीव का ऐसा कोई भाव नहीं है कि जिसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति या सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीयप्रकृति बँधे। जीव के प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होने के काल में/ उपशमकाल में मिथ्यात्वप्रकृति के तीन टुकड़े हो जाते हैं, इनमें से एक मिथ्यात्वरूप से रहता है, एक सम्यक्त्वप्रकृतिरूप से होता है और एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूप से होता है। चारित्रमोहनीय के पच्चीस भेद हैं, उनके नाम सूत्र में ही बतलाये हैं। इस प्रकार सब मिलकर मोहनीयकर्म के अट्ठाईस भेद हैं।

२- इस सूत्र में आये हुए शब्दों का अर्थ जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में से देख लेना।

३- यहाँ हास्यादिक नव को अकषायवेदनीय कहा है; इसे नोकषायवेदनीय भी कहते हैं।

४- **अनन्तानुबंधी का अर्थ** - अनन्त = मिथ्यात्व, संसार; अनुबंधी = जो इनको अनुकरण कर बन्ध को प्राप्त हो। मिथ्यात्व को अनुसरण कर जो कषाय बँधती है, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ की व्याख्या निम्न प्रकार है -

(१) जो आत्मा के शुद्धस्वरूप की अरुचि है, सो अनन्तानुबन्धी क्रोध हैं।

(२) 'मैं पर का कर सकता हूँ' इसी मान्यतापूर्वक जो अहङ्कार है, सो अनन्तानुबन्धी मान-अभिमान है।

(३) अपना स्वाधीन सत्यस्वरूप समझ में नहीं आता, ऐसी वक्रता में समझ शक्ति को छुपाकर आत्मा को ठगना, सो अनन्तानुबन्धी माया है।

(४) पुण्यादि विकार से और पर से लाभ मानकर अपनी विकारीदशा की वृद्धि करना, सो अनन्तानुबन्धी लोभ है।

अनन्तानुबन्धी कषाय आत्मा के स्वरूपाचरणचारित्र को रोकती है। शुद्धात्मा के अनुभव को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। इसका प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है और चौदहवें गुणस्थान में इसकी पूर्णता होकर सिद्धदशा प्रगट होती है॥ ९॥

अब आयुकर्म के चार भेद बतलाते हैं

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ - **[नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि]** नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु - ये चार भेद आयुकर्म के हैं ॥ १० ॥

नामकर्म के ४२ भेद बतलाते हैं

४ ५ ५ ३ २ ५ ५ ६ ६
गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहनन-
८ ५ २ ५ ४
स्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वास-
२
विहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्ति-
स्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ - **[गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंध-वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः]** गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाँग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा **[प्रत्येकशरीरत्रस-सुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि]** प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय और यशःकीर्ति, ये दश तथा इनसे उलटे दस अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर (स्थूल) अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये दस **[तीर्थकरत्त्वं च]** और तीर्थङ्करत्व, इस तरह नामकर्म के कुल ब्यालीस भेद हैं।

टीका - सूत्र के जिस शब्द पर जितने अङ्क लिखे हैं, वे यह बतलाते हैं कि उस शब्द के उतने उपभेद हैं। उदाहरणार्थ - गति शब्द पर ४ का अङ्क लिखा है, वह यह बतलाता है कि गति के चार उपभेद हैं। गति आदि उपभेदसहित गिना जाय तो नाम कर्म के कुल ९३ भेद होते हैं।

इस सूत्र में आये हुए शब्दों का अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में से देख लेना ॥ ११ ॥

गोत्रकर्म के दो भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ - [**उच्चैर्नीचैश्च**] उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद गोत्रकर्म के हैं॥ १२॥

अन्तरायकर्म के पाँच भेद बतलाते हैं

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ - [**दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्**] दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पांच भेद अन्तराय कर्म के हैं।

इस प्रकार प्रकृतिबन्ध के उपभेदों का वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ॥ १३॥

अब स्थितिबन्ध के भेदों में ज्ञानावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं -

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४॥

अर्थ - [**आदितस्तिसृणाम**] आदि से तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा वेदनीय [**न्तरायस्य च**] और अन्तराय, इन चार कर्मों की [**परा स्थितिः**] उत्कृष्ट स्थिति [**त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः**] तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है।

नोट - (१) इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही होता है। (२) एक करोड़ को करोड़ से गुणने से जो गुणनफल हो, वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है॥ १४॥

मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५॥

अर्थ - [**मोहनीयस्य**] मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति [**सप्ततिः**] सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है।

नोट - यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही बँधती है॥ १५॥

नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

अर्थ - [**नामगोत्रयोः**] नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति [**विंशतिः**] बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है ॥१६॥

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अर्थ - [**आयुषः**] आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थिति [**त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि**] तेतीस सागर की है ॥१७॥

वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बतलाते हैं

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थ - [**वेदनीयस्य अपरा**] वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति [**द्वादशमुहूर्ताः**] बारह मुहूर्त की है ॥१८॥

नाम और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

अर्थ - [**नामगोत्रयोः**] नाम और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति [**अष्टौ**] आठ मुहूर्त की है ॥१९॥

अब शेष ज्ञानावरणादि पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति बतलाते हैं

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

अर्थ - [**शेषाणां**] बाकी के अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु - इन पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति [**अन्तर्मुहूर्ता**] अन्तर्मुहूर्त की है।

यहाँ स्थितिबन्ध के उपभेदों का वर्णन पूर्ण हुआ॥ २०॥

अब अनुभागबन्ध का वर्णन करते हैं। (अनुभागबन्ध को अनुभवबन्ध भी कहते हैं।)

अनुभवबन्ध का लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

अर्थ - [**विपाकः**] विविध प्रकार का जो पाक है, [**अनुभवः**] सो अनुभव है।

टीका - (१) मोहकर्म का विपाक होने पर जीव जिस प्रकार का विकार करे, उसी रूप से जीव ने फल भोगा कहा जाता है। इसका इतना ही अर्थ है कि जीव को विकार करने में मोहकर्म का विपाक निमित्त है। कर्म का विपाक कर्म में होता है, जीव में नहीं होता। जीव को अपने विभावभाव का जो अनुभव होता है, सो जीव का विपाक-अनुभव है।

(२) यह सूत्र पुद्गलकर्म के विपाक-अनुभव को बतानेवाला है। बन्ध होते समय जीव का जैसा विकारीभाव हो, उसके अनुसार पुद्गलकर्म में अनुभाग बन्ध होता है और जब यह उदय में आये, तब यह कहा जाता है कि कर्म का विपाक, अनुभाग या अनुभव हुआ॥ २१ ॥

अनुभाग बन्ध कर्म के नामानुसार होता है

सः यथानाम ॥२२॥

अर्थ - [**सः**] यह अनुभाग बन्ध [**यथानाम**] कर्मों के नाम के अनुसार ही होता है।

टीका - जिस कर्म का जो नाम है, उस कर्म में वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है। जैसे कि ज्ञानावरणकर्म में ऐसा अनुभाग होता है कि 'जब ज्ञान रुके, तब निमित्त हो' दर्शनावरणकर्म में 'जब दर्शन रुके, तब निमित्त हो' ऐसा अनुभाग होता है॥२२॥

अब यह बतलाते हैं कि फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है ?

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थ - [**ततः च**] तीव्र, मध्यम या मन्द फल देने के बाद [**निर्जरा**] उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है अर्थात् उदय में आने के बाद कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

टीका - १- आठों कर्म उदय होने के बाद झड़ जाते हैं। इनमें कर्म की निर्जरा के दो भेद हैं - सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा।

(१) सविपाकनिर्जरा - आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहे हुए कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर अलग हो गये, यह सविपाकनिर्जरा है।

(२) अविपाकनिर्जरा - उदयकाल प्राप्त होने से पहले जो कर्म आत्मा के पुरुषार्थ के कारण आत्मा से पृथक् हो गये, वह अविपाकनिर्जरा है। इसे सकामनिर्जरा भी कहते हैं।

२- निर्जरा के दूसरी तरह से भी दो भेद होते हैं, उनका वर्णन -

(१) अकामनिर्जरा - इसमें बाह्यनिमित्त तो यह है कि इच्छारहित भूख-प्यास सहन करना और वहाँ यदि मन्दकषायरूप भाव हो तो व्यवहार से पाप की निर्जरा और देवादि पुण्य का बन्ध हो - इसे अकामनिर्जरा कहते हैं।

जिस अकामनिर्जरा से जीव की गति कुछ ऊँची होती है, वह प्रतिकूल संयोग के समय जीव मन्द कषाय करता है, उससे होती है, किन्तु कर्म, जीव को ऊँची गति में नहीं ले जाते।

(२) सकामनिर्जरा - इसकी व्याख्या ऊपर अविपाकनिर्जरा के अनुसार समझना। यहाँ विशेष बात यह है कि जीव के उपादान की अस्ति प्रथम दिखाकर निर्जरा में भी पुरुषार्थ का कारणपना दिखाया गया है।

३- इस सूत्र में जो 'च' शब्द है, वह नववां अध्याय के तीसरे सूत्र (तपसा निजरा च) के साथ सम्बन्ध कराता है।

यहाँ अनुभागबन्ध का वर्णन पूर्ण हुआ॥ २३॥

अब प्रदेशबन्ध का वर्णन करते है -

प्रदेशबन्ध का स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः॥ २४॥

अर्थ - [**नामप्रत्ययाः**] ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों का कारण, [**सर्वतः**] सर्व तरफ से अर्थात् समस्त भावों में [**योगविशेषात्**] योग विशेश से [**सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिताः**] सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित [**सर्वात्मप्रदेशेषु**] और सर्व आत्मप्रदेशों में [**अनन्तानन्तप्रदेशाः**] जो कर्मपुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश हैं सो प्रदेशबन्ध है।

निम्न छह बातें इस सूत्र में बतलाई हैं -

(१) सर्व कर्म के ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप, उत्तरप्रकृतिरूप और उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप होने का कारण कार्माणवर्गणा है।

(२) त्रिकालवर्ती समस्त भवों में (जन्मों में) मन-वचन-काय के योग के निमित्त से यह कर्म आते हैं।

(३) ये कर्म सूक्ष्म हैं - इन्द्रियगोचर नहीं हैं।

(४) आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह एक क्षेत्र में यह कर्म व्याप्त है।

(५) आत्मा के सर्व प्रदेशों में अनन्तानन्त पुद्गल स्थित होते हैं।

(६) एक-एक आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, इस प्रत्येक प्रदेश में संसारी जीवों के अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्ध विद्यमान हैं।

यहाँ प्रदेशबन्ध का वर्णन पूर्ण हुआ॥ २४॥

इस तरह चार प्रकार के बन्ध का वर्णन किया। अब कर्मप्रकृतियों में से पुण्यप्रकृतियाँ कितनी हैं और पापप्रकृतियाँ कितनी हैं, यह बताकर इस अध्याय को पूर्ण करते हैं।

पुण्यप्रकृतियाँ बतलाते हैं

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्॥ २५॥

अर्थ - **[सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि]** सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र **[पुण्यम्]** ये पुण्यप्रकृतियाँ हैं।

टीका - १- घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ हैं, वे सब पापरूप हैं। अघातिया कर्मों की १०१ प्रकृतियाँ हैं, उनमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार हैं। उनमें से निम्नोक्त ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं-

(१) सातावेदनीय (२) तिर्यञ्चायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) उच्चगोत्र (६) मनुष्यगति (७) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (८) देवगति (९) देवगत्यानुपूर्वी (१०) पञ्चेन्द्रिय जाति (११-१५) पांच प्रकार का शरीर (१६-२०) शरीर के पांच प्रकार के बन्धन, (२१-२५) पांच प्रकार का संघात (२६-२८) तीन प्रकार का अङ्गोपाङ्ग (२९-४८) स्पर्श, वर्णादिक की बीस प्रकृतियां (४९) समचतुरस्रसंस्थान (५०) वज्रर्षभनाराचसंहनन, (५१) अगुरुलघु (५२) परघात, (५३) उच्छवास (५४) आतप (५५) उद्योत (५६) प्रशस्त विहायोगति (५७) त्रस (५८) बादर (५९) पर्याप्ति (६०) प्रत्येक शरीर (६१) स्थिर (६२) शुभ (६३) सुभग (६४) सुस्वर (६५) पुण्यप्रकृतियां हैं और अभेद-विवक्षा से ४२

पुण्यप्रकृतियां हैं, क्योंकि वर्णादिक के १६ भेद, शरीर में अन्तर्गत ५ बन्धन और ५ संघात – इस प्रकार कुल २६ प्रकृतियां घटाने से ४२ प्रकृतियां रहती हैं।

२– पहले ११वें सूत्र में नामकर्म की ४२ प्रकृतियाँ बतलाई हैं, उनमें गति, जाति, शरीरादिक के उपभेद नहीं बतलाये; परन्तु पुण्यप्रकृति और पापप्रकृति ऐसे भेद करने से उनके उपभेद आये बिना नहीं रहते॥ २५॥

अब पापप्रकृतियाँ बतलाते हैं –

अतोऽन्यत्पापम्॥ २६॥

अर्थ – **[अतः अन्यत्]** इन पुण्य प्रकृतियों से अन्य अर्थात् असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र **[पापम्]** ये पाप–प्रकृतियाँ हैं।

टीका – १– पाप प्रकृतियां १०० हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

४७– घातिया कर्मों की सर्व प्रकृतियां, ४८– नीचगोत्र, ४९– असातावेदनीय, ५०–नरकायु (नामकर्म की ५०) १– नरकगति, २– नरकगत्यानुपूर्वी, ३– तिर्यञ्चगति, ४–तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, ५–८– एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक चार जाति, ९ से १३– पाँच संस्थान, १४ से १८– पांच संहनन, १९–३८ वर्णादिक २० प्रकार, ३९– उपघात, ४०– अप्रशस्त विहायोगति, ४१– स्थावर, ४२– सूक्ष्म, ४३– अपर्याप्ति, ४४– साधारण, ४५– अस्थिर, ४६– अशुभ, ४७– दुर्भग, ४८– दुःस्वर, ४९– अनादेय और ५०– अयशःकीर्ति। भेद–विवक्षा से ये सब १०० पापप्रकृतियां हैं और अभेदविवक्षा से ८४ हैं; क्योंकि वर्णादिक के १६ उपभेद घटाने से ८४ रहते हैं। इनमें से भी सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति तथा सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, अतः इन दो को कम करने से भेदविवक्षा से ९८ और अभेदविवक्षा से ८२ पापप्रकृतियों का बन्ध होता है, परन्तु इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता तथा उदय होता है, इसीलिए सत्ता और उदय तो भेदविवक्षा से १०० तथा अभेदविवक्षा से ८४ प्रकृतियों का होता है।

२– वर्णादिक चार अथवा उनके भेद गिने जायें तो २० प्रकृतियां हैं, ये पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं, इसीलिए ये पुण्य और पाप दोनों में गिनी जाती हैं।

३– इस सूत्र में आये हुए शब्दों का अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में से देख लेना।

— उपसंहार —

१- इस अध्याय में बन्धतत्त्व का वर्णन है। पहलू सूत्र में मिथ्यात्वादि पांच विकारी परिणामों को बन्ध के कारणरूप से बताया है, इनमें पहला मिथ्यादर्शन बतलाया है, क्योंकि इन पाँच कारणों में संसार का मूल मिथ्यादर्शन है। ये पांचों प्रकार के जीव के विकारी परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनन्तानन्त कार्माणवर्गणारूप पुद्गलपरमाणु एक क्षेत्रावगाहरूप से बन्धते हैं, यह द्रव्यबन्ध हैं।

२- बन्ध के चार प्रकार वर्णन किये हैं। इनमें ऐसा भी बतलाया है कि कर्मबन्ध जीव के साथ कितने समय तक रहकर, फिर उसका वियोग होता है। प्रकृतिबन्ध के मुख्य आठ भेद होते हैं, इनमें से एक मोहनीय प्रकृति ही नवीन कर्मबन्ध में निमित्त हैं।

३- वर्तमान-गोचर जो देश हैं, उनमें किसी भी स्थान में ऐसा स्पष्ट और वैज्ञानिक ढंग से या न्याय-पद्धति से जीव के विकारी भावों का तथा उसके निमित्त से होनेवाले पुद्गलबन्ध के प्रकारों का स्वरूप और जीव शुद्धभावों का स्वरूप जैनदर्शन के अतिरिक्त दूसरे किसी दर्शन में नहीं कहा गया और इस प्रकार का नवतत्त्व के स्वरूप का सत्य कथन सर्वज्ञ वीतराग के बिना हो ही नहीं सकता। इसलिए जैनदर्शन की अन्य किसी भी दर्शन के साथ समानता मानना, सो विनय-मिथ्यात्व है।

४- मिथ्यात्व के सम्बन्ध में पहले सूत्र में जो विवेचन किया गया है, यह यथार्थ समझना।

५- बन्धतत्त्व सम्बन्धी ये खास सिद्धान्त ध्यान में रखने योग्य हैं कि शुभ तथा अशुभ दोनों ही भावबन्ध के कारण हैं, इसलिए उनमें अन्तर नहीं है अर्थात् दोनों बुरे हैं। जिस अशुभभाव के द्वारा नरकादिरूप पापबन्ध हो, उसे तो जीव बुरा जानता है, किन्तु जिस शुभभाव के द्वारा देवादिरूप पुण्यबन्ध हो, उसे वह भला जानता है; इस तरह दुःख सामग्री में (पापबन्ध के फल में) द्वेष और सुखसामग्री में (पुण्यबन्ध के फल में) राग हुआ; इसलिए पुण्य अच्छा और पाप बुरा है, यदि ऐसा मानें तो ऐसी श्रद्धा हुई कि राग-द्वेष करने योग्य हैं, और जैसे इस पर्याय सम्बन्धी राग-द्वेष करने की श्रद्धा हुई, वैसी भावी पर्याय सम्बन्धी भी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करने योग्य है - ऐसी श्रद्धा हुई। अशुद्ध (शुभ-अशुभ) भावों के द्वारा जो कर्मबन्ध हो, उसमें अमुक अच्छा और अमुक बुरा—ऐसा भेद मानना ही मिथ्याश्रद्धा है; ऐसी श्रद्धा से बन्धतत्त्व का सत्य श्रद्धान नहीं होता। शुभ या अशुभ दोनों बन्धभाव हैं, इन दोनों से घातियाकर्मों का बन्ध निरन्तर होता है; सब घातियाकर्म पापरूप ही

हैं और यही आत्मगुण के घातने में निमित्त है। तो फिर शुभभाव से जो बन्ध हो, उसे अच्छा कैसे कहा जा सकता है ? *(मोक्षमार्गप्रकाशक)*

६- यहाँ यह बतलाते हैं कि जीव के एक समय के विकारीभाव में सात कर्म के बन्ध में और किसी समय आठों प्रकार के कर्म के बन्ध में निमित्त होने की योग्यता किस तरह होती है -

(१) जीव अपने स्वरूप की असावधानी रखता है, यह मोहकर्म के बन्ध का निमित्त होता है।

(२) स्वरूप की असावधानी होने से जीव उस समय अपना ज्ञान अपनी ओर न मोड़कर पर की तरफ मोड़ता है, यह भाव, ज्ञानावरण कर्म के बन्ध का निमित्त होता है।

(३) उसी समय स्वरूप की असावधानी को लेकर अपना (निज का) दर्शन अपनी तरफ न मोड़कर पर की तरफ मोड़ता है, यह भाव, दर्शनावरणकर्म के बन्ध का निमित्त होता है।

(४) उसी समय में स्वरूप की असावधानी होने से अपना वीर्य अपनी तरफ नहीं मोड़कर पर की तरफ मोड़ता है, यह भाव, अन्तरायकर्म के बन्ध का निमित्त होता है।

(५) पर की ओर के झुकाव से पर का संयोग होता है, इसलिए इस समय का (स्वरूप की असावधानी के समय का) भाव, शरीर इत्यादि नामकर्म के बन्ध का निमित्त होता है।

(६) जहाँ शरीर हो, वहाँ ऊँच-नीच आचारवाले कुल में उत्पत्ति होती है, इसलिए इस समय का रागभाव, गोत्रकर्म के बन्ध का निमित्त होता है।

(७) जहाँ शरीर होता है, वहाँ बाहर की अनुकूलता, प्रतिकूलता, रोग-निरोग आदि होते हैं, इसलिए इस समय का रागभाव, वेदनीयकर्म के बन्ध का निमित्त होता है।

अज्ञानदशा में ये सात कर्म तो प्रति समय बँधा ही करते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद क्रम-क्रम से जिस-जिस प्रकार स्वसन्मुखता के बल से चारित्र की असावधानी दूर होती है उसी-उसी प्रकार जीव में शुद्धदशा-अविकारीदशा बढ़ती जाती है और यह अविकारी (निर्मल) भाव, पुद्गलकर्म के बन्ध में निमित्त नहीं होता, इसलिए उतने अंश में बन्धन दूर होता है।

(८) शरीर संयोगी वस्तु है, इसलिए जहाँ यह संयोग हो, वहाँ वियोग भी होता ही है अर्थात् शरीर की स्थिति अमुक काल की होती है। वर्तमान भव में जिस भव के योग्य भाव जीव ने किये हों, वैसी आयु का बन्ध नवीन शरीर के लिए होता है।

७- द्रव्यबन्ध के जो पाँच कारण हैं, इनमें मिथ्यात्व मुख्य है और इस कर्मबन्ध का अभाव करने के लिए सबसे पहला कारण सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन होने से ही मिथ्या-दर्शन का अभाव होता है और उसके बाद ही स्वरूप के आलम्बन के अनुसार क्रम-क्रम से अविरति आदि का अभाव होता है।

इस प्रकार श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्र के आठवें अध्याय की

गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र

अध्याय नववाँ

भूमिका

१- इस अध्याय में संवर और निर्जरातत्त्व का वर्णन है। यह मोक्षशास्त्र है, इसलिए सबसे पहले मोक्ष का उपाय बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है, सो मोक्षमार्ग है। फिर सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा और तत्त्वों के नाम बतलाये; इसके बाद अनुक्रम से इन तत्त्वों का वर्णन किया है। इनमें से जीव, अजीव, आस्रव और बन्ध इन चार तत्त्वों का वर्णन इस आठवें अध्याय तक किया। अब नववें अध्याय में संवर और निर्जरा-तत्त्व का वर्णन है और इसके बाद अन्तिम अध्याय में मोक्षतत्त्व का वर्णन करके आचार्यदेव ने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२- अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के यथार्थ संवर और निर्जरातत्त्व कभी प्रगट नहीं हुए; इसीलिए उसके यह संसाररूप विकारीभाव बना रहा है और प्रति समय अनन्त दुःख पाता है। इसका मूलकारण मिथ्यात्व ही है। धर्म का प्रारम्भ संवर से होता है और सम्यग्दर्शन ही प्रथम संवर है; इसीलिए धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। संवर का अर्थ—जीव के विकारीभाव को रोकना है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने पर मिथ्यात्व आदि भाव रुकता है, इसीलिए सबसे पहले मिथ्यात्वभाव का संवर होता है।

३- संवर का स्वरूप

(१) 'संवर' शब्द का अर्थ 'रोकना' होता है। छट्ठे-सातवें अध्याय में बतलाये हुए आस्रव को रोकना, सो संवर है। जब जीव आस्रवभाव को रोके, तब जीव में किसी भाव की उत्पत्ति तो होनी ही चाहिए। जिस भाव का उत्पाद होने पर आस्रवभाव रुके, वह संवरभाव है। संवर का अर्थ विचारने से इसमें निम्नोक्त भाव मालूम होते हैं -

१- आस्रव के रोकने पर, आत्मा में जिस पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह शुद्धोपयोग है; इसीलिए उत्पाद की अपेक्षा से संवर का अर्थ शुद्धोपयोग होता है। उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में उपयोग का रहना-स्थिर होना, सो संवर है। *(देखो, समयसार गाथा १८१)*

२- उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में जब जीव का उपयोग रहता है, तब नवीन विकारी पर्याय (आस्रव) रुकता है अर्थात् पुण्य-पाप के भाव रुकते हैं। इस अपेक्षा से संवर का अर्थ 'जीव के नवीन पुण्य-पाप के भाव को रोकना' होता है।

३- ऊपर बतलाये हुए निर्मलभाव प्रगट होने से आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप में आनेवाले नवीन कर्म रुकते हैं, इसीलिए कर्म की अपेक्षा से संवर का अर्थ होता है 'नवीन कर्म के आस्रव का रुकना।'

(२) उपरोक्त तीनों अर्थ नय की अपेक्षा से किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं - १. प्रथम अर्थ आत्मा की शुद्धपर्याय प्रगट करना बतलाया है, इसीलिए पर्याय की अपेक्षा से यह कथन शुद्ध निश्चयनय का है। २. दूसरा अर्थ यह बतलाता है कि आत्मा में कौन पर्याय रुकी, इसीलिए यह कथन व्यवहारनय का है और ३. तीसरा अर्थ इसका ज्ञान कराता है कि जीव की इस पर्याय के समय परवस्तु की कैसी स्थिति होती है, इसीलिए यह कथन असद्भूतव्यवहारनय का है। इसे असद्भूत कहने का कारण यह है कि आत्मा, जड़ कर्म का कुछ कर नहीं सकता, किन्तु आत्मा के इस प्रकार के शुद्धभाव को और नवीन कर्म के आस्रव के रुक जाने को मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं।

(३) ये तीनों व्याख्यायें नय की अपेक्षा से हैं, अत: इस प्रत्येक व्याख्या में बाकी की दो व्याख्यायें गर्भितरूप से अन्तर्भूत होती हैं, क्योंकि नयापेक्षा के कथन में एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता होती है। जो कथन मुख्यता से किया हो, उसे इस शास्त्र के पाँचवें अध्याय के २३वें सूत्र में 'अर्पित' कहा गया है और जिस कथन को गौण रखा गया हो, उसे 'अनर्पित' कहा गया है। अर्पित और अनर्पित इन दोनों कथनों को एकत्रित करने से जो अर्थ हो वह पूर्ण (प्रमाण) अर्थ है, इसीलिए यह व्याख्या सर्वाङ्ग है। अर्पित कथन में यदि अनर्पित की गौणता रखी गई तो यह नय-कथन है। सर्वाङ्ग व्याख्यारूप कथन किसी पहलू को गौण न रख सभी पहलुओं को एक साथ बतलाता है। शास्त्र में नयदृष्टि से व्याख्या की हो या प्रमाणदृष्टि से व्याख्या की हो, किन्तु वहाँ सम्यक् अनेकान्त के स्वरूप को समझकर अनेकान्त स्वरूप से जो व्याख्या हो उसके अनुसार समझना।

(४) संवर की सर्वाङ्ग व्याख्या श्री समयसारजी गाथा १८७ से १८९ तक निम्नोक्त प्रकार दी गई है -

''आत्मा को आत्मा के द्वारा दो पुण्य-पापरूप शुभाशुभ योगों से रोककर दर्शन-ज्ञान

में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तु की इच्छा से विरक्त (-निवृत्ति) हुआ जो आत्मा, सर्व सङ्ग से रहित होता हुआ निजात्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है, कर्म और नोकर्म को नहीं ध्याता, चेतयिता होने से एकत्व का चिन्तवन करता है, विचारता है-अनुभव करता है, यह आत्मा, आत्मा का ध्याता, दर्शनज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ अल्पकाल में ही कर्म से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।''

इस व्याख्या में सम्पूर्ण कथन है, अत: यह कथन अनेकान्तदृष्टि से है; इसलिए किसी शास्त्र में नय की अपेक्षा से व्याख्या की हो या किसी शास्त्र में अनेकान्त की अपेक्षा से सर्वाङ्ग व्याख्या की हो तो वहाँ विरोध न समझकर ऐसा समझना चाहिए कि दोनों में समानरूप से व्याख्या की है।

(५) श्री समयसार कलश १२५ में संवर का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है -

१- आस्रव का तिरस्कार करने से जिसको सदा विजय मिली है, ऐसे संवर को उत्पन्न करनेवाली ज्योति।

२- पररूप से भिन्न अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चलरूप से प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निजरस के भारवाली ज्योति का प्रगट होना।

(इस वर्णन में आत्मा की शुद्धपर्याय और आस्रव का निरोध इस तरह आत्मा के दोनों पहलू आ जाते हैं।)

(६) श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की गाथा २०५ में बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम कहे हैं, उनमें एक संवर अनुप्रेक्षा है; वहाँ पण्डित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ में 'संवर' का अर्थ निम्न प्रकार किया है -

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

अर्थ - जिन जीवों ने अपने भाव को पुण्य-पापरूप नहीं किया और आत्म-अनुभव में अपने ज्ञान को लगाया है, उन जीवों ने आते हुए कर्मों को रोका है और वे संवर की प्राप्तिरूप सुख को देखते हैं।

(इस व्याख्या में ऊपर कहे हुए तीनों पहलू आ जाते हैं, इसीलिए अनेकान्त की अपेक्षा से यह सर्वाङ्ग व्याख्या है।)

(७) श्री जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय गाथा १४२ की टीका में संवर की व्याख्या निम्न प्रकार की है –

अत्र शुभाशुभसंवरसमर्थः शुद्धोपयोगो भावसंवरः।
भावसंवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसंवर इति तात्पर्यार्थः॥

अर्थ – यहाँ शुभाशुभभाव को रोकने में समर्थ जो शुद्धोपयोग है, सो भावसंवर है; भावसंवर के आधार से नवीन कर्म का निरोध होना, सो द्रव्यसंवर है। यह तात्पर्य अर्थ है।

(रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, पञ्चास्तिकाय, पृष्ठ २०७)

(संवर की यह व्याख्या अनेकान्त की अपेक्षा से है, इसमें पहले तीनों अर्थ आ जाते हैं।)

(८) श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पञ्चास्तिकाय गाथा १४४ की टीका में संवर की व्याख्या निम्न प्रकार की है –

'**शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः शुद्धोपयोगः**' अर्थात् शुभाशुभ 'परिणाम के निरोधरूप' 'संवर है सो शुद्धोपयोग है।'

(संवर की यह व्याख्या अनेकान्त की अपेक्षा से है, इसमें पहले दोनों अर्थ आ जाते हैं।)

(९) प्रश्न – इस अध्याय के पहले सूत्र में संवर की व्याख्या 'आस्रवनिरोधः संवरः' की है, किन्तु सर्वाङ्ग व्याख्या नहीं की, इसका क्या कारण है?

उत्तर – इस शास्त्र में वस्तुस्वरूप का वर्णन नय की अपेक्षा से बहुत ही थोड़े में दिया गया है। पुनश्च, इस अध्याय का वर्णन मुख्यरूप से पर्यायार्थिकनय से होने से 'आस्रवनिरोधः संवरः' ऐसी व्याख्या पर्याय की अपेक्षा से की है और इसमें द्रव्यार्थिकनय का कथन गौण है।

(१०) पाँचवें अध्याय के ३२वें सूत्र की टीका में जैन-शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति बतलायी है। इसी पद्धति के अनुसार इस अध्याय के पहले सूत्र का अर्थ करने से समयसार, श्री पञ्चास्तिकाय आदि शास्त्रों में संवर का जो अर्थ किया है, वही अर्थ यहाँ भी किया है, ऐसा समझना चाहिए।

४- ध्यान में रखने योग्य बातें

(१) पहले अध्याय के चौथे सूत्र में जो सात तत्त्व कहे हैं, उनमें संवर और निर्जरा यह दो तत्त्व मोक्षमार्गरूप हैं। पहले अध्याय के प्रथम सूत्र में मोक्षमार्ग की व्याख्या '**सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**' इस तरह की है; यह व्याख्या जीव में मोक्षमार्ग प्रगट होने पर आत्मा की शुद्धपर्याय कैसी होती है – यह बतलाती है। और इस अध्याय के पहले

सूत्र में '**आस्रवनिरोधः संवरः**' ऐसा कहकर मोक्षमार्गरूप शुद्धपर्याय होने से यह बतलाया है कि शुद्धपर्याय होने से अशुद्धपर्याय तथा नवीन कर्म रुकते हैं।

(२) इस तरह इन दोनों सूत्रों में (अध्याय १ सूत्र १ तथा अध्याय ९ सूत्र १ में) बतलाई हुई मोक्षमार्ग की व्याख्या साथ लेने से इस शास्त्र में सर्वाङ्ग कथन आ जाता हे। श्री समयसार, पञ्चास्तिकाय आदि शास्त्रों में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कथन है; इसमें संवर की जो व्याख्या दी गई है, वही व्याख्या पर्यायार्थिकनय से इस शास्त्र में पृथक् शब्दों में दी है।

(३) शुद्धोपयोग का अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है।

(४) संवर होने से जो अशुद्धि दूर हुई और शुद्धि बढ़ी, वही निर्जरा है; इसलिए 'शुद्धोपयोग' या 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहने से ही इसमें निर्जरा आ जाती है।

(५) संवर तथा निर्जरा दोनों एक ही समय में होते हैं, क्योंकि जिस समय शुद्धपर्याय (शुद्धपरिणति) प्रगट हो, उसी समय नवीन अशुद्धपर्याय (शुभाशुभपरिणति) रुकती है, सो संवर है और इसी समय आंशिक अशुद्धि दूर हो और शुद्धता बढ़े, सो निर्जरा है।

(६) इस अध्याय के पहले सूत्र में संवर की व्याख्या करने के बाद दूसरे सूत्र में इसके छह भेद कहे हैं। इन भेदों में समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये पाँच भेद भाववाचक (अस्तिसूचक) हैं और छट्ठा भेद गुप्ति है, सो अभाववाचक (नास्तिसूचक) है। पहले सूत्र में संवर की व्याख्या नय की अपेक्षा से निरोधवाचक की है, इसलिए यह व्याख्या गौणरूप से यह बतलाती है कि 'संवर होने से कैसा भाव हुआ' और मुख्यरूप से यह बतलाती है कि 'कैसा भाव रुका।'

(७) '**आस्रवनिरोधः संवरः**' इस सूत्र में निरोध शब्द यद्यपि अभाववाचक है, तथापि यह शून्यवाचक नहीं है; अन्य प्रकार के स्वभावपने का इसमें सामर्थ्य होने से, यद्यपि आस्रव का निरोध होता है, तथापि आत्मा संवृत स्वभावरूप होता है, यह एक तरह की आत्मा की शुद्धपर्याय है। संवर से आस्रव का निरोध होता है; इस कारण आस्रव, बन्ध का कारण होने से संवर होने पर बन्ध का भी निरोध होता है।

(देखो, श्लोकवार्तिक संस्कृत टीका, इस सूत्र के नीचे की कारिका, २ पृष्ठ ४८६)

(८) श्री समयसारजी की १८६वीं गाथा में कहा है कि 'शुद्ध आत्मा को जानने-अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्मा को जानने-अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।'

इसमें शुद्ध आत्मा को प्राप्त होना, सो संवर है और अशुद्ध आत्मा को प्राप्त होना सो आस्रव-बन्ध है।

(९) समयसार नाटक की उत्थानिका में २३वें पृष्ठ में संवर की व्याख्या निम्नप्रकार की है -

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरते जोग विरत्त।
रोके आवत करमकों, सो है संवर तत्त॥३९॥

अर्थ - आत्मा का जो भाव, ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग को प्राप्त कर (शुभाशुभ) योगों की क्रिया से विरक्त होता है और नवीन कर्म के आस्रव को रोकता है, सो संवरतत्त्व है।

५- निर्जरा का स्वरूप

उपरोक्त ९ बातों में निर्जरा सम्बन्धी कुछ विवरण आ गया है। संवरपूर्वक जो निर्जरा है, सो मोक्षमार्ग है; इसलिए इस निर्जरा की व्याख्या जानना आवश्यक है।

(१) श्री पञ्चास्तिकाय की १४४ गाथा में निर्जरा की व्याख्या निम्न प्रकार है -

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं॥

अर्थ - शुभाशुभपरिणाम निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योगों से संयुक्त ऐसा जो भेदविज्ञानी जीव अनेक प्रकार के अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग तपों द्वारा उपाय करता है, सो निश्चय से अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है।

इस व्याख्या में ऐसा कहा है कि 'कर्मों की निर्जरा होती है' और इसमें यह गर्भित रखा है कि इस समय आत्मा की शुद्धपर्याय कैसी होती है। इस गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि -

'...स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति। तदत्र कर्मवीर्य शातनसमर्थो बहिरंगांतरंग तपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा।'

अर्थ - यह जीव वास्तव में अनेक कर्मों की निर्जरा करता है, इसीलिए यह सिद्धान्त हुआ कि अनेक कर्मों की शक्तियों को नष्ट करने में समर्थ बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग तपों से वृद्धि को प्राप्त हुआ जो शुद्धोपयोग है, सो भाव-निर्जरा है। *(देखो, पञ्चास्तिकाय, पृष्ठ २०९)*

(२) श्री समयसार गाथा २०६ में निर्जरा का स्वरूप निम्न प्रकार बताया है -

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥ २०६॥

अर्थ - हे भव्य प्राणी! तू इसमें (ज्ञान में) नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसी में नित्य सन्तुष्ट हो और इससे तृप्त हो, ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख होगा।

इस गाथा में यह बतलाया है कि निर्जरा होने पर आत्मा की शुद्ध पर्याय कैसी होती है।

(३) संवर के साथ अविनाभावरूप से निर्जरा होती है। निर्जरा के आठ आचार (अङ्ग, लक्षण) है; इसमें उपबृंहण और प्रभावना ये दो आचार शुद्धि की वृद्धि बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में श्री समयसार गाथा २३३ की टीका में निम्न प्रकार बतलाया है।

''क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपने के कारण समस्त आत्म-शक्तियों की वृद्धि करनेवाला होने के कारण, उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति का बढ़ानेवाला है, इसीलिए उसके जीव की शक्ति को दुर्बलता से (अर्थात् मन्दता से) होनेवाला बन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।''

(४) और फिर गाथा २३६ की टीका तथा भावार्थ में कहा है -

टीका - क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपने को लेकर ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने से-विकसित करने से, फैलाने से प्रभाव उत्पन्न करता है, अतः प्रभावना करनेवाला है, इसलिए इसके ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से (अर्थात् ज्ञान की प्रभावना की वृद्धि न होने से) होनेवाला बन्ध नहीं होता, परन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ - प्रभावना का अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना आदि; इसलिए जो निरन्तर अभ्यास से अपने ज्ञान को प्रगट करता है-बढ़ाता है, उसके प्रभावना अङ्ग होता है और उसके अप्रभावना कृत कर्मों का बन्धन नहीं है, कर्म रस देकर खिर जाता है-झड़ जाता है, इसलिए निर्जरा ही है।

(५) इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि में स्पष्टरूप से सर्वाङ्ग व्याख्या कही जाती है। जहाँ व्यवहारनय से व्याख्या की जाए, वहाँ निर्जरा का ऐसा अर्थ होता है - 'आंशिकरूप से विकार की हानि और पुराने कर्मों का खिर जाना', किन्तु इसमें 'जो शुद्धि की वृद्धि है, सो निर्जरा है' ऐसा गर्भितरूप से अर्थ कहा है।

(६) अष्टपाहुड़ में भावप्राभृत की १४४वीं गाथा के भावार्थ में संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की व्याख्या निम्न प्रकार की है -

''पाँचवाँ संवरतत्त्व है। राग-द्वेष-मोहरूप जीव के विभाव का न होना और दर्शन ज्ञानरूप चेतनाभाव का स्थिर होना, सो संवर है। यह जीव का निजभाव है और इससे पुद्गलकर्मजनित भ्रमण दूर होता है। इस तरह इन तत्त्वों की भावना में आत्मतत्त्व की भावना प्रधान है; इससे कर्म की निर्जरा होकर मोक्ष होता है। अनुक्रम से आत्मा के भाव शुद्ध होना, सो निर्जरातत्त्व है और सर्वकर्म का अभाव होना, सो मोक्षतत्त्व है।''

६- इस तरह संवरतत्त्व में आत्मा की शुद्धपर्याय प्रगट होती है और निर्जरातत्त्व में आत्मा की शुद्धपर्याय की वृद्धि होती है। इस शुद्धपर्याय को एक शब्द से 'शुद्धोपयोग' कहते हैं, दो शब्दों से कहना हो तो संवर और निर्जरा कहते हैं और तीन शब्दों से कहना हो तो 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहते हैं। संवर और निर्जरा में आंशिक शुद्धपर्याय होती है - ऐसा समझना।

इस शास्त्र में जहाँ-जहाँ संवर और निर्जरा का कथन हो, वहाँ-वहाँ ऐसा समझना कि आत्मा की पर्याय जिस अंश में शुद्ध होती है, वह संवर-निर्जरा है। जो विकल्प, राग या शुभभाव है, वह संवर-निर्जरा नहीं है; परन्तु इसका निरोध होना और आंशिक अशुद्धि का खिर जाना-झड़ जाना, सो संवर-निर्जरा है।

७- अज्ञानी जीव ने अनादि से मोक्ष का बीजरूप संवर-निर्जराभाव कभी प्रगट नहीं किया और इसका यथार्थ स्वरूप भी नहीं समझा। संवर-निर्जरा स्वयं धर्म है; इनका स्वरूप समझे बिना धर्म कैसे हो सकता है? इसलिए मुमुक्षु जीवों को स्वरूप समझना आवश्यक है; आचार्यदेव इस अध्याय में इसका वर्णन थोड़े में करते हैं। इसमें पहले संवर का स्वरूप वर्णन करते हैं।

संवर का लक्षण

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ - [**आस्रवनिरोधः**] आस्रव का रोकना सो [**संवरः**] संवर है अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता है, उन कारणों को दूर करने से कर्मों का आना रुक जाता है, उसे संवर कहते हैं।

टीका - १- संवर के दो भेद हैं - भावसंवर और द्रव्यसंवर। इन दोनों की व्याख्या भूमिका के तीसरे पैरा के (७) उपभेद में दी है।

२- संवर धर्म है। जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, तब संवर का प्रारम्भ होता

है; सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – इन सात तत्त्वों का स्वरूप यथार्थरूप से और विपरीतअभिप्रायरहित जानना चाहिए।

३– सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जीव के आंशिक वीतरागभाव और आंशिक सराग-भाव होता है। वहाँ ऐसा समझना कि वीतरागभाव के द्वारा संवर होता है और सरागभाव के द्वारा बन्ध होता है।

४– बहुत से जीव अहिंसा आदि शुभास्रव को संवर मानते हैं, किन्तु यह भूल है। शुभास्रव से तो पुण्यबन्ध होता है। जिस भाव द्वारा बन्ध हो, उसी भाव के द्वारा संवर नहीं होता।

५– आत्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में संवर है और बन्ध नहीं किन्तु जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है; जितने अंश में सम्यग्ज्ञान है, उतने अंश में संवर है, बन्ध नहीं, किन्तु जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है तथा जितने अंश में सम्यक्चारित्र है, उतने अंश में संवर है, बन्ध नहीं; किन्तु जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है। *(देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा २१२ से २१४)*

६. प्रश्न – सम्यग्दर्शन संवर है और बन्ध का कारण नहीं, तो फिर अध्याय ६ सूत्र २१ में सम्यक्त्व को भी देवायुकर्म के आस्रव का कारण क्यों कहा? तथा अध्याय ६ सूत्र २४ में दर्शनविशुद्धि से तीर्थङ्करनामकर्म का आस्रव होता है – ऐसा क्यों कहा?

उत्तर – तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छट्ठे भाग-पर्यन्त होता है और तीन प्रकारके सम्यक्त्व की भूमिका में यह बन्ध होता है। वास्तव में (भूतार्थनय से-निश्चयनय से) सम्यग्दर्शन स्वयं कभी भी बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु इस भूमिका में रहे हुए राग से ही बन्ध होता है। तीर्थङ्करनामकर्म के बन्ध का कारण भी सम्यग्दर्शन स्वयं नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन की भूमिका में रहा हुआ राग, बन्ध का कारण है। जहाँ सम्यग्दर्शन को आस्रव या बन्ध का कारण कहा हो, वहाँ मात्र उपचार (व्यवहार) से कथन है – ऐसा समझना; इसे अभूतार्थनय का कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के द्वारा नयविभाग के स्वरूप को यथार्थ जाननेवाला ही इस कथन के आशय को अविरुद्धरूप से समझता है।

प्रश्न में जिस सूत्र का आधार दिया गया है, उन सूत्रों की टीका में भी खुलासा किया है कि सम्यग्दर्शन स्वयं बन्ध का कारण नहीं है।

७- निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र अपेक्षा दो प्रकार हैं - सरागी और वीतरागी। उनमें से सराग-सम्यग्दृष्टि जीव रागसहित हैं। अतः राग के कारण उनके कर्म-प्रकृतियों का आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवों के सरागसम्यक्त्व है; परन्तु यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है, वह सम्यक्त्व का दोष नहीं, किन्तु चारित्र का दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवों के निर्दोष चारित्र है, उनके वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है। वास्तव में ये दो जीवों के सम्यग्दर्शन में भेद नहीं, किन्तु चारित्र के भेद की अपेक्षा ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव, चारित्र के दोषसहित हैं, उनके सरागसम्यक्त्व है - ऐसा कहा जाता है और जिस जीव के निर्दोष चारित्र है, उनके वीतरागसम्यक्त्व है - ऐसा कहा जाता है। इस तरह चारित्र की सदोषता या निर्दोषता की अपेक्षा से ये भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और यह तो शुद्धभाव ही है, इसीलिए यह आस्रव या बन्ध का कारण नहीं है।

संवर के कारण

सः गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

अर्थ - **[गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः]** तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र - इन छह कारणों से **[सः]** संवर होता है।

टीका - १- जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है, उसके ही संवर के ये छह कारण होते हैं; मिथ्यादृष्टि के इन छह कारणों में से एक भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के तथा साधु के ये छहों कारण यथासम्भव होते हैं *(देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा २०३ की टीका)* संवर के इन छह कारणों का यथार्थ स्वरूप समझे बिना संवर का स्वरूप समझने में भी जीव की भूल हुए बिना नहीं रहती। इसलिए इन छह कारणों का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिए।

२- गुप्ति का स्वरूप

(१) कुछ लोग मन-वचन-काय की चेष्टा दूर करने, पाप का चिन्तवन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करने को गुप्ति मानते हैं, किन्तु यह गुप्ति नहीं है; क्योंकि जीव के मन में भक्ति आदि प्रशस्त रागादिक के अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं और वचन-काय की चेष्टा रोकने का जो भाव है, सो तो शुभप्रवृत्ति है, प्रवृत्ति में गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिए वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा नहीं होती, वहाँ यथार्थ गुप्ति

है। यथार्थतया गुप्ति का एक ही प्रकार है और यह वीतरागभावरूप है। निमित्त की अपेक्षा से गुप्ति के तीन भेद कहे हैं। मन-वचन-काय ये परद्रव्य हैं, इनकी कोई क्रिया बन्ध या अबन्ध का कारण नहीं है। वीतरागभाव होने पर जीव जितने अंश में मन-वचन-काय की तरफ नहीं लगता, उतने अंश में निश्चयगुप्ति है और यही संवर का कारण है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक से)

(२) जो जीव नयों के राग को छोड़कर निज-स्वरूप में गुप्त होता है, उस जीव के गुप्ति होती है। उसका चित्त विकल्प-जाल से रहित शान्त होता है और वह साक्षात् अमृतरस का पान करते हैं। यह स्वरूपगुप्ति की शुद्ध क्रिया है। जितने अंश में वीतरागदशा होकर स्वरूप में प्रवृत्ति होती है, उतने अंश में गुप्ति है; इस दशा में क्षोभ मिटता है और अतीन्द्रियसुख अनुभव में आता है। *(देखो, श्री समयसार, कलश ६९, पृष्ठ १७५)*

(३) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक लौकिक वाँछारहित होकर योगों का यथार्थ निग्रह करना, सो गुप्ति है। योगों के निमित्त से आनेवाले कर्मों का आना बन्द पड़ जाना, सो संवर है। *(तत्त्वार्थसार, अध्याय ६, गाथा ५)*

(४) इस अध्याय के चौथे सूत्र में गुप्ति का लक्षण कहा है; उसमें बतलाया है कि जो 'सम्यक् योग-निग्रह' है, सो गुप्ति है। इसमें सम्यक् शब्द अधिक उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि बिना सम्यग्दर्शन के योगों का यथार्थ निग्रह नहीं होता, अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक ही योगों का यथार्थ निग्रह हो सकता है।

(५) प्रश्न - योग चौहदवें गुणस्थान में रुकता है और तेरहवें गुणस्थान तक वह होता है, तो फिर नीचे की भूमिकावाले के 'योग का निग्रह' (गुप्ति) कहाँ से हो सकता है ?

उत्तर - आत्मा का उपयोग मन-वचन-काय की तरफ जितना न लगे, उतना योग का निग्रह हुआ कहलाता है। यहाँ योग शब्द का अर्थ 'प्रदेशों का कम्पन' न समझना। प्रदेशों के कम्पन के निग्रह को गुप्ति नहीं कहा जाता, किन्तु इसे तो अकम्पता या अयोगता कहा जाता है; यह अयोग अवस्था चौहदवें गुणस्थान में प्रगट होती है और गुप्ति तो चौथे गुणस्थान में भी होती है।

(६) वास्तव में आत्मा का स्वरूप (निजरूप) ही परम गुप्ति है, इसीलिए आत्मा जितने अंश में अपने शुद्धस्वरूप में स्थिर रहे, उतने अंश में गुप्ति है।

(देखो, श्री समयसार कलश १५८)

३- आत्मा का वीतरागभाव एकरूप है और निमित्त की अपेक्षा से गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र - ऐसे पृथक्-पृथक् भेद करके समझाया जाता है; इन भेदों के द्वारा भी अभेदता बतलायी है। स्वरूप की अभेदता संवर-निर्जरा का कारण है।

४- गुप्ति, समिति आदि के स्वरूप का वर्णन चौथे सूत्र से प्रारम्भ करके अनुक्रम से कहेंगे॥ २॥

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ - [**तपसा**] तप से [**निर्जरा च**] निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

टीका - १- दस प्रकार के धर्म में तप का समावेश हो जाता है, तो भी उसे यहाँ पृथक् कहने का कारण यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनों का कारण है और उसमें संवर का यह प्रधान कारण है।

२- यहाँ जो तप कहा है, सो सम्यक्तप है, क्योंकि यह तप ही संवर-निर्जरा का कारण है। सम्यग्दृष्टि जीव के ही सम्यक्तप होता है; मिथ्यादृष्टि के तप को बालतप कहते हैं और यह आस्रव है, ऐसा छट्ठे अध्याय के १२वें सूत्र की टीका में कहा है। उस सूत्र में दिये गये 'आदि' शब्द में बालतप का समावेश होता है। जो सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान से रहित हैं—ऐसे जीव चाहे जितना तप करें तो भी उनका समस्त तप बालतप (अर्थात् अज्ञानतप, मूर्खतावाला तप) कहलाता है *(देखो, समयसार गाथा १५२)* सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेवाले तप को उत्तमतप के रूप में इस अध्याय के छट्ठे सूत्र में वर्णन किया है।

(३) तप का अर्थ

श्री प्रवचनसार की गाथा १४ में तप का अर्थ इस तरह दिया है - '**स्वरूपविश्रांत-निस्तरंगचैतन्यप्रतपनाच्च तपः,** अर्थात् स्वरूप में विश्रान्त, तरङ्गों से रहित जो चैतन्य का प्रतपन है, सो तप है।'

(४) तप का स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) बहुत से अनशनादि को तप मानते हैं और उस तप से निर्जरा मानते हैं, किन्तु बाह्य तप से निर्जरा नहीं होती, निर्जरा का कारण तो शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग में जीव की रमणता होने पर अनशन इत्यादि 'शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है' सो संवर है। यदि

बाह्य दु:ख सहन करने से निर्जरा हो तो तिर्यञ्चादिक भी भूख-प्यासादिक के दु:ख सहन करते हैं, इसलिए उनके भी निर्जरा होनी चाहिए। *(मोक्षमार्गप्रकाशक)*

प्रश्न - तिर्यञ्चादिक तो पराधीनरूप से भूख-प्यासादिक सहन करते हैं, किन्तु जो स्वाधीनता से धर्म की बुद्धि से उपवासादिरूप तप करे, उसके तो निर्जरा होगी न?

उत्तर - धर्म की बुद्धि से बाह्य उपवासादिक करे किन्तु वहाँ शुभ, अशुभ या शुद्धरूप जैसा उपयोग परिणमता है, उसी के अनुसार बन्ध या निर्जरा होती है। यदि अशुभ या शुभरूप उपयोग हो तो बन्ध होता है और सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्धोपयोग हो तो धर्म होता है। यदि बाह्य उपवास से निर्जरा होती हो तो ज्यादा उपवासादि करने से ज्यादा निर्जरा हो और थोड़े उपवासादि करने से थोड़ी निर्जरा होगी, ऐसा नियम हो जायेगा तथा निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि ही हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि बाह्य उपवासादि करने पर भी यदि दुष्ट-परिणाम करे तो उसके निर्जरा कैसे होगी? इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभ, शुभ या शुद्धरूप से जैसा उपयोग का परिणाम होता है, उसी के अनुसार बन्ध या निर्जरा होती है। इसलिए उपवासादि तप निर्जरा के मुख्य कारण नहीं हैं, किन्तु अशुभ तथा शुभपरिणाम तो बन्ध के कारण हैं और शुद्धपरिणाम निर्जरा के कारण हैं।

(३) प्रश्न - यदि ऐसा है तो सूत्र में ऐसा क्यों कहा कि 'तप से भी निर्जरा होती है?'

उत्तर - बाह्य उपवासादि तप नहीं, किन्तु तप की व्याख्या इस प्रकार है कि 'इच्छा-निरोधस्तप:' अर्थात् इच्छा को रोकना सो तप है। जो शुभ-अशुभ इच्छा है, सो तप नहीं है किन्तु शुभ-अशुभ इच्छा के दूर होने पर जो शुद्धोपयोग होता है, सो सम्यक्तप है और इस तप से ही निर्जरा होती है।

(४) प्रश्न - आहारादि लेनेरूप अशुभभाव की इच्छा दूर होने पर तप होता है किन्तु उपवासादि या प्रायश्चित्तादि शुभकार्य है, इनकी इच्छा तो रहती है न?

उत्तर - ज्ञानी पुरुष के उपवासादि की इच्छा नहीं, किन्तु एक शुद्धोपयोग की ही भावना है। ज्ञानी पुरुष उपवासादि के काल में शुद्धोपयोग बढ़ाता है, किन्तु जहाँ उपवासादि से शरीर की या परिणामों की शिथिलता के द्वारा शुद्धोपयोग शिथिल होता जानता है, वहाँ आहारादिक ग्रहण करता है। यदि उपवासादि से ही सिद्धि होती हो तो श्री अजितनाथ आदि तेईस तीर्थङ्कर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, परन्तु जैसा परिणाम हुआ, वैसे ही साधन के द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोग का अभ्यास किया।

(५) **प्रश्न** - यदि ऐसा है तो अनशनादिक की तप संज्ञा क्यों कही है ?

उत्तर - अनशनादिक को बाह्यतप कहा है। बाह्य अर्थात् बाहर में दूसरों को दिखाई देता है कि यह तपस्वी है। तथापि वहाँ भी स्वयं जैसा अन्तरङ्ग परिणाम करेगा, वैसा ही फल प्राप्त करेगा। शरीर की क्रिया जीव को कुछ फल देनेवाली नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव के वीतरागता बढ़ती है, वही सच्चा (यथार्थ) तप है। अनशनादिक को मात्र निमित्त की अपेक्षा से 'तप' संज्ञा दी गई है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१ के आधार से)*

५- तप के बारे में स्पष्टीकरण

सम्यग्दृष्टि के तप करने से निर्जरा होती है और साथ में पुण्यकर्म का बन्ध भी होता है, परन्तु ज्ञानी पुरुषों के तप का प्रधान फल निर्जरा है, इसीलिए इस सूत्र में ऐसा कहा है कि तप से निर्जरा होती है। जितनी तप में न्यूनता होती है, उतना पुण्यकर्म का बन्ध भी हो जाता है; इस अपेक्षा से पुण्य का बन्ध होना, यह तप का गौण फल कहलाता है। जैसे खेती करने का प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न करना है, किन्तू भूसा आदि उत्पन्न होना यह उसका गौणफल है; उसी प्रकार यहाँ ऐसा समझना कि सम्यग्दृष्टि के तप का जो विकल्प आता है, वह रागरूप होता है, अत: उसके फल में पुण्यबन्ध हो जाता है और जितना राग टूटकर (दूर होकर) वीतरागभाव-शुद्धोपयोग बढ़ता है, वह निर्जरा का कारण है। आहार पेट में जाये या न जाये, वह बन्ध या निर्जरा का कारण नहीं है, क्योंकि परद्रव्य है और परद्रव्य का परिणमन आत्मा के आधीन नहीं है, इसीलिए उसके परिणमन से आत्मा को लाभ-हानि नहीं होती। जीव के अपने परिणाम से ही लाभ या हानि होती है।

६- अध्याय ८ सूत्र २३ में भी निर्जरा सम्बन्धी वर्णन है। अत: उस सूत्र की टीका यहाँ भी पढ़ना। तप के १२ भेद बतलाये हैं, इस सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्याय के १९-२० वें सूत्र में किया गया है, अत: वहाँ से देख लेना॥ ३॥

गुप्ति का लक्षण और भेद

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४॥

अर्थ - [**सम्यग्योगनिग्रहो**] भले प्रकार योग का निग्रह करना, सो [**गुप्तिः**] गुप्ति है।

टीका - १- इस सूत्र में सम्यक् शब्द बहुत उपयोगी है। वह यह बतलाता है कि सम्यग्दर्शन-पूर्वक ही गुप्ति होती है; अज्ञानी के गुप्ति नहीं होती। तथा सम्यक् शब्द यह भी

बतलाता है कि जिस जीव के गुप्ति होती है, उस जीव के विषय-सुख की अभिलाषा नहीं होती। यदि जीव के संक्लेशता (आकुलता) हो तो उसके गुप्ति नहीं होती। दूसरे सूत्र की टीका में गुप्ति का स्वरूप बतलाया है, वह यहाँ भी लागू होता है।

२. गुप्ति की व्याख्या

(१) जीव के उपयोग का मन के साथ युक्त होना, सो मनोयोग है, वचन के साथ युक्त होना, सो वचनयोग है और काय के साथ युक्त होना, सो काययोग है तथा उसका अभाव होना अनुक्रम से मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। इस तरह निमित्त के अभाव की अपेक्षा से गुप्ति के तीन भेद हैं।

पर्याय में शुद्धोपयोग की हीनाधिकता होती है, तथापि उसमें शुद्धता तो एक ही प्रकार की है। निमित्त की अपेक्षा से उसके अनेक भेद कहे जाते हैं।

जब जीव वीतरागभाव के द्वारा अपनी स्वरूपगुप्ति में रहता है, तब मन-वचन और काय की ओर का आश्रय छूट जाता है, इसीलिए उसके नास्ति की अपेक्षा से तीन भेद होते हैं; ये सब निमित्त के भेद हैं - ऐसा जानना।

(२) सर्व मोह-राग-द्वेष को दूर करके खण्डरहित अद्वैत परम चैतन्य में भलीभाँति स्थित होना, सो निश्चयमनोगुप्ति है। सम्पूर्ण असत्यभाषा को इस तरह त्यागना कि (अथवा इस तरह मौनव्रत रखना कि) मूर्तिक द्रव्य में, अमूर्तिक द्रव्य में या दोनों में वचन की प्रवृत्ति रुके और जीव परमचैतन्य में स्थिर हो, सो निश्चयवचनगुप्ति है। संयमधारी मुनि जब अपने चैतन्यस्वरूप चैतन्यशरीर से जड़ शरीर का भेदज्ञान करता है (अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभव में लीन होता है), तब अन्तरङ्ग में स्वात्मा की उत्कृष्ट मूर्ति की निश्चलता होना, सो कायगुप्ति है। *(नियमसार गाथा ६९-७० और टीका)*

(३) अनादि अज्ञानी जीवों ने कभी सम्यग्गुप्ति धारण नहीं की। अनेक बार द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर जीव ने शुभोपयोगरूप गुप्ति-समिति आदि निरतिचार पालन कीं, किन्तु वह सम्यक् न थीं। किसी भी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सम्यग्गुप्ति नहीं हो सकती और उसका भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसलिए पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करके क्रम-क्रम से आगे बढ़कर सम्यग्गुप्ति प्रगट करनी चाहिए।

(४) छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधु के शुभभावरूप गुप्ति भी होती है, इसे व्यवहारगुप्ति कहते हैं, किन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह शुभ विकल्प है; इसीलिए ज्ञानी उसे

हेयरूप समझते हैं, क्योंकि इससे बन्ध होता है। इसे दूर कर साधु निर्विकल्पदशा में स्थिर होता है; इस स्थिरता को निश्चयगुप्ति कहते हैं। यह निश्चयगुप्ति संवर का सच्चा कारण है॥ ४॥

दूसरे सूत्र में संवर के ६ कारण बतलाये हैं, उनमें से गुप्ति का वर्णन पूर्ण हुआ। अब समिति का वर्णन करते हैं।

समिति के ५ भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ - [**ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः**] सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग - ये पाँच [**समितयः**] समिति हैं (चौथे सूत्र का 'सम्यक्' शब्द इस सूत्र में भी लागू होता है)।

टीका - १- समिति का स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल -

(१) अनेकों लोग परजीवों की रक्षा के लिये यत्नाचारप्रवृत्ति को समिति मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि हिंसा के परिणामों से तो पाप होता है और यदि ऐसा माना जावे कि रक्षा के परिणामों से संवर होता है तो फिर पुण्यबन्ध का कारण कौन होगा? पुनश्च, एषणा समिति में भी यह अर्थ घटित नहीं होता, क्योंकि वहाँ तो दोष दूर होता है किन्तु किसी परजीव की रक्षा का प्रयोजन नहीं है।

(२) प्रश्न - तो फिर समिति का यथार्थ स्वरूप क्या है?

उत्तर - मुनि के किञ्चित् राग होने पर गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उस क्रिया में अति आसक्ति के अभाव से उनके प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दुःखी करके अपना गमनादिरूप प्रयोजन नहीं साधते, इसीलिए उनसे स्वयं दया पलती है, इसी रूप में यथार्थ समिति है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८)*

अ- अभेद उपचाररहित जो रत्नत्रय का मार्ग है, उस मार्गरूप परम धर्म द्वारा अपने आत्मस्वरूप में 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकार से 'इता' गमन तथा परिणमन है, सो समिति है। अथवा -

ब- स्व-आत्मा के परमतत्त्व में लीन स्वाभाविक परमज्ञानादि परम धर्मों की जो एकता है, सो समिति है। यह समिति संवर-निर्जरारूप है। *(देखो, श्री नियमसार, गाथा ६१)*

(३) सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि आत्मा परजीव का घात नहीं कर सकता, परद्रव्यों का कुछ नहीं कर सकता, भाषा नहीं बोल सकता, शरीर की हलन-चलनादिरूप क्रिया नहीं कर सकता; शरीर चलने योग्य हो, तब स्वयं उसकी क्रियावतीशक्ति से चलता है; परमाणु भाषारूप से परिणमने के योग्य हो तब, स्वयं परिणमते है; परजीव उसके आयु की योग्यता के अनुसार जीता या मरता है, लेकिन उस कार्य के समय अपनी योग्यतानुसार किसी जीव के राग होता है, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसीलिए निमित्त की अपेक्षा से समिति के पांच भेद होते हैं; उपादान की अपेक्षा से तो भेद नहीं पड़ता।

(४) गुप्ति निवृत्तिस्वरूप है और समिति प्रवृत्तिस्वरूप है। **सम्यग्दृष्टि को समिति में जितने अंश में वीतरागभाव है, उतने अंश में संवर है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है।**

(५) मिथ्यादृष्टि जीव तो ऐसा मानता है कि मैं परजीवों को बचा सकता हूँ तथा मैं परद्रव्यों का कुछ कर सकता हूँ, इसीलिए उसके समिति होती ही नहीं। द्रव्यलिङ्गी मुनि के शुभोपयोगरूप समिति होती है किन्तु वह सम्यक् समिति नहीं है और संवर का कारण भी नहीं है। पुनश्च, वह तो शुभोपयोग को धर्म मानता है, इसलिए वह मिथ्यात्वी है।

२- पहले समिति को आस्रवरूप कहा था और यहाँ संवररूप कहा है, इसका कारण बतलाते हैं -

छट्ठे अध्याय के ५वें सूत्र में पच्चीस प्रकार की क्रियाओं को आस्रव का कारण कहा है; वहाँ गमन आदि में होनेवाली जो शुभरागरूप क्रिया है, सो ईर्यापथ क्रिया है और वह पाँच समितिरूप है - ऐसा बतलाया है और उसे बन्ध के कारणों में गिना है। परन्तु यहाँ समिति को संवर के कारण में गिना है, इसका कारण यह है कि जैसे सम्यग्दृष्टि के वीतरागता के अनुसार पाँच समिति संवर का कारण होती हैं, वैसे उसके जितने अंश में राग है, उतने अंश में वह आस्रव का भी कारण होती हैं। यहाँ संवर अधिकार में संवर की मुख्यता होने से समिति को संवर के कारणरूप से वर्णन किया है और छट्ठे अध्याय में आस्रव की मुख्यता है; अत: वहाँ समिति में जो राग है, उसे आस्रव के कारणरूप से वर्णन किया है।

३- उपरोक्त प्रमाणानुसार समिति चारित्र का मिश्रभावरूप है - ऐसा भाव सम्यग्दृष्टि के होता है, उसमें आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है। जिस अंश में वीतरागता है, उस अंश के द्वारा तो संवर ही होता है और जिस अंश में सरागता है, उस अंश के द्वारा बन्ध ही होता है। सम्यग्दृष्टि के ऐसे मिश्ररूपभाव से तो संवर और बन्ध ये दोनों कार्य होते हैं,

किन्तु अकेले राग के द्वारा ये दो कार्य नहीं हो सकते; इसलिए 'अकेले प्रशस्तराग' से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना, सो भ्रम है। मिश्ररूपभाव में भी यह सरागता है और यह वीतरागता है - ऐसी यथार्थ पहिचान सम्यग्दृष्टि के ही होती है; इसीलिए वे अवशिष्ट सरागभाव को हेयरूप से श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टि के सरागभाव और वीतरागभाव की यथार्थ पहिचान नहीं है; इसीलिए वह सरागभाव में संवर का भ्रम करके प्रशस्तरागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धान करता है। *(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८)*

४- समिति के पाँच भेद

जब साधु गुप्तिरूप प्रवर्तन में स्थिर नहीं रह सकते, तब वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग - इन पाँच समिति में प्रवर्तते हैं, उस समय असंयम के निमित्त से बँधनेवाला कर्म नहीं बँधता, सो उतना संवर होता है।

यह समिति, मुनि और श्रावक दोनों यथायोग्य पालते हैं।

(देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २०३ का भावार्थ)

पाँच समितियों की व्याख्या निम्न प्रकार है -

ईर्यासमिति - चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्धमार्ग में चलना।

भाषासमिति - हित, मित और प्रिय वचन बोलना।

एषणासमिति - श्रावक के घर विधिपूर्वक दिन में एक ही बार निर्दोष आहार लेना, सो एषणासमिति है।

आदाननिक्षेपसमिति - सावधानीपूर्वक निर्जन्तु स्थान को देखकर वस्तु को रखना, देना तथा उठाना।

उत्सर्गसमिति - जीवरहित स्थान में मल-मूत्रादिक का क्षेपण करना।

यह व्यवहार-व्याख्या है, यह मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाती है, परन्तु ऐसा नहीं समझना कि जीव परद्रव्य का कर्ता है और परद्रव्य की अवस्था जीव का कर्म है॥ ५॥

दूसरे सूत्र में संवर के ६ कारण बतलाये हैं, उनमें से समिति और गुप्ति का वर्णन पूर्ण हुआ। अब दस धर्म का वर्णन करते हैं।

दस धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ - **[उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि]** उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य - ये दस **[धर्मः]** धर्म हैं।

टीका - १. प्रश्न - ये दस प्रकार के धर्म किसलिए कहे ?

उत्तर - प्रवृत्ति को रोकने के लिये प्रथम गुप्ति बतलायी, उस गुप्ति में प्रवृत्ति करने में जब जीव असमर्थ होता है, तब प्रवृत्ति का उपाय करने के लिये समिति कही है। इस समिति में प्रवर्तनेवाले मुनि को प्रमाद दूर करने के लिये ये दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं।

२- इस सूत्र में बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दसों धर्मों में लागू होता है; वह गुणवाचक शब्द है। उत्तम क्षमादि कहने से यहाँ रागरूप क्षमा न लेना किन्तु स्वरूप की प्रतीति सहित क्रोधादि कषाय के अभावरूप क्षमा समझना। उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होने पर क्रोधादि कषाय का अभाव होता है, उसी से आस्रव की निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

३- धर्म का स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

जिसमें न राग-द्वेष है, न पुण्य है, न कषाय है, न न्यून-अपूर्ण है और न विकारित्व है, ऐसे पूर्ण वीतराग ज्ञायकमात्र एकरूप स्वभाव की जो प्रतीति-लक्ष्य-ज्ञान और उसमें स्थिर होना, सो सच्चा धर्म है। यह वीतराग की आज्ञा है।

बहुत से जीव ऐसा मानते हैं कि बंधादिक के भय से अथवा स्वर्ग मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि न करना, सो धर्म है। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है - असत् है, क्योंकि उनके क्रोधादि करने का अभिप्राय तो दूर नहीं हुआ। जैसे - कोई मनुष्य राजादिक के भय से या महन्तपन के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता तो इस कारण से उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकार से उपरोक्त मान्यतावाले जीव भी क्रोधादिक के त्यागी नहीं हैं और न उनके धर्म होता है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक)*

प्रश्न - तो क्रोधादिक का त्याग किस तरह होता है ?

उत्तर - पदार्थ के इष्ट-अनिष्ट मालूम होने पर क्रोधादिक होते हैं। तत्त्वज्ञान के

अभ्यास से जब कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट मालूम न हो, तब क्रोधादिक स्वयं उत्पन्न नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

४- क्षमादिक की व्याख्या निम्न प्रकार है -

(१) क्षमा - निन्दा, गाली, हास्य, अनादर, मारना, शरीर का घात करना आदि होने पर अथवा ऐसे प्रसङ्गों को निकट आते देखकर भावों में मलिनता न होना, सो क्षमा है।

(२) मार्दव - जाति आदि आठ प्रकार के मद के आवेश से होनेवाले अभिमान का अभाव, सो मार्दव है; अथवा मैं परद्रव्य का कुछ भी कर सकता हूँ - ऐसी मान्यतारूप अहङ्कारभाव को जड़मूल से उखाड़ देना, सो मार्दव है।

(३) आर्जव - माया-कपट से रहितपन, सरलता-सीधापन को आर्जव कहते हैं।

(४) शौच - लोभ से उत्कृष्टरूप से उपराम पाना-निवृत्त होना, सो शौच-पवित्रता है।

(५) सत्य - सत् जीवों में-प्रशंसनीय जीवों में साधु-वचन (सरल वचन) बोलने का जो भाव है, सो सत्य है।

प्रश्न - उत्तम सत्य और भाषा-समिति में क्या अन्तर है?

उत्तर - समितिरूप में प्रवर्तनेवाले मुनि के साधु और असाधु पुरुषों के प्रति वचन-व्यवहार होता है और वह हित, परिमित वचन है। उन मुनि को शिष्यों तथा उनके भक्तों (श्रावकों) में उत्तम सत्य ज्ञान, चारित्र के लक्षणादिक सीखने-सिखाने में अधिक भाषाव्यवहार करना पड़ता है, उसे उत्तम सत्यधर्म कहा जाता है।

(६) संयम - समिति में प्रवर्तनेवाले मुनि के प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाने-करने का जो भाव है, सो संयम है।

(७) तप - भावकर्म का नाश करने के लिये स्व की शुद्धता के प्रतपन को तप कहते हैं।

(८) त्याग - संयमी जीवों को योग्य ज्ञानादिक देना, सो त्याग है।

(९) आकिञ्चन्य - विद्यमान शरीरादिक में भी संस्कार के त्याग के लिये 'यह मेरा है' ऐसे अनुराग की निवृत्ति को आकिञ्चन्य कहते हैं। आत्मा के स्वरूप से भिन्न ऐसे शरीरादिक में या रागादिक में ममत्वरूप परिणामों के अभाव को आकिञ्चन्य कहते हैं।

(१०) ब्रह्मचर्य - स्त्रीमात्र का त्याग कर, अपने आत्मस्वरूप में लीन रहना ब्रह्मचर्य

है। पूर्व में भोगे हुए स्त्रियों के भोग का स्मरण तथा उनकी कथा सुनने के त्याग से तथा स्त्रियों के पास बैठने के छोड़ने से और स्वच्छन्द प्रवृत्ति रोकने के लिये गुरुकुल में रहने से पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य पलता है। इन दसों शब्दों में 'उत्तम' शब्द जोड़ने से 'उत्तम क्षमा' आदि दस धर्म होते हैं। उत्तम क्षमा आदि कहने से उसे शुभरागरूप न समझना, किन्तु कषायरहित शुद्धभावरूप समझना। *(सर्वार्थसिद्धि ९१६ टीका)*

४- दस प्रकार के धर्मों का वर्णन

क्षमा के निम्न प्रकार ५ भेद हैं—(१) जैसे स्वयं निर्बल होने पर सबल का विरोध नहीं करता, उसी प्रकार 'यदि मैं क्षमा करूँ तो मुझे कोई परेशान न करेगा' ऐसे भाव से क्षमा रखना। इस क्षमा में ऐसी प्रतीति नहीं हुई कि 'मैं क्रोधरहित ज्ञायक ऐसे त्रिकाल स्वभाव से शुद्ध हूँ' किन्तु प्रतिकूलता के भयवश सहन करने का राग हुआ, इसलिए वह यथार्थ क्षमा नहीं है, धर्म नहीं है।

(२) यदि मैं क्षमा करूँ तो दूसरी तरफ से मुझे नुकसान न हो किन्तु लाभ हो – ऐसे भाव से सेठ आदि के उलाहने को सहन करे, प्रत्यक्ष में क्रोध न करे, किन्तु वह यथार्थ क्षमा नहीं है, धर्म नहीं है।

(३) यदि मैं क्षमा करूँ तो कर्मबन्धन रुक जायेगा, क्रोध करने से नीच गति में जाना पड़ेगा; इसलिए क्रोध न करूँ – ऐसे भाव से क्षमा करे, किन्तु यह भी सच्ची क्षमा नहीं है, यह धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें भय है, किन्तु नित्य ज्ञातास्वरूप की निर्भयता-निःसन्देहता नहीं है।

(४) ऐसी वीतराग की आज्ञा है कि क्रोधादि नहीं करना। इसी प्रकार शास्त्र में कहा है, इसलिए मुझे क्षमा रखना चाहिए, जिससे मुझे पाप नहीं लगेगा और लाभ होगा – ऐसे भाव से शुभपरिणाम रखे और उसे वीतराग की आज्ञा माने किन्तु यह यथार्थ क्षमा नहीं है; क्योंकि यह पराधीन क्षमा है, यह धर्म नहीं है।

(५) 'सच्ची क्षमा' अर्थात् 'उत्तम क्षमा' का स्वरूप यह है कि आत्मा अविनाशी, अबन्ध, निर्मल, ज्ञायक है, उसके स्वभाव में शुभाशुभपरिणाम का कर्तृत्व भी नहीं है। स्वयं जैसा है, वैसा स्व को जानकर, मानकर उसमें ज्ञाता रहना-स्थिर होना, सो वीतराग की आज्ञा है और यह धर्म है। यह पाँचवीं क्षमा क्रोध में युक्त न होना, क्रोध का भी ज्ञाता – ऐसा सहज अकषाय क्षमास्वरूप निजस्वभाव है। इस प्रकार निर्मल विवेक की जागृति द्वारा शुद्धस्वरूप में सावधान रहना, सो उत्तम क्षमा है।

नोट - जैसे क्षमा के पाँच भेद बतलाये तथा उसके पाँचवें प्रकार को उत्तम क्षमाधर्म बतलाया, उसी प्रकार मार्दव, आर्जव, आदि सभी धर्मों में ये पाँचों प्रकार समझना और उन प्रत्येक में पाँचवाँ भेद ही धर्म है - ऐसा समझना।

(६) क्षमा के शुभविकल्प का मैं कर्ता नहीं हूँ - ऐसा समझकर राग-द्वेष से छूटकर स्वरूप की सावधानी करना, सो स्व की क्षमा है। स्व-सन्मुखता के अनुसार रागादि की उत्पत्ति न हो वही क्षमा है। 'क्षमा करना, सरलता रखना' ऐसा निमित्त की भाषा में बोला तथा लिखा जाता है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा समझना कि शुभ या शुद्धपरिणाम करने का विकल्प करना भी सहज स्वभावरूप क्षमा नहीं है। 'मैं सरलता रखूँ, क्षमा करूँ' ऐसा भङ्गरूप विकल्प राग है, क्षमाधर्म नहीं है, क्योंकि यह पुण्य-परिणाम भी बन्धभाव है, इससे अबन्ध अरागी मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं होता और पुण्य से मोक्षमार्ग में लाभ या पुष्टि हो - ऐसा भी नहीं है॥ ६॥

दूसरे सूत्र में कहे गये संवर के छह कारणों में से पहले तीन कारणों का वर्णन पूर्ण हुआ। अब, चौथा कारण बारह अनुप्रेक्षा है, उनका वर्णन करते हैं।

बारह अनुप्रेक्षा

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा-
लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः॥ ७॥

अर्थ - [**अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधि-दुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनं**] अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म—इन बारह के स्वरूप का बारम्बार चिन्तवन करना, सो [**अनुप्रेक्षाः**] अनुप्रेक्षा है।

टीका - १- कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अनित्यादि चिन्तवन से शरीरादि को बुरा जान-हितकारी न जान उससे उदास होना, सो अनुप्रेक्षा है, किन्तु यह ठीक नहीं है। यह तो जैसे पहले कोई मित्र था, तब उसके प्रति राग था और बाद में उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ, उसी प्रकार पहले शरीरादिक से राग था किन्तु बाद में उसके अनित्यत्व आदि अवगुण देखकर उदासीन हुआ, उसकी यह उदासीनता द्वेषरूप है, यह यथार्थ अनुप्रेक्षा नहीं है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२९)

प्रश्न - तो यथार्थ अनुप्रेक्षा का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - जैसा स्व का-आत्मा का और शरीरादिक का स्वभाव है, वैसा पहचानकर भ्रम छोड़ना और इस शरीरादिक को भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना; ऐसी यथार्थ उदासीनता के लिये अनित्यत्व आदि का यथार्थ चिन्तवन करना, सो ही वास्तविक अनुप्रेक्षा है। उसमें जितनी वीतरागता बढ़ती है, उतना संवर है और जो राग रहता है, वह बन्ध का कारण है। यह अनुप्रेक्षा सम्यग्दृष्टि के ही होती है, क्योंकि यही सम्यक् अनुप्रेक्षा बतलायी है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है कि आत्मा का अनुसरण कर उसे देखना।

२- जैसे अग्नि से तपाया गया लोहे का पिण्ड तन्मय (अग्निमय) हो जाता है; उसी प्रकार जब आत्मा क्षमादिक में तन्मय हो जाता है, तब क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते। उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिये स्व-सन्मुखतापूर्वक अनित्य आदि बारह भावनाओं का बारम्बार चिन्तवन करना जरूरी है। ये बारह भावनाएँ आचार्यदेव ने इस सूत्र में बतलाई हैं।

३- बारह भावनाओं का स्वरूप

(१) अनित्यानुप्रेक्षा - दृश्यमान, संयोगी ऐसे शरीरादि समस्त पदार्थ इन्द्रधुनष, बिजली अथवा पानी के बुदबुदे के समान शीघ्र नाश हो जाते हैं, ऐसा विचार करना, सो अनित्य अनुप्रेक्षा है।

शुद्ध निश्चय से आत्मा का स्वरूप देव, असुर और मनुष्य के वैभवादिक से रहित है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी सदा शाश्वत है और संयोगीभाव अनित्य हैं - ऐसा चिन्तवन करना, सो अनित्यभावना है।

(२) अशरणानुप्रेक्षा - जैसे निर्जन वन में भूखे सिंह के द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार संसार में जीव को कोई शरणभूत नहीं है। यदि जीव स्वयं स्व के शरणरूप स्वभाव को पहिचानकर शुद्धभाव से धर्म का सेवन करे तो वह सभी प्रकार के दुःख से बच सकता है, अन्यथा वह प्रतिसमय भाव-मरण से दुःखी है - ऐसा चिन्तवन करना, सो अशरण अनुप्रेक्षा है।

आत्मा में ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रहते हैं, इससे आत्मा ही शरणभूत है और इनसे पर ऐसे सब अशरण हैं - ऐसा चिन्तवन करना, सो अशरण भावना है।

(३) संसारानुप्रेक्षा - इस चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव जिसका

पिता था उसी का पुत्र, जिसका पुत्र था उसी का पिता, जिसका स्वामी था उसी का दास, जिसका दास था उसी का स्वामी हो जाता है, अथवा वह स्वयं स्व का ही पुत्र हो जाता है। स्त्री, धन, देहादिक को अपना संसार मानना भूल है। जड़कर्म जीव को संसार में रुलानेवाला नहीं है – इत्यादि प्रकार से संसार के स्वरूप का और उसके कारणरूप विकारीभावों के स्वरूप का विचार करना, सो संसार अनुप्रेक्षा है।

यद्यपि आत्मा अपनी भूल से अपने में राग-द्वेष-अज्ञानरूप मलिनभावों को उत्पन्न करके संसाररूप घोर वन में भटका करता है, तथापि निश्चयनय से आत्मा विकारीभावों से और कर्मों से रहित है – ऐसा चिन्तवन करना, सो संसार भावना है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा – जीवन-मरण, संसार और मोक्ष आदि दशाओं में जीव स्वयं अकेला ही है। स्वयं स्व से ही विकार करता है, स्वयं स्व से ही धर्म करता है, स्वयं स्व से हो सुखी-दुःखी होता है। जीव में परद्रव्यों का अभाव है, इसलिए कर्म या परद्रव्य, परक्षेत्र, परकालादि जीव को कुछ भी लाभ या हानि नहीं कर सकते – ऐसा चिन्तवन करना, सो एकत्व अनुप्रेक्षा है।

मैं एक हूँ, ममतारहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला हूँ, कोई अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, शुद्ध एकत्व ही उपादेय है – ऐसा चिन्तवन करना, सो एकत्व भावना है।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा – प्रत्येक आत्मा और सर्व पदार्थ सदा भिन्न-भिन्न हैं, वे प्रत्येक अपना-अपना कार्य करते हैं। जीव, परपदार्थों का कुछ कर नहीं सकते और परपदार्थ जीव का कुछ कर नहीं सकते। जीव के विकारीभाव भी जीव के त्रैकालिक स्वभाव से भिन्न हैं, क्योंकि वे जीव से अलग हो जाते हैं। विकारीभाव चाहे तीव्र हों या मन्द, तथापि उससे आत्मा को लाभ नहीं होता। आत्मा को परद्रव्यों से और विकार से पृथक्त्व है – ऐसे तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य की वृद्धि होने से अन्त में मोक्ष होता है – इस प्रकार चिन्तवन करना, सो अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है और जो शरीरादिक बाह्य-द्रव्य हैं, वे सब आत्मा से भिन्न हैं। परद्रव्य छेदा जाय या भेदा जाय, या कोई ले जाय अथवा नष्ट हो जाय अथवा चाहे वैसा ही रहे, किन्तु परद्रव्य का परिग्रह मेरा नहीं है – ऐसा चिन्तवन करना, सो अन्यत्व भावना है।

(६) अशुचित्व अनुप्रेक्षा – शरीर स्वभाव से ही अशुचिमय है और जीव (आत्मा) स्वभाव से ही शुचिमय (शुद्धस्वरूप) है; शरीर रुधिर, माँस, मल आदि से भरा हुआ है, वह

कभी पवित्र नहीं हो सकता; इत्यादि प्रकार से आत्मा की शुद्धता का और शरीर की अशुद्धता का ज्ञान करके, शरीर का ममत्व तथा राग छोड़ना और निज आत्मा के लक्ष्य से शुद्धि को बढ़ाना। शरीर के प्रति द्वेष करना अनुप्रेक्षा नहीं है, किन्तु शरीर के प्रति इष्ट-अनिष्टपने की मान्यता और राग-द्वेष दूर करना और आत्मा के पवित्र स्वभाव की तरफ लक्ष्य करने से तथा सम्यग्दर्शनादिक को भावना के द्वारा आत्मा अत्यन्त पवित्र होता है - ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना, सो अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा देह से भिन्न, कर्मरहित, अनन्त सुख का पवित्र स्थान है। इसकी नित्य भावना करना और विकारीभाव अनित्य, दुःखरूप, अशुचिमय है - ऐसा जानकर उनसे विमुख हो जाने की भावना करना, सो अशुचिभावना है।

(७) आस्रव अनुप्रेक्षा - मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप अपने अपराध से प्रति समय नवीन विकारीभाव उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व मुख्य आस्रव है क्योंकि यह संसार की जड़ है, इसलिए इसका स्वरूप जानकर उसे छोड़ने का चिन्तवन करना, सो आस्रव भावना है।

मिथ्यात्व, अविरत आदि आस्रव के भेद हैं, वे आस्रव निश्चयनय से जीव के नहीं हैं। द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के आस्रवरहित शुद्ध आत्मा का चिन्तवन करना, सो आस्रव भावना है।

(८) संवर अनुप्रेक्षा - मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप भावों का रुकना, सो भावसंवर है, उससे नवीन कर्म का आना रुक जाय, सो द्रव्यसंवर है। प्रथम तो आत्मा के शुद्धस्वरूप के लक्ष्य से मिथ्यात्व और उसके सहचारी अनन्तानुबन्धी कषाय का संवर होता है। सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव संवर है और उससे आत्मा का कल्याण होता है - ऐसा चिन्तवन करना, सो संवर अनुप्रेक्षा है।

परमार्थनय से आत्मा में संवर ही नहीं है; इसलिए संवरभाव-विमुक्त शुद्ध आत्मा का नित्य चिन्तवन करना, सो संवर भावना है।

(९) निर्जरा अनुप्रेक्षा - अज्ञानी के सविपाक निर्जरा से आत्मा का कुछ भी भला नहीं होता; किन्तु आत्मा का स्वरूप जानकर उसके त्रिकाली स्वभाव के आलम्बन के द्वारा शुद्धता प्रगट करने से जो निर्जरा होती है, उससे आत्मा का कल्याण होता है - इत्यादि प्रकार से निर्जरा के स्वरूप का विचार करना, सो निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

स्वकाल पक्व निर्जरा (सविपाक निर्जरा) चारों गतिवालों के होती है, किन्तु तपकृत

निर्जरा (अविपाक निर्जरा) सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रतधारियों के ही होती है – ऐसा चिन्तवन करना, सो निर्जरा भावना है।

(१०) लोक अनुप्रेक्षा – लोकालोकरूप अनन्त आकाश के मध्य में चौदह राजू प्रमाण लोक है। इसके आकार तथा उसके साथ जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विचारना और परमार्थ की अपेक्षा से आत्मा स्वयं ही स्व का लोक है, इसलिए स्वयं स्व को ही देखना लाभदायक है। आत्मा की अपेक्षा से परवस्तु उसका अलोक है, इसलिए आत्मा को उसकी तरफ लक्ष्य करने की आवश्यकता नहीं है। स्व के आत्मस्वरूप लोक में (देखने-जाननेरूप स्वभाव में) स्थिर होने से परवस्तुएँ ज्ञान में सहजरूप से जानी जाती है – ऐसा चिन्तवन करना, सो लोकानुप्रेक्षा है। इससे तत्त्वज्ञान की शुद्धि होती है।

आत्मा निज के अशुभभाव से नरक तथा तिर्यञ्चगति प्राप्त करता है, शुभभाव से देव तथा मनुष्यगति पाता है और शुद्धभाव से मोक्ष प्राप्त करता है – ऐसा चिन्तवन करना, सो लोक भावना है।

(११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा – रत्नत्रयरूप बोधि प्राप्त करने में महान् पुरुषार्थ की जरूरत है, इसलिए इसका पुरुषार्थ बढ़ाना और उसका चिन्तवन करना, सो बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनय से ज्ञान में हेय और उपादेयपने का भी विकल्प नहीं है, इसलिए मुनिजनों के द्वारा संसार से विरक्त होने के लिये चिन्तवन करना, सो बोधिदुर्लभ भावना है।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा – सम्यक् धर्म के यथार्थ तत्त्वों का बारम्बार चिन्तवन करना; धर्म वस्तु का स्वभाव है; आत्मा का शुद्धस्वभाव ही स्व का-आत्मा का धर्म है तथा आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म अथवा दस लक्षणरूप धर्म अथवा स्वरूप की हिंसा नहीं करनेरूप अहिंसाधर्म, वही धर्म आत्मा को इष्ट स्थान में (सम्पूर्ण पवित्र दशा में) पहुँचाता है। धर्म ही परम रसायन है, धर्म ही चिन्तामणि रत्न है, धर्म ही कल्पवृक्ष-कामधेनु है और धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही बन्धु, हितू, रक्षक और साथ रहनेवाला है, धर्म ही शरण है, धर्म ही धन है, धर्म ही अविनाशी है, धर्म ही सहायक है और इसी धर्म का जिनेश्वर भगवान ने उपदेश दिया है – इस प्रकार चिन्तवन करना, सो धर्म अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनय से आत्मा श्रावकधर्म या मुनिधर्म से भिन्न है, इसलिए माध्यस्थभाव

अर्थात् राग-द्वेषरहित निर्मलभाव द्वारा शुद्धात्मा का चिन्तवन करना, सो धर्म भावना है।

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा)

ये बारह भेद निमित्त की अपेक्षा से हैं। धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही है, इसमें भेद नहीं होता। जहाँ राग हो, वहाँ भेद होता है।

४- ये बारह भावनाएँ ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि हैं; इसलिए निरन्तर अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करना चाहिए। (भावना और अनुप्रेक्षा ये दोनों एकार्थवाचक हैं।)

५- इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करनेवाले जीव उत्तम क्षमादि धर्म पालते हैं और परीषहों को जीतते हैं, इसलिए इनका कथन दोनों के बीच में किया गया है॥ ७॥

दूसरे सूत्र में कहे हुए संवर के छह कारणों में से पहले चार कारणों का वर्णन पूर्ण हुआ। अब पाँचवें कारण परीषहजय का वर्णन करते हैं।

परीषह सहन करने का उपदेश

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

अर्थ - **[मार्गाच्यवननिर्जरार्थं]** संवर के मार्ग से च्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिये **[परीषहाः परिसोढव्याः]** बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं (यह संवर का प्रकरण चल रहा है, अतः इस सूत्र में कहे गये 'मार्ग' शब्द का अर्थ 'संवर का मार्ग' समझना।)

टीका - १- यहाँ से लेकर सत्रहवें सूत्र का परीषह का वर्णन है। इस विषय में जीवों की बड़ी भूल होती है, इसलिए यह भूल दूर करने के लिये यहाँ परीषहजय का यथार्थ स्वरूप बतलाया है। इस सूत्र में प्रथम '**मार्गाच्यवन**' शब्द का प्रयोग किया है; इसका अर्थ है मार्ग से च्युत न होना। जो जीव मार्ग से (सम्यग्दर्शनादि से) च्युत हो जाये, उसके संवर नहीं होता, किन्तु बन्ध होता है, क्योंकि उसने परीषहजय नहीं किया, किन्तु स्वयं विकार से घाता गया। अब इसके बाद सूत्र ९-१०-११ के साथ सम्बन्ध बताने की विशेष आवश्यकता है।

२- दसवें सूत्र में कहा गया है कि दसवे, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में बाईस परीषहों में से आठ तो होती ही नहीं अर्थात् उनको जीतना नहीं है, और बाकी की चौदह परीषह होती हैं, उन्हें वह जीतता है अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि परीषहों से उस गुणस्थानवर्ती जीव घाता नहीं जाता, किन्तु उन पर जय प्राप्त करता है अर्थात् उन गुणस्थानों में भूख, प्यास आदि उत्पन्न होने का निमित्तकारणरूप कर्म का उदय होने पर भी वे निर्मोही जीव उनमें युक्त

नहीं होते, इसीलिए उनके क्षुधा-तृषा आदि सम्बन्धी विकल्प भी नहीं उठता। इस प्रकार वे जीव उन परीषहों पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करते हैं। इसी से उन गुणस्थानवर्ती जीवों के रोटी आदि का आहार, औषधादि का ग्रहण, पानी आदि का ग्रहण नहीं होता - ऐसा नियम है।

३- परीषह के बारे में यह बात विशेषरूप से ध्यान में रखना चाहिए कि संक्लेशरहित भावों से परीषहों को जीत लेने से ही संवर होता है। यदि दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में खाने-पीने आदि का विकल्प आये तो संवर कैसे हो? और परीषहजय हुआ कैसे कहलाये? दसवें सूत्र में कहा है कि चौदह परीषहों पर जय प्राप्त करने से ही संवर होता है। सातवें गुणस्थान में ही जीव के खाने-पीने का विकल्प नहीं उठता, क्योंकि वहाँ निर्विकल्पदशा है; वहाँ बुद्धिगम्य नहीं, ऐसा अबुद्धिपूर्वक विकल्प होता है, किन्तु वहाँ खाने-पीने के विकल्प नहीं होते, इसलिए उन विकल्पों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रखनेवाली आहार-पानी की क्रिया भी नहीं होती। तो फिर दसवें गुणस्थान में तो कषाय अत्यन्त सूक्ष्म हो गई है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में तो कषाय का अभाव होने से निर्विकल्पदशा जम जाती है; वहाँ खाने-पीने का विकल्प ही कहाँ से हो सकता है? खाने-पीने का विकल्प और उसके साथ निमित्तरूप से सम्बन्ध रखनेवाली खाने-पीने की क्रिया तो बुद्धिपूर्वक विकल्पदशा में ही होती है; इसलिए वह विकल्प और क्रिया तो छट्ठे गुणस्थान तक ही हो सकती है, किन्तु उससे ऊपर नहीं होती अर्थात् सातवें आदि गुणस्थान में नहीं होती। अतएव दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में उस प्रकार का विकल्प तथा बाह्य-क्रिया अशक्य है।

४- दसवें सूत्र में कहा है कि दसवें-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में अज्ञानपरीषह का जय होता है, सो अब इसके तात्पर्य का विचार करते हैं।

अज्ञानपरीषह का जय यह बतलाता है कि वहाँ अभी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु अपूर्ण ज्ञान है और उसके निमित्तरूप ज्ञानावरणीयकर्म का उदय है। उपरोक्त गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय का उदय होने पर भी जीव के उस सम्बन्धी रञ्चमात्र आकुलता नहीं है। दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म कषाय है, किन्तु वहाँ भी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि 'मेरा ज्ञान न्यून है' और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में तो अकषायभाव रहता है; इसलिए वहाँ भी ज्ञान की अपूर्णता का विकल्प नहीं हो सकता। इस तरह उनके अज्ञान (ज्ञान की अपूर्णता) है, तथापि परीषहजय वर्तता है। इसी प्रमाण से उन गुणस्थानों में भोजनपान का परीषहजय सम्बन्धी सिद्धान्त भी समझना।

५- इस अध्याय के सोलहवें सूत्र में वेदनीय के उदय से ११ परीषह बतलाई हैं। उनके नाम-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, बध, रोग, तृणस्पर्श और मल हैं।

दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में जीव के निज स्वभाव से ही इन ग्यारह परीषहों का जय होता है।

६- कर्म का उदय दो तरह से होता है - प्रदेशउदय और विपाकउदय। जब जीव विकार करता है, तब उस उदय को विपाकउदय कहते हैं और यदि जीव विकार न करे तो उसे प्रदेशउदय कहते हैं। इस अध्याय में संवर-निर्जरा का वर्णन है। यदि जीव विकार करे तो उसके न परीषहजय हो और न संवर-निर्जरा हो। परीषहजय से संवर-निर्जरा होती है। दसवें-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में भोजनपान का परीषहजय कहा है; इसीलिये वहाँ उस सम्बन्धी विकल्प या बाह्य-क्रिया नहीं होती।

७- परीषहजय का यह स्वरूप तेरहवें गुणस्थान में विराजमान तीर्थङ्कर भगवान और सामान्य केवलियों के भी लागू होता है। इसीलिए उनके भी क्षुधा-तृषा आदि भाव उत्पन्न ही नहीं होते और भोजनपान की बाह्य-क्रिया भी नहीं होती। यदि भोजनपान की बाह्यक्रिया हो तो वह परीषहजय नहीं कहा जा सकता; परीषहजय तो संवर-निर्जरा का कारण है। यदि भूख-प्यास आदि के विकल्प होने पर भी क्षुधा परीषहजय, तृषा परीषहजय आदि माना जावे तो परीषहजय संवर-निर्जरा का कारण नहीं ठहरेगा।

८- श्री नियमसार की छट्ठी गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि १ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ रोष, ५ राग, ६ मोह, ७ चिन्ता, ८ जरा, ९ रोग, १० मरण, ११ स्वेद (पसीना), १२ खेद, १३ मद (घमण्ड), १४ रति, १५ विस्मय, १६ निद्रा, १७ जन्म और १८ उद्वेग - ये अठारह महादोष आप्त अरहन्त वीतराग भगवान के नहीं होते हैं।

९- भगवान के उपदिष्ट मार्ग से न डिगने और उस मार्ग में लगातार प्रवर्त्तन करने से कर्म का द्वार रुक जाता है और इसी से संवर होता है, तथा पुरुषार्थ के कारण से निर्जरा होती है और उससे मोक्ष होता है, इसलिए परीषह सहन करना योग्य है।

१०- परीषहजय का स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

परीषहजय का स्वरूप ऊपर कहा गया है कि क्षुधादि लगने पर उस सम्बन्धी विकल्प भी न होने-न उठने का नाम परीषहजय है। कितने ही जीव भूख आदि लगने पर उसके नाश के उपाय न करने को परीषह सहना मानते हैं, किन्तु यह मिथ्यामान्यता है। भूख-

प्यास आदि के दूर करने का उपाय न किया परन्तु अन्तरङ्ग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दु:खी हुआ तथा रति आदि का कारण (इष्ट सामग्री) मिलने से सुखी हुआ, ऐसा जो सुख-दु:खरूप परिणाम है, वही आर्त-रौद्रध्यान है; ऐसे भावों से संवर कैसे हो और उसे परीषहजय कैसे कहा जाय ? यदि दु:ख के कारण मिलने पर दु:खी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उसका जाननेवाला ही रहे, तभी वह परीषहजय है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२९)

परीषह के बाईस भेद

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥

अर्थ - [क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि] क्षुध, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन - ये बाई परीषह हैं।

टीका - १- आठवें सूत्र में आये हुए 'परिसोढव्या:' शब्द का अध्याहार इस सूत्र में समझना; इसीलिए प्रत्येक शब्द के साथ 'परिसोढव्या:' शब्द लागू करके अर्थ करना अर्थात् इस सूत्र में कही गई २२ परीषह सहन करने योग्य हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा हो, वहाँ परीषह का सहन होता है अर्थात् परीषह सही जाती है। मुख्यरूप से मुनि अवस्था में परीषहजय होती है। अज्ञानी के परीषहजय होती ही नहीं, क्योंकि परीषहजय तो सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागभाव है।

२- अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परीषह सहन करना दु:ख है, किन्तु ऐसा नहीं है; 'परीषह सहन करने' का अर्थ दु:ख भोगना नहीं होता। क्योंकि जिस भाव से जीव के दु:ख होता है, वह तो आर्त्तध्यान है और वह पाप है, उसी से अशुभबन्धन है, और यहाँ तो संवर के कारणों का वर्णन चल रहा है। लोगों की अपेक्षा से बाह्य-संयोग चाहे प्रतिकूल हो या अनुकूल हो, तथापि राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतरागभाव प्रगट करने का नाम ही परीषहजय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन किया कहा जाता है। यदि अच्छे-बुरे का विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नहीं कहलाता, किन्तु राग-द्वेष करना कहलाता है। राग-द्वेष से कभी संवर होता ही नहीं, किन्तु बन्ध ही होता है। इसलिए ऐसा समझना कि जितने अंश में

वीतरागता है, उतने अंश में परीषहजय है और यह परीषहजय सुख-शान्तिरूप है। लोग परीषहजय को दु:ख कहते हैं, सो असत् मान्यता है। पुनश्च, अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान और महावीर भगवान ने परीषह के बहुत दु:ख भोगे; परन्तु भगवान तो स्व के शुद्धोपयोग द्वारा आत्मानुभव में स्थिर थे और स्वात्मानुभव के शान्तरस में झूलते थे-लीन थे, इसी का नाम परीषहजय है। यदि उस समय भगवान के दु:ख हुआ हो तो वह द्वेष है और द्वेष से बन्ध होता है किन्तु संवर-निर्जरा नहीं होती। लोग जिसे प्रतिकूल मानते हैं, ऐसे संयोगों में भी भगवान निज-स्वरूप से च्युत नहीं हुए थे, इसीलिए उन्हें दु:ख नहीं हुआ किन्तु सुख हुआ और इसी से उनके संवर-निर्जरा हुई थी। यह ध्यान रहे कि वास्तव में कोई भी संयोग अनुकूल या प्रतिकूलरूप नहीं है, किन्तु जीव स्वयं जिस प्रकार के भाव करता है, उसमें वैसा आरोप किया जाता है और इसीलिए लोग उसे अनुकूल संयोग या प्रतिकूल संयोग कहते हैं।

३- बाईस परीषहजय का स्वरूप

(१) क्षुधा - क्षुधा परीषह सहन करना योग्य है; साधुओं का भोजन तो गृहस्थ पर ही निर्भर है, भोजन के लिये कोई वस्तु उनके पास नहीं होती, वे किसी पात्र में भोजन नहीं करते, किन्तु अपने हाथ में ही भोजन करते हैं; उनके शरीर पर वस्त्रादिक भी नहीं होते, मात्र एक शरीर उपकरण है। पुनश्च, अनशन, अवमौदर्य (भूख से कम खाना) वृत्तिपरिसंख्यान (आहार को जाते हुए घर वगैरह का नियम करना) आदि तप करते हुए दो दिन, चार दिन, आठ दिन, पक्ष, महीना आदि व्यतीत हो जाते हैं और यदि योग्य काल में, योग्य क्षेत्र में अन्तरायरहित शुद्ध निर्दोष आहार न मिले तो वे भोजन (भिक्षा) ग्रहण नहीं करते और चित्त में कोई भी विषाद-दु:ख या खेद नहीं करते, किन्तु धैर्य धारण करते हैं। इस तरह क्षुधारूपी अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, तथापि धैर्यरूपी जल से उसे शान्त कर देते हैं और राग-द्वेष नहीं करते, ऐसे मुनियों को क्षुधा-परीषह सहना योग्य है।

असातावेदनीयकर्म की उदीरणा हो, तभी क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीयकर्म की उदीरणा छट्ठे गुणस्थानपर्यन्त ही होती है, उससे ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होती। छट्ठे गुणस्थान में रहनेवाले मुनि के क्षुधा उत्पन्न होती है, तथापि वे आकुलता नहीं करते और आहार नहीं लेते, किन्तु धैर्यरूपी जल से उस क्षुधा को शान्त करते हैं, तब उनके परीषहजय करना कहलाता है। छट्ठे गुणस्थान में रहनेवाले मुनि के भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय निर्दोष भोजन का योग न बने तो आहार का विकल्प तोड़कर निर्विकल्पदशा में लीन हो जाते हैं, तब उनके परीषहजय कहा जाता है।

(२) **तृषा** - प्यास को धैर्यरूपी जल से शान्त करना, सो तृषा परीषहजय है।

(३) **शीत** - ठण्ड को शान्तभाव से अर्थात् वीतरागभाव से सहन करना, सो शीत परीषहजय है।

(४) **उष्ण** - गर्मी को शान्तभाव से सहन करना अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप करना, सो उष्ण परीषहजय है।

(५) **दंशमशक** - डांस, मच्छर, चींटी, बिच्छू इत्यादि के काटने पर शान्तभाव रखना, सो दंशमशक परीषहजय है।

(६) **नाग्न्य** - नग्न रहने पर भी स्व में किसी प्रकार का विकार न होने देना, सो नाग्न्य परीषहजय है। प्रतिकूल प्रसङ्ग आने पर वस्त्रादि पहिन लेना नाग्न्य परीषह नहीं है, किन्तु यह तो मार्ग से ही च्युत होना है और परीषह तो मार्ग से च्युत न होना है।

(७) **अरति** - अरति का कारण उपस्थित होने पर भी संयम में अरति न करना, सो अरति परीषहजय है।

(८) **स्त्री** - स्त्रियों के हाव-भाव प्रदर्शन आदि चेष्टा को शान्तभाव से सहन करना अर्थात् उसे देखकर मोहित न होना, सो स्त्री परीषहजय है।

(९) **चर्या** - गमन करते हुए खेद-खिन्न न होना, सो चर्या परीषहजय है।

(१०) **निषद्या** - नियमित काल तक ध्यान के लिये आसन से च्युत न होना, सो निषद्या परीषहजय है।

(११) **शय्या** - विषम, कठोर, कंकरीले स्थानों में एक करवट से निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीर को चलायमान न करना, सो शय्या परीषहजय है।

(१२) **आक्रोश** - दुष्ट जीवों द्वारा कहे गये, कठोर शब्दों को शान्तभाव से सह लेना, सो आक्रोश परीषहजय है।

(१३) **वध** - तलवार आदि से शरीर पर प्रहार करनेवाले के प्रति भी क्रोध न करना, सो वध परीषहजय है।

(१४) **याचना** - अपने प्राणों का वियोग होना भी सम्भव हो, तथापि आहारादि की याचना न करना, सो याचना परीषहजय है।

नोट - याचना करने का नाम याचना परीषहजय नहीं है, किन्तु याचना न करने का

नाम याचना परीषहजय है। जैसे अरति-द्वेष करने का नाम अरति परीषह नहीं, किन्तु अरति न करना अरति परीषहजय है, उसी तरह याचना में भी समझना। यदि याचना करना परीषहजय हो तो गरीब लोग आदि बहुत याचना करते हैं, इसलिए उन्हें अधिक धर्म हो, किन्तु ऐसा नहीं है। कोई कहता है कि 'याचना की, इसमें मान की कमी-न्यूनता से परीषहजय कहना चाहिए' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी तरह का तीव्र कषायी कार्य के लिये यदि किसी प्रकार की कषाय छोड़े तो भी वह पापी ही है, जैसे कोई लोभ के लिये अपने अपमान को न समझे तो उसके लोभ की अति तीव्रता ही है, इसीलिए इस अपमान कराने से भी महापाप होता है तथा यदि स्वयं के किसी तरह की इच्छा नहीं है और कोई स्वयं अपमान करे तो उसे सहन करनेवाले के महान धर्म होता है। भोजन के लोभ से याचना करके अपमान कराना सो तो पाप ही है, धर्म नहीं। पुनश्च, वस्त्रादिक के लिये याचना करना सो पाप है, धर्म नहीं, (मुनि के तो वस्त्र होते ही नहीं) क्योंकि वस्त्रादि धर्म के अङ्ग नहीं हैं, वे तो शरीर-सुख के कारण हैं, इसीलिए उनकी याचना करना याचना परीषहजय नहीं, किन्तु याचना दोष है, अतएव याचना का निषेध है - ऐसा समझना।

याचना तो धर्मरूप उच्चपद को नीचा करती है और याचना करने से धर्म की हीनता होती है।

(१५) **अलाभ** - आहारादि प्राप्त न होने पर भी अपने ज्ञानानन्द के अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करना, सो अलाभ परीषहजय है।

(१६) **रोग** - शरीर में अनेक रोग हैं, तथापि शान्तभाव से उन्हें सहन कर लेना, सो रोग परीषहजय है।

(१७) **तृणस्पर्श** - चलते समय पैर में तिनका, काँटा, कङ्कर आदि लगने या स्पर्श होने पर आकुलता न करना, सो तृणस्पर्श परीषहजय है।

(१८) **मल** - मलिन शरीर देखकर ग्लानि न करना, सो मल परीषहजय है।

(१९) **सत्कारपुरस्कार** - जिनमें गुणों की अधिकता है, तथापि यदि कोई सत्कार - पुरस्कार न करे तो चित्त में कलुषता न करना, सो सत्कारपुरस्कार परीषहजय है। (प्रशंसा का नाम सत्कार है और किसी अच्छे कार्य में मुखिया बनाना सो पुरस्कार है।)

(२०) **प्रज्ञा** - ज्ञान की अधिकता होने पर भी मान न करना, सो प्रज्ञा परीषहजय है।

(२१) **अज्ञान** - ज्ञानादिक की हीनता होने पर लोगों द्वारा किये गये तिरस्कार को

शान्तभाव से सहन कर लेना और स्वयं भी अपने ज्ञान की न्यूनता का खेद न करना, सो अज्ञान-परीषहजय है।

(२२) अदर्शन - अधिक समय तक कठोर तपश्चरण करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारणऋद्धि आदि की प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए तपश्चर्या आदि धारण करना व्यर्थ है - ऐसा अश्रद्धा का भाव न होने देना, सो अदर्शन परीषहजय है।

इन बाईस परीषहों को आकुलतारहित जीतने से संवर, निर्जरा होती है।

४- इस सूत्र का सिद्धान्त

इस सूत्र में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि परद्रव्य अर्थात् जड़कर्म का उदय अथवा शरीरादि नोकर्म का संयोग-वियोग जीव के कुछ विकार नहीं कर सकते। उसका प्रतिपादन कई तरह से होता है, सो कहते हैं -

(१) भूख और प्यास ये नोकर्मरूप शरीर की अवस्था है। यह अवस्था चाहे जैसी हो तो भी जीव का कुछ नहीं कर सकती। यदि जीव शरीर की उस अवस्था को ज्ञेयरूप से जाने - उसमें रागादि न करे तो उसके शुद्धता प्रगट होती है और यदि उस समय राग-द्वेष करे तो अशुद्धता प्रगट होती है। यदि जीव शुद्धअवस्था प्रगट करे तो परीषहजय कहलाये तथा संवर-निर्जरा हो और यदि अशुद्धअवस्था प्रगट करे तो बन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव ही शुद्ध अवस्था प्रगट कर सकता है। मिथ्यादृष्टि के शुद्धअवस्था नहीं होती, इसलिए उसके परीषहजय भी नहीं होता।

(२) सम्यग्दृष्टियों के नीची अवस्था में चारित्र मिश्रभावरूप होता है अर्थात् आंशिक शुद्धता और आंशिक अशुद्धता होती है। जितने अंश में शुद्धता होती है, उतने अंश में संवर-निर्जरा है और वह यथार्थ चारित्र है और जितने अंश में अशुद्धता है, उतने अंश में बन्ध है। असातावेदनीय का उदय जीव के कोई विक्रिया-विकार उत्पन्न नहीं करता। किसी भी कर्म का उदय शरीर तथा शब्दादि नोकर्म का प्रतिकूल संयोग जीव को विकार नहीं कराते।

(देखो, समयसार, गाथा ३७२ से ३८२)

(३) शीत और उष्ण ये दोनों शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य जड़द्रव्यों की अवस्थाएँ हैं और दंशमशक शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीव-पुद्गल के संयोगरूप तिर्यञ्चादि जीवों के निमित्त से हुई शरीर की अवस्था है। यह संयोग या शरीर की अवस्था जीव के दोष का कारण नहीं, किन्तु शरीर के प्रति स्व का ममत्वभाव ही दोष का कारण है।

शरीर आदि तो परद्रव्य हैं और वे जीव को विकार पैदा नहीं कर सकते अर्थात् ये परद्रव्य जीव के लाभ या हानि (गुण या दोष) उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि वे परद्रव्य, जीव को कुछ करते हों तो जीव कभी मुक्त हो ही नहीं सकता।

(४) नाग्न्य अर्थात् नग्नत्व शरीर की अवस्था है। शरीर अनन्त जड़ परद्रव्य का स्कन्ध है। एक रजकण दूसरे रजकण का कुछ कर नहीं सकते तथा रजकण जीव को कुछ कर नहीं सकते, तथापि यदि जीव विकार करे तो वह उसकी अपनी असावधानी है। यह असावधानी न होने देना, सो परीषहजय है। चारित्रमोह का उदय जीव को विकार नहीं करा सकता, क्योंकि वह भी परद्रव्य है।

(५) अरति अर्थात् द्वेष, उसमें जीवकृत दोष चारित्रगुण की अशुद्ध अवस्था है और द्रव्यकर्म पुद्गल की अवस्था है। अरति के निमित्तरूप माने गये संयोगरूप कार्य यदि उपस्थित हों तो वे उस जीव को अरति पैदा नहीं करा सकते, क्योंकि वह तो परद्रव्य है, किन्तु जब जीव स्वयं अरति करे, तब चारित्रमोहनीयकर्म का विपाक उदयरूप निमित्त कहा जाता है।

(६) यही नियम स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार इन पाँच परीषहों में भी लागू होता है।

(७) जहाँ प्रज्ञा परीषह कही है, वहाँ ऐसा समझना कि प्रज्ञा तो ज्ञान की दशा है, वह कोई दोष का कारण नहीं है, किन्तु जब जीव के ज्ञान का अपूर्ण विकास हो, तब ज्ञानावरणीय का उदय भी होता है और उस समय यदि जीव मोह में युक्त हो तो जीव में स्व के कारण से विकार होता है; इसलिए यहाँ 'प्रज्ञा' का अर्थ मात्र 'ज्ञान' न करके 'ज्ञान में होनेवाला मद' ऐसा करना। यहाँ प्रज्ञा शब्द का उपचार से प्रयोग किया है, किन्तु निश्चयार्थ में वह प्रयोग नहीं है – ऐसा समझना। दूसरी परीषह के सम्बन्ध में कही गई समस्त बातें यहाँ भी लागू होती हैं।

(८) ज्ञान की अनुपस्थिति (गैरमौजूदगी) का नाम अज्ञान है, यह ज्ञान की अनुपस्थिति किसी बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु यदि जीव उस अनुपस्थिति को निमित्त बनाकर मोह करे तो जीव में विकार होता है। अज्ञान तो ज्ञानावरणीयकर्म के उदय की उपस्थिति बतलाता है। परद्रव्य बन्ध के कारण नहीं किन्तु स्व के दोष-अपराध बन्ध का कारण है। जीव जितना राग-द्वेष करता है, उतना बन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व-मोह नहीं होता किन्तु चारित्र की अस्थिरता से राग-द्वेष होता है। जितने अंश में राग दूर करे, उतने अंश में परीषहजय कहलाता है।

(९) अलाभ और अदर्शन परीषह में भी उपरोक्त प्रमाणानुसार अर्थ समझना; अन्तर मात्र इतना है कि अदर्शन, यह दर्शनमोहनीय की मौजूदगी बतलाता है और अलाभ, अन्तराय कर्म की उपस्थिति बतलाता है। कर्म का उदय, अदर्शन या अलाभ, यह कोई बन्ध का कारण नहीं है। जो अलाभ है, सो परद्रव्य का वियोग (अभाव) बतलाता है, परन्तु यह जीव के कोई विकार नहीं करा सकता; इसलिए यह बन्ध का कारण नहीं है।

(१०) चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल – ये छहों शरीर और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले परद्रव्यों की अवस्था है। वह मात्र वेदनीय का उदय बतलाता है, किन्तु यह किसी भी जीव के विक्रिया-विकार उत्पन्न नहीं कर सकता॥९॥

इस प्रकार बाईस परीषहों का वर्णन किया, उनमें से किस गुणस्थान में कितनी परीषह होती हैं, यह वर्णन करते हैं –

दसवें से बारहवें गुणस्थान तक की परीषहें

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश॥ १०॥

अर्थ – **[सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः]** सूक्ष्मसाम्परायवाले जीवों के और छद्मस्थ वीतरागों के **[चतुर्दश]** १४ परीषह होती हैं।

टीका – मोह और योग के निमित्त से होनेवाले आत्मपरिणामों की तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं, वे चौदह हैं। सूक्ष्मसाम्पराय यह दसवाँ गुणस्थान है और छद्मस्थ वीतरागता ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में होती है। इन तीन गुणस्थानों अर्थात् दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में चौदह परीषह होती हैं, वे इस प्रकार हैं –

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ चर्या, ७ शय्या, ८ वध, ९ अलाभ, १० रोग, ११ तृणस्पर्श, १२ मल, १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान। इनके अतिरिक्त १ नग्नता, २ संयम में अप्रीति (अरति) ३- स्त्री अवलोकन-स्पर्श, ४- आसन (निषद्या) ५- दुर्वचन (आक्रोश), ६- याचना, ७- सत्कार-पुरस्कार और ८- अदर्शन, मोहनीय कर्मजनित ये आठ परीषहें वहाँ नहीं होतीं।

१. प्रश्न – दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में तो लोभ-कषाय का उदय है, तो फिर वहाँ ये आठ परीषहें क्यों नहीं होतीं?

उत्तर – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में मोह का उदय अत्यन्त सूक्ष्म है-अल्प है अर्थात्

नाममात्र है, इसीलिए वहाँ उपरोक्त १४ परीषहों का सद्भाव और बाकी की ८ परीषहों का अभाव कहा सो ठीक है; क्योंकि इस गुणस्थान में एक संज्वलन लोभ-कषाय का उदय है और वह भी बहुत थोड़ा है, कथनमात्र को है; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय और वीतराग छद्मस्थ की समानता मानकर चौदह परीषह कही हैं, यह नियम युक्ति-युक्त है।

२. प्रश्न - ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहकर्म के उदय का अभाव है तथा दसवें गुणस्थान में वह अति सूक्ष्म है, इसीलिए उन जीवों के क्षुधा, तृषादि चौदह प्रकार की वेदना नहीं होती, तो फिर ऐसा क्यों कहा कि इन गुणस्थानों में परीषह विद्यमान है ?

उत्तर - यह तो ठीक ही है कि वहाँ वेदना नहीं है, किन्तु सामर्थ्य (शक्ति) की अपेक्षा से वहाँ चौदह परीषहों की उपस्थिति कहना ठीक है। जैसे सर्वार्थसिद्धि विमान के देवों के सातवें नरक में जाने की सामर्थ्य है, किन्तु उन देवों के वहाँ जाने का प्रयोजन नहीं है तथा वैसा रागभाव नहीं है, इसीलिए गमन नहीं है; उसी प्रकार दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में चौदह परीषहों का कथन उपचार से किया है।

३. प्रश्न - इस सूत्र में नय-विभाग किस तरह लागू होता है ?

उत्तर - निश्चयनय से दस, ग्यारह या बारहवें गुणस्थान में कोई भी परीषह नहीं हैं, किन्तु व्यवहारनय से वहाँ चौदह परीषह हैं। 'व्यवहारनय से हैं' का अर्थ यह है कि यथार्थ में ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादिक की अपेक्षा से उनका उपचार किया है - ऐसा समझना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस रूप भी है और इस रूप भी है' अर्थात् वहाँ परीषह हैं, यह भी ठीक है और नहीं भी हैं, यह भी ठीक है, ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण नहीं होता।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५१)

सारांश यह है कि वास्तव में उन गुणस्थानों में कोई भी परीषह नहीं होती, सिर्फ उस चौदह प्रकार के वेदनीयकर्म का मन्द उदय है, इतना बताने के लिये उपचार से वहाँ परीषह कही हैं, किन्तु यह मानना मिथ्या है कि वहाँ जीव उस उदय में युक्त होकर दुःखी होता है अथवा उसके वेदना होती है।

अब तेरहवें गुणस्थान में परीषह बतलाते हैं -

एकादश जिने ॥११॥

अर्थ - [**जिने**] तेरहवें गुणस्थान में जिनेन्द्रदेव के [**एकादश**] ऊपर बतलाई गई

चौदह में से अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान इन तीन को छोड़कर बाकी ग्यारह परीषह होती हैं।

टीका - १- यद्यपि मोहनीयकर्म का उदय न होने से भगवान के क्षुधादिक की वेदना नहीं होती, इसलिए उनके परीषह भी नहीं होती; तथापि उन परीषहों के निमित्तकारणरूप वेदनीयकर्म का उदय विद्यमान है; अत: वहाँ भी उपचार से ग्यारह परीषह कही हैं। वास्तव में उनके एक भी परीषह नहीं है।

२- **प्रश्न** - यद्यपि मोहकर्म के उदय की सहायता के अभाव में भगवान के क्षुधा आदि की वेदना नहीं है, तथापि वहाँ वह परीषह क्यों कही है?

उत्तर - यह तो ठीक है कि भगवान के क्षुधादि की वेदना नहीं है, किन्तु मोहकर्मजनित वेदना के न होने पर भी द्रव्यकर्म की विद्यमानता बताने के लिये वहाँ उपचार से परीषह कही गई हैं। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरणकर्म के नष्ट होने से युगपत् समस्त वस्तुओं के जाननेवाले केवलज्ञान के प्रभाव से उनके चिन्ता का निरोधरूप ध्यान सम्भव नहीं है, तथापि ध्यान का फल जो अवशिष्ट कर्मों की निर्जरा है, उसकी सत्ता बताने के लिये वहाँ उपचार से ध्यान बतलाया है; उसी प्रकार यहाँ ये परीषह भी उपचार से बतलाई हैं। प्रवचनसार गाथा १९८ में कहा है कि भगवान परमसुख को ध्याते हैं।

३. **प्रश्न** - इस सूत्र में नय-विभाग किस तरह से लागू होता हैं?

उत्तर - तेरहवें गुणस्थान में ग्यारह परीषह कहना, सो व्यवहारनय है। व्यवहारनय का अर्थ करने का तरीका यों हैं कि 'वास्तव में ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से वह उपचार किया है', निश्चयनय से केवलज्ञानी के तेरहवें गुणस्थान में परीषह नहीं होतीं।

४. **प्रश्न** - व्यवहारनय का क्या दृष्टान्त है और वह यहाँ कैसे लागू होता है?

उत्तर - 'घी का घड़ा' यह व्यवहारनय का कथन है। इसका ऐसा अर्थ है कि 'जो घड़ा है, सो मिट्टीरूप है, घीरूप नहीं है' *(देखो, श्री समयसार गाथा ६७ टीका तथा कलश ४०)*; उसी प्रकार 'जिनेन्द्रदेव के ग्यारह परीषह हैं' यह व्यवहार-नय का कथन है। इसका अर्थ इस प्रकार है कि 'जिन अनन्त पुरुषार्थरूप हैं, परीषह के दु:खरूप नहीं' मात्र निमित्तरूप परद्रव्य की उपस्थिति का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कथन किया है कि 'परीषह हैं' परन्तु इस कथन से ऐसा नहीं समझना कि वीतराग के दु:ख या वेदना है। यदि उस कथन का ऐसा अर्थ माना जावे कि वीतराग के दु:ख या वेदना है तो व्यवहारनय के कथन का अर्थ निश्चयनय के अनुसार ही किया और ऐसा अर्थ करना बड़ी भूल है-अज्ञान है। *(देखो, समयसार गाथा ३२४ से ३२७ टीका)*

५. प्रश्न – इस शास्त्र में, इस सूत्र में जो ऐसा कथन किया कि 'जिन भगवान के ग्यारह परीषह हैं' सो व्यवहारनय का कथन निमित्त बताने के लिये है – ऐसा कहा तो इस सम्बन्धी निश्चयनय का कथन किस शास्त्र में है?

उत्तर – श्री नियमसारजी गाथा ६ में कहा है कि वीतराग भगवान तेरहवें गुणस्थान में हों, तब उनके अठारह महादोष नहीं होते। वे दोष इस प्रकार हैं – १. क्षुधा, २. तृषा, ३. भय, ४. क्रोध, ५. राग, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मृत्यु, ११. पसीना, १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. आश्चर्य, १६. निद्रा, १७. जन्म और १८. आकुलता।

यह निश्चयनय का कथन है और यह यथार्थ स्वरूप है।

केवली भगवान के आहार नहीं होता, इस सम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण

(१) यदि ऐसा माना जाए कि इस सूत्र में कही गई परीषहों की वेदना वास्तव में भगवान के होती है तो बहुत दोष आते हैं। यदि क्षुधादिक दोष हों तो आकुलता हो और यदि आकुलता हो तो फिर भगवान के अनन्तसुख कैसे हो सकता है? हाँ, यदि कोई ऐसा कहे कि शरीर को भूख लगती है, इसीलिए आहार लेता है किन्तु आत्मा तद्रूप नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है – यदि आत्मा तद्रूप नहीं होता तो फिर ऐसा क्यों कहते हो कि क्षुधादिक दूर करने के उपायरूप आहारादिक का ग्रहण किया? क्षुधादिक के द्वारा पीड़ित होनेवाला ही आहार ग्रहण करता है। पुनश्च, यदि ऐसा माना जाए कि जैसे कर्मोदय से विहार होता है, वैसे ही आहार ग्रहण भी होता है, सो यह भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि विहार तो विहायोगति नामक नामकर्म के उदय से होता है तथा वह पीड़ा का कारण नहीं है और बिना इच्छा के भी किसी जीव के विहार होता देखा जाता है, परन्तु आहार-ग्रहण तो प्रकृति के उदय से नहीं, किन्तु जब क्षुधादिक के द्वारा पीड़ित हो तभी जीव आहार ग्रहण करते हैं। पुनश्च, आत्मा पवन आदिक को प्रेरित करने का भाव करे, तभी आहार का निगलना होता है, इसीलिए विहार के समान आहार सम्भव नहीं होता अर्थात् केवली भगवान के विहार तो सम्भव है, किन्तु आहार सम्भव नहीं है।

(२) यदि यों कहा जाए कि केवलीभगवान के सातावेदनीयकर्म के उदय से आहार का ग्रहण होता है, सो भी नहीं बनता, क्योंकि जो जीव क्षुधादिक के द्वारा पीड़ित हो और आहारादिक के ग्रहण से सुख माने, उसके आहारादि साता के उदय से हुए कहे जा सकते हैं। सातावेदनीय के उदय से आहारादिक का ग्रहण स्वयं तो होता नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो तो देवों के तो सातावेदनीय का उदय मुख्यरूप से होता है; तथापि वे निरन्तर आहार क्यों नहीं

करते ? पुनश्च, महामुनि उपवासादि करते हैं, उनके साता का भी उदय होता है, तथापि आहार का ग्रहण नहीं और निरन्तर भोजन करनेवाले के भी असाता का उदय सम्भव है। इसलिए केवली भगवान के बिना इच्छा के भी जैसे विहायोगति के उदय से विहार सम्भव है; वैसे ही बिना इच्छा के केवल सातावेदनीयकर्म के उदय से ही आहार-ग्रहण सम्भव नहीं होता।

(३) पुनश्च, कोई यह कहे कि सिद्धान्त में केवली के क्षुधादिक ग्यारह परीषह कही हैं, इसलिए उनके क्षुधा का सद्भाव सम्भव है और वह क्षुधा आहार के बिना कैसे शान्त हो सकती है ? इसलिए उनके आहारादिक भी मानना चाहिए ? इसका समाधान - कर्मप्रकृतियों का उदय मन्द-तीव्र भेदसहित होता है। वह अति मन्द होने पर उसके उदयजनित कार्य की व्यक्तता मालूम नहीं होती, इसीलिए मुख्यरूप से उसका अभाव कहा जाता है, किन्तु तारतम्यरूप से उसका सद्भाव कहा जाता है। जैसे - नववें गुणस्थान में वेदादिक का मन्द उदय है, वहाँ मैथुनादिक क्रिया व्यक्त नहीं है, इसीलिए वहाँ ब्रह्मचर्य ही कहा है, तथापि वहाँ तारतम्यता से मैथुनादिक का सद्भाव कहा जाता है। उसी प्रकार केवली भगवान के असाता का अति मन्द उदय है, उसके उदय में ऐसी भूख नहीं होती कि जो शरीर को क्षीण करे। पुनश्च, मोह के अभाव से क्षुधाजनित दुःख भी नहीं है और इसीलिए आहार ग्रहण करना भी नहीं है। अतः केवली भगवान के क्षुधादिक का अभाव ही है, किन्तु मात्र उदय की अपेक्षा से तारतम्यता से उसका सद्भाव कहा जाता है।

(४) शङ्का - केवली भगवान के आहारादिक के बिना भूख (क्षुधा) की शान्ति कैसे होती है ?

उत्तर - केवली के असाता का उदय अत्यन्त मन्द है; यदि ऐसी भूख लगे कि जो आहरादिक के द्वारा ही शान्त हो तो मन्द उदय कहाँ रहा ? देव, भोगभूमिया आदि के असाता का किञ्चित् मन्द उदय है, तथापि उनके बहुत समय के बाद किञ्चित् ही आहार ग्रहण होता है, तो फिर केवली के तो असाता का उदय अत्यन्त ही मन्द है, इसलिए उनके आहार का अभाव ही है। असाता का तीव्र उदय हो और मोह के द्वारा उसमें युक्त हो तो ही आहार हो सकता है।

(५) शङ्का - देवों तथा भोगभूमियों का शरीर ही ऐसा है कि उनको अधिक समय के बाद थोड़ी भूख लगती है, किन्तु केवली भगवान का शरीर तो कर्मभूमि का औदारिकशरीर है, इसलिए उनका शरीर बिना आहार के उत्कृष्टरूप से कुछ कम एक कोटि पूर्व तक कैसे रह सकता है ?

समाधान - देवादिकों का शरीर भी कर्म के ही निमित्त से है। यहाँ केवली भगवान के शरीर में पहले केश-नख बढ़ते थे, छाया होती थी और निगोदिया जीव रहते थे, किन्तु केवलज्ञान होने पर अब केश-नख नहीं बढ़ते, छाया नहीं होती और निगोदिया जीव नहीं होते। इस तरह अनेक प्रकार से शरीर की अवस्था अन्यथा हुई, उसी प्रकार बिना आहार के भी शरीर जैसा का तैसा बना रहे - ऐसी अवस्था भी हुई।

प्रत्यक्ष में देखो, अन्य जीवों के वृद्धत्व आने पर शरीर शिथिल हो जाता है, परन्तु केवली भगवान के तो आयु के अन्त तक भी शरीर शिथिल नहीं होता; इसलिए अन्य मनुष्य के शरीर में और केवली भगवान के शरीर में समानता सम्भव नहीं।

(६) शङ्का - देव आदि के तो आहार ही ऐसा है कि अधिक समय की भूख मिट जाए, किन्तु केवली भगवान के बिना आहार के शरीर कैसे पुष्ट रह सकता है ?

समाधान - भगवान के असाता का उदय अति मन्द होता है तथा प्रति समय परम औदारिकशरीर-वर्गणाओं का ग्रहण होता है; इसलिए ऐसी नोकर्म-वर्गणाओं का ग्रहण होता है कि जिससे उनके क्षुधादिक की उत्पत्ति ही नहीं होती और न शरीर शिथिल होता है।

(७) पुनश्च, अन्न आदि का आहार ही शरीर की पुष्टता का कारण नहीं है। प्रत्यक्ष में देखो कि कोई थोड़ा आहार करता है, तथापि शरीर अधिक पुष्ट होता है और कोई अधिक आहार करता है, तथापि शरीर क्षीण रहता है।

पवनादि का साधन करनेवाले अर्थात् प्राणायाम करनेवाले अधिक काल तक आहार नहीं लेते, तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है और ऋद्धिधारी मुनि बहुत उपवास करते हैं, तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है। तो फिर केवली भगवान के तो सर्वोत्कृष्टता है, इसलिए उनके अन्नादिक के बिना भी शरीर पुष्ट बना रहता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

(८) पुनश्च, केवलीभगवान आहार के लिये कैसे जाएँ तथा किस तरह याचना करें ? वे जब आहार के लिये जाएँ तब समवसरण खाली क्यों रहे ? अथवा यदि ऐसा मानें कि कोई अन्य उनको आहार लाकर दे तो उनके अभिप्राय की बात को कौन जानेगा ? और पहले उपवासादिक की प्रतिज्ञा की थी उसका निर्वाह किस तरह होगा ? पुनश्च, जीव-अन्तराय (प्राणियों का घातादि) सर्वत्र मालूम होता है, वहाँ आहार किस तरह करें ? इसलिए केवली के आहार मानना, सो विरुद्धता है।

(९) पुनश्च, कोई यों कहे कि 'वे आहार ग्रहण करते हैं परन्तु किसी को दिखाई नहीं

देता ऐसा अतिशय है' सो यह भी असत् है, क्योंकि आहार ग्रहण तो निंद्य हुआ; यदि ऐसा अतिशय भी मानें कि उन्हें कोई नहीं देखता तो भी आहार-ग्रहण का निंद्यपना रहता है। पुनश्च, भगवान के पुण्य के कारण से दूसरे के ज्ञान का क्षयोपशम (विकास) किस तरह आवृत हो जाता है? इसलिए भगवान के आहार मानना और दूसरा न देखे, ऐसा अतिशय मानना ये दोनों बातें न्याय-विरुद्ध है।

५. कर्म-सिद्धान्त के अनुसार केवली के अन्नाहार होता ही नहीं

(१) जब असातावेदनीय की उदीरणा हो, तब क्षुधा उत्पन्न होती है। इस वेदनीय की उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, इससे ऊपर नहीं। अतएव वेदनीय की उदीरणा के बिना केवली के क्षुधादि की बाधा कहाँ से हो?

(२) जैसे निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणी प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान पर्यन्त है, परन्तु उदीरणा के बिना निद्रा नहीं व्यापती अर्थात् निद्रा नहीं आती। पुनश्च, यदि निद्राकर्म के उदय से ही ऊपर के गुणस्थानों में निद्रा आ जाए तो वहाँ प्रमाद हो और ध्यान का अभाव हो जाए। यद्यपि निद्रा, प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान तक है, तथापि अप्रमत्तदशा में मन्द उदय होने से निद्रा नहीं व्यापती (नहीं रहती)। पुनश्च, संज्वलन का मन्द उदय होने से अप्रमत्त गुणस्थानों में प्रमाद का अभाव है, क्योंकि प्रमाद तो संज्वलन के तीव्र उदय में ही होता है। संसारी जीव के वेद के तीव्र उदय में युक्त होने से मैथुन संज्ञा होती है और वेद का उदय नववें गुणस्थान तक है; परन्तु श्रेणी चढ़े हुए संयमी मुनि के वेद नोकषाय का मन्द उदय होने से मैथुन संज्ञा का अभाव है। उदयमात्र से मैथुन की वाञ्छा उत्पन्न नहीं होती।

(३) केवली भगवान के वेदनीय का अति मन्द उदय है, इसी से क्षुधादिक उत्पन्न नहीं होते; शक्तिरहित असातावेदनीय केवली के क्षुधादिक के लिये निमित्तता के योग्य नहीं है। जैसे स्वयंभूरमण समुद्र के समस्त जल में अनन्तवें भाग जहर की कणी उस पानी को विषरूप होने के लिये योग्य निमित्त नहीं है, उसी प्रकार अनन्तगुण अनुभागवाले सातावेदनीय के उदयसहित केवली भगवान के अनन्तवें भाग में जिसका असंख्यातबार खण्ड हो गया है - ऐसा असातावेदनीय कर्म क्षुधादिक की वेदना उत्पन्न नहीं कर सकता।

(४) अशुभकर्म प्रकृतियों की विष-हलाहलरूप जो शक्ति है, उसका अधःप्रवृत्तकरण में अभाव हो जाता है और निम्ब (नीम) कांजीरूप रस रह जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थान में गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडोत्कीर्ण और अनुभागकांडोत्कीर्ण ये चार आवश्यक

होते हैं; इसलिए केवली भगवान के असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियों का रस असंख्यातवार घटकर अनन्तानन्तवें भाग रह गया है, इसी कारण असाता में सामर्थ्य कहाँ रही है, जिससे केवली भगवान के क्षुधादिक उत्पन्न करने में निमित्त होता?

(अर्थप्रकाशिका, पृष्ठ ४४६ द्वितीयावृत्ति)

६. सूत्र १०-११ का सिद्धान्त और ८वें सूत्र के साथ उसका सम्बन्ध

यदि वेदनीयकर्म का उदय हो, किन्तु मोहनीयकर्म का उदय न हो तो जीव के विकार नहीं होता (सूत्र ११) क्योंकि जीव के अनन्तवीर्य प्रगट हो चुका है।

वेदनीयकर्म का उदय हो और यदि मोहनीयकर्म का मन्द उदय हो तो वह भी विकार का निमित्त नहीं होता (सूत्र १०) क्योंकि वहाँ जीव के अधिक पुरुषार्थ प्रगट हो गया है।

दसवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के जीवों के पूर्ण परीषहजय होता है और इसीलिए उनके विकार नहीं होता। यदि उत्तम गुणस्थानवाले परीषहजय नहीं कर सकते तो फिर आठवें सूत्र का यह उपदेश व्यर्थ हो जायेगा कि 'संवर के मार्ग से च्युत न होना और निर्जरा के लिये परीषह सहन करना योग्य है।' दसवें तथा ग्यारहवें सूत्र में उत्तम गुणस्थानों में जो परीषह कही हैं, वे उपचार से हैं, निश्चय से नहीं - ऐसा समझना॥ ११॥

छट्ठे से नववें गुणस्थान तक की परीषह

बादरसाम्पराये सर्वे॥ १२॥

अर्थ - [**बादरसाम्पराये**] बादरसाम्पराय अर्थात् स्थूलकषायवाले जीवों के [**सर्वे**] सर्व परीषह होती हैं।

टीका - १. छट्ठे से नववें गुणस्थान को बादर साम्पराय कहते हैं। इन गुणस्थानों में परीषह के कारणभूत सभी कर्मों का उदय है, किन्तु जीव जितने अंश में उनमें युक्त नहीं होता उतने अंश में (आठवें सूत्र के अनुसार) परीषहजय करता है।

२. सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन संयमों में से किसी एक में समस्त परीषहें सम्भव हैं॥१२॥

इस तरह यह वर्णन किया कि किस गुणस्थान में कितनी परीषहजय होती हैं। अब किस-किस कर्म के उदय से कौन-कौन सी परीषह होती है - सो बतलाते हैं -

ज्ञानावरणकर्म के उदय से होनेवाली परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने॥ १३॥

अर्थ - [**ज्ञानावरणे**] ज्ञानावरणीय के उदय से [**प्रज्ञाऽज्ञाने**] प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषहें होती हैं।

टीका - प्रज्ञा आत्मा का गुण है, वह परीषह का कारण नहीं होता; किन्तु ज्ञान का विकास हो और उसके मदजनित परीषह हो तो उस समय ज्ञानावरणकर्म का उदय होता है। यदि ज्ञानी जीव मोहनीयकर्म के उदय में लगे-जुड़े तो उसके अनित्य मद आ जाता है, किन्तु ज्ञानी जीव पुरुषार्थपूर्वक जितने अंश में उसमें युक्त न हो, उतने अंश में उनके परीषहजय होता है। *(देखो, सूत्र ८)*

दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय कर्म के उदय से होनेवाली परीषह

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ - [**दर्शनमोहांतराययोः**] दर्शनमोह और अन्तरायकर्म के उदय से [**अदर्शनाऽलाभौ**] क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्र की टीका के अनुसार समझना॥ १४॥

अब चारित्रमोहनीय के उदय से होनेवाली परीषह बतलाते हैं

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५ ॥

अर्थ - [**चारित्रमोहे**] चारित्रमोहनीय के उदय से [**नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः**] नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होती हैं।

यहाँ तेहरवें सूत्र की टीका के अनुसार समझना॥ १५॥

वेदनीयकर्म के उदय से होनेवाली परीषह

वेदनीये शेषाः ॥१६ ॥

अर्थ - [**वेदनीये**] वेदनीयकर्म के उदय से [**शेषाः**] बाकी की ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये परीषह होती हैं।

यहाँ भी तेरहवें सूत्र की टीका के अनुसार समझना॥१६॥

अब एक जीव के एक साथ होनेवाली परीषहों की संख्या बतलाते हैं

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

अर्थ - [**एकस्मिन् युगपत्**] एक जीव के एक साथ [**एकादयो**] एक से लेकर [**आ एकोनविंशतेः**] उन्नीस परीषह तक [**भाज्याः**] जानना चाहिए।

१. एक जीव के एक समय में अधिक से अधिक १९ परीषह हो सकती हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दो में से एक समय में एक ही होती है और शय्या, चर्या तथा निषद्या (सोना, चलना तथा आसन में रहना) इन तीन में से एक समय में एक ही होती है। इस तरह इन तीन परीषहों के कम करने से बाकी की उन्नीस परीषह हो सकती हैं।

२. प्रश्न - प्रज्ञा और अज्ञान ये दोनों भी एक साथ नहीं हो सकते, इसलिए एक परीषह इन सबमें से कम करना चाहिए।

उत्तर - प्रज्ञा और अज्ञान इन दोनों के साथ रहने में कोई बाधा नहीं है; एक ही काल में एक जीव के श्रुतज्ञानादि की अपेक्षा से प्रज्ञा और अवधिज्ञानादि की अपेक्षा से अज्ञान ये दोनों साथ रह सकते हें।

३. प्रश्न - औदारिकशरीर की स्थिति कवलाहार (अन्न-पानी) के बिना देशोनकोटी पूर्व (कुछ कम एक करोड़ पूर्व) कैसे रहती है ?

उत्तर - आहार के ६ भेद हैं - १. नोकर्म आहार, २. कर्माहार, ३. कवलाहार, ४. लेपाहार, ५. ओजाहार और ६. मनसाहार। ये छह प्रकार यथायोग्य देह की स्थिति के कारण हैं। जैसे (१) केवली के नोकर्म आहार बताया है। उनके लाभान्तरायकर्म के क्षय से अनन्त लाभ प्रगट हुआ है, अतः उनके शरीर के साथ अपूर्व असाधारण पुद्गलों का प्रतिसमय सम्बन्ध होता है; यह नोकर्म का आहार कहा है। (२) नारकियों के नरकायु नामकर्म का उदय है, वह उनके देह की स्थिति का कारण है, इसलिए उनके कर्माहार कहा जाता है। (३) मनुष्यों और तिर्यञ्चों के कवलाहार प्रसिद्ध है। (४) वृक्ष जाति के लेपाहार है। (५) पक्षी के अण्डे के ओजाहार है। शुक्र नामकी धातु की उपधातु को ओज कहते हैं। जो अण्डों को पक्षी सेवे उसे ओजाहार नहीं समझना। (६) देव मन से तृप्त होते हैं, उनके मनसाहार कहा जाता है।

यह छह प्रकार का आहार, देह की स्थिति का कारण है। इस सम्बन्धी गाथा निम्नप्रकार है -

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पाहारो य।
उज्जमणोविय कमसो आहारो छव्विहो भणिओ॥
णोकम्मतित्थयरे कम्मं च णयरे मानसो अमरे।
णरपसु कवलाहारो पंखी उज्जो इगि लेऊ॥

अर्थ – १. नोकर्म आहार, २. कर्माहार, ३. कवलाहार, ४. लेपाहार, ५. ओजाहार और ६. मनोआहार, इस प्रकार क्रम से ६ प्रकार का आहार है। उनमें नोकर्म आहार तीर्थङ्कर के; कर्माहार नारकी के; मनोआहार देव के; कवलाहार मनुष्य तथा पशु के; ओजाहार पक्षी के अण्डों के; और वृक्ष के लेपाहार होता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवली के कवलाहार नहीं होता।

प्रश्न – मुनि की अपेक्षा से छट्ठे गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक की परीषहों का कथन इस अध्याय के १३ से १६ तक के सूत्रों में किया है। यह व्यवहारनय की अपेक्षा से है या निश्चय की अपेक्षा से?

उत्तर – यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से है, क्योंकि यह जीव के परवस्तु के साथ का सम्बन्ध बतलाता है, यह कथन निश्चय की अपेक्षा से नहीं है।

प्रश्न – व्यवहारनय की मुख्यतासहित कथन हो, उसे मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३६९ में यों जानने के लिए कहा है कि 'ऐसा नहीं किन्तु निमित्तादिक की अपेक्षा से यह उपचार किया है' तो ऊपर कहे गये १३ से १६ तक के कथन में कैसे लागू होता है?

उत्तर – उन सूत्रों में जीव के जिन परीषहों का वर्णन किया है, वह व्यवहार से है। इसका सत्यार्थ ऐसा है कि जीव जीवमय है, परीषहमय नहीं। जितने अंश में जीव में परीषह वेदन हो, उतने अंश में सूत्र १३ से १६ में कहे गये कर्म का उदय निमित्त कहलाता है, किन्तु निमित्त ने जीव को कुछ नहीं किया।

प्रश्न – १३ से १६ तक के सूत्रों में परीषहों के बारे में जिस कर्म का उदय कहा है, उसके और सूत्र १७ में परीषहों की जो एक साथ संख्या कही उसके इस अध्याय के ८वें सूत्र में कहे गये निर्जरा का व्यवहार कैसे लागू होता है?

उत्तर – जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा जितने अंश में परीषह-वेदन न करे उतने अंश में उसने परीषहजय किया और इसलिए उतने अंश में सूत्र १३ से १६ तक में कहे गये कर्मों की निर्जरा की, ऐसा आठवें सूत्र के अनुसार कहा जा सकता है; इसे व्यवहार-कथन कहा

जाता है, क्योंकि परवस्तु (कर्म) के साथ के सम्बन्ध का कितना अभाव हुआ, यह इसमें बताया गया है।

इस प्रकार परीषहजय का कथन पूर्ण हुआ॥ १७॥

दूसरे सूत्र में कहे गये संवर के ६ कारणों में से यहाँ पाँच कारणों का वर्णन पूर्ण हुआ; अब अन्तिम कारण चारित्र का वर्णन करते हैं –

चारित्र के पाँच भेद

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-
यथाख्यातमिति चारित्रम्॥१८॥

अर्थ – **[सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातं]** सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात **[इति चारित्रम्]** इस प्रकार चारित्र के ५ भेद हैं।

टीका – १. सूत्र में कहे गये शब्दों की व्याख्या

(१) सामायिक – निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान की एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्ययोग का त्याग करके शुद्धात्मस्वरूप में अभेद होने पर शुभाशुभभावों का त्याग होना, सो सामायिकचारित्र है। यह चारित्र छट्ठे से नववें गुणस्थान तक होता है।

(२) छेदोपस्थापना – कोई जीव सामायिक चारित्ररूप हुआ हो और उससे हटकर सावद्य व्यापाररूप हो जाय, पश्चात् प्रायश्चित द्वारा उस सावद्य व्यापार से उन्नत हुए दोषों को छेदकर आत्मा को संयम में स्थिर करे, सो छेदोपस्थापनाचारित्र है। यह चारित्र छट्ठे से नववें गुणस्थान तक होता है।

(३) परिहारविशुद्धि – जो जीव जन्म से ३० वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थङ्कर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नववें पूर्व का अध्ययन करे, उसके यह संयम होता है। जो जीवों की उत्पत्ति-मरण के स्थान, काल की मर्यादा, जन्म-योनि के भेद, द्रव्य-क्षेत्र का स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभी का जाननेवाला हो और प्रमादरहित महावीर्यवान हो, उसके शुद्धता के बल से कर्म की बहुत (प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करनेवाले मुनियों के यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है, उनके शरीर से जीवों की विराधना नहीं होती। यह चारित्र ऊपर बतलाये गये साधु के छट्ठे और सातवें गुणस्थान में होता है।

(४) सूक्ष्मसाम्पराय - जब अति सूक्ष्म लोभकषाय का उदय हो, तब जो चारित्र होता है, वह सूक्ष्मसाम्पराय है। यह चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है।

(५) यथाख्यात - सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्धस्वरूप में स्थिर होना, सो यथाख्यातचारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

२. शुद्धभाव से संवर होता है किन्तु शुभभाव से नहीं होता; इसलिए इन पाँचों प्रकार में जितना शुद्धभाव है, उतना चारित्र है - ऐसा समझना।

३. छट्ठे गुणस्थान की दशा

सातवें गुणस्थान से तो निर्विकल्पदशा होती है। छट्ठे गुणस्थान में मुनि के जब आहार-विहारादि का विकल्प होता है, तब भी उनके (तीन जाति की कषाय न होने से) संवरपूर्वक निर्जरा होती है और शुभभाव का अल्प बन्ध होता है; जो विकल्प उठता है, उस विकल्प के स्वामित्व का उनके नकार वर्तता है, अकषायदृष्टि और चारित्र से जितने अंश में राग दूर होता है, उतने अंश में संवर-निर्जरा है तथा जितना शुभभाव है, उतना बन्धन है। विशेष यह है कि पञ्चम गुणस्थानवाला उपवासादि वा प्रायश्चितादि तप करे, उसी काल में भी उसे निर्जरा अल्प और छट्ठे गुणस्थानवाला आहार-विहार आदि क्रिया करे, उस काल में भी उसके निर्जरा अधिक है, इससे ऐसा समझना कि बाह्य प्रकृति के अनुसार निर्जरा नहीं है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३२)

४. चारित्र का स्वरूप

कितनेक जीव मात्र हिंसादिक पाप के त्याग को चारित्र मानते हैं और महाव्रतादिरूप शुभोपयोग को उपादेयरूप से ग्रहण करते हैं, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। इस शास्त्र के सातवें अध्याय में आस्रव पदार्थ का निरूपण किया गया है, वहाँ महाव्रत और अणुव्रत को आस्रवरूप माना है, तो वह उपादेय कैसे हो सकता है ? आस्रव तो बन्ध का कारण है और चारित्र, मोक्ष का कारण है, इसलिए उन महाव्रतादिरूप आस्रवभावों के चारित्रपना सम्भव नहीं होता, किन्तु जो सर्व कषायरहित उदासीनभाव है, उसी का नाम चारित्र है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव के कुछ भाव वीतराग हुए होते हैं और कुछ भाव सराग होते हैं; उनमें जो अंश वीतरागरूप है, वही चारित्र है और वह संवर का कारण है।

(देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२९)

५. चारित्र में भेद किसलिये बतायें ?

प्रश्न – जो वीतरागभाव है, सो चारित्र है और वीतरागभाव तो एक ही तरह का है, तो फिर चारित्र के भेद क्यों बतलाये ?

उत्तर – वीतरागभाव एक तरह का है, परन्तु वह एकसाथ पूर्ण प्रगट नहीं होता, किन्तु क्रम-क्रम से प्रगट होता है, इसलिए उसमें भेद होते हैं। जितने अंश में वीतरागभाव प्रगट होता है, उतने अंश में चारित्र प्रगट होता है, इसलिए चारित्र के भेद कहे हैं।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो छट्ठे गुणस्थान में जो शुभभाव है, उसे भी चारित्र क्यों कहते हो ?

उत्तर – वहाँ शुभभाव को यथार्थ में चारित्र नहीं कहा जाता, किन्तु उस शुभभाव के समय जिस अंश में वीतरागभाव है, वास्तव में उसे चारित्र कहा जाता है।

प्रश्न – कितनेक जगह शुभभावरूप समिति, गुप्ति, महाव्रतादि को भी चारित्र कहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर – वहाँ शुभभावरूप समिति आदि को व्यवहारचारित्र कहा है। व्यवहार का अर्थ है उपचार। छट्ठे गुणस्थान में जो वीतरागचारित्र होता है, उसके साथ महाव्रतादि होते हैं – ऐसा सम्बन्ध जानकर यह उपचार किया है। वह निमित्त की अपेक्षा से अर्थात् विकल्प के भेद बताने के लिये कहा है, किन्तु यथार्थ रीति से तो निष्कषायभाव ही चारित्र है, शुभराग चारित्र नहीं।

प्रश्न – निश्चय-मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (सराग व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं होता, तो फिर सविकल्प मोक्षमार्ग को साधक कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर – भूतनैगमनय की अपेक्षा से उस सविकल्परूप को मोक्षमार्ग कहा है, अर्थात् भूतकाल में वे विकल्प (रागमिश्रित विचार) हुए थे, यद्यपि वे वर्तमान में नहीं हैं, तथापि 'यह वर्तमान है' ऐसा भूतनैगमनय की अपेक्षा से गिना जा सकता है – कहा जा सकता है; इसीलिए उस नय की अपेक्षा से सविकल्प मोक्षमार्ग को साधक कहा है – ऐसा समझना।

(देखो, परमात्मप्रकाश, पृष्ठ १४२ अध्याय २ गाथा १४ की संस्कृत टीका तथा इस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट १)

६. सामायिक का स्वरूप

प्रश्न – मोक्ष के कारणभूत सामायिक का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – जो सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला परमार्थ ज्ञान का भवनमात्र (परिणमनमात्र) है, एकाग्रता लक्षणवाली है, वह सामायिक मोक्ष की कारणभूत है।

(देखो, समयसार, गाथा १५४ की टीका)

श्री नियमसार गाथा १२५ से १३३ में यथार्थ सामायिक का स्वरूप दिया है, वह इस प्रकार है –

जो कोई मुनि एकेन्द्रियादि प्राणियों के समूह को दु:ख देने के कारणरूप जो सम्पूर्ण पापभावसहित व्यापार है, उससे अलग हो मन, वचन और शरीर के शुभ-अशुभ सर्व व्यापारों को त्यागकर तीन गुप्तिरूप रहते हैं तथा जितेन्द्रिय रहते हैं – ऐसे संयमी के वास्तव में सामायिक व्रत होता है। *(गाथा १२५)*

जो समस्त त्रस-स्थावर प्राणियों में समताभाव रखता है, माध्यस्थभाव में आरूढ़ है, उसी के यथार्थ सामायिक होती है। *(गाथा १२६)*

संयम पालते हुए, नियम करते तथा तप धारण करते हुए जिसके एक आत्मा ही निकटवर्ती रहा है, उसी के यथार्थ सामायिक होती है। *(गाथा १२७)*

जिसे राग-द्वेष विकार प्रगट नहीं होते, उसके यथार्थ सामायिक होती है। *(गाथा १२८)*

जो आर्त और रौद्रध्यान को दूर करता है, उसके वास्तव में सामायिक व्रत होता है। *(गाथा १२९)*

जो हमेशा पुण्य और पाप इन दोनों भावों को छोड़ता है, उसके यथार्थ सामायिक होती है। *(गाथा १३०)*

जो जीव सदा धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को ध्याता है, उसके यथार्थ सामायिक होती है। *(गाथा १३३)*

सामायिकचारित्र को परमसमाधि भी कहते हैं।

७. प्रश्न – इस अध्याय के छट्ठे सूत्र में संवर के कारणरूप से जो १० प्रकार का धर्म कहा है, उसमें संयम आ ही जाता है और संयम ही चारित्र है, तथापि यहाँ फिर से चारित्र को संवर के कारणरूप में क्यों कहा?

उत्तर – यद्यपि संयमधर्म में चारित्र आ जाता है, तथापि इस सूत्र में चारित्र का कथन निरर्थक नहीं है। चारित्र मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् कारण है, यह बतलाने के लिये यहाँ अन्त में चारित्र का कथन किया है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त में चारित्र की पूर्णता होने पर ही मोक्ष होता है। अतएव मोक्ष-प्राप्ति के लिये चारित्र साक्षात् हेतु है – ऐसा ज्ञान कराने के लिये इस सूत्र में वह अलग बतलाया है।

८. व्रत और चारित्र में अन्तर

आस्रव अधिकार में (सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र में) हिंसा, झूठ, चोरी आदि के त्याग से अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि क्रियाएँ शुभप्रवृत्ति हैं; इसलिए वहाँ अव्रतों की तरह व्रतों में भी कर्म का प्रवाह चलता है, किन्तु उन व्रतों से कर्मों की निवृत्ति नहीं होती। इसी अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर, गुप्ति आदि को संवर का परिवार कहा है। आत्मा के स्वरूप में जितनी अभेदता होती है, उतना संवर है, शुभाशुभभाव का त्याग निश्चय-व्रत अथवा वीतरागचारित्र है। जो शुभभावरूप व्रत है, वह व्यवहारचारित्ररूप राग है और वह संवर का कारण नहीं है॥ १८॥ *(देखो, सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७)*

दूसरे सूत्र में कहे गये संवर के ६ कारणों का वर्णन पूर्ण हुआ। इस तरह संवरतत्त्व का वर्णन पूर्ण हुआ। अब निर्जरातत्त्व का वर्णन करते हैं -

निर्जरातत्त्व का वर्णन

भूमिका

१- पहले अठारह सूत्रों में संवरतत्त्व का वर्णन किया। अब उन्नीसवें सूत्र में निर्जरा तत्त्व का वर्णन प्रारम्भ होता है। जिसके संवर हो, उसके निर्जरा होती है। प्रथम संवर तो सम्यग्दर्शन है, इसलिए जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उसी के संवर-निर्जरा हो सकती है। मिथ्यादृष्टि के संवर-निर्जरा नहीं होती।

२- यहाँ निर्जरातत्त्व का वर्णन करना है और निर्जरा का कारण तप है, *(देखो, अध्याय ९ सूत्र ३)* इसलिए तप का और उसके भेदों का वर्णन किया है। तप की व्याख्या १९वें सूत्र की टीका में दी है और ध्यान की व्याख्या २७वें सूत्र में दी गई है।

३. निर्जरा के कारणों सम्बन्धी होनेवाली भूलें और उनका निराकरण

(१) कितने ही जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं, किन्तु वह तो बाह्य-तप है। अब अन्तिम १९-२०वें सूत्र में बारह प्रकार के तप कहे हैं, वे सब बाह्य-तप हैं, किन्तु वे एक-दूसरे की अपेक्षा से बाह्य-अभ्यन्तर हैं, इसीलिए उनके बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो भेद कहे हैं। अकेले बाह्य तप करने से निर्जरा नहीं होती। यदि ऐसा हो कि अधिक उपवासादि करने से अधिक निर्जरा हो और थोड़े करने से थोड़ी हो तो निर्जरा का कारण उपवासादिक ही ठहरें, किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जो इच्छा का निरोध है, सो तप है; इसलिए स्वानुभव की एकाग्रता बढ़ने से शुभाशुभ इच्छा दूर होती है, उसे तप कहते हैं।

(२) यहाँ अनशनादिक की तथा प्रायश्चितादिक को तप कहा है, इसका कारण यह है कि यदि जीव अनशनादि तथा प्रायश्चितादिरूप प्रवर्ते और राग को दूर करे तो वीतरागभावरूप सत्य तप पुष्ट किया जा सकता है, इसलिए उन अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादि को उपचार से तप कहा है। यदि कोई जीव वीतरागभावरूप सत्य तप को तो न जाने और उन अनशनादिक को ही तप जानकर संग्रह करे तो वह संसार में ही भ्रमण करता है।

(३) इतना विशेष समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य अनेक प्रकार के जो भेद कहे जाते हैं, वे भेद बाह्य-निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं, इनके व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। जो जीव इस रहस्य को नहीं जानता, उसके निर्जरातत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक से)*

तप निर्जरा के कारण हैं, इसीलिए उनका वर्णन करते हैं। उनमें पहले तप के भेद कहते हैं -

बाह्य-तप के ६ भेद

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशः बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थ - [**अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकाय-क्लेशाः**] सम्यक् प्रकार से अनशन, सम्यक् अवमौदर्य, सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान, सम्यक् रसपरित्याग, सम्यक् विविक्ताशय्यासन और सम्यक् कायक्लेश ये [**बाह्यं तपः**] छह प्रकार के बाह्य तप हैं।

नोट - इस सूत्र में 'सम्यक्' शब्द का अनुसन्धान इस अध्याय के चौथे सूत्र से आता है - किया जाता है। अनशनादि छहों प्रकार में 'सम्यक्' शब्द लागू होता है।

टीका - १. सूत्र में कहे गये शब्दों की व्याख्या

(१) सम्यक् अनशन - सम्यग्दृष्टि जीव के आहार के त्याग का भाव होने पर विषय-कषाय का भाव दूर होकर अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता होती है, वह सम्यक् अनशन है।

(२) सम्यक् अवमौदर्य - सम्यग्दृष्टि जीव के रागभाव दूर करने के लिए जितनी भूख हो, उससे कम भोजन करने का भाव होने पर जो अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता होती है, उसे सम्यक् अवमौदर्य करते हैं।

(३) सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान - सम्यग्दृष्टि जीव के संयम के हेतु से निर्दोष आहार की भिक्षा के लिए जाते समय, भोजन की वृत्ति तोड़नेवाले नियम करने पर अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं।

(४) सम्यक् रसपरित्याग - सम्यग्दृष्टि जीव के इन्द्रियों सम्बन्धी राग का दमन करने के लिये घी, दूध, दही, तेल, मिठाई, नमक आदि रसों का यथाशक्ति त्याग करने का भाव होने से अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् रसपरित्याग कहते हैं।

(५) सम्यक् विविक्तशय्यासन - सम्यग्दृष्टि जीव के स्वाध्याय, ध्यान आदि की प्राप्ति के लिये किसी एकान्त निर्दोष स्थान में प्रमादरहित सोने, बैठने की वृत्ति होने पर अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् विविक्ताशय्यान कहते हैं।

(६) सम्यक् कायक्लेश - सम्यग्दृष्टि जीव के शारीरिक आसक्ति घटाने के लिये आतापन आदि योग धारण करते समय जो अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता होती है, उसे सम्यक् कायक्लेश कहते हैं।

२- 'सम्यक्' शब्द यह बतलाता है कि सम्यग्दृष्टि के ही ये तप होते हैं, मिथ्यादृष्टि के तप नहीं होते।

३- जब सम्यग्दृष्टि जीव अनशन की प्रतिज्ञा करता है, उस समय निम्नलिखित बातें जानता है -

(१) आहार न लेने का राग-मिश्रित विचार होता है, वह शुभभाव है और उसका फल पुण्यबन्धन है; मैं उसका स्वामी नहीं हूँ।

(२) अन्न, जल आदि परवस्तुएँ हैं। आत्मा उन्हें किसी प्रकार न तो ग्रहण कर सकता और न छोड़ सकता है, किन्तु जब सम्यग्दृष्टि जीव परवस्तु सम्बन्धी उस प्रकार का राग छोड़ता है, तब पुद्गलपरावर्तन के नियम अनुसार ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है कि उतने समय उनके अन्न-पानी आदि का संयोग नहीं होता।

(३) अन्न-जल आदि का संयोग न हुआ, यह परद्रव्य की क्रिया है, उससे आत्मा के धर्म या अधर्म नहीं होता।

(४) सम्यग्दृष्टि जीव के राग का स्वामित्व न होने की जो सम्यक् मान्यता है, वह दृढ़ होती है और इसलिए यथार्थ अभिप्रायपूर्वक जो अन्न, जल आदि लेने का राग दूर हुआ,

वह सम्यक् अनशन तप है, वह वीतरागता का अंश है; इसीलिए वह धर्म का अंश है। उसमें जितने अंश में अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता हुई, वही निर्जरा का कारण है।

छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकार के अन्तरङ्ग – इन बारह प्रकार के तप के सम्बन्ध में ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना।

सम्यक् तप की व्याख्या

(१) '**स्वरूपविश्रांतनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनात् तपः**' अर्थात् स्वरूप की स्थिरतारूप, तरङ्गों के बिना, लहरों के बिना (निर्विकल्प) चैतन्य का प्रतपन होना (दैदीप्यमान होना), सो तप है। *(प्रवचनसार, अध्याय १ गाथा १४ की टीका)*

(२) '**सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपनं तपः**' अर्थात् सहज निश्चयनयरूप परमस्वभावमय परमात्मा का प्रतपन होना अर्थात् दृढ़ता से तन्मय होना, सो तप है। *(नियमसार गाथा ५५ की टीका)*

(३) '**प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः**' अर्थात् प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुखरूप से जो प्रतपन अर्थात् लीनता है, सो तप है। *(नियमसार टीका गाथा ११८ का शीर्षक)*

(४) '**आत्मानमात्मना संघत्त इत्यध्यात्मं तपनं**' अर्थात् आत्मा को आत्मा के द्वारा धरना, सो अध्यात्म-तप है। *(नियमसार गाथा १२३ की टीका)*

(५) '**इच्छानिरोधः तपः**' अर्थात् शुभाशुभ इच्छा का निरोध करना (अर्थात् स्वरूप में विश्रांत होना), सो तप है। *(धवला पुस्तक १३)*

५. तप के भेद किसलिए हैं ?

प्रश्न – यदि तप की व्याख्या उपरोक्त प्रमाणानुसार है तो उस तप के भेद नहीं हो सकते, तथापि यहाँ तप के बारह भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तर – शास्त्रों का कथन किसी समय उपादान (निश्चय) की अपेक्षा से और किसी समय निमित्त (व्यवहार) की अपेक्षा से होता है। भिन्न-भिन्न निमित्त होने से उसमें भेद होते हैं, किन्तु उपादान तो आत्मा का शुद्धस्वभाव है; अतः उसमें भेद नहीं होता। यहाँ तप के जो बारह भेद बतलाये हैं, वे भेद, निमित्त की अपेक्षा से हैं।

६- जिस जीव के सम्यग्दर्शन न हो, वह जीव वन में रहे, चातुर्मास में वृक्ष के नीचे

रहे, ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त प्रखर किरणों से संतप्त पर्वत के शिखर पर आसन लगावे, शीतकाल में खुले मैदान में ध्यान करे, अन्य अनेक प्रकार के काय-क्लेश करे, अधिक उपवास करे, शास्त्रों के पढ़ने में बहुत प्रवीण हो, मौनव्रत धारण करे इत्यादि सब कुछ करे, किन्तु उसका यह सब वृथा है - संसार का कारण है, इनसे धर्म का अंश भी नहीं होता। जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित हो, यदि वह जीव अनशनादि बारह तप करे, तथापि उसके कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए हे जीव! आकुलतारहित समतादेवी का कुल-मन्दिर जो कि अपना आत्मतत्त्व है, उसका ही भजन कर॥१९॥ *(देखो, नियमसार गाथा १२४)*

अब आभ्यन्तर तप के ६ भेद बताते हैं

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्॥२०॥

अर्थ - **[प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि]** सम्यक्‌रूप से प्रायश्चित्त, सम्यक् विनय, सम्यक् वैयावृत्य, सम्यक् स्वाध्याय, सम्यक् व्युत्सर्ग और सम्यक् ध्यान **[उत्तरम्]** ये छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

नोट - इस सूत्र में 'सम्यक्' शब्द का अनुसन्धान इस अध्याय के चौथे सूत्र से किया जाता है; यह प्रायश्चित्तादि छहों प्रकार में लागू होता है। यदि 'सम्यक्' शब्द का अनुसन्धान न किया जाए तो नाटक इत्यादि सम्बन्धी अभ्यास करना भी स्वाध्याय तप ठहरेगा, परन्तु सम्यक् शब्द के द्वारा उसका निषेध हो जाता है।

टीका - १- ऊपर के सूत्र की जो टीका है, वह यहाँ भी लागू होती है।

२- सूत्रों में कहे गये शब्दों की व्याख्या करते हैं -

(१) सम्यक् प्रायश्चित - प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धता करने से वीतरागस्वरूप के आलम्बन के द्वारा जो अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता होती है, उसे सम्यक् प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) सम्यक् विनय - पूज्य पुरुषों का आदर करने पर वीतरागस्वरूप के लक्ष्य के द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् विनय कहते हैं।

(३) सम्यक् वैयावृत्य - शरीर तथा अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करने पर वीतरागस्वरूप के लक्ष्य के द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे वैयावृत्य कहते हैं।

(४) सम्यक् स्वाध्याय - सम्यग्ज्ञान की भावना में आलस्य न करना, उसमें वीतराग-स्वरूप के लक्ष्य के द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, वह सम्यक् स्वाध्याय है।

(५) सम्यक् व्युत्सर्ग - बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग की भावना में वीतराग-स्वरूप के लक्ष्य के द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, सो सम्यक् व्युत्सर्ग है।

(६) सम्यक् ध्यान - चित्त की चञ्चलता को रोककर तत्त्व के चिन्तवन में लगना, इसमें वीतरागस्वरूप के लक्ष्य द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, सो सम्यक् ध्यान है।

३- सम्यग्दृष्टि के ही ये छहों प्रकार के तप होते हैं। इन छहों प्रकार में सम्यग्दृष्टि के निज-स्वरूप की एकाग्रता से जितनी अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता हो उतना ही तप है। (जो शुभ विकल्प है, उसे उपचार से तप कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में तो वह राग है, तप नहीं।)

अब अभ्यन्तर तप के उपभेद बतलाते हैं

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थ - **[प्राक् ध्यानात्]** ध्यान से पहले के पाँच तप के **[यथाक्रमं]** अनुक्रम से **[नवचतुर्दशपंचद्विभेदाः]** नव, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं अर्थात् सम्यक् प्रायश्चित के नव, सम्यक् विनय के चार, सम्यक् वैयावृत्य के दस, सम्यक् स्वाध्याय के पाँच और सम्यक् व्युत्सर्ग के दो भेद हैं।

नोट - आभ्यन्तर तप का छठवाँ भेद ध्यान है। उसके भेदों का वर्णन २८वें सूत्र में किया जायेगा।

अब सम्यक् प्रायश्चित्त के नव भेद बतलाते हैं

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

अर्थ - **[आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः]** आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना, ये प्रायश्चित तप के नव भेद हैं।

टीका - १- सूत्र में आये हुए शब्दों की व्याख्या करते हैं -

प्रायश्चित - प्राय: = अपराध, चित्त = शुद्धि अर्थात् अपराध की शुद्धि करना, सो प्रायश्चित है।

(१) आलोचना - प्रमाद से लगे हुए दोषों को गुरु के पास जाकर निष्कपट रीति से कहना, सो आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण - अपने किये हुए अपराध मिथ्या होवें - ऐसी भावना करना, सो प्रतिक्रमण है।

(३) तदुभय - वे दोनों अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना, सो तदुभय है।

(४) विवेक - आहार-पानी का नियमित समय तक त्याग करना।

(५) व्युत्सर्ग - कायोत्सर्ग करने को व्युत्सर्ग कहते हैं।

(६) तप - उपवासादि करना, सो तप है।

(७) छेद - एक दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि समयपर्यन्त दीक्षा का छेद करना, सो छेद कहलाता है।

(८) परिहार - एक दिन, एक पक्ष, एक मास आदि नियमित समय तक संघ से अलग करना, सो परिहार है।

(९) उपस्थापन - पुरानी दीक्षा सम्पूर्ण छेद करके फिर से नई दीक्षा देना सो, उपस्थापन है।

२- यह सब भेद व्यवहार-प्रायश्चित के हैं। जिस जीव के निश्चय-प्रायश्चित प्रगट हुआ हो, उस जीव के इस नव प्रकार के प्रायश्चित को व्यवहार प्रायश्चित कहा जाता है, किन्तु यदि निश्चय-प्रायश्चित प्रगट न हुआ हो तो वह व्यवहाराभास है।

३- निश्चय-प्रायश्चित का स्वरूप

निजात्मा का ही जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है, उसे जो जीव नित्य धारण करते हैं, उनके ही प्रायश्चित होता है (बोध, ज्ञान और चित्त का एक ही अर्थ है) प्राय: = प्रकृष्टरूप से और चित्त = ज्ञान, अर्थात् प्रकृष्ट रूप से जो ज्ञान है, वही प्रायश्चित्त है। क्रोधादि विभावभावों का क्षय करने की भावना में प्रवर्तना तथा आत्मिक गुणों का चिन्तन करना, सो यथार्थ प्रायश्चित है। निज आत्मिक तत्व में रमणरूप जो तपश्चरण है, वही शुद्ध निश्चय-प्रायश्चित है। *(देखो, नियमसार गाथा ११३ से १२१)*

४- निश्चय-प्रतिक्रमण का स्वरूप

जो कोई वचन की रचना को छोड़कर तथा राग-द्वेषादि भावों का निवारण करके स्वात्मा को ध्याता है, उसके प्रतिक्रमण होता है। जो मोक्षार्थी जीव सम्पूर्ण विराधना अर्थात् अपराध को छोड़कर स्वरूप की आराधना में वर्तन करता है, उसके यथार्थ प्रतिक्रमण है। *(श्री नियमसार गाथा ८३-८४)*

५- निश्चय-आलोचना का स्वरूप

जो जीव स्वात्मा को-नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा विभावगुण-पर्याय से रहित ध्यान करते हैं, उनके यथार्थ आलोचना होती है। समताभाव में स्वकीय परिणाम को धरकर स्वात्मा को देखना, सो यथार्थ आलोचना है। *(देखो, श्री नियमसार गाथा १०७ से ११२)*॥ २२॥

अब सम्यक् विनयतप के चार भेद बतलाते हैं

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ - [**ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः**] ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, ये विनयतप के चार भेद हैं।

टीका - **(१) ज्ञानविनय** - आदरपूर्वक योग्यकाल में सत्शास्त्र का अभ्यास करना, मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण-अभ्यास-संस्मरण आदि करना, सो ज्ञानविनय है।

(२) दर्शनविनय - शङ्का, काँक्षा, आदि दोषरहित सम्यग्दर्शन को धारण करना, सो दर्शनविनय है।

(३) चारित्रविनय - निर्दोष रीति से चारित्र को पालना, सो चारित्रविनय है।

(४) उपचारविनय - आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े होना, नमस्कार करना, इत्यादि उपचारविनय है। यह सब व्यवहारविनय के भेद हैं।

निश्चयविनय का स्वरूप

जो शुद्धभाव है, सो निश्चयविनय है। स्व के अकषायभाव में अभेद परिणमन से, शुद्धतारूप से स्थिर होना, सो निश्चयविनय है; इसीलिए कहा जाता है कि ''विनयवन्त भगवान कहावें, नहीं किसी को शीष नमावें'' अर्थात् भगवान विनयवन्त कहे जाते हैं, किन्तु किसी को मस्तक नहीं नवाते॥ २३॥

अब सम्यक् वैयावृत्य तप के १० भेद बतलाते हैं

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥२४॥

अर्थ – **[आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्]** आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ – इन दस प्रकार के मुनियों की सेवा करना, सो वैयावृत्य तप के दस भेद हैं।

टीका – १– सूत्र में आये हुए शब्दों का अर्थ –

(१) आचार्य – जो मुनि स्वयं पाँच प्रकार के आचारों का आचरण करें और दूसरों को आचरण करावें, उन्हें आचार्य कहते हैं।

(२) उपाध्याय – जिनके पास से शास्त्रों का अध्ययन किया जाय, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

(३) तपस्वी – महान उपवास करनेवाले साधु को तपस्वी कहते हैं।

(४) शैक्ष्य – शास्त्र के अध्ययन में तत्पर मुनि को शैक्ष्य कहते हैं।

(५) ग्लान – रोग से पीड़ित मुनि को ग्लान कहते हैं।

(६) गण – वृद्ध मुनियों के अनुसार चलनेवाले मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं।

(७) कुल – दीक्षा देनेवाले आचार्य के शिष्य, कुल कहलाते हैं।

(८) संघ – ऋषि, यति, मुनि और अनगार – इन चार प्रकार के मुनियों का समूह संघ कहलाता है। (संघ के दूसरी तरह से मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये भी चार भेद हैं।)

(९) साधु – जिनने बहुत समय से दीक्षा ली हो, वे साधु कहलाते हैं अथवा जो रत्नत्रय भावना से अपने आत्मा को साधते हैं, उन्हें साधु कहते हैं।

(१०) मनोज्ञ – मोक्षमार्ग–प्रभावक, वक्तादि गुणों से शोभायमान, जिसकी लोक में अधिक ख्याति हो रही हो – ऐसे विद्वान मुनि को मनोज्ञ कहते हैं अथवा उसके समान असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं। *(सर्वार्थसिद्धि टीका)*

२– इन प्रत्येक की सेवा–सुश्रूषा करना वैयावृत्त है। यह वैयावृत्य शुभभावरूप है,

इसलिए व्यवहार है। वैयावृत्य का अर्थ सेवा है। स्व के अकषायभाव की जो सेवा है, सो वैयावृत्य है।

३- संघ के चार भेद बतलाये, अब उनका अर्थ लिखते हैं -

ऋषि - ऋद्धिधारी साधु को ऋषि कहते हैं।

यति - इन्द्रियों को वश में करनेवाले साधु अथवा उपशम या क्षपकश्रेणी माँडनेवाले साधु यति कहलाते हैं।

मुनि - अवधिज्ञानी या मन:पर्ययज्ञानी साधु, मुनि कहे जाते हैं।

अनगार - सामान्य साधु, अनगार कहलाते हैं।

पुनश्च ऋषि के भी चार भेद हैं - (१) राजर्षि = विक्रिया, अक्षीण ऋद्धिप्राप्त मुनि, राजर्षि कहलाते हैं। (२) ब्रह्मर्षि = बुद्धि, सर्वोषधि आदि ऋद्धिप्राप्त साधु, ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। (३) देवर्षि = आकाशगमन ऋद्धिप्राप्त साधु, देवर्षि कहे जाते हैं। (४) परमर्षि = केवलज्ञानी को परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तप के पाँच भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ - [**वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः**] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये स्वाध्याय के पाँच भेद हैं।

टीका - **वाचना** - निर्दोष ग्रन्थ, उसका अर्थ तथा दोनों का भव्य जीवों को श्रवण कराना, सो वाचना है।

पृच्छना - संशय को दूर करने के लिए अथवा निश्चय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना, सो पृच्छना है।

अपना उच्चपन प्रगट करने के लिये, किसी को ठगने के लिये, किसी को हराने के लिये, दूसरे का हास्य करने के लिये आदि खोटे परिणामों से प्रश्न करना, सो पृच्छना स्वाध्याय तप नहीं है।

अनुप्रेक्षा - जाने हुए पदार्थों का बारम्बार चिन्तवन करना, सो अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय - निर्दोष उच्चारण करके पाठ को घोखना, सो आम्नाय है।

धर्मोपदेश - धर्म का उपदेश करना, सो धर्मोपदेश है।

प्रश्न - ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय किसलिए कहे हैं?

उत्तर - प्रज्ञा की अधिकता, प्रशंसनीय अभिप्राय, उत्कृष्ट उदासीनता, तप की वृद्धि, अतिचार की विशुद्धि इत्यादि के कारण पाँच प्रकार के स्वाध्याय कहे गये हैं॥ २५॥

सम्यक् व्युत्सर्ग तप के दो भेद बतलाते हैं -

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः॥ २६॥

अर्थ - [**बाह्याभ्यन्तरोपध्योः**] बाह्य उपधिव्युत्सर्ग और अभ्यन्तर उपधिव्युत्सर्ग ये दो व्युत्सर्ग तप के भेद हैं।

टीका - बाह्य-उपधि का अर्थ है, बाह्य-परिग्रह और अभ्यन्तर-उपधि का अर्थ अभ्यन्तरपरिग्रह है। दस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग-परिग्रह का त्याग करना, सो व्युत्सर्गतप है। जो आत्मा का विकारीपरिणाम है, सो अन्तरङ्ग-परिग्रह है, उसका बाह्य-परिग्रह के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं।

२. प्रश्न - इसे व्युत्सर्गतप क्यों कहा?

उत्तर - निःसङ्गत्व, निर्भयता, जीने की आशा का अभाव करने आदि के लिये यह तप हैं।

३- जो चौदह अन्तरङ्ग-परिग्रह हैं, उनमें सबसे प्रथम मिथ्यात्व दूर होता है, इसके दूर किये बिना अन्य कोई भी परिग्रह दूर ही नहीं होता। यह सिद्धान्त बताने के लिये इस शास्त्र के पहले ही सूत्र में मोक्षमार्ग के रूप में जो आत्मा के तीन शुद्धभावों की एकता की आवश्यकता बतलायी है, उसमें भी प्रथम सम्यग्दर्शन ही बतलाया है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान या चारित्र भी सम्यक् नहीं होते। चारित्र के लिए जो 'सम्यक्' विशेषण दिया जाता है, वह अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति बतलाता है। पहले सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होने के बाद जो यथार्थ चारित्र होता है, वही सम्यक्चारित्र है। इसलिए मिथ्यात्व को दूर किये बिना किसी प्रकार का तप या धर्म नहीं होता॥२६॥

यह निर्जरातत्त्व का वर्णन चल रहा है। निर्जरा का कारण तप है। तप के भेदों का वर्णन चालू है, उसमें अभ्यन्तर तप के प्रारम्भ के पाँच भेदों का वर्णन पूर्ण हुआ। अब छठवाँ भेद जो ध्यान है, उसका वर्णन करते हैं।

सम्यक् ध्यानतप का लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

अर्थ - [**उत्तमसंननस्य**] उत्तम संहननवाले के [**आ अन्तर्मुहूर्तात्**] अन्तर्मुहूर्त तक [**एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्**] एकाग्रतापूर्वक चिन्ता का निरोध सो ध्यान है।

टीका - **१- उत्तमसंहनन** - वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तमसंहनन हैं। इनमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव के पहला वज्रर्षभनाराच संहनन होता।

एकाग्र - एकाग्र का अर्थ मुख्य, सहारा, अवलम्बन, आश्रय, प्रधान अथवा सन्मुख होता है। वृत्ति को अन्य क्रिया से हटाकर एक ही विषय में रोकना, सो एकाग्रचिन्तानिरोध है और वही ध्यान है। जहाँ एकाग्रता नहीं, वहाँ भावना है।

२- इस सूत्र में ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का समय ये चार बातें निम्नरूप से आ जाती हैं -

(१) जो उत्तमसंहननधारी पुरुष है, वह **ध्याता** है।

(२) एकाग्रचिंता का निरोध **ध्यान** है।

(३) जिस एक विषय को प्रधान किया, वह **ध्येय** है।

(४) अन्तर्मुहूर्त ध्यान का उत्कृष्ट **काल** है।

मुहूर्त का अर्थ है ४८ मिनिट और अन्तर्मुहूर्त का अर्थ है ४८ मिनिट के भीतर का समय। ४८ मिनिट में एक समय कम, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

३- यहाँ ऐसा कहा है कि उत्तम संहननवाले के अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान रह सकता है, इसका अर्थ हुआ कि अनुत्तम संहननवाले के सामान्य ध्यान होता है अर्थात् जितना समय उत्तमसंहननवाले के रहता है, उतना समय उसके (अनुत्तम संहननवाले के) नहीं रहता। इस सूत्र में काल का कथन किया है, जिसमें यह सम्बन्ध गर्भितरूप से आ जाता है।

(४) अष्टप्राभृत के मोक्षप्राभृत में कहा है कि जीव आज भी तीन रत्न (रत्नत्रय) के द्वारा शुद्धात्मा को ध्याकर स्वर्गलोक में अथवा लौकान्तिक में देवत्व प्राप्त करता है और वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है (गाथा ७७), इसलिए पञ्चम काल के अनुत्तम संहननवाले जीवों के भी धर्मध्यान हो सकता है।

प्रश्न - ध्यान में चिन्ता का निरोध है और जो चिन्ता का निरोध है, सो अभाव है, अतएव उस अभाव के कारण ध्यान भी गधे के सींग की तरह असत् हुआ?

उत्तर - ध्यान असत्रूप नहीं है। दूसरे विचारों से निवृत्ति की अपेक्षा से अभाव है, परन्तु स्व-विषय के आकार की अपेक्षा से सद्भाव है अर्थात् उसमें स्वरूप की प्रवृत्ति का सद्भाव है - ऐसा 'एकाग्र' शब्द से निश्चय किया जा सकता है। स्वरूप की अपेक्षा से ध्यान विद्यमान-सत्रूप है।

६- इस सूत्र का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि जो ज्ञान चञ्चलतारहित अचल प्रकाशवाला अथवा दैदीप्यमान होता है, वह ध्यान है।

ध्यान के भेद

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

अर्थ - [**आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि**] आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं।

टीका - **प्रश्न** - यह संवर-निर्जरा का अधिकार है और यहाँ निर्जरा के कारणों का वर्णन चल रहा है। आर्त और रौद्रध्यान तो बन्ध के कारण हैं, तो उन्हें यहाँ क्यों लिया?

उत्तर - निर्जरा का कारणरूप जो ध्यान है, उससे इस ध्यान को अलग दिखाने के लिए ध्यान के सब भेद समझाये हैं।

आर्तध्यान - दु:ख-पीड़ारूप चिन्तवन का नाम आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान - निर्दय-क्रूर आशय का विचार करना रौद्रध्यान है।

धर्मध्यान - धर्मसहित ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान - शुद्ध पवित्र उज्ज्वल परिणामवाला चिन्तवन शुक्लध्यान कहलाता है।

- इन चार ध्यानों में पहले दो अशुभ हैं और दूसरे दो धर्मरूप हैं॥ २८॥

अब मोक्ष के कारणरूप ध्यान बतलाते हैं

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

अर्थ - [**परे**] जो चार प्रकार के ध्यान कहे, उनमें से अन्त के दो अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान [**मोक्षहेतू**] मोक्ष के कारण हैं।

टीका - पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसार के कारण हैं और निश्चयधर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

प्रश्न - यह तो सूत्र में कहा है कि अन्तिम दो ध्यान, मोक्ष के कारण हैं, किन्तु ऐसा अर्थ सूत्र में किस तरह निकाला कि पहले दो ध्यान, संसार के कारण हैं ?

उत्तर - मोक्ष और संसार इन दो के अतिरिक्त और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं है। इस जगत में दो ही मार्ग हैं - मोक्षमार्ग और संसारमार्ग। इन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई साधनीय पदार्थ नहीं है, अतएव यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान के अतिरिक्त आर्त्त और रौद्रध्यान, संसार के कारण हैं ॥२९॥

आर्त्तध्यान के चार भेद हैं, अब उनका वर्णन अनुक्रम से चार सूत्रों द्वारा करते हैं

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

अर्थ - [**अमनोज्ञस्य संप्रयोगे**] अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर [**तद्विप्रयोगाय**] उसके दूर करने के लिये [**स्मृतिसमन्वाहारः**] बारम्बार विचार करना, सो [**आर्त्तम्**] अनिष्ट संयोगज नाम का आर्त्तध्यान है ॥३०॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थ - [**मनोज्ञस्य**] मनोज्ञ पदार्थ सम्बन्धी [**विपरीतं**] उपरोक्त सूत्र में कहे हुए से विपरीत अर्थात् इष्ट-पदार्थ का वियोग होने पर उसके संयोग के लिये बारम्बार विचार करना सो 'इष्ट-वियोगज' नाम का आर्त्तध्यान है ॥३१॥

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थ - [**वेदनायाः च**] रोगजनित पीड़ा होने पर उसे दूर करने के लिये बारम्बार चिन्तवन करना, सो वेदनाजन्य आर्त्तध्यान है ॥३२॥

निदानं च ॥३३॥

अर्थ - [**निदानं च**] भविष्यकाल सम्बन्धी विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन कर देना, सो निदानज आर्तध्यान है ॥ ३३ ॥

अब गुणस्थान की अपेक्षा से आर्त्तध्यान के स्वामी बतलाते हैं

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

अर्थ - [**तत्**] वह आर्त्तध्यान [**अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्**] अविरत - पहले चार गुणस्थान, देशविरत-पाँचवाँ गुणस्थान और प्रमतत संयत-छट्ठे गुणस्थान में होता है।

नोट - निदान नाम का आर्त्तध्यान छट्ठे गुणस्थान में नहीं होता।

टीका - मिथ्यादृष्टि जीव तो अविरत है और सम्यग्दृष्टि जीव भी अविरत होता है, इसलिए (१) मिथ्यादृष्टि (२) सम्यग्दृष्टि अविरति (३) देशविरत और (४) प्रमत्तसंयत - इन चार प्रकार के जीवों के आर्त्तध्यान होता है। मिथ्यादृष्टि के सबसे खराब आर्त्तध्यान होता है और उसके बाद प्रमत्तसंयत तक वह क्रम-क्रम से मन्द होता जाता है। छठवें गुणस्थान के बाद आर्त्तध्यान नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि जीव, परवस्तु के संयोग-वियोग को आर्त्तध्यान का कारण मानता है, इसलिए उसके यथार्थ में आर्त्तध्यान मन्द भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीवों के आर्त्तध्यान क्वचित् होता है और इसका कारण उनके पुरुषार्थ की कमजोरी है - ऐसा जानते हैं। इसीलिए वे स्व का पुरुषार्थ बढ़ाकर धीरे-धीरे आर्त्तध्यान का अभाव करके अन्त में उनका सर्वथा नाश करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के निज ज्ञानस्वभाव की अरुचि है, इसीलिए उसके सर्वत्र, निरन्तर दु:खमय आर्त्तध्यान वर्तता है; सम्यग्दृष्टि जीव के स्व के ज्ञानस्वभाव की अखण्ड रुचि, श्रद्धा वर्तती है, इसीलिए उसके सदैव धर्मध्यान रहता है, मात्र पुरुषार्थ की कमजोरी से किसी समय अशुभभावरूप आर्त्तध्यान भी होता है, किन्तु वह मन्द होता है॥३४॥

अब रौद्रध्यान के भेद और स्वामी बतलाते हैं

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

अर्थ - [**हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः**] हिसां, असत्य, चोरी और विषय-संरक्षण के भाव से उत्पन्न हुआ ध्यान [**रौद्रम्**] रौद्रध्यान है; यह ध्यान [**अविरतदेशविरतयोः**] अविरत और देशविरत (पहले से पाँच) गुणस्थानों में होता है।

टीका - जो ध्यान क्रूरपरिणामों से होता है, वह रौद्रध्यान है। निमित्त के भेद की अपेक्षा से रौद्रध्यान के ४ भेद होते हैं, वे निम्न प्रकार हैं -

१- **हिंसानन्दी** - हिंसा में आनन्द मानकर उसके साधन मिलाने में तल्लीन रहना, सो हिंसानन्दी है।

२- **मृषानन्दी** - झूठ बोलने में आनन्द मानकर उसका चिन्तवन करना।

३- **चौर्यानन्दी** - चोरी में आनन्द मानकर उसका विचार करना।

४- **परिग्रहानन्दी** - परिग्रह की रक्षा की चिन्ता में तल्लीन हो जाना।

अब धर्मध्यान के भेद बताते हैं

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थ - **[आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय]** आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक-विचय और संस्थानविचय के लिये चिन्तवन करना, सो **[धर्म्यम्]** धर्मध्यान है।

टीका - १- धर्मध्यान के चार भेद निम्न प्रकार हैं -

(१) आज्ञाविचय - आगम की प्रमाणता से अर्थ का विचार करना।

(२) अपायविचय - संसारी जीवों के दु:ख का और उसमें से छूटने के उपाय का विचार करना, सो अपायविचय है।

(३) विपाकविचय - कर्म के फल का (उदय का) विचार करना, सो विपाकविचय है।

(४) संस्थानविचय - लोक के आकार का विचार करना। इत्यादि विचारों के समय स्वसन्मुखता के बल से जितनी आत्मपरिणामों की शुद्धता हो, उसे धर्मध्यान कहते हैं।

२- उपरोक्त चार प्रकार के सम्बन्ध में विचार।

(१) वीतराग आज्ञा विचार, साधकदशा का विचार, मैं वर्तमान में आत्मशुद्धि की कितनी भूमिका (कक्षा) में वर्तता हूँ, उसी का स्वसन्मुखतापूर्वक विचार करना, सो आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(२) बाधकता का विचार - कितने अंश में सरागता-कषायकण विद्यमान हैं ? मेरी कमजोरी ही विघ्नरूप है, रागादि ही दु:ख के कारण हैं, ऐसे भावकर्मरूप बाधकभावों का विचार, अपायविचय है।

(३) द्रव्यकर्म के विपाक का विचार - जीव को भूलरूप मलिनभावों में कर्मों का निमित्तमात्ररूप सम्बन्ध को जानकर स्वसन्मुखता के बल को सम्भालना; जड़कर्म किसी को लाभ-हानि करनेवाला नहीं है, ऐसा विचार विपाकविचय है।

(४) संस्थानविचय - मेरे शुद्धात्मद्रव्य का प्रगट निरावरण संस्थान आकार कैसे

पुरुषार्थ से प्रगट हो, शुद्धोपयोग की पूर्णतासहित, स्वभाव व्यञ्जनपर्याय का स्वयं, स्थिर, शुद्ध आकार कब प्रगट होगा, ऐसा विचार करना, सो संस्थानविचय है।

३. प्रश्न - छठवें गुणस्थान में तो निर्विकल्पदशा नहीं होती तो वहाँ वह धर्मध्यान कैसे सम्भव हो सकता है?

उत्तर - यह ठीक है कि छट्ठे गुणस्थान में विकल्प होता है, परन्तु वहाँ उस विकल्प का स्वामित्व नहीं है और सम्यग्दर्शन की दृढ़ता होकर अशुभराग दूर होता है और तीन प्रकार के कषायरहित वीतरागदशा है, अतएव उतने अंश में वहाँ धर्मध्यान है और उससे संवर-निर्जरा होती है। चौथे और पाँचवें गुणस्थान में भी धर्मध्यान होता है और उससे उस गुणस्थान के योग्य संवर-निर्जरा होती है। जो शुभभाव होता है, वह तो बन्ध का कारण होता है, वह यथार्थ धर्मध्यान नहीं है। अतः किसी को शुभराग द्वारा धर्म हो - ऐसा नहीं है।

४- धर्मध्यान - (धर्म का अर्थ है स्वभाव और ध्यान का अर्थ है एकाग्रता) अपने शुद्धस्वभाव में जो एकाग्रता है, सो निश्चयधर्मध्यान है। जिसमें क्रियाकाण्ड के सर्व आडम्बरों का त्याग है, ऐसी अन्तरङ्ग क्रिया के आधाररूप जो आत्मा है, उसे मर्यादारहित तीनों काल के कर्मों की उपाधिरहित निजस्वरूप से जानता है। वह ज्ञान की विशेष परिणति या जिसमें आत्मा स्वाश्रय में स्थिर होता है, सो निश्चयधर्मध्यान है और यही संवर-निर्जरा का कारण है।

जो व्यवहारधर्मध्यान है, वह शुभभाव है; कर्म के चिन्तवन में मन लगा रहे, यह तो शुभपरिणामरूप धर्मध्यान है। जो केवल शुभपरिणाम से मोक्ष मानते हैं, उन्हें समझाया है कि शुभपरिणाम से अर्थात् व्यवहार धर्मध्यान से मोक्ष नहीं होता। (देखो, समयसार गाथा २९१ की टीका तथा भावार्थ) आगम (शास्त्र) की आज्ञा क्या है - जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव-अचल-ज्ञानस्वरूप से परिणमित प्रतिभासता है, वही मोक्ष का हेतु है, कारण कि वह स्वयं भी मोक्षस्वरूप है; उसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह बन्ध का हेतु है, कारण कि वह स्वयं भी बन्धस्वरूप है, इसलिए ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात् अनुभूति करने की ही आगम में आज्ञा (फरमान) है ॥३६॥ *(समयसार गाथा १५३ कलश १०५)*

अब शुक्लध्यान के स्वामी बताते हैं

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

अर्थ - **[शुक्ले चाद्ये]** पहले दो प्रकार के शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी **[पूर्वविदः]** पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के होते हैं।

नोट - इस सूत्र में च शब्द है, वह यह बतलाता है कि श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है।

टीका - शुक्लध्यान के ४ भेद ३९वें सूत्र में कहेंगे। शुक्लध्यान का प्रथम भेद आठवें गुणस्थान में प्रारम्भ होकर क्षपक में-दसवें और उपशमक में ११वें गुणस्थान तक रहता है। उनके निमित्त से मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थान में होता है, उसके निमित्त से बाकी के घातिकर्म-अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म का क्षय होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में पहला भेद होता है।

२- इस सूत्र में पूर्वधारी श्रुतकेवली के शुक्लध्यान होना बताया है, सो उत्सर्ग कथन है, इसमें अपवाद कथन का गौणरूप से समावेश हो जाता है। अपवाद कथन यह है कि किसी जीव के निश्चय स्वरूपाश्रितरूप आठ प्रवचनमाता का सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुषार्थ बढ़ाकर निजस्वरूप में स्थिर होकर शुक्लध्यान प्रगट करता है, शिवभूति मुनि इसके दृष्टान्त हैं। उनके विशेष शास्त्र-ज्ञान न था, तथापि (हेय और उपादेय का निर्मल ज्ञान था) निश्चय-स्वरूपाश्रित सम्यग्ज्ञान था, और इसी से पुरुषार्थ बढ़ाकर शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया था ॥३७॥ *(तत्त्वार्थसार अध्याय ६ तथा गाथा ४६ की टीका)*

इस प्रकार शुक्लध्यान के चार भेदों में से पहले दो किसके होते हैं - यह बतलाया।

अब यह बतलाते हैं कि बाकी के दो भेद किसके होते हैं

परे केवलिनः ॥३८॥

अर्थ - [**परे**] शुक्लध्यान के अन्तिम दो भेद अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो ध्यान [**केवलिनः**] केवलि भगवान के होते हैं।

टीका - तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में शुक्लध्यान का तीसरा भेद होता है, उसके बाद चौथा भेद, चौदहवें गुणस्थान में प्रगट होता है ॥३८॥

शुक्लध्यान के चार भेद

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

अर्थ - [**पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि**] पृथक्त्व-वितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं॥ ३९॥

अब योग की अपेक्षा से शुक्लध्यान के स्वामी बतलाते हैं

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

अर्थ - [**त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्**] ऊपर कहे गये चार प्रकार के शुक्लध्यान, अनुक्रम से तीन योगवाले, एक योगवाले, मात्र काययोगवाले और अयोगी जीवों के होते हैं।

टीका - १- पहला पृथक्त्ववितर्क ध्यान मन, वचन और काय इन तीन योगों के धारण करनेवाले जीवों के होता है। (गुणस्थान ८ से ११)

दूसरा एकत्ववितर्कध्यान तीन में से किसी एक योग के धारक के होता है। (१२वें गुणस्थान में होता है)।

तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काययोग के धारण करनेवाले के होता है। (१३वें गुणस्थान के अन्तिम भाग में)।

चौथा व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योगरहित-अयोगी जीवों के होता है। (चौदहवें गुणस्थान में होता है)।

२- केवली के मनोयोग सम्बन्धी स्पष्टीकरण

(१) केवली भगवान के अतीन्द्रियज्ञान होता है, इसका यह मतलब नहीं है कि उनके द्रव्यमन नहीं है। उसके द्रव्यमन का सद्भाव है, किन्तु उनके मन-निमित्तक ज्ञान नहीं है, क्योंकि मानसिक ज्ञान तो क्षायोपशमरूप है और केवली भगवान के क्षायिकज्ञान है। अतः इसका अभाव है।

(२) मनोयोग चार प्रकार का है (१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग, (३) उभय मनोयोग और (४) अनुभय मनोयोग। इस चौथे अनुभय मनोयोग में सत्य और असत्य दोनों नहीं होते। केवली भगवान के इन चार में से पहला और चौथा मनोयोग वचन के निमित्त से उपचार से कहा जाता है।

३. प्रश्न - यह तो ठीक है कि केवली के सत्यमनोयोग का सद्भाव है, किन्तु उनके पदार्थों का यथार्थ ज्ञान है और संशय तथा अध्यवसायरूप ज्ञान का अभाव है, इसलिए उनके अनुभय अर्थात् असत्यमृषामनोयोग कैसे सम्भव होता है?

उत्तर - संशय और अनध्यवसाय का कारणरूप जो वचन है, उसका निमित्तकारण मन होता है, इसलिए उसमें श्रोता के उपचार से अनुभय धर्म रह सकता है, अतः सयोगीजिन

के अनुभय मनोयोग का उपचार से सद्भाव कहा जाता है। इस प्रकार सयोगीजिन के अनुभय-मनोयोग स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है। केवली के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ अनन्त होने से और श्रोता के आवरण कर्म का क्षयोपशम अतिशयरहित होने से केवली के वचनों के निमित्त से संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है, इसलिए उपचार से अनुभय मनोयोग का सद्भाव कहा जाता है। *(श्री धवला पुस्तक १, पृष्ठ २८२ से २८४ तथा ३०८)*

३- केवली के दो प्रकार का वचन-योग

केवली भगवान के क्षायोपशमिकज्ञान (भावमन) नहीं है, तथापि उनके सत्य और अनुभय दो प्रकार के मनोयोग की उत्पत्ति कही जाती है, वह उपचार से कही जाती है। उपचार से मन द्वारा इन दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान किया गया है। जिस तरह दो प्रकार का मनोयोग कहा गया है, उसी प्रकार दो प्रकार का वचन-योग भी कहा गया है, यह भी उपचार से है, क्योंकि केवली भगवान के बोलने की इच्छा नहीं है, सहजरूप से दिव्यध्वनि है। *(श्री धवला पुस्तक-१, पृष्ठ २८३ तथा ३०८)*

४- क्षपक तथा उपशमक जीवों के चार मनोयोग किस तरह हैं ?

शङ्का - क्षपक (क्षपकश्रेणीवाले) और उपशमक (उपशमश्रेणीवाले) जीवों के भले ही सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोग का सद्भाव हो, किन्तु बाकी दो-असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग का सद्भाव किस तरह है ? क्योंकि उन दोनों में रहनेवाला जो अप्रमाद है, सो असत्य और उभयमनोयोग के कारणभूत प्रमाद का विरोधी है अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमादरहित होता है, इसलिए उसके असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग किस तरह होते हैं ?

समाधान - आवरणकर्मयुक्त जीवों के विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञान के कारणभूत मन का सद्भाव मानने में और उससे असत्य तथा उभय मनोयोग मानने में कोई विरोध नहीं; परन्तु इस कारण से क्षपक और उपशमक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि प्रमाद, मोह की पर्याय है। *(श्री धवला पुस्तक १, पृष्ठ २८५-२८६)*

नोट - ऐसा मानने में दोष है कि समनस्क (मनसहित) जीवों के ज्ञान की उत्पत्ति मनोयोग से होती है, क्योंकि ऐसा मानने में केवलज्ञान से व्यभिचार आता है। किन्तु यह बात सत्य है कि समनस्क जीवों के क्षायोपशमिक ज्ञान होता है और उसमें मनोयोग निमित्त है और

यह मानने में भी दोष है कि समस्त वचन होने में मन निमित्त है, क्योंकि ऐसा मानने से केवली भगवान के मन के निमित्त का अभाव होने से उनके वचन का अभाव हो जायेगा।

(श्री धवला पुस्तक १, पृष्ठ २८७-२८८)

५- क्षपक और उपशमक जीवों के वचनयोग सम्बन्धी स्पष्टीकरण

शङ्का - जिनके कषाय क्षीण हो गई है - ऐसे जीवों के असत्य वचनयोग कैसे हो सकता है ?

समाधान - असत्यवचन का कारण अज्ञान है और वह बारहवें गुणस्थान तक होता है, इस अपेक्षा से बारहवें गुणस्थान तक असत्य-वचन का सद्भाव होता है और इसलिए इसमें भी कोई विरोध नहीं है कि उभयसंयोजन सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है।

शङ्का - वचनगुप्ति का पूर्णरीति से पालन करनेवाले कषायरहित जीवों के वचनयोग कैसे सम्भव होता है ?

समाधान - कषायरहित जीवों में अन्तर्जल्प होने में कोई विरोध नहीं है।

(श्री धवला पुस्तक १, पृष्ठ २८९)

शुक्लध्यान के पहले दो भेदों की विशेषता बतलाते हैं

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१ ॥

अर्थ - **[एकाश्रये]** एक (परिपूर्ण) श्रुतज्ञानी के आश्रय से रहनेवाले **[पूर्वे]** शुक्लध्यान के पहले दो भेद **[सवितर्कवीचारे]** वितर्क और वीचारसहित हैं, परन्तु -

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२ ॥

अर्थ - **[द्वितीयम्]** ऊपर कहे गये शुक्लध्यानों में से दूसरा शुक्लध्यान **[अवीचारं]** वीचार से रहित है, किन्तु सवितर्क होता है।

टीका - १- ४२वाँ सूत्र ४१वें सूत्र का अपवादरूप है, अर्थात् शुक्लध्यान का दूसरा भेद वीचार रहित है। जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों, वह पहला पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान है और जो वीचाररहित तथा वितर्कसहित मणि के दीपक की तरह अचल है, सो दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है; इसमें अर्थ, वचन और योग का पलटना दूर हुआ होता है अर्थात् वह संक्रान्ति रहित है। वितर्क की व्याख्या ४३वें और वीचार की व्याख्या ४४वें सूत्र में आवेगी।

२- जो ध्यान सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से होता है, उसे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (तृतीय) शुक्लध्यान कहते हैं और जिसमें आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द और श्वासोच्छ्वासादि समस्त क्रियाएँ निवृत्त हो जाती हैं, उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति (चौथा) शुक्लध्यान कहते हैं ॥४१-४२॥

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अर्थ - [**श्रुतम्**] श्रुतज्ञान को [**वितर्कः**] वितर्क कहते हैं।

नोट - 'श्रुतज्ञान' शब्द-श्रवणपूर्वक ज्ञान का ग्रहण बतलाता है। मतिज्ञान के भेदरूप चिन्ता को भी तर्क कहते हैं, वह यहाँ ग्रहण नहीं करना ॥४३॥

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थ - [**अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः**] अर्थ, व्यञ्जन और योग का बदलना, सो [**वीचारः**] वीचार है।

टीका - **अर्थसंक्रान्ति** - अर्थ का तात्पर्य है ध्यान करनेयोग्य पदार्थ और संक्रान्ति का अर्थ बदलना है। ध्यान करनेयोग्य पदार्थ में द्रव्य को छोड़कर उसकी पर्याय का ध्यान करे अथवा पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करे, सो अर्थसंक्रान्ति है।

व्यञ्जनसंक्रान्ति - व्यञ्जन का अर्थ वचन और संक्रान्ति का अर्थ बदलना है। श्रुत के किसी एक वचन को छोड़कर अन्य का अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्य का अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्य का अवलम्बन करना, सो व्यञ्जनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्ति - काययोग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग को ग्रहण करना और उसे छोड़कर अन्य योग को ग्रहण करना, सो योगसंक्रान्ति है।

यह ध्यान रहे कि जिस जीव के शुक्लध्यान होता है, वह जीव निर्विकल्पदशा में ही है, इसीलिए उसे इस संक्रान्ति की खबर नहीं है; किन्तु उस दशा में ऐसी पलटना होती है अर्थात् संक्रान्ति होती है, वह केवलज्ञानी जानता है।

ऊपर कही गई संक्रान्ति-परिवर्तन को वीचार करते हैं। जहाँ तक यह वीचार रहता है, वहाँ तक इस ध्यान को सवीचार (अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्क) कहते हैं। पश्चात् ध्यान

में दृढ़ता होती है, तब वह परिवर्तन रुक जाता है, इस ध्यान को अवीचार (अर्थात् दूसरा) एकत्ववितर्क कहते हैं।

प्रश्न - क्या केवली भगवान के ध्यान होता है?

उत्तर - 'एकाग्रचिन्तानिरोध' यह ध्यान का लक्षण है। एक-एक पदार्थ का चिन्तवन तो क्षायोपशमिक ज्ञानी के होता है और केवली भगवान के तो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नही रहा कि जिसका वे ध्यान करें। केवली भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, अतएव उनके वास्तव में ध्यान नहीं है। तथापि आयु पूर्ण होने पर तथा अन्य तीन कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर योग का निरोध और कर्मों की निर्जरा स्वयमेव होती है और ध्यान का कार्य भी योग का निरोध और कर्मों की निर्जरा होना है; इसीलिए केवली भगवान के ध्यान के सदृश कार्य देखकर, उपचार से उनके शुक्लध्यान कहा जाता है, यथार्थ में उनके ध्यान नहीं है ('भगवान परम सुख को ध्याते हैं' ऐसा प्रवचनसार गाथा १९८ में कहा है; वहाँ उनकी पूर्ण अनुभवदशा दिखाना है) ॥ ४४ ॥

इस प्रकार यहाँ ध्यान तप का वर्णन पूर्ण हुआ।

इस नववें अध्याय के पहले अठारह सूत्रों में संवर और उसके कारणों का वर्णन किया। उसके बाद निर्जरा और उसके कारणों का वर्णन प्रारम्भ किया। वीतरागभावरूप तप से निर्जरा होती है ('तपसा निर्जरा च' सूत्र-३) उसे भेद द्वारा समझाने के लिये तप के बारह भेद बतलाये, इसके बाद छह प्रकार के अन्तरङ्ग तप के उपभेदों का यहाँ तक वर्णन किया।

व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, बारह प्रकार के तप आदि सम्बन्धी खास ध्यान में रखने योग्य स्पष्टीकरण

१- कितने ही जीव सिर्फ व्यवहारनय का अवलम्बन करते हैं, उनके परद्रव्यरूप भिन्न साधनसाध्यभाव की दृष्टि है, इसलिए वे व्यवहार में ही खेद-खिन्न रहते हैं। वे निम्नलिखित अनुसार होते हैं -

श्रद्धा के सम्बन्ध में - धर्मद्रव्यादि-परद्रव्यों की श्रद्धा करते हैं।

ज्ञान के सम्बन्ध में - द्रव्यश्रुत के पठन-पाठनादि संस्कारों से अनेक प्रकार के विकल्पजाल से कलङ्कित चैतन्यवृत्ति को धारण करते हैं।

चारित्र के सम्बन्ध में - यति के समस्त व्रत समुदायरूप तपापि-प्रवृत्तिरूप कर्मकाण्डों

को अचलितरूप से आचरते हैं, इसमें किसी समय पुण्य की रुचि करते हैं, कभी दयावन्त होते हैं।

दर्शनाचार के सम्बन्ध में - किसी समय प्रशमता, किसी समय वैराग्य, किसी समय अनुकम्पा-दया और किसी समय आस्तिक्य में वर्तते हैं तथा शङ्का, काँक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि आदि भाव उत्पन्न न हों - ऐसी शुभोपयोगरूप सावधानी रखते हैं; मात्र व्यवहारनयरूप उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन अङ्गों की भावना विचारते हैं और इस सम्बन्धी उत्साह बार-बार बढ़ाते हैं।

ज्ञानाचार के सम्बन्ध में - स्वाध्याय का काल विचारते हैं, अनेक प्रकार की विनय में प्रवृत्ति करते हैं, शास्त्र की भक्ति के लिये दुर्धर उपधान करते हैं - आरम्भ करते हैं, शास्त्र का भले प्रकार से बहुमान करते हैं, गुरु आदि में उपकार प्रवृत्ति को नहीं भूलते; अर्थ-व्यञ्जन और इन दोनों की शुद्धता में सावधान रहते हैं।

चारित्राचार के सम्बन्ध में - हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री-सेवन और परिग्रह इन सबसे विरतिरूप पञ्च महाव्रत में स्थिरवृत्ति धारण करते हैं; योग (मन-वचन-काय) के निग्रहरूप गुप्तियों के अवलम्बन का उद्योग करते हैं; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियों में सर्वथा प्रयत्नवन्त रहते हैं।

तपाचार के सम्बन्ध में - अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश में निरन्तर उत्साह रखते हैं; प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान के लिये चित्त को वश में करते हैं।

वीर्याचार के सम्बन्ध में - कर्मकाण्ड में सर्वशक्तिपूर्वक वर्तते हैं।

ये जीव उपरोक्त प्रकार से कर्मचेतना की प्रधानतापूर्वक अशुभभाव की प्रवृत्ति छोड़ते हैं, किन्तु शुभभाव की प्रवृत्ति को आदरनेयोग्य मानकर अङ्गीकार करते हैं, इसलिए सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड के आडम्बर से अतिक्रान्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतना को वे किसी भी समय प्राप्त नहीं होते।

वे बहुत पुण्य के भार से मन्थर (मन्द, सुस्त) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हैं, इसीलिए स्वर्गलोकादि के क्लेश प्राप्त करके परम्परा से दीर्घकाल तक संसार-सागर में परिभ्रमण करते हैं।

(देखो, पञ्चास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

वास्तव में तो शुद्धभाव ही संवर-निर्जरारूप है। यदि शुभभाव यथार्थ में संवर-निर्जरा का कारण हो तो केवल व्यवहारालम्बी के समस्त प्रकार का निरतिचार व्यवहार है, इसलिए उसके शुद्धता प्रगट होनी चाहिए। परन्तु राग, संवर-निर्जरा का कारण ही नहीं है। अज्ञानी शुभभाव को धर्म मानता है, इस कारण से तथा शुभ करते-करते धर्म होगा - ऐसा मानने से और शुभ-अशुभ दोनों दूर करने पर धर्म होगा - ऐसा नहीं मानने से, उसका समस्त व्यवहार निरर्थक है; इसीलिए उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

भव्य तथा अभव्य जीवों ने ऐसा व्यवहार (जो वास्तव में व्यवहाराभास है) अनन्त बार किया है और इसके फल से अनन्त बार नववें ग्रैवेयक स्वर्ग तक गया है, किन्तु इससे धर्म नहीं हुआ। धर्म तो शुद्ध निश्चयस्वभाव के आश्रय से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही होता है।

श्री समयसार में कहा है कि -

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करने पर भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

टीका - यद्यपि अभव्य जीव, शील और तप से परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समितियों के प्रति सावधानी से वर्तता हुआ अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र करता है, तथापि वह निश्चारित्र (चारित्ररहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि **निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है-रहित है।**

भावार्थ - अभव्य जीव यद्यपि महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र का पालन करते हैं तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धा के बिना वह चारित्र, सम्यक्-चारित्र नाम नहीं पाता; इसलिए वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

नोट - यहाँ अभव्य जीव का उदाहरण दिया है, किन्तु यह सिद्धान्त, व्यवहार के आश्रय से हित माननेवाले समस्त जीवों के एक सरीखा लागू होता है।

३- जो शुद्धात्मा का अनुभव है, सो यथार्थ मोक्षमार्ग है; इसलिए उसके निश्चय कहा है। व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नहीं, किन्तु निमित्तादिक की अपेक्षा से उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा है, इसलिए इसे व्यवहार कहते हैं। इस प्रकार यह जानना कि भूतार्थ मोक्षमार्ग

के द्वारा निश्चयनय और अभूतार्थ मोक्षमार्ग के द्वारा व्यवहारनय कहा है, किन्तु इन दोनों को ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्याबुद्धि ही है।

(देखो, आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २४९-२५०)

४- किसी भी जीव के निश्चय-व्यवहार का स्वरूप समझे बिना धर्म या संवर-निर्जरा नहीं होती। शुद्ध आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप समझ में नहीं आता; इसलिए पहले आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने की आवश्यकता है।

अब पात्र की अपेक्षा से निर्जरा में होनेवाली न्यूनाधिकता बतलाते हैं

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थ - [**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः**] सम्यग्दृष्टि, पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत-मुनि, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोह का क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणी मांडनेवाला, उपशान्तमोह, क्षपकश्रेणी माण्डनेवाला, क्षीणमोह और जिन- इन सबके (अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयुकर्म को छोड़कर) प्रति समय [**क्रमशोऽ-संख्येयगुणनिर्जराः**] क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

टीका - (१) यहाँ पहले सम्यग्दृष्टि की - चौथे गुणस्थान की दशा बतलायी है। जो असंख्यातगुणी निर्जरा कही है, वह निर्जरा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले की एकदम समीप की (अत्यन्त निकट की) आत्मा की दशा में होनेवाली निर्जरा से असंख्यात गुणी जानना। प्रथमोपशम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले तीन करण होते हैं, उनमें अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में वर्तनेवाली विशुद्धता से विशुद्ध, जो सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है, उसके आयु को छोड़कर सात कर्मों की जो निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करने पर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रतिसमय (निर्जरा) होती है अर्थात् सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि की निर्जरा से सम्यग्दृष्टि के गुणश्रेणी निर्जरा में असंख्यगुणा द्रव्य है। यह चौथे गुणस्थानवाले अविरत-सम्यग्दृष्टि की निर्जरा है।

(२) जब यह जीव पाँचवाँ गुणस्थान-श्रावकदशा प्रगट करता है, तब अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त

निर्जरा होनेयोग्य कर्मपुद्गलरूप गुणश्रेणी निर्जराद्रव्य चौथे गुणस्थान से असंख्यातगुणा है।

(३) पाँचवें से जब सकलसंयमरूप अप्रमत्तसंयत (सातवाँ) गुणस्थान प्रगट करे, तब पञ्चमगुणस्थान से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। पाँचवें के बाद पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठने पर छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान होता है। सूत्र में 'विरत' शब्द कहा है, इसमें सातवें और छट्ठे दोनों गुणस्थानवाले जीवों का समावेश होता है।

(४) तीन करण के प्रभाव से चार अनन्तानुबन्धी कषाय को, बारह कषाय तथा नव नोकषायरूप परिणमा दे, उन जीवों के अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रतिसमय असंख्यातगुणी द्रव्य-निर्जरा होती है। अनन्तानुबन्धी का यह विसंयोजन चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें, इन चार गुणस्थानों में होता है।

(५) अनन्तवियोजक से असंख्यातगुणी निर्जरा दर्शनमोह के क्षपक के (उस जीव के) होती है। पहले अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने के बाद दर्शनमोह के त्रिक का क्षय करे, ऐसा क्रम है।

(६) दर्शनमोह का क्षपण करनेवाले से 'उपशमक' के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न - उपशम की बात दर्शनमोह के क्षपण करनेवाले के बाद क्यों कही?

उत्तर - क्षपक का अर्थ क्षायिक होता है। यहाँ क्षायिक सम्यक्त्व की बात है और 'उपशमक' कहने से द्वितीयोपशम सम्यक्त्वयुक्त उपशमश्रेणीवाले जीव समझना। क्षायिक सम्यग्दृष्टि से उपशमश्रेणीवाले के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, इसीलिए पहले क्षपक की बात की है और उसके बाद उपशमक की बात की है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थान में प्रगट होता है और जो जीव चारित्रमोह का उपशम करने को उद्यमी हुए हैं, उनके आठवाँ, नववाँ और दसवाँ गुणस्थान होता है।

(७) उपशमक जीव की निर्जरा से ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(८) उपशान्तमोहवाले जीव की अपेक्षा क्षपकश्रेणीवाले के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इस जीव के आठवाँ, नववाँ और दसवाँ गुणस्थान होता है।

(९) क्षपकश्रेणीवाले जीव की अपेक्षा बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(१०) बारहवें गुणस्थान की अपेक्षा 'जिन' के (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में) असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। जिनके तीन भेद हैं - (१) स्वस्थान केवली, (२) समुद्घात केवली और (३) अयोग केवली। इन तीनों में भी विशुद्धता के कारण उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा है। अत्यन्त विशुद्धता के कारण समुद्घात केवली के नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयुकर्म के समान हो जाती है।

इस सूत्र का सिद्धान्त

इस सूत्र में निर्जरा के लिये प्रथम पात्र सम्यग्दृष्टि बतलाया गया है, इसी से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है॥४५॥

अब निर्ग्रन्थ साधु के भेद बतलाते हैं

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः निर्ग्रंथाः ॥४६॥

अर्थ - [**पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः**] पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक - ये पाँच प्रकार के [**निर्ग्रंथाः**] निर्ग्रन्थ हैं।

टीका - १- सूत्र में आये हुए शब्दों की व्याख्या

(१) पुलाक - जो उत्तरगुणों की भावना से रहित हो और किसी क्षेत्र तथा काल में किसी मूलगुण में भी अतीचार लगावे तथा जिसके अल्प विशुद्धता हो, उसे पुलाक कहते हैं। (विशेष कथन सूत्र ४७ प्रतिसेवना का अर्थ।)

(२) बकुश - जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है किन्तु धर्मानुराग के कारण शरीर तथा उपकरणों की शोभा बढ़ाने के लिये कुछ इच्छा रखता है, उसे बकुश कहते हैं।

(३) कुशील - इसके दो भेद हैं - (१) प्रतिसेवना कुशील और (२) कषाय कुशील। जिसके शरीरादि तथा उपकरणादि से पूर्ण विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणों की परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुण में क्वचित् कदाचित् विराधना होती हो, उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं और जिसने संज्वलन के सिवाय अन्य कषायों को जीत लिया हो, उसे कषाय कुशील कहते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ - जिनके मोहकर्म क्षीण हो गया है तथा जिनके मोहकर्म के उदय का अभाव है, ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं।

(५) स्नातक - समस्त घातिया कर्मों के नाश करनेवाले केवली भगवान को

स्नातक कहते हैं। (इसमें तेरहवाँ तथा चौदहवाँ दोनों गुणस्थान समझना।)

२- परमार्थ-निर्ग्रन्थ और व्यवहार-निर्ग्रन्थ

बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में विराजनेवाले जीव परमार्थ-निर्ग्रन्थ हैं, क्योंकि उनके समस्त मोह का नाश हो गया है, इन्हें निश्चयनिर्ग्रन्थ कहते हैं। अन्य साधु यद्यपि सम्यग्दर्शन और निष्परिग्रहत्व को लेकर निर्ग्रन्थ हैं अर्थात् वे मिथ्यादर्शन और अविरतिरहित हैं तथा वस्त्र, आभरण, हथियार, कटक, धन, धान्य आदि परिग्रह से रहित होने से निर्ग्रन्थ हैं तथापि उनके मोहनीयकर्म का आंशिक सद्भाव है, इसीलिए वे व्यवहार-निर्ग्रन्थ हैं।

कुछ स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न - यद्यपि पुलाक मुनि के क्षेत्र, काल के वश किसी समय किसी एक व्रत का भङ्ग होता है, तथापि उसे निर्ग्रन्थ कहा, तो क्या श्रावक के भी निर्ग्रन्थत्व कहने का प्रसङ्ग आवेगा?

उत्तर - पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवश से या जबरदस्ती से व्रत में क्षणिक दोष हो जाता है, किन्तु यथाजातरूप है, इसीलिए नैगमनय से वह निर्ग्रन्थ है। श्रावक के यथाजातरूप (नग्नता) नहीं है, इसीलिए उसके निर्ग्रन्थत्व नहीं कहलाता। (जो उद्देशिक और अधःकर्म के आहार-जल को जानते हुए भी लेते हैं, उसकी गणन पुलाकादि किसी भेद में नहीं है।)

(२) प्रश्न - पुलाक मुनि को यदि यथाजातरूप को लेकर ही निर्ग्रन्थ कहोगे तो अनेक मिथ्यादृष्टि भी नग्न रहते हैं, उनको भी निर्ग्रन्थ कहने का प्रसङ्ग आवेगा।

उत्तर - उनके सम्यग्दर्शन नहीं है। मात्र नग्नत्व तो पागल के, बालक के तथा तिर्यञ्चों के भी होता है, परन्तु इसीलिए उन्हें निर्ग्रन्थ नहीं कहते। किन्तु जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक संसार और देह, भोग से विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है, चारित्रमोह की तीन जाति के कषाय का अभाव किये हैं, उसे निर्ग्रन्थ कहा जाता है, दूसरे को नहीं ॥४६॥

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थ - **[संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः]** संयम, श्रुत,

प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [**साध्याः**] भेदरूप से साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकार से इन पुलाकादि मुनियों में विशेष भेद होते हैं।

टीका - **(१) संयम** - पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु के सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो संयम होते हैं। कषाय कुशील साधु के सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय - ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के यथाख्यातचारित्र होता है।

(२) श्रुत - पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादा से ज्यादा सम्पूर्ण दस पूर्वधारी होते हैं। पुलाक के जघन्य आचाराङ्ग में आचार वस्तु का ज्ञान होता है और बकुश तथा प्रतिसेवना कुशील के जघन्य अष्टप्रवचन माता का ज्ञान होता है अर्थात् आचाराङ्ग के १८००० पदों में से पाँच समिति और तीन गुप्ति का परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओं का ज्ञान होता है; कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ के उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्व का होता है और जघन्यज्ञान आठ प्रवचन माता का होता है। स्नातक तो केवलज्ञानी हैं, इसलिए वे श्रुतज्ञान से दूर है। (अष्ट प्रवचन माता = तीन गुप्ति, पाँच समिति)

(३) प्रतिसेवना - (विराधना) पुलाकमुनि के परवश से या जबरदस्ती से पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन का त्याग इन छह में से किसी एक की विराधना हो जाती है। महाव्रतों में तथा रात्रिभोजन त्याग में कृत, कारित, अनुमोदना से पाँचों पापों का त्याग है, उनमें से किसी प्रकार की सामर्थ्य की हीनता से दूषण लगता है। उपकरण - बकुश मुनि के कमण्डल पीछी, पुस्तकादि उपकरण की शोभा की अभिलाषा के संस्कार का सेवन होता है, सो विराधना जानना। तथा बकुशमुनि के शरीर के संस्काररूप विराधना होती है; प्रतिसेवनाकुशील मुनि पाँच महाव्रत की विराधना नहीं करता, किन्तु उत्तरगुण में किसी एक की विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के विराधना नहीं होती।

(४) तीर्थ - ये पुलाकादि पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ समस्त तीर्थङ्करों के धर्मशासन में होते हैं।

(५) लिङ्ग - इसके दो भेद हैं - (१) द्रव्यलिङ्ग और (२) भावलिङ्ग। पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ भावलिङ्गी होते हैं। वे सम्यग्दर्शनसहित संयम पालने में सावधान हैं। भावलिङ्ग का द्रव्यलिङ्ग के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथाजातरूप लिङ्ग में किसी के भेद नहीं है किन्तु प्रवृत्तिरूप लिङ्ग में अन्तर होता है, जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थ में विहार करता है,

कोई अनेक आसनरूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित लेता है, कोई दूषण नहीं लगाता; कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यातक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यान में श्रेणी का प्रारम्भ करता है इत्यादि राग (विकल्प) रूप द्रव्यलिङ्ग में मुनिगणों के भेद होता है। मुनि के शुभभाव को द्रव्यलिङ्ग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं; इन प्रकारों को द्रव्यलिङ्ग कहा जाता है।

(६) लेश्या - पुलाक मुनि के तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। बकुश तथा प्रतिसेवना-कुशील मुनि के छहों लेश्या भी होती हैं। कषाय से अनुरञ्जित योग-परिणति को लेश्या कहते हैं।

प्रश्न - बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनि के कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएँ किस तरह होती हैं?

उत्तर - उन दोनों प्रकार के मुनि के उपकरण की कुछ आसक्ति के कारण किसी समय आर्तध्यान भी हो जाता है और इसीलिए उनके कृष्णादि अशुभ लेश्याएँ भी हो सकती हैं।

कषायकुशील मुनि के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्याएँ होती हैं। सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानवर्ती के तथा निर्ग्रन्थ के शुक्ल लेश्या होती है। स्नातक के उपचार से शुक्ल लेश्या है, अयोगकेवली के लेश्या नहीं होती।

(७) उपपाद - पुलाक मुनि का-उत्कृष्ट अठारह सागर की आयु के साथ-बारहवें सहस्रार स्वर्ग में जन्म होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट जन्म बाईस सागर की आयु के साथ पन्द्रहवें आरण और सोलहवें अच्युत स्वर्ग में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का-उत्कृष्ट जन्म तेतीस सागर की आयु के साथ सर्वार्थसिद्धि में होता है। इन सबका जघन्य सौधर्म स्वर्ग में दो सागर की आयु के साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं, उनका उपपाद निर्वाण-मोक्षरूप से होता है।

(८) स्थान - तीव्र या मन्द कषाय होने के कारण असंख्यात संयम-लब्धिस्थान होते हैं; उनमें से सबसे छोटा संयमलब्धिस्थान पुलाक मुनि के और कषायकुशील के होता है। ये दोनों एक साथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं; पुलाक मुनि इन असंख्यात लब्धिस्थानों के बाद आगे के लब्धिस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। कषायकुशील मुनि उनसे आगे के असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

यहाँ दूसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानों में कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश मुनि ये तीनों एकसाथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

बकुश मुनि इन तीसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानों में रुक जाता है, आगे के स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। प्रतिसेवनाकुशील वहाँ से आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं।

कषायकुशील मुनि इन चौथी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानों में से आगे संख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं; इससे आगे के स्थान प्राप्त नहीं कर सकते।

निर्ग्रन्थ मुनि इन पाँचवीं बार कहे गये लब्धिस्थानों से आगे कषायरहित संयमलब्धिस्थानों को प्राप्त कर सकता है। ये निर्ग्रन्थ मुनि भी आगे के असंख्यात लब्धिस्थानों की प्राप्ति कर सकते हैं, पश्चात् रुक जाते हैं। उसके बाद एक संयमलब्धिस्थान को प्राप्त करके स्नातक निर्वाण को प्राप्त करता है।

इस प्रकार संयमलब्धि के स्थान हैं। उनमें अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा से संयम की प्राप्ति अनन्तगुणी होती है॥४७॥

— उपसंहार —

१- इस अध्याय में आत्मा की धर्मपरिणति का स्वरूप कहा है; इस परिणति को 'जिन' कहते हैं।

२- अपूर्वकरण परिणाम को प्राप्त हुए प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सन्मुख जीवों को 'जिन' कहा जाता है। *(गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १ टीका, पृष्ठ १६)* यहाँ से लेकर पूर्णशुद्धि प्राप्त करनेवाले सब जीव सामान्यतया 'जिन' कहलाते हैं। श्री प्रवचनसार के तीसरे अध्याय की पहली गाथा में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि ''दूसरे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीव 'एकदेश जिन' हैं, केवली भगवान 'जिनवर' हैं और तीर्थङ्कर भगवान 'जिनवर-वृषभ' हैं।'' मिथ्यात्व रागादि को जीतने से असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनि को 'जिन' कहते हैं। उनमें गणधरादि श्रेष्ठ हैं, इसलिए उन्हें 'श्रेष्ठ जिन' अथवा 'जिनवर' कहा जाता है और तीर्थङ्करदेव उनसे भी प्रधान-श्रेष्ठ हैं, इसीलिए उनहें 'जिनवर-वृषभ' कहते हैं। *(देखो, द्रव्यंग्रह, गाथा १ टीका)* श्री समयसारजी की ३१वीं गाथा में भी सम्यग्दृष्टि का 'जितेन्द्रिय जिन' कहा है।

सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि और अध:करण, अपूर्णकरण तथा अनिवृत्तिकरण का स्वरूप श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ में दिया है। गुणस्थानों का स्वरूप श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के अन्तिम अध्याय में दिया है, सो वहाँ से समझ लेना।

३- चतुर्थ गुणस्थान से निश्चयसम्यग्दर्शन होता है और निश्चयसम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, यह बताने के लिये इस शास्त्र में पहले अध्याय का पहला ही सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' दिया है। धर्म में पहले निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है और निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होने के काल में अपूर्वकरण से संवर-निर्जरा का प्रारम्भ होता है। इस अधिकार के दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन को संवर-निर्जरा के कारणरूप में पृथक् नहीं कहा। इसका कारण यह है कि इस अध्याय के ४५वें सूत्र में इसका समावेश हो जाता है।

४- जिनधर्म का अर्थ है वस्तुस्वभाव। जितने अंश में आत्मा की स्वभावदशा (शुद्धदशा) प्रगट हाती है, उतने अंश में जीव के 'जिनधर्म' प्रगट हुआ कहलाता है। जिनधर्म कोई सम्प्रदाय, वाड़ा या संघ नहीं किन्तु आत्मा की शुद्धदशा है; और आत्मा की शुद्धता में तारतम्यता होने पर शुद्धरूप तो एक ही तरह का है। अतः जिनधर्म में प्रभेद नहीं हो सकते। जैनधर्म के नाम से वाड़ाबन्दी देखी जाती है, उसे यथार्थ में जिनधर्म नहीं कह सकते। भरतक्षेत्र में जिनधर्म पाँचवें काल के अन्त तक रहनेवाला है अर्थात् वहाँ तक अपनी शुद्धता प्रगट करनेवाले मनुष्य इस क्षेत्र में ही होते हैं और उनके शुद्धता के उपादानकारण की तैयारी होने से आत्मज्ञानी गुरु और सत्शास्त्रों का निमित्त भी होता ही है। जैनधर्म के नाम से कहे जानेवाले शास्त्रों में से कौन से शास्त्र परम सत्य के उपदेशक हैं, इसका निर्णय धर्म करने के इच्छुक जीवों को अवश्य करना चाहिए। जब तक जीव स्वयं यथार्थ परीक्षा करके कौन सच्चा देव-शास्त्र और गुरु है, इसका निर्णय नहीं करता तथा आत्मज्ञानी गुरु कौन है, इसका निर्णय नहीं करता, तब तक गृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। गृहीत मिथ्यात्व दूर हुए बिना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है? इसीलिए जीवों को स्व में जिनधर्म प्रगट करने के लिए सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

५- सम्यग्दृष्टि जीव ने आत्मस्वभाव की प्रतीति करके अज्ञान और दर्शनमोह को जीत लिया है। इसलिए वह राग-द्वेष का कर्ता और स्वामी नहीं होता; वह कभी हजारों रानियों के संयोग के बीच में हो, तथापि 'जिन' है। चौथे,पाँचवें गुणस्थान में रहनेवाले जीवों का ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शन का महात्म्य कैसा है, यह बताने के लिये अनन्त ज्ञानियों ने यह स्वरूप कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवों के अपनी शुद्धपर्याय के अनुसार (शुद्धता के प्रमाण में) संवर-निर्जरा होती है।

६- सम्यग्दर्शन के माहात्म्य को नहीं समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवों की बाह्य-संयोगों और बाह्य-त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिए वे उपरोक्त कथन का आशय नहीं समझ

सकते और सम्यग्दृष्टि के अन्तरङ्ग परिणमन को नहीं समझ सकते। इसलिए धर्म करने के इच्छुक जीवों को संयोगदृष्टि छोड़कर वस्तुस्वरूप समझने की और यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उनपूर्वक सम्यक्चारित्र के बिना संवर-निर्जरा प्रगट करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इस नववें अध्याय के २९वें सूत्र की टीका से मालूम पड़ेगा कि मोक्ष और संसार इन दो के अलावा और कोई साधनेयोग्य पदार्थ नहीं है। इस जगत में दो ही मार्ग हैं - मोक्षमार्ग और संसारमार्ग।

७- सम्यक्त्व, मोक्षमार्ग का मूल है और मिथ्यात्व, संसार का मूल है। जो जीव संसारमार्ग से विमुख हों, वे ही जीव मोक्षमार्ग (अर्थात् सच्चे सुख के उपायरूप धर्म) को प्राप्त कर सकते हैं। बिना सम्यग्दर्शन के जीव के संवर-निर्जरा नहीं होती; इसलिए दूसरे सूत्र में संवर के कारण बतलाते हुए उनमें प्रथम गुप्ति बतलाई, उसके बाद दूसरे कारण कहे हैं।

८- यह ध्यान रहे कि इस शास्त्र में आचार्य महाराज ने महाव्रतों या देशव्रतों की संवर को कारणरूप से नहीं बतलाया, क्योंकि सातवें अध्याय के पहले सूत्र में बताये गये प्रमाण से वह शुभास्रव है।

९- यह समझाने के लिए चौथे सूत्र में 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग किया है कि गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, दस प्रकार का धर्म, परीषहजय और चारित्र ये सभी सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होते।

१०- छट्ठे सूत्र में धर्म के दस भेद बतलाये हैं। उसमें दिया गया उत्तम विशेषण यह बतलाता है कि धर्म के भेद सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकते हैं। इसके बाद सातवें सूत्र में अनुप्रेक्षा का स्वरूप और ८वे सूत्र से १७वें सूत्र तक परीषहजय का स्वरूप कहा है। शरीर और दूसरी बाह्य वस्तुओं की जिस अवस्था को लोग प्रतिकूल मानते हैं, उसे यहाँ परीषह कहा गया है। आठवें सूत्र में 'परिषोढव्या' शब्द का प्रयोग करके उन परीषहों को सहन करने का उपदेश दिया है। निश्चय से परीषह क्या है और उपचार से परीषह किसे कहते हैं - यह नहीं समझनेवाले जीव १०-११ सूत्र का आश्रय लेकर (कुतर्क द्वारा) ऐसा मानते हैं कि 'केवली भगवान के क्षुधा और तृषा (भूख और प्यास) की व्याधिरूप परीषह होती है, और छद्मस्थ रागी जीवों की तरह केवली भगवान भी भूख और प्यास की व्याधि को दूर करने के लिए खानपान ग्रहण करते हैं और रागी जीवों की तरह भगवान भी अतृप्त रहते हैं,' परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है। सातवें गुणस्थान से ही आहारसंज्ञा नहीं होती *(गोम्मटसार*

जीवकाण्ड, गाथा १३९ की बड़ी टीका, पृष्ठ ३५१-३५२) तथापि जो लोग केवली भगवान के खान-पान मानते हैं, वे भगवान को आहारसंज्ञा से भी दूर हुए नहीं मानते *(देखो, सूत्र १०-११ की टीका)*।

११- जब भगवान मुनि अवस्था में थे, तब तो करपात्री होने से स्वयं ही आहार के लिये निकलते और जो दाता-श्रावक भक्तिपूर्वक पड़गाहन करते तो वे खड़े रहकर करपात्र में आहार लेते। परन्तु जो ऐसा मानते हैं कि वीतरागी होने के बाद भी असह्य वेदना के कारण भगवान आहार लेते हैं, उन्हें ऐसा मानना पड़ता है या पड़ेगा कि 'भगवान के कोई गणधर या मुनि आहार लाकर देते हैं, वे स्वयं नहीं जाते।' अब, देखो कि छद्मस्थ अवस्था में तो भगवान आहार के लिये किसी से याचना नहीं करते और अब वीतराग होने के बाद आहार लाने के लिये शिष्यों से याचना करें, यह बड़े आश्चर्य की बात है। पुनश्च, भगवान को आहार-पानी का दाता तो वह आहार लानेवाला मुनि ही हुआ। भगवान कितना आहार लेंगे, क्या-क्या लेंगे ? अपन जो कुछ ले जायेंगे, वह सब भगवान लेंगे, उसमें से कुछ बचेगा या नहीं - इत्यादि बातें भगवान स्वयं पहले से निश्चय करके मुनि को कहते हैं या आहार लानेवाले मुनि स्वयं निश्चय करते हैं ? ये भी विचारणीय प्रश्न है। पुनश्च, नग्न मुनि के पास पात्र तो होता नहीं, इसी कारण वह आहार लाने के लिये निरुपयोगी हैं और इसीलिए भगवान स्वयं मुनिदशा में नग्न थे, तथापि उनके वीतराग होने के बाद उनके गणधरादि को पात्र रखनेवाले अर्थात् परिग्रहधारी मानना पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान ने उस पात्रधारी मुनि को आहार लाने की आज्ञा की। किन्तु यह सब असङ्गत है, ठीक नहीं है।

१२- पुनश्च, यदि भगवान स्वयं अशन-पान करते हों तो भगवान की ध्यानमुद्रा दूर हो जायेगी, क्योंकि अध्यान मुद्रा के अलावा पात्र में रहे हुए आहार को देखने का, उसके टुकड़े करने, कौर लेने, दाँत से चबाने, गले में उतारने आदि की क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। अब, यदि भगवान के अध्यान मुद्रा या उपरोक्त क्रियाएँ स्वीकार करें तो वह प्रमाददशा होती है। पुनश्च, आठवें सूत्र में ऐसा उपदेश देते हैं कि परीषहें सहन करनी चाहिए और भगवान स्वयं ही वैसा नहीं कर सकते अर्थात् भगवान अशक्य कार्यों का उपदेश देते हैं, ऐसा अर्थ करने पर भगवान को मिथ्या-उपदेशी कहना पड़ेगा।

१३- ४६वें सूत्र में निर्ग्रन्थों के भेद बताये हैं, उनमें 'बकुश' नामक एक भेद बतलाया है, उनके धर्म-प्रभावना के राग से शरीर तथा शास्त्र, कमण्डल, पीछी पर लगे हुए मैल को दूर करने का राग हो जाता है। इस पर से कोई यह कहना चाहते हैं कि उस 'बकुश' मुनि के वस्त्र होने में बाधा नहीं, परन्तु उनका यह कथन न्याय-विरुद्ध है, ऐसा छट्ठे अध्याय के

तेरहवें सूत्र की टीका में बतलाया है। पुनश्च, मुनि का स्वरूप नहीं समझनेवाले ऐसा भी कहना चाहते हैं कि यदि मुनि को शरीर की रक्षा के लिए अथवा संयम की रक्षा के लिए वस्त्र हो तो भी वे क्षपकश्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं। यह बात भी मिथ्या है। इस अध्याय के ४७वें सूत्र की टीका में संयम के लब्धिस्थानों का स्वरूप दिया है, इस पर से मालूम होगा कि बकुश मुनि तीसरी बार के संयमलब्धिस्थान में रुक जाता है और कषायरहित दशा प्राप्त नहीं कर सकता; तो फिर ऋतु इत्यादि की विषमता से शरीर की रक्षा के लिए वस्त्र रखे तो ऐसे रागवाला सम्यग्दृष्टि हो तो भी मुनिपद प्राप्त नहीं कर सकता और सर्वथा अकषायदशा की प्राप्ति तो वे कर ही नहीं सकते, यही देखा भी जाता है।

१४- गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के स्वरूप के सम्बन्ध में होनेवाली भूल और उसका निराकरण उन-उन विषयों से सम्बन्धित सूत्रों की टीका में दिया है, वहाँ समझ लेना। कुछ लोग आहार न लेने को तप मानते हैं किन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं। तप की इस व्याख्या में होनेवाली भूल दूर करने के लिये सम्यक्तप का स्वरूप १९वें सूत्र की भूमिका में तथा टीका पैराग्राफ ५ में दिया है, उसे समझना चाहिए।

१५- मुमुक्षु जीवों को मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिये उपरोक्त बारे में यथार्थ विचार करके संवर-निर्जरातत्त्व का स्वरूप बराबर समझना चाहिए। जो जीव अन्य पाँच तत्त्वोंसहित इस संवर तथा निर्जरातत्त्व की श्रद्धा करता है, जानता है। वह अपने चैतन्यस्वरूप स्वभावभाव की ओर झुककर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा संसार-चक्र को तोड़कर अल्पकाल में वीतरागचारित्र को प्रगट कर निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करता है।

१६- इस अध्याय में सम्यक्चारित्र का स्वरूप कहते हुए उसके अनुसन्धान में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप भी बतलाया है। *(देखो, सूत्र ३६ से ३९)* चारित्र के विभाग में यथाख्यातचारित्र भी समाविष्ट हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में परमयथाख्यातचारित्र प्रगट होने पर सर्वगुणों के चारित्र की पूर्णता होती है और उसी समय जीव निर्वाणदशा प्राप्त करता है-मोक्ष प्राप्त करता है। ४७वें सूत्र में संयमलब्धिस्थान का कथन करते हुए उसमें निर्वाण पद प्राप्त होने तक की दशा का वर्णन किया गया है। इस तरह इस अध्याय में सब तरह की 'जिन' दशा का स्वरूप आचार्य भगवान ने बहुत थोड़े सूत्रों द्वारा बताया है।

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका के
नववें अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र

अध्याय दसवाँ

भूमिका

१- आचार्यदेव ने इस शास्त्र के प्रारम्भ में पहले अध्याय के पहले ही सूत्र में कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है-कल्याणमार्ग है। उसके बाद सात तत्त्वों की जो यथार्थ श्रद्धा है, सो सम्यग्दर्शन है; इस प्रकार बतलाकर सात तत्त्वों के नाम बतलाये और दस अध्याय में उन सात तत्त्वों का वर्णन किया। उनमें इस अन्तिम अध्याय में मोक्षतत्त्व का वर्णन करके यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२- मोक्ष, संवर-निर्जरापूर्वक होता है; इसीलिए नववें अध्याय में संवर-निर्जरा का स्वरूप कहा और चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान में विराजनेवाले केवली भगवान तक के समस्त जीवों के संवर-निर्जरा होती है ऐसा उसमें बतलाया। इस निर्जरा की पूर्णता होने पर जीव परम समाधानरूप निर्वाणपद में विराजता है; इस दशा को मोक्ष कहा जाता है। मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जीवों ने सर्व कार्य सिद्ध किया, अतः 'सिद्ध भगवान' कहे जाते हैं।

३- केवली भगवान के (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में) संवर-निर्जरा होती है। अतः उनका उल्लेख नववें अध्याय में किया गया है किन्तु वहाँ केवलज्ञान का स्वरूप नहीं बतलाया। केवलज्ञान भावमोक्ष है और उस भावमोक्ष के बल से द्रव्यमोक्ष (सिद्धदशा) होता है। (देखो, प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ८४ जयसेनाचार्य की टीका) इसीलिए इस अध्याय में प्रथम भावमोक्षरूप केवलज्ञान का स्वरूप बताकर फिर द्रव्यमोक्ष का स्वरूप बतलाया है।

अब केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१ ॥

अर्थ - **[मोहक्षयात्]** मोह का क्षय होने से (अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त क्षीणकषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करने के बाद) **[ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् च]** और ज्ञानावरण, दर्शनावरण

तथा अन्तराय इन तीन कर्मों का एक साथ क्षय होने से [**केवलम्**] केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

टीका—१- प्रत्येक जीवद्रव्य एक पूर्ण अखण्ड है, अतः उसका ज्ञानसामर्थ्य-सम्पूर्ण है। सम्पूर्ण वीतराग होने पर सम्पूर्ण सर्वज्ञता प्रगट होती है। जब जीव सम्पूर्ण वीतराग होता है, तब कर्म के साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है कि मोहकर्म जीव के प्रदेश में संयोगरूप से रहता ही नहीं, उसे मोहकर्म का क्षय हुआ, कहा जाता है। जीव को सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होने के बाद अल्पकाल में तत्काल ही सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध, अखण्ड, रागरहित है। इस दशा में जीव को 'केवली भगवान' कहते हैं। भगवान समस्त पदार्थों को जानते हैं, इसीलिए वे केवली नहीं कहलाते, परन्तु 'केवल' अर्थात् शुद्ध आत्मा को जानते-अनुभवते हैं; अतः वे 'केवली' कहलाते हैं। भगवान एक साथ परिणमनेवाले समस्त चैतन्य-विशेषवाले केवलज्ञान के द्वारा अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण स्वसंवेद्यमान् चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतनस्वभाव के द्वारा एकरूप होने से जो केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है, ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं। *(देखो, श्री प्रवचनसार, गाथा ३३)*

यह व्यवहार-कथन है कि भगवान पर को जानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि व्यवहार से केवलज्ञान लोकालोक को युगपत् जानता है, क्योंकि स्व-पर प्रकाशक निज -शक्ति के कारण भगवान सम्पूर्ण ज्ञानरूप से परिणमते हैं, अतः कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय उनके ज्ञान के बाहर नहीं है। निश्चय से तो केवलज्ञान अपने शुद्धस्वभाव को ही अखण्डरूप से जानता है।

२- केवलज्ञान, स्वरूप से उत्पन्न हुआ है, स्वतन्त्र है तथा क्रम-रहित है। यह ज्ञान जब प्रगट हो, तब ज्ञानावरण कर्म का सदा के लिये क्षय होता है, इसलिए इस ज्ञान को क्षायिकज्ञान कहते हैं। जब केवलज्ञान प्रगट होता है, उसी समय केवलदर्शन और सम्पूर्ण वीर्य भी प्रगट होता है और दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्म का सर्वथा अभाव (नाश) हो जाता है।

३- केवलज्ञान होने पर भावमोक्ष हुआ कहलाता है, (यह अरिहन्तदशा है) और आयुष्य की स्थिति पूरी होने पर चार अघातिया कर्मों का अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है। मोक्ष केवलज्ञानपूर्वक ही होता है; इसलिए मोक्ष का वर्णन करने पर उसमें पहले केवलज्ञान की उत्पत्ति का सूत्र बतलाया है।

प्रश्न - क्या यह मान्यता ठीक है कि जीव के तेरहवें गुणस्थान में अनन्तवीर्य प्रगट हुआ है, तथापि योग आदि गुण का विकार रहता है और संसारित्व रहता है, उसका कारण अघातिकर्म का उदय है ?

उत्तर - यह मान्यता यथार्थ नहीं है। तेरहवें गुणस्थान में संसारित्व रहने का यथार्थ कारण यह है कि वहाँ जीव के योगगुण का विकार है तथा जीव के प्रदेश की वर्तमान योग्यता उस क्षेत्र में (शरीर के साथ) रहने की है, तथा जीव के अव्याबाध, निर्नामी[१], निर्गोत्री और अनायुषी आदि गुण अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुए; इस प्रकार जीव अपने ही कारण से संसार में रहता है। वास्तव में जड़ अघातिकर्म के उदय के कारण से या किसी पर के कारण से जीव संसार में रहता है, यह मान्यता बिल्कुल असत् है। यह तो मात्र निमित्त का उपचार करनेवाला व्यवहार-कथन है कि 'तेरहवें गुणस्थान में चार अघातिकर्मों का उदय है;' इसीलिए जीव सिद्धत्व को प्राप्त नहीं होता। जीव के अपने विकारीभाव के कारण संसारदशा होने से तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में भी जड़कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है ? यह बताने के लिये कर्मशास्त्रों में ऊपर बताये अनुसार व्यवहार-कथन किया जाता है। वास्तव में कर्म के उदय, सत्ता इत्यादि के कारण कोई जीव, संसार में रहता है, यह मानना तो जीव और जड़कर्म को एकमेक माननेरूप मिथ्यामान्यता है। शास्त्रों का अर्थ करने में अज्ञानियों की मूलभूत भूल यह है कि व्यवहारनय के कथन को वे निश्चयनय का कथन मानकर व्यवहार को ही परमार्थ मान लेते हैं। यह भूल दूर करने के लिये आचार्य भगवान ने इस शास्त्र के प्रथम अध्याय के छट्ठे सूत्र में प्रमाण तथा नय का यथार्थ ज्ञान करने की आज्ञा की है **(प्रमाणनयै रधिगमः)** जो व्यवहार के कथनों को ही निश्चय के कथन मानकर शास्त्रों का वैसा अर्थ करते हैं, उनके उस अज्ञान को दूर करने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसारजी में ३२४ से ३२६वीं गाथा[२] कही हैं। इसलिए जिज्ञासुओं को शास्त्रों का कथन किस नय से है और उसका परमार्थ (भूतार्थ-सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है - यह यथार्थ

१. इन गुणों के नाम बृ. द्रव्यसंग्रह गाथा १३-१४ की टीका में हैं।

२. वे गाथाएँ इस प्रकार है -

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित्॥ ३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा॥ ३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति॥ ३२६॥

समझकर शास्त्रकार के कथन के मर्म को जान लेना चाहिए, परन्तु भाषा के शब्दों को नहीं पकड़ना चाहिए।

६. केवलज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता ?

(१) प्रश्न - केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की पूर्णता हो जाती है तो फिर उसी समय मोक्ष होना चाहिए; इस प्रकार जो सयोगी तथा अयोगी ये केवलियों के दो गुणस्थान कहे हैं, उनके रहने का कोई समय ही नहीं रहता ?

उत्तर - यद्यपि केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय यथाख्यातचारित्र हो गया है, तथापि अभी परम यथाख्यातचारित्र नहीं हुआ। कषाय और योग अनादि से अनुसङ्गी (साथी) हैं, तथापि प्रथम, कषाय का नाश होता है, इसीलिए केवली भगवान के यद्यपि वीतरागतारूप यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है, तथापि योग के व्यापार का नाश नहीं हुआ। योग का परिस्पन्दनरूप व्यापार परम यथाख्यातचारित्र में दूषण उत्पन्न करनेवाला है। इस योग के विकार की क्रमक्रम से भावनिर्जरा होती है। इस योग के व्यापार की सम्पूर्ण भावनिर्जरा हो जाने तक तेरहवाँ गुणस्थान रहता है। योग का अशुद्धतारूप-चंचलतारूप व्यापार बन्द पड़ने के बाद भी कितनेक समय तक अव्याबाध, निर्नाम (नामरहितत्व), अनायुष्य (आयुष्यरहितत्व) और निर्गोत्र आदि गुण प्रगट नहीं होते; इसीलिए चारित्र में दूषण रहता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय का व्यय होने पर उस दोष का अभाव हो जाता है और उसी समय परम यथाख्यातचारित्र प्रगट होने से अयोगीजिन मोक्षरूप अवस्था धारण करता है, इस रीति से मोक्ष-अवस्था प्रगट होने से पहले सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान प्रत्येक केवली भगवान के होते हैं। *(देखो, वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३-१४ की टीका)*

(२) प्रश्न - यदि ऐसा मानें कि जब केवलज्ञान प्रगट हो, उसी समय मोक्ष-अवस्था प्रगट हो जाए, तो क्या दूषण लगेगा ?

उत्तर - ऐसा मानने पर निम्नलिखित दोष आते हैं -

१- जीव में योगगुण का विकार होने पर, तथा अन्य (अव्याबाध आदि) गुणों में विकार होने पर और परम यथाख्यातचारित्र प्रगट हुए बिना, जीव की सिद्धदशा प्रगट हो जायेगी, जो कि अशक्य है।

२- यदि जब केवलज्ञान प्रगट हो, उसी समय सिद्धदशा प्रगट हो जाए तो धर्म-तीर्थ नही न रहे; यदि अरिहन्तदशा ही न रहे तो कोई सर्वज्ञ उपदेशक-आप्त न हो। इसका परिणाम

यह होगा कि भव्य जीव अपने पुरुषार्थ से धर्म प्राप्त करने योग्य दशा प्रगट करने के लिये तैयार हो, तथापि उसे निमित्तरूप सत्य धर्म के उपदेश का (दिव्यध्वनि का) संयोग न होगा अर्थात् उपादान-निमित्त का मेल टूट जायेगा। इस प्रकार बन ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा नियम है। जिस समय जो जीव अपने उपादान की जागृति से धर्म प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करता है, उस समय उस जीव के इतना पुण्य का संयोग होता ही है कि जिससे उसे उपदेशादि के योग्य निमित्त (सामग्री) स्वयं मिलते ही हें। उपादान की पर्याय का और निमित्त की पर्याय का ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो तो जगत में कोई जीव, धर्म प्राप्त कर ही न सकेंगे। अर्थात् समस्त जीव द्रव्यदृष्टि से पूर्ण हैं, तथापि अपनी शुद्धपर्याय कभी प्रगट नहीं कर सकेंगे। ऐसा होने पर जीवों का दुःख कभी दूर नहीं होगा और वे सुखस्वरूप कभी नहीं हो सकेंगे।

३- जगत् में यदि कोई जीव, धर्म प्राप्त नहीं कर सकता तो तीर्थङ्कर, सिद्ध, अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि की भूमिका में रहनेवाले उपदेशक इत्यादि पद भी जगत में न रहेंगे, जीव की साधक और सिद्धदशा भी न रहेगी, सम्यग्दृष्टि की भूमिका ही प्रगट न होगी, तथा उस भूमिका में होनेवाला धर्मप्रभावनादि का राग-पुण्यानुबन्धी पुण्य, सम्यग्दृष्टि के योग्य देवगति-देवक्षेत्र इत्यादि अवस्था का भी नाश हो जायेगा।

(३) इस पर से यह समझना कि जीव के उपादान के प्रत्येक समय की पर्याय की जिस प्रकार की योग्यता हो, तदनुसार उस जीव के उस समय के योग्य निमित्त का संयोग स्वयं मिलता ही है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तेरहवें गुणस्थान का अस्तित्व सिद्ध करता है; एक-दूसरे के कर्तारूप में कोई है ही नहीं। तथा ऐसा भी नहीं कि उपादान को पर्याय में जिस समय योग्यता हो, उस समय उसे निमित्त की ही राह देखनी पड़े; दोनों का सहजरूप से ऐसा ही मेल होता ही है और यही निमित्त-नैमित्तिक भाव है; तथापि दोनों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। निमित्त, परद्रव्य है, उसे जीव मिला नहीं सकता। उसी प्रकार वह निमित्त, जीव में कुछ कर नहीं सकता; क्योंकि कोई द्रव्य परद्रव्य की पर्याय का कर्ता-हर्ता नहीं है ॥१॥

अब मोक्ष का कारण और उसका लक्षण कहते हैं—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थ - [**बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां**] बन्ध के कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,

कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा [**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**] समस्त कर्मों का अत्यन्त नाश हो जाना, सो मोक्ष है।

टीका—१- कर्म तीन प्रकार के हैं - (१) भावकर्म, (२) द्रव्यकर्म और (३) नोकर्म। भावकर्म जीव का विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ हैं। भावकर्म का अभाव होने पर, द्रव्यकर्म का अभाव होता है और द्रव्यकर्म का अभाव होने पर, नोकर्म (शरीर) का अभाव होता है। यदि अस्ति की अपेक्षा से कहें तो जो जीव की सम्पूर्ण शुद्धता है, सो मोक्ष है और यदि नास्ति की अपेक्षा से कहें तो जीव की सम्पूर्ण विकार से जो मुक्तदशा है, सो मोक्ष है। इस दशा में जीव, कर्म तथा शरीररहित होता है और इसका आकार अन्तिम शरीर से कुछ न्यून पुरुषाकार होता है।

२. मोक्ष यत्न से साध्य है

(१) प्रश्न - मोक्ष यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य है?

उत्तर - मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्न से (पुरुषार्थ से) प्रथम, मिथ्यात्व को दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थ से क्रम-क्रम से विकार को दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थ के विकल्प से मोक्ष साध्य नहीं है।

(२) मोक्ष का प्रथम कारण सम्यग्दर्शन और वह पुरुषार्थ से ही प्रगट होता है। श्री समयसार कलश ३४ में श्री अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि—

हे भव्य! तुझे व्यर्थ ही कोलाहाल करने से क्या लाभ है? इस कोलाहल से तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल होकर देख; इस प्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय-सरोवर में आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं? अर्थात् ऐसा प्रयत्न करने से अवश्य आत्मा की प्राप्ति होती है।

पुनश्च, कलश २३ में कहते हैं कि—

हे भाई! तू किसी भी तरह महाकष्ट से अथवा मरकर भी (अर्थात् कई प्रयत्नों के द्वारा) तत्त्वों का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर कि जिससे निज आत्मा को विलासरूप, सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को तू तत्क्षण ही छोड़ देगा।

भावार्थ - यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घातिकर्म का नाश करके,

केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है।

इसमें आत्मानुभव करने के लिये पुरुषार्थ करना बताया है।

(३) सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। बिना कारण के कार्य सिद्ध नहीं होता। पुरुषार्थ से मोक्ष होता है—ऐसा सूत्रकार ने स्वयं, इस अध्याय के छट्ठे सूत्र में 'पूर्वप्रयोगात्' शब्द का प्रयोग कर बतलाया है।

(४) समाधिशतक में श्री पूज्यपाद आचार्य बतलाते हैं कि

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुखं योगिनां क्वचित्॥१००॥

अर्थ - यदि पृथ्वी आदि पञ्चभूत से जीवतत्त्व की उत्पत्ति हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है, किन्तु यदि ऐसा न हो तो योग से अर्थात् स्वरूप-संवेदन का अभ्यास करने से निर्वाण की प्राप्ति हो; इस कारण निर्वाण/मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करनेवाले योगियों को चाहे जैसा उपसर्ग उपस्थित होने पर भी दु:ख नहीं होता।

(५) श्री अष्टप्राभृत में दर्शनप्राभृत गाथा ६, सूत्रप्राभृत १६ और भावप्राभृत गाथा ८७ से ९० में स्पष्ट रीति से बतलाया है कि धर्म, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आत्मा के वीर्य-बल-प्रयत्न के द्वारा ही होते हैं; उस शास्त्र की वचनिका पृष्ठ १५-१६ तथा २४२ में भी ऐसा ही कहा है।

(६) प्रश्न - इसमें अनेकान्त स्वरूप कहाँ आया?

उत्तर - आत्मा के सत्य पुरुषार्थ से ही धर्म-मोक्ष होता है और अन्य किसी प्रकार से नहीं होता, यही सम्यक् अनेकान्त हुआ।

(७) प्रश्न - आप्तमीमांसा की ८८वीं गाथा में अनेकान्त का ज्ञान कराने के लिये कहा है कि पुरुषार्थ और देव दोनों होते हैं, इसका क्या स्पष्टीकरण है?

उत्तर - जब जीव मोक्ष का पुरुषार्थ करता है, तब परम-पुण्यकर्म का उदय होता है इतना बताने के लिये यह कथन है। पुण्योदय से धर्म या मोक्ष नहीं, परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि मोक्ष का पुरुषार्थ करनेवाले जीव के उस समय उत्तम संहनन आदि बाह्य-संयोग होता है। यथार्थ पुरुषार्थ और पुण्य इन दोनों से मोक्ष होता है - इस प्रकार कथन करने के लिये यह कथन नहीं है, किन्तु उस समय पुण्य का उदय नहीं होता - ऐसा कहनेवाले की भूल है - यह बताने के लिये इस गाथा का कथन है।

इस पर से सिद्ध होता है कि मोक्ष की सिद्धि पुरुषार्थ के द्वारा ही होती है, उसके बिना मोक्ष नहीं हो सकता ॥२॥

मोक्ष में समस्त कर्मों का अत्यन्त अभाव होता है, यह उपरोक्त सूत्र में बतलाया; अब यह बतलाते हैं कि कर्मों के अलावा और किसका अभाव होता है—

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥३॥

अर्थ - [**च**] और [**औपशमिकादि भव्यत्वानां**] औपशमिकादि भावों का तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्वभाव का मुक्तजीव के अभाव हो जाता है।

टीका—'औपशमिकादि' कहने से औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना; क्षायिकभाव इसमें नहीं गिनना-जानना।

जिन जीवों के सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने की योग्यता हो, वे भव्य जीव कहलाते हैं। जब जीव के सम्यग्दर्शनादि पूर्णरूप से प्रगट हो जाते हैं, तब उस आत्मा में 'भव्यत्व' का व्यवहार मिट जाता है। इस सम्बन्ध में यह विशेष ध्यान रहे कि यद्यपि 'भव्यत्व' पारिणामिकभाव है, तथापि जिस प्रकार पर्यायार्थिकनय से जीव के सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का-निमित्तरूप से घातक देशघाति तथा सर्वघाति नाम का मोहादिक कर्म सामान्य है; उसी प्रकार जीव के भव्यत्वभाव को भी कर्मसामान्य निमित्तरूप से प्रच्छादक कहा जा सकता है। (देखो, हिन्दी समयसार श्री जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका, पृष्ठ ४२३) सिद्धत्व प्रगट होने पर भव्यत्वभाव का नाश हो जाता है ॥३॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ - [**केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः अन्यत्र**] केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व, इन भावों के अतिरिक्त अन्य भावों के अभाव से मोक्ष होता है।

टीका—मुक्त अवस्था में केवलज्ञानादि गुणों के साथ जिन गुणों का सहभावी सम्बन्ध है-ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग इत्यादि गुण भी होते हैं ॥४॥

अब मुक्त जीवों का स्थान बतलाते हैं

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥५॥

अर्थ - [**तदनन्तरम**] तुरन्त ही [**ऊर्ध्वं आलोकांतात् गच्छति**] ऊर्ध्वगमन करके लोक के अग्रभाग तक जाता है।

टीका—चौथे सूत्र में कहा हुआ सिद्धत्व जब प्रगट होता है, तब तीसरे सूत्र में कहे हुए भाव नहीं होते, तथा कर्मों का भी अभाव हो जाता है; उसी समय जीव ऊर्ध्वगमन करके सीधे लोक के अग्रभाग तक जाता है और वहाँ शाश्वत स्थित रहता है। छट्ठे और सातवें सूत्र में ऊर्ध्वगमन होने का कारण बतलाया है और लोक के अन्तभाग से आगे नहीं जाने का कारण आठवें सूत्र में बतलाया है॥५॥

अब मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का कारण बतलाते हैं

पूर्वप्रयोगादसंगत्त्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च॥६॥

अर्थ - [**पूर्वप्रयोगात्**] १- पूर्वप्रयोग से, [**असंगत्वात्**] २- सङ्गरहित होने से, [**बन्धच्छेदात्**] ३- बन्ध का नाश होने से [**तथा गतिपरिणामात् च**] और ४- गतिपरिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन होता है।

नोट - पूर्व प्रयोग का अर्थ है—पूर्व में किया हुआ पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम; इस सम्बन्ध में इस अध्याय के दूसरे सूत्र की टीका तथा सातवें सूत्र के पहले दृष्टान्त की टीका पढ़कर समझना॥६॥

ऊपर के सूत्र में कहे गये चारों कारणों के दृष्टान्त बतलाते हैं

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च॥७॥

अर्थ - मुक्त जीव [**आविद्धकुलालचक्रवत्**] १- कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से, [**व्यपगतलेपालाबुवत्**] २- लेप दूर हो चुका है जिसका - ऐसी तूम्बे की तरह सङ्गरहित होने से, [**एरंडबीजवत्**] ३- एरण्ड के बीज की तरह बन्धनरहित होने से [**च**] और [**अग्निशिखावत्**] ४- अग्नि की शिखा (लौ) की तरह ऊर्ध्वगमनस्वभाव से ऊर्ध्वगमन (ऊपर को गमन) करता है।

टीका—१- पूर्वप्रयोग का उदाहरण - जैसे कुम्हार चाक को घुमाकर हाथ रोक लेता है, तथापि वह चाक पूर्व के वेग से घूमता रहता है; उसी प्रकार जीव भी संसार-अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिये बारम्बार अभ्यास (उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है, तथापि पूर्व के अभ्यास के संस्कार से मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन होता है।

२- **असङ्ग का उदाहरण** - जिस प्रकार तूम्बे को जब तक लेप का संयोग रहता है, तब तक वह स्व के क्षणिक उपादान की योग्यता के कारण पानी में डूबा हुआ रहता है, किन्तु जब लेप (मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है, तब वह पानी के ऊपर स्वयं अपनी योग्यता से आ जाता है; उसी प्रकार जब तक जीव सङ्गसहित होता है तब तक अपनी योग्यता से संसार-समुद्र में डूबा रहता है और सङ्गरहित होने पर ऊर्ध्वगमन करके लोक के अग्रभाग में चला जाता है।

३- **बन्ध छेद का उदाहरण** - जैसे एरण्ड वृक्ष का सूख फल जब चटकता है, तब वह बन्धन से छूट जाने से उसका बीज ऊपर जाता है, उसी प्रकार जीव की पक्वदशा (मुक्त अवस्था) होने पर कर्मबन्ध के छेदपूर्वक वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४- **ऊर्ध्वगमन स्वभाव का उदाहरण** - जिस प्रकार अग्नि की शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवा के अभाव में जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपर को जाती है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है; इसलिए मुक्तदशा होने पर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है॥७॥

लोकाग्र से आगे नहीं जाने का व्यवहार-कारण बतलाते हैं

धर्मास्तिकायाभावात्॥८॥

अर्थ - [**धर्मास्तिकायाभावात्**] आगे (अलोक में) धर्मास्तिकाय का अभाव है; अतः मुक्त जीव लोक के अन्त तक ही जाता है।

टीका— १- इस सूत्र का कथन निमित्त की मुख्यता से है। गमन करते हुए द्रव्यों को धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्तरूप है, यह द्रव्य लोकाकाश के बराबर है। वह यह बतलाता है कि जीव और पुद्गल की गति ही स्वभाव से इतनी है कि वह लोक के अन्त तक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाश में 'लोकाकाश' और 'अलोकाकाश' ऐसे दो भेद ही न रहें। लोक छह द्रव्यों का समुदाय है और अलोकाकाश में एकाकी आकाशद्रव्य ही है। जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्यों में गमन-शक्ति है; उनकी गति-शक्ति ही स्वभाव से ऐसी है कि वह लोक में ही रहते हैं। गमन का कारण जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है, उसका अलोकाकाश में अभाव है, वह यह बतलाता है कि गमन करनेवाले द्रव्यों की उपादान-शक्ति ही लोक के अग्रभाग तक गमन करने की है अर्थात् वास्तव में जीव की अपनी योग्यता ही अलोक में जाने की नहीं है, अतएव वह अलोक में नहीं जाता, धर्मास्तिकाय का अभाव तो इसमें निमित्तमात्र है।

२- वृहद्द्रव्यसंग्रह में सिद्ध के अगुरुलघुगुण का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु हो (भारी हो) तो लोहे के गोले की तरह उसका सदा अधःपतन होता रहेगा अर्थात् वह नीचे ही पड़ा रहेगा और यदि वह सर्वथा लघु (हलका) हो तो जैसे वायु के झकोरे से आक के वृक्ष की रुई उड़ जाया करती है, उसी प्रकार सिद्धस्वरूप का भी निरन्तर भ्रमण होता ही रहेगा; परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है, इसीलिए उसमें अगुरुलघुगुण कहा गया है। *(वृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ३८)*

इस अगुरुलघुगुण के कारण सिद्ध जीव सदा लोकाग्र में स्थित रहते हैं, वहाँ से न तो आगे जाते हैं और न नीचे आते हैं ॥८॥

मुक्त जीवों में व्यवहारनय की अपेक्षा से भेद बतलाते हैं

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थ - **[क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः]** क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व - इन बारह अनुयोगों से **[साध्याः]** मुक्त जीवों (सिद्धों) में भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं।

टीका—१- क्षेत्र - ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से (वर्तमान की अपेक्षा से) आत्मप्रदेशों में सिद्ध होता है, आकाश प्रदेशों में सिद्ध होता है, सिद्धक्षेत्र में सिद्ध होता है। भूतनैगमनय की अपेक्षा से पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए पुरुष ही सिद्ध होते हैं। पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए पुरुष को यदि कोई देवादि अन्य क्षेत्र में उठाकर ले जाय तो अढ़ाई द्वीप प्रमाण समस्त मनुष्यक्षेत्र से सिद्ध होता है।

२- काल - ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से एक समय में सिद्ध होता है। भूतनैगमनय की अपेक्षा से उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों काल में सिद्ध होता है; उसने अवसर्पिणी काल के तीसरे काल के अन्तभाग में चौथे काल में और पाँचवें काल के प्रारम्भ में (जिसने चौथे काल में जन्म लिया है ऐसा जीव) सिद्ध होता है। उत्सर्पिणी काल के 'दुषमसुषम' काल में चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं और उस काल में जीव सिद्ध होते हैं (त्रिलोकप्रज्ञप्ति पृष्ठ ३५०) विदेहक्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे काल के भेद नहीं हैं। पञ्चमकाल में जन्मे हुए

जीव सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करते हैं, किन्तु वे उसी भव से मोक्ष प्राप्त नहीं करते। विदेहक्षेत्र में उत्पन्न हुए जीव अढ़ाई द्वीप के किसी भी भाग में सर्वकाल में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

३- **गति** - ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से सिद्धगति से मोक्ष प्राप्त होता है; भूतनैगमनय की अपेक्षा से मनुष्यगति से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

४- **लिङ्ग** - ऋजुसूत्रनय से लिङ्ग (वेद) रहित ही मोक्ष पाता है; भूतनैगमनय से तीनों प्रकार के भाववेद में क्षपकश्रेणी माँडकर मोक्ष प्राप्त करते हैं; और द्रव्यवेद में तो पुरुषलिङ्ग और यथाजातरूप लिङ्ग से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

५- **तीर्थ** - कोई जीव तीर्थङ्कर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते हैं। सामान्य केवली में भी कोई तो तीर्थङ्कर की मौजूदगी में मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई तीर्थङ्करों के बाद उनके तीर्थ में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

६- **चारित्र** - ऋजुसूत्रनय से चारित्र के भेद का अभाव करके मोक्ष पाते हैं। भूतनैगमनय से निकट की अपेक्षा से यथाख्यातचारित्र से ही मोक्ष प्राप्त होता है, दूर की अपेक्षा से सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात से और किसी के परिहारविशुद्धि हो तो उससे - इन पाँच प्रकार के चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है।

७- **प्रत्येकबुद्धबोधित** - प्रत्येक बुद्ध जीव वर्तमान में निमित्त की उपस्थिति के बिना अपनी शक्ति से बोध प्राप्त करते हैं, किन्तु भूतकाल में या तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तो तब या उससे पहले सम्यग्ज्ञानी के उपदेश का निमित्त हो और बोधितबुद्धि जीव वर्तमान में सम्यग्ज्ञानी के उपदेश के निमित्त से धर्म पाते हैं। ये दोनों प्रकार के जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८- **ज्ञान** - ऋजुसूत्रनय से केवलज्ञान से ही सिद्ध होता है। भूतनैगमनय से कोई मति, श्रुत इन दो ज्ञान से; कोई मति, श्रुत, अवधि इन तीन से अथवा मति, श्रुत, मनःपर्यय से और कोई मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय, इन चार ज्ञान से (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होता है।

९- **अवगाहना** - किसी के उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम पाँच सौ पच्चीस धनुष की, किसी के जघन्य साढ़े तीन हाथ में कुछ कम और किसी के मध्य अवगाहना होती है। मध्यम अवगाहना के अनेक भेद हैं।

१०- **अन्तर** - एक सिद्ध होने के बाद दूसरा सिद्ध होने का जघन्य अन्तर एक समय का और उत्कृष्ट अन्तर छह मास का है।

११- **संख्या** - जघन्यरूप से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, उत्कृष्टरूप से एक समय में १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

१२- **अल्पबहुत्व** - अर्थात् संख्या में हीनाधिकता। उपरोक्त ग्यारह भेदों में अल्पबहुत्व होता है, वह निम्न प्रकार है—

(१) **क्षेत्र** - संहरण सिद्ध से जन्म सिद्ध संख्यातगुणे हैं। समुद्र आदि जल क्षेत्रों से अल्प सिद्ध होते हैं और महाविदेहादिक्षेत्रों से अधिक सिद्ध होते हैं।

(२) **काल** - उत्सर्पिणीकाल में हुए सिद्धों की अपेक्षा अवसर्पिणीकाल में हुए सिद्धों की संख्या ज्यादा है और इन दोनों काल के बिना सिद्ध हुए जीवों की संख्या उनसे संख्यातगुनी है, क्योंकि विदेहक्षेत्र में अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी का भेद नहीं है।

(३) **गति** - सभी जीव मनुष्यगति से ही सिद्ध होते हैं, इसलिए इस अपेक्षा से गति में अल्पबहुत्व नहीं है; परन्तु एक गति के अन्तर की अपेक्षा से (अर्थात् मनुष्यभव से पहिले की गति की अपेक्षा से) तिर्यञ्चगति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुए, ऐसे जीव थोड़े हैं - कम हैं, उनकी अपेक्षा से संख्यातगुने जीव मनुष्यगति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं, उससे संख्यातगुने जीव नरकगति से आकर मनुष्य हो सिद्ध होते हैं और उससे संख्यातगुने जीव देवगति से आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं।

(४) **लिङ्ग** - भावनपुंसकवेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी माँडकर सिद्ध हों - ऐसे जीव कम हैं, थोड़े हैं। उनसे संख्यातगुने भावस्त्रीवेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी माँडकर सिद्ध होते हैं और उससे संख्यातगुने भावपुरुषवेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी माँडकर सिद्ध होते हैं।

(५) **तीर्थ** - तीर्थङ्कर होकर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं और उनसे संख्यातगुने सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं।

(६) **चारित्र** - पाँचों चारित्र से सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने जीव परिहारविशुद्धि के अलावा चार चारित्र से सिद्ध होनेवाले हैं।

(७) **प्रत्येकबुद्धबोधित** - प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने जीव बोधितबुद्ध होते हैं।

(८) **ज्ञान** - मति, श्रुत इन दो ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने चार ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होते हैं और उनसे संख्यातगुने तीन ज्ञान से केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध होते हैं।

(९) अवगाहना - जघन्य अवगाहना से सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने उत्कृष्ट अवगाहना से और उनसे संख्यातगुने मध्यम अवगाहना से सिद्ध होते हैं।

(१०) अन्तर - छह मास के अन्तरवाले सिद्ध सबसे थोड़े हैं और उनसे संख्यातगुने एक समय के अन्तरवाले सिद्ध होते हैं।

(११) संख्या - उत्कृष्टरूप से एक समय में एक सौ आठ सिद्ध होते हैं, उनसे अनन्तगुने एक समय में १०७ से लगाकर ५० तक सिद्ध होते हैं, उनसे असंख्यातगुने जीव एक समय में ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे संख्यातगुने एक समय में २४ से लेकर १ तक सिद्ध होनेवाले जीव हैं।

इस तरह बाह्य-निमित्तों की अपेक्षा से सिद्धों में भेद की कल्पना की जाती है। वास्तव में अवगाहना गुण के अतिरिक्त अन्य आत्मीय गुणों की अपेक्षा से उनमें कोई भेद नहीं है। यहाँ यह न समझना कि 'एक सिद्ध में दूसरा सिद्ध मिल जाता है, इसलिए भेद नहीं है।' सिद्धदशा में भी प्रत्येक जीव अलग-अलग ही रहते हैं, कोई जीव एक-दूसरे में मिल नहीं जाते॥९॥

— उपसंहार —

१- मोक्षतत्त्व की मान्यता सम्बन्धी होनेवाली भूल और उसका निराकरण

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि स्वर्ग के सुख की अपेक्षा से अनन्तगुना सुख मोक्ष में है। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इस गुणाकार में वह स्वर्ग और मोक्ष के सुख की जाति एक गिनता है। स्वर्ग में तो विषयादि सामग्री-जनित इन्द्रियसुख होता है; उसकी जाति उसे मालूम होती है, किन्तु मोक्ष में विषयादि सामग्री नहीं है; इसलिए वहाँ के अतीन्द्रियसुख की जाति उसे नहीं प्रतिभासती-मालूम होती, परन्तु महापुरुष मोक्ष को स्वर्ग से उत्तम कहते हैं; इसलिए वे अज्ञानी भी बिना समझे बोलते हैं। जैसे कोई गायन के स्वरूप को तो नहीं समझता किन्तु समस्त सभा गायन की प्रशंसा करती है, इसलिए वह भी प्रशंसा करता है; उसी प्रकार ज्ञानी जीव तो मोक्ष का स्वरूप जानकर उसे उत्तम कहते हैं, इसलिए अज्ञानी जीव भी बिना समझे ऊपर बताये अनुसार कहता है।

प्रश्न - यह कैसे कहा जा सकता है कि अज्ञानी जीव सिद्ध के सुख की और स्वर्ग के सुख की जाति को एक जानता है-समझता है ?

उत्तर - जिस साधन का फल वह स्वर्ग मानता है, उसी जाति के साधन का फल वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस किस्म के अल्प साधन हों तो उससे इन्द्रादि पद

मिलते हैं और जिसके वह साधन सम्पूर्ण हों, वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों के साधन की एक जाति मानता है, इसी से यह निश्चय होता है कि उनके कार्य की (स्वर्ग तथा मोक्ष की) भी एक जाति होने का उसे श्रद्धान है। इन्द्र आदि को जो सुख है, वह तो कषायभावों से आकुलतारूप है, अतएव परमार्थत: वह दु:खी है और सिद्ध के तो कषायरहित अनाकुल सुख है; इसलिए दोनों की जाति एक नहीं है – ऐसा समझना चाहिए। स्वर्ग का कारण तो प्रशस्तराग है और मोक्ष का कारण वीतरागभाव है। इस प्रकार उन दोनों के कारण में अन्तर है। जिन जीवों के ऐसा भाव नहीं भासता, उनके मोक्षतत्त्व का यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३४)

२- अनादि-कर्मबन्धन नष्ट होने की सिद्धि

श्री तत्त्वार्थसार अध्याय ८ में कहा है कि—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसंततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत्॥६॥

भावार्थ – जिस वस्तु की उत्पत्ति का आद्य समय न हो, वह अनादि कहा जाता है, जो अनादि हो उसका कभी अन्त नहीं होता। यदि अनादि पदार्थ का अन्त हो जाए तो सत् का विनाश मानना पड़ेगा; परन्तु सत् का विनाश होना – यह सिद्धान्त और युक्ति से विरुद्ध है।

इस सिद्धान्त से, इस प्रकरण में ऐसी शङ्का उपस्थित हो सकती है कि तो फिर अनादि कर्मबन्धन की सन्तति का नाश कैसे हो सकता है? क्योंकि कर्मबन्धन का कोई आद्य-समय नहीं है, इससे वह अनादि है और जो अनादि हो, उसका अन्त भी नहीं होना चाहिए; कर्मबन्धन जीव के साथ अनादि से चला आया है, अत: अनन्तकाल तक सदा उसके साथ रहना चाहिए, फलत: कर्मबन्धन से जीव कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

इस शङ्का के दो रूप हो जाते हैं – (१) जीव के कर्मबन्धन कभी नहीं छूटना चाहिए, और (२) कर्मत्वरूप जो पुद्गल हैं, उनमें कर्मत्व सदा चलता ही रहना चाहिए; क्योंकि कर्मत्व भी एक जाति है और वह सामान्य होने से ध्रुव है। इसलिए उसकी चाहे जितनी पर्यायें बदलती रहें तो भी वे सभी कर्मरूप ही रहनी चाहिए। सिद्धान्त है कि 'जो द्रव्य जिस स्वभाव का हो, वह उसी स्वभाव का हमेशा रहता है।' जीव अपने चैतन्यस्वभाव को कभी छोड़ता नहीं है और पुद्गल भी अपने रस-रूपादिक स्वभाव को कभी छोड़ते नहीं हैं, इसी प्रकार अन्य द्रव्य भी अपने-अपने स्वभाव को छोड़ते नहीं हैं, फिर कर्म ही अपने कर्मत्वस्वभाव को कैसे छोड़ दें?

उपरोक्त शङ्का का समाधन इस प्रकार है - जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध सन्तति-प्रवाह की अपेक्षा अनादि से है, किन्तु किसी एक के एक ही परमाणु का सम्बन्ध अनादि से नहीं है, जीव के साथ प्रत्येक परमाणु का सम्बन्ध नियतकाल तक ही रहता है। कर्मपिण्डरूप परिणत परमाणुओं का जीव के साथ सम्बन्ध होने का भी काल भिन्न-भिन्न है और उनके छूटने का भी काल नियत और भिन्न-भिन्न है। इतना सत्य है कि जीव को विकारी अवस्था में कर्म का संयोग चलता ही रहता है। संसारी जीव अपनी स्वयं की भूल से विकारी अवस्था अनादि से करता चला आ रहा है। अत: कर्म का सम्बन्ध भी सन्तति-प्रवाहरूप अनादि से इसको है, क्योंकि विकार कोई नियतकाल से प्रारम्भ नहीं हुआ है; अत: कर्म का सम्बन्ध भी कोई नियतकाल से प्रारम्भ नहीं हुआ है - इस प्रकार जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध सन्तति-प्रवाह से अनादि का कहा जाता है; लेकिन कोई एक ही कर्म अनादिकाल से जीव के साथ लगा हुआ चला आया हो - ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

जिस प्रकार कर्म की उत्पत्ति है, उसी प्रकार उनका नाश भी होता है; क्योंकि 'जिसका संयोग हो, उसका वियोग अवश्य होता ही है' ऐसा सिद्धान्त है। पूर्व कर्म के वियोग के समय यदि जीव स्वरूप में सम्यक् प्रकार जागृति के द्वारा विकार को उत्पन्न नहीं होने दे तो नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होगा। इस प्रकार अनादि कर्म-बन्धन का सन्ततिरूप प्रवाह निर्मूल नष्ट हो सकता है। उसका उदाहरण - जैसे बीज और वृक्ष का सम्बन्ध सन्तति प्रवाहरूप से अनादि का है, कोई भी बीज पूर्व के वृक्ष बिना नहीं होता। बीज का उपादानकारण पूर्व-वृक्ष और पूर्ववृक्ष का उपादान पूर्व बीज, इस प्रकार बीज-वृक्ष की सन्तति अनादि से होने पर भी उस सन्तति का अन्त करने के लिए अन्तिम बीज को पीस डालें या जला दें तो उसका सन्तति प्रवाह नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार कर्मों की सन्तति अनादि से होने पर भी कर्मनाश के प्रयोग द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर दिया जाए तो उनकी सन्तति नि:शेष-नष्ट हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मों के नाश का और नये कर्मों की उत्पत्ति न होने देने का उपाय संवर-निर्जरा के नववें अध्याय में बताया है। इस प्रकार कर्मों का सम्बन्ध जीव से कभी नहीं छूट सकता- ऐसी शङ्का दूर होती है।

शङ्का का दूसरा प्रकार यह है कि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़ता नहीं है तो कर्मरूप पदार्थ भी कर्मत्व को कैसे छोड़ें ? इसका **समाधान** यह है कि कर्म कोई द्रव्य नहीं है, परन्तु वह तो संयोगरूप पर्याय है। जिस द्रव्य में कर्मत्वरूप पर्याय होती है, वह द्रव्य तो पुद्गलद्रव्य है और पुद्गलद्रव्य का तो कभी नाश होता नहीं है और वह अपने वर्णादि स्वभाव

को भी कभी छोड़ता नहीं है। पुद्गलद्रव्यों में उनकी योग्यतानुसार शरीरादि तथा जल, अग्नि, मिट्टी, पत्थर वगैरह कार्यरूप अनेक अवस्थाएँ होती रहती हैं और उनकी मर्यादा पूर्ण होने पर वे विनाश को भी प्राप्त होती रहती हैं; उसी प्रकार कोई पुद्गल, जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप बन्धन अवस्था होनेरूप सामर्थ्य तथा रागी जीव को रागादि होने में निमित्तपनेरूप होने की सामर्थ्यसहित जीव के साथ रहते हैं, वहाँ तक उनको 'कर्म' कहते हैं। कर्म कोई द्रव्य नहीं है, वह तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है; पर्याय का स्वभाव ही पलटना है, इसलिए कर्मरूप पर्याय का अभाव होकर अन्य पर्यायरूप होता रहता है।

पुद्गलद्रव्य की कर्म-पर्याय नष्ट होकर दूसरी जो पर्याय हो, वह कर्मरूप भी हो सकती है और अन्यरूप भी हो सकती है। किसी द्रव्य के उत्तरोत्तर काल में भी उस द्रव्य की एक समान ही योग्यता होती रहे तो उसकी पर्यायें एक समान ही होती रहेंगी और यदि उसकी योग्यता बदलती रहे तो उसकी पर्यायें अनेक प्रकार भिन्न-भिन्न जाति की होती रहेंगी। जैसे - मिट्टी में जिस समय घटरूप होने की योग्यता हो, तब वह मिट्टी घटरूप परिणमती है और फिर वही मिट्टी पूर्व अवस्था बदलकर दूसरी बार भी घट हो सकती है अथवा अपनी योग्यतानुसार कोई अन्य पर्यायरूप (अवस्थारूप) भी हो सकती है। इसी प्रकार कर्मरूप पर्याय में भी समझना चाहिए। यदि 'कर्म' कोई अलग द्रव्य ही हो तो उसका अन्यरूप (अकर्मरूप) होना नहीं बन सकता, परन्तु 'कर्म' पर्याय होने से वह जीव से छूट सकते हैं और कर्मपना छोड़कर अन्यरूप (अकर्मरूप) हो सकते हैं।

३. इस प्रकार पुद्गल, जीव से कर्मरूप अवस्था को छोड़कर अकर्मरूप घट-पटादिरूप हो सकते हैं, यह सिद्ध हुआ। परन्तु जीव के कुछ कर्मों का अकर्मरूप हो जाने मात्र से ही जीव, कर्मरहित नहीं हो जाता, क्योंकि जैसे कुछ कर्मरूप पुद्गल कर्मत्व को छोड़कर अकर्मरूप हो जाते हैं, वैसे ही अकर्मरूप अवस्थावाले पुद्गल, जिनमें कर्मरूप होने की योग्यता हो, वह जीव के विकारभाव की उपस्थिति में कर्मरूप हुआ करते हैं। जहाँ तक जीव विकारीभाव करे, वहाँ तक उसकी विकारदशा हुआ करती है और अन्य पुद्गल कर्मरूप होकर उसके साथ बन्धनरूप हुआ करते हैं; इस प्रकार संसार में कर्मशृङ्खला चलती रहती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि कर्म सदा कर्म ही रहें अथवा तो कोई जीव सदा अमुक ही कर्मों से बँधे हुए ही रहें अथवा विकारी दशा में भी सर्व कर्म सर्व जीवों के छूट जाते हैं और सर्व जीव मुक्त हो जाते हैं।

४. इस तरह अनादिकालीन कर्मशृङ्खला अनेक काल तक चलती ही रहती है, ऐसा देखा जाता है; परन्तु शृङ्खलाओं का ऐसा नियम नहीं है कि जो अनादिकालीन हो, वह अनन्त

काल तक रहना ही चाहिए, क्योंकि शृङ्खला संयोग से होती है और संयोग का किसी न किसी समय वियोग हो सकता है। यदि वह वियोग आंशिक हो तो वह शृङ्खला चालू रहती है, किन्तु जब उसका आत्यन्तिक वियोग हो जाता है, तब शृङ्खला का प्रवाह टूट जाता है। जैसे शृङ्खला बलवान कारणों के द्वारा टूटती है; उसी प्रकार कर्मशृङ्खला अर्थात् संसार-शृङ्खला (संसाररूपी जञ्जीर) भी जीव के सम्यग्दर्शनादि सत्य पुरुषार्थ के द्वारा निर्मूल नष्ट हो जाती है। विकारी शृङ्खला में अर्थात् मलिन पर्याय में अनन्तता का नियम नहीं है, इसीलिए जीव, विकारी पर्याय का अभाव कर सकता है और विकार का अभाव करने पर कर्म का सम्बन्ध भी छूट जाता है और उसका कर्मत्व नष्ट होकर अन्यरूप से परिणमन हो जाता है।

५. अब आत्मा के बन्धन की सिद्धि करते हैं—

कोई जीव कहते हैं कि आत्मा के बन्धन होता ही नहीं। उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बिना बन्धन के परतन्त्रता नहीं होती। जैसे गाय, भैंस आदि पशु जब बन्धन में नहीं होते, तब परतन्त्र नहीं होते; परतन्त्रता बन्धन की दशा बतलाती है, इसलिए आत्मा के बन्धन मानना योग्य है। आत्मा के यथार्थ बन्धन अपने निज विकारीभाव का ही है, उसका निमित्त पाकर स्वतः जड़कर्म का बन्धन होता है और उसके फलस्वरूप शरीर का संयोग होता है। शरीर के संयोग में आत्मा रहती है, वह परतन्त्रता बतलाती है। यह ध्यान रहे कि कर्म, शरीर इत्यादि कोई भी परद्रव्य, आत्मा को परतन्त्र नहीं करते; किन्तु जीव स्वयं अज्ञानता से स्व को परतन्त्र मानता है और परवस्तु से निज को लाभ या नुकसान होता है - ऐसी विपरीत पकड़ करके पर में इष्ट-अनिष्टत्व की कल्पना करता है। पराधीनता दुःख का कारण है। जीव को शरीर के ममत्व से-शरीर के साथ एकत्वबुद्धि से दुःख होता है; इसलिए जो जीव, शरीरादि परद्रव्य से अपने को लाभ-नुकसान मानते हैं, वे परतन्त्र ही रहते हैं। कर्म या परवस्तु जीव को परतन्त्र नहीं करती, किन्तु जीव स्वयं परतन्त्र होता है। इस तरह जहाँ तक अपने में अपराध, अशुद्धभाव किञ्चित् भी हो, वहाँ तक कर्म-नोकर्म का सम्बन्धरूप बन्ध है।

६. मुक्त होने के बाद फिर बन्ध या जन्म नहीं होता

जीव के मिथ्यादर्शनादि विकारीभावों का अभाव होने से कर्म का कारण-कार्य सम्बन्ध भी टूट जाता है। जानना-देखना यह किसी कर्मबन्ध का कारण नहीं, किन्तु परवस्तुओं में तथा राग-द्वेष में आत्मीयता की भावना बन्ध का कारण होती है। मिथ्याभावना के कारण जीव के ज्ञान तथा दर्शन (श्रद्धान) को मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस मिथ्यात्व

आदि विकारभाव के छूट जाने से विश्व की चराचर वस्तुओं का जानना-देखना होता है; क्योंकि ज्ञान-दर्शन तो जीव का स्वाभाविक असाधारण धर्म है। वस्तु के स्वाभाविक असाधारण धर्म का कभी नाश नहीं होता; यदि उसका नाश हो तो वस्तु का भी नाश हो जाए। इसलिए मिथ्यावासना के अभाव में भी जानना-देखना तो होता है; किन्तु अमर्यादित बन्ध के कारण-कार्य का अभाव मिथ्यावासना के अभाव के साथ ही हो जाता है। कर्म के आने के सर्वकारणों का अभाव होने के बाद भी जानना-देखना होता है, तथापि जीव के कर्मों का बन्ध नहीं होता और कर्मबन्ध न होने से उसके फलरूप स्थूल शरीर का संयोग भी नहीं मिलता; इसलिए उसके फिर जन्म नहीं होता। *(देखो, तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३९४)*

७. बन्ध जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं

यदि बन्ध, जीव का स्वाभाविक धर्म हो तो वह बन्ध, जीव के सदा रहना चाहिए; किन्तु वह तो संयोग-वियोगरूप है; इसलिए पुराने कर्म दूर होते हैं और यदि जीव विकार करे तो नवीन बँधते हैं। यदि बन्ध स्वाभाविक हो तो बन्ध से पृथक् कोई मुक्तात्मा हो नहीं सकता। पुनश्च, यदि बन्ध स्वाभाविक हो तो जीवों में परस्पर अन्तर न दिखे। भिन्न कारण के बिना एक जाति के पदार्थों में अन्तर नहीं होता, किन्तु जीवों में अन्तर देखा जाता है। इसका कारण यह है कि जीवों का लक्ष्य भिन्न-भिन्न परवस्तु पर है। परवस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं, अतः परद्रव्यों के आलम्बन से जीव की अवस्था एक सदृश नहीं रहती। जीव स्वयं पराधीन होता रहता है, यह पराधीनता ही बन्धन का कारण है। जैसे बन्धन स्वाभाविक नहीं, उसी प्रकार वह आकस्मिक भी नहीं अर्थात् बिना कारण के उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्येक कार्य अपने-अपने कारण के अनुसार होता है। स्थूलबुद्धिवाले लोग उसका सच्चा कारण नहीं जानते; अतः अकस्मात् कहते हैं। बन्ध का कारण जीव का अपराधरूप विकारीभाव है। जीव के विकारी भावों में तारतम्यता देखी जाती है, इसलिए वह क्षणिक है, अतः उसके कारण से होनेवाला कर्मबन्ध भी क्षणिक है। तारतम्यतासहित होने से कर्मबन्ध शाश्वत नहीं है। शाश्वत और तारतम्यता इन दोनों के शीत और उष्णता की तरह परस्पर विरोध है। तारतम्यता का कारण क्षणभंगुर है। जिसका कारण क्षणिक हो, वह कार्य शाश्वत कैसे हो सकता है? कर्म का बन्ध और उदय तारतम्यतासहित ही होता है, इसलिए बन्ध शाश्वतिक या स्वाभाविक वस्तु नहीं; इसलिए यह स्वीकार करना ही चाहिए कि बन्ध के कारणों का अभाव होने पर पूर्व-बन्ध की समाप्तिपूर्वक मोक्ष होता है।

(देखो, तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३९६)

८. सिद्धों का लोकाग्र से स्थानान्तर नहीं होता

प्रश्न – आत्मा मुक्त होने पर भी स्थानवाला होता है। जिसको स्थान हो, वह एक स्थान में स्थिर नहीं रहता, किन्तु नीचे जाता है अथवा विचलित होता रहता है; इसलिए मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वलोक में ही स्थिर न रहकर नीचे जाए अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान में जाए – ऐसा क्यों नहीं होता?

उत्तर – पदार्थ में स्थानान्तर होने का कारण स्थान नहीं है, परन्तु स्थानान्तर का कारण तो उसकी क्रियावतीशक्ति है। जैसे नाव में जब पानी आकर भरता है, तब वह डगमग होती है और नीचे डूब जाती है; उसी प्रकार आत्मा में भी जब कर्मास्रव होता रहता है, तब वह संसार में डूबता है और स्थान बदलता रहता है, किन्तु मुक्त अवस्था में तो जीव कर्मास्रव से रहित हो जाता है, इसलिए ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोकाग्र में स्थित होने के बाद फिर स्थानान्तर होने का कोई कारण नहीं रहता।

यदि स्थानान्तर का कारण स्थान की मानें तो कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थानवाला न हो; क्योंकि जितने पदार्थ हैं, वे सब किसी न किसी स्थान में रहे हुए हैं और इसीलिए उन सभी पदार्थों का स्थानान्तर होना चाहिए, परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल आदि द्रव्य स्थानान्तररहित देखे जाते हैं, अत: वह हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अत: सिद्ध हुआ कि संसारी जीव के अपनी क्रियावतीशक्ति के परिणमन की उस समय की योग्यता उस क्षेत्रान्तर का मूलकारण है और कर्म का उदय तो मात्र निमित्तकारण है। मुक्तात्मा कर्मास्रव से सर्वथा रहित हैं, अत: वे स्वस्थान से विचलित नहीं होते। (देखो, तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३८७) पुनश्च, तत्त्वार्थसार अध्याय ८ की १२वीं गाथा में बतलाया है कि गुरुत्व के अभाव को लेकर मुक्तात्मा का नीचे पतन नहीं होता।

९– जीव की मुक्तदशा मनुष्य–पर्याय से ही होती है और मनुष्य ढाई द्वीप में ही होता है, इसीलिए मुक्त होनेवाले जीव (मोड़ बिना) सीधे ऊर्ध्वगति से लोकान्त में जाते हैं। उसमें उन्हें एक ही समय लगता है।

१०. अधिक जीव थोड़े क्षेत्र में रहते हैं

प्रश्न – सिद्धक्षेत्र के प्रदेश तो असंख्यात है और मुक्त जीव अनन्त हैं तो असंख्यात प्रदेश में अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं?

उत्तर – सिद्ध जीवों के शरीर नहीं है और जीव सूक्ष्म (अरूपी) है, इसीलिए एक

स्थान पर अनन्त जीव एक साथ रह सकते हैं। जैसे एक ही स्थान में अनेक दीपों का प्रकाश रह सकता है; उसी तरह अनन्त सिद्धजीव एक साथ रह सकते हैं। प्रकाश तो पुद्गल है; पुद्गलद्रव्य भी इस तरह रह सकता है तो फिर अनन्त शुद्ध जीवों के एक क्षेत्र में साथ रहने में कोई बाधा नहीं है।

११. सिद्ध जीवों के आकार है ?

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीव अरूपी है, इसलिए उसके आकार नहीं होता, यह मान्यता मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थ में प्रदेशत्व नाम का गुण है, इसीलिए वस्तु का कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है, उसका अपना आकार होता है। जीव अरूपी-अमूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तु के भी अमूर्तिक आकार होता है। जीव जिस शरीर को छोड़कर मुक्त होता है, उस शरीर के आकार से कुछ न्यून आकार मुक्तदशा में भी जीव के होता है।

प्रश्न - यदि आत्मा के आकार हो तो उसे निराकार क्यों कहते हैं ?

उत्तर - आकार दो तरह का होता है - एक तो लम्बाई, चौड़ाई, मोटाईरूप आकार और दूसरा मूर्तिकरूप आकार। मूर्तिकतारूप आकार एक पुद्गलद्रव्य में ही होता है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता; इसीलिए जब आकार का अर्थ मूर्तिकता किया जावे, तब पुद्गल के अतिरिक्त सर्व द्रव्यों को निराकार कहते हैं। इस तरह जीव में पुद्गल का मूर्तिक आकार न होने की अपेक्षा से जीव को निराकार कहा जाता है, परन्तु स्वक्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई की अपेक्षा से समस्त द्रव्य आकारवान हैं। जब इस सद्भाव से आकार का सम्बन्ध माना जाए तो आकार का अर्थ लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई ही होता है। आत्मा के स्व का आकार है, इसीलिए वह साकार है।

संसारदशा में जीव की योग्यता के कारण उसके आकार की पर्यायें सङ्कोच-विस्ताररूप होती थीं। अब पूर्ण शुद्ध होने पर सङ्कोच-विस्तार नहीं होता। सिद्धदशा होने पर जीव के स्वभावव्यञ्जनपर्याय प्रगट होती है और उसी तरह अनन्तकाल तक रहा करती है।

(देखो, तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ३९८ से ४०६)

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की
गुजराती टीका का दसवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट - १

इस मोक्षशास्त्र के आधार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने 'श्री तत्त्वार्थसार' शास्त्र बनाया है। उसके उपसंहार में उस ग्रन्थ का सारांश २३ गाथाओं द्वारा दिया है, वह इस शास्त्र में भी लागू होता है, अत: यहाँ दिया जाता है—

ग्रन्थ का सारांश

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्ग समाश्रयेत्॥१॥

अर्थ - जिन सात तत्त्वों का स्वरूप क्रम से कहा गया है, उसे प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगों के द्वारा जानकर मोक्षमार्ग का यथार्थरूप से आश्रय करना चाहिए।

प्रश्न - इस शास्त्र के पहले सूत्र का अर्थ निश्चयनय, व्यवहारनय और प्रमाण द्वारा क्या होगा?

उत्तर - 'जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है, सो मोक्षमार्ग है' - इस कथन में अभेदस्वरूप निश्चयनय की विवक्षा है, अत: यह निश्चयनय का कथन जानना; मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद से कहना, इसमें भेदस्वरूप व्यवहारनय की विवक्षा है, अत: यह व्यवहारनय का कथन जानना और इन दोनों का यथार्थ ज्ञान करना, सो प्रमाण है। मोक्षमार्ग पर्याय है, इसीलिए आत्मा के त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की अपेक्षा से वह सद्भूतव्यवहार है।

प्रश्न - निश्चयनय का क्या अर्थ है?

उत्तर - 'सत्यार्थ इसी प्रकार है' - ऐसा जानना, सो निश्चयनय है।

प्रश्न - व्यवहारनय का क्या अर्थ है?

उत्तर - ऐसा जानना कि 'सत्यार्थ इस प्रकार नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से उपचार किया है', सो व्यवहारनय है। अथवा पर्यायभेद का कथन भी व्यवहारनय से कथन है।

मोक्षमार्ग का दो तरह से कथन

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥२॥

अर्थ - निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो तरह से मोक्षमार्ग का कथन है। उसमें पहला साध्यरूप है और दूसरा उसका साधनरूप है।

१. प्रश्न - व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर - पहले रागरहित दर्शन-चारित्र का स्वरूप जानना और उसी समय 'राग धर्म नहीं या धर्म का साधन नहीं है' ऐसा मानना। ऐसा मानने के बाद जब जीव राग को तोड़कर निर्विकल्प हो, तब उसके निश्चयमोक्षमार्ग होता है और उसी समय रागसहित दर्शन-ज्ञान-चारित्र का व्यय हुआ, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। इस रीति से 'व्यय' यह साधन है।

२. इस सम्बन्ध में श्री परमात्म-प्रकाश में निम्न प्रकार बताया है—

प्रश्न - निश्चयमोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग है नहीं, तो वह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे होता है?

उत्तर - भूतनैगमनय की अपेक्षा से परम्परा से साधक होता है अर्थात् पहले वह था किन्तु वर्तमान में नहीं है, तथापि भूतनैगमनय से वह वर्तमान में है - ऐसा सङ्कल्प करके उसे साधक कहा है (पृष्ठ १४२ संस्कृत टीका) इस सम्बन्ध में छठवें अध्याय के १८वें सूत्र की टीका के पाँचवें पैरे में दिये गये अन्तिम प्रश्न और उत्तर को पढ़ें।

३- शुद्धनिश्चयनय से शुद्धानुभूतिरूप वीतराग (निश्चय) सम्यक्त्व का कारण नित्य-आनन्दस्वभावरूप निज शुद्धात्मा ही है। *(परमात्मप्रकाश, पृष्ठ १४५)*

४- मोक्षमार्ग दो नहीं

मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो तरह से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है, वह निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग है तथा जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग में निमित्त है अथवा साथ में होता है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है, लेकिन वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चय॥३॥

अर्थ - निज शुद्धात्मा को अभेदरूप श्रद्धा करना, अभेदरूप से ही ज्ञान करना तथा अभेदरूप से ही उसमें लीन होना - इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा है, सो निश्चयमोक्षमार्ग है।

व्यवहारमोक्षमार्ग का स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

अर्थ - आत्मा में जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र भेद की मुख्यता से प्रगट हो रहे हैं, उस सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को व्यवहारमार्ग समझना चाहिए।

नोट - निश्चय और व्यवहार मुक्तिमार्ग का कथन दूसरे प्रकार से आगे के सूत्र २१ में भी बतलाया है, अतः वह भी पढ़ना।

व्यवहारी मुनि का स्वरूप

श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥५॥

अर्थ - जो परद्रव्य की (सात तत्त्वों की, भेदरूप से) श्रद्धा करता है, उसी तरह भेदरूप से जानता है और उसी तरह भेदरूप से उपेक्षा करता है, उस मुनि को व्यवहारी मुनि कहते हैं।

निश्चयी मुनि का स्वरूप

स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥६॥

अर्थ - जो स्वद्रव्य को ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते हैं और जिनके आत्मा की प्रवृत्ति उपेक्षारूप ही हो जाती है - ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चयरत्नत्रययुक्त हैं।

निश्चयी के अभेद का समर्थन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः।
स्वस्यो दर्शन चारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

अर्थ - जो जानता है, सो आत्मा है। ज्ञान जानता है, इसीलिए ज्ञान ही आत्मा है। इसी

तरह जो सम्यक् श्रद्धा करता है, सो आत्मा है। श्रद्धा करनेवाला सम्यग्दर्शन है, अतएव वही आत्मा है। जो उपेक्षित होता है, सो आत्मा है। उपेक्षा गुण उपेक्षित होता है, अतएव वही आत्मा है अथवा आत्मा ही वह है। यह अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, ऐसी अभेदरूप स्वस्थदशा उनके ही हो सकती है कि जो दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदयाधीन नहीं रहता।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष का कारण रत्नत्रय बताया है। उस रत्नत्रय को मोक्ष का कारण मानकर, जहाँ तक उसके स्वरूप को जानने की इच्छा रहती है, वहाँ तक साधु उस रत्नत्रय को विषयरूप (ध्येयरूप) मानकर उसका चिन्तवन करता है; वह विचार करता है कि रत्नत्रय इस प्रकार के होते हैं। जहाँ तक ऐसी दशा रहती है, वहाँ तक स्वकीय विचार द्वारा रत्नत्रय भेदरूप ही जाना जाता है, इसीलिए साधु के उस प्रयत्न को भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं; यह व्यवहार की दशा है। ऐसी दशा में निर्विकल्प अभेदरूप रत्नत्रय कभी हो नहीं सकता। परन्तु जहाँ तक ऐसी दशा भी न हो अथवा ऐसे रत्नत्रय का स्वरूप समझ न ले, वहाँ तक उसे निश्चय दशा कैसे प्राप्त हो सकती है ? यह ध्यान रहे कि व्यवहार करते-करते निश्चयदशा प्रगट ही नहीं होती।

यह भी ध्यान रहे कि व्यवहारदशा के समय राग है, इसलिए वह दूर करने योग्य है, वह लाभदायक नहीं है। स्वाश्रित एकतारूप निश्चयदशा ही लाभदायक है, ऐसा यदि पहले से ही लक्ष्य हो, तभी उसके व्यवहारदशा होती है। यदि पहले से ही ऐसी मान्यता न हो और उस रागदशा को ही धर्म या धर्म का कारण माने तो उसे कभी धर्म नहीं होता और उसके वह व्यवहारदशा भी नहीं कहलाती; वास्तव में वह व्यवहाराभास है-ऐसा समझना। इसलिए रागरूप व्यवहारदशा को टालकर निश्चयदशा प्रगट करने का लक्ष्य पहले से ही होना चाहिए।

ऐसी दशा हो जाने पर जब साधु स्वसन्मुखता के बल से स्वरूप की तरफ झुकता है, तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय-सम्यक्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय हो जाता है। इसीलिए वह स्व से अभेदरूप रत्नत्रय की दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होने के कारण निश्चयरत्नत्रयरूप कही जाती है।

इस अभेद और भेद का तात्पर्य समझ जाने पर यह बात माननी पड़ेगी कि जो व्यवहार -रत्नत्रय है, वह यथार्थ रत्नत्रय नहीं है; इसीलिए उसे हेय कहा जाता है। यदि साधु उसी में लगा रहे तो उसका तो व्यवहारमार्ग, मिथ्यामार्ग है अर्थात् निरुपयोगी है। यों कहना चाहिए कि उन साधुओं ने उसे हेयरूप न जानकर उपादेयरूप समझ रखा है। जो जिसे

उपादेयरूप जानता और मानता है, वह उसे कदापि नहीं छोड़ता; इसीलिए उस साधु का व्यवहारमार्ग-मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप संसार का कारण है।

पुनश्च, उसी प्रकार जो व्यवहार को हेय समझकर अशुभभाव में रहता है और निश्चय का अवलम्बन नहीं करता, वह उभयभ्रष्ट (शुद्ध और शुभ दोनों से भ्रष्ट) है। निश्चयनय का अवलम्बन प्रगट नहीं हुआ और जो व्यवहार को तो हेय मानकर अशुभ में रहा करते हैं, वे निश्चय के लक्ष्य से शुभ में भी नहीं जाते, तो फिर वे निश्चय तक नहीं पहुँच सकेंगे-यह निर्विवाद है।

इस श्लोक में अभेद रत्नत्रय का स्वरूप कृदन्त शब्दों द्वारा शब्दों का अभेदत्व बताकर कर्तृभावसाधन सिद्ध किया। अब आगे के श्लोकों में क्रियापदों द्वारा कर्ताकर्मभाव आदि में सर्व विभक्तियों के रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

निश्चयरत्नत्रय की कर्ता के साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥८॥

अर्थ - जो निजस्वरूप को देखता है, निजस्वरूप को जानता है और निजस्वरूप के अनुसार प्रवृत्ति करता है, वह आत्मा ही है, अतएव दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनोंरूप आत्मा ही है।

कर्मरूप के साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥९॥

अर्थ - जिस निजस्वरूप को देखा जाता है, जाना जाता है और धारण किया जाता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है, इसलिए आत्मा ही अभेदरूप से रत्नत्रयरूप है।

करणरूप के साथ अभेदता

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१०॥

अर्थ - जो निजस्वरूप द्वारा देखा जाता है, निजस्वभाव द्वारा जाना जाता है, और निजस्वरूप द्वारा स्थिरता होती है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, वह कोई पृथक्

पदार्थ नहीं है, किन्तु तन्मय आत्मा ही है, इसलिए आत्मा ही अभेदरूप से रत्नत्रयरूप है।

सम्प्रदानरूप के साथ अभेदता

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मय॥११॥

अर्थ - जो स्वरूप की प्राप्ति के लिये देखता है, जानता है तथा प्रवृत्ति करता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र नामवाला रत्नत्रय है। वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है अर्थात् आत्मा रत्नत्रय से भिन्न नहीं किन्तु तन्मय ही है।

अपादानस्वरूप के साथ अभेदता

यस्मात् पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१२॥

अर्थ - जो निश्चयरूप से देखता है, जानता है तथा जो निजस्वरूप से वर्तता रहता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है, वह दूसरा कोई नहीं किन्तु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

सम्बन्धस्वरूप के साथ अभेदता

यस्य पश्यति जानाति स्वस्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१३॥

अर्थ - जो निजस्वरूप के सम्बन्ध को देखता है, निजस्वरूप के सम्बन्ध को जानता है तथा निजस्वरूप के सम्बन्ध की प्रवृत्ति करता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मा से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं, किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

आधारस्वरूप के साथ अभेदता

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१४॥

अर्थ - जो निजस्वरूप में देखता है, जानता है तथा निजस्वरूप में स्थिर होता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

क्रियास्वरूप की अभेदता

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१५॥

अर्थ - जो देखनेरूप, जाननेरूप तथा चारित्ररूप क्रियाएँ हैं, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु ये क्रियाएँ आत्मा से कोई भिन्न पदार्थ नहीं, तन्मय आत्मा ही है।

गुणस्वरूप की अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१६॥

अर्थ - जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणों का आश्रय है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। आत्मा से भिन्न दर्शनादि गुण कोई पदार्थ नहीं परन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिए अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायों के स्वरूप का अभेदत्व

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥१७॥

अर्थ - जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय पर्यायों का आश्रय है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। आत्मा ही तन्मय होकर रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

प्रदेशस्वरूप का अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥१८॥

अर्थ - दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जो प्रदेश बताये गये है हैं, वे आत्मा के प्रदेशों से कहीं अलग नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा का ही वह प्रदेश है अथवा दर्शन-प्रदेशरूप ही आत्मा है और वही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्मा के प्रदेश और रत्नत्रय के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार परस्पर दर्शनादि तीनों के प्रदेश भी भिन्न नहीं हैं, अतएव आत्मा और रत्नत्रय भिन्न नहीं, किन्तु आत्मा तन्मय ही है।

अगुरुलघुस्वरूप का अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलध्वाह्वया गुणाः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते ॥१९॥

अर्थ - अगुरुलघु नामक गुण हैं, अतः वस्तु में जितने गुण हैं, वे सीमा से अधिक अपनी हानि-वृद्धि नहीं करते। यही सभी द्रव्यों में अगुरुलघु गुण का प्रयोजन है। इस गुण

के निमित्त से समस्त गुणों में जो सीमा का उल्लंघन नहीं होता, उसे भी अगुरुलघु कहते हैं; इसलिए यहाँ अगुरुलघु को दर्शनादि का विशेषण कहना चाहिए।

अर्थात् अगुरुलघुत्व प्राप्त होनेवाले जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे आत्मा से पृथक् नहीं हैं और परस्पर में भी वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो रत्नत्रय है, उसका वह (अगुरुलघु) स्वरूप है और वह तन्मय ही है। इस तरह अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है किन्तु आत्मा उससे पृथक् पदार्थ नहीं, क्योंकि आत्मा का अगुरुलघु स्वभाव है और आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है, इसीलिए वह सर्व आत्मा अभिन्न हैं।

उत्पाद व्यय-ध्रौव्यस्वरूप की अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्रध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ये।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते॥२०॥

अर्थ - दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, वह सब आत्मा का ही है; क्योंकि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, वह आत्मा से अलग नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मामय ही हैं; इसीलिए रत्नत्रय के जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आत्मा के ही हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी परस्पर में अभिन्न ही हैं।

इस तरह यदि रत्नत्रय के जितने विशेषण हैं, वे सब आत्मा के ही हैं और आत्मा से अभिन्न हैं, तो रत्नत्रय को भी आत्मस्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार अभेदरूप से जो निजात्मा का दर्शन-चारित्र है, वह निश्चयरत्नत्रय है, इसके समुदाय को (एकता को) निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं, यही मोक्षमार्ग है।

निश्चय-व्यवहार मानने का प्रयोजन

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थादेशमो मुक्तिमार्गः॥२१॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप पृथक्-पृथक् पर्यायों द्वारा जीव को जानना, सो पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है और इन सब पर्यायों में ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है, पर्याय तथा जीव के कोई भेद नहीं है - इस प्रकार रत्नत्रय से आत्मा को अभिन्न जानना, सो द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है।

अर्थात् रत्नत्रय से जीव अभिन्न है अथवा भिन्न है - ऐसा जानना, सो द्रव्यार्थिक और

पर्यायार्थिकनय का स्वरूप है; परन्तु रत्नत्रय में भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना, सो व्यवहारमोक्षमार्ग है और अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना, सो निश्चयमोक्षमार्ग है; अतएव उपरोक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि—

आत्मा को प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय द्वारा जानकर पर्याय पर से लक्ष्य हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्यस्वभाव जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की ओर झुकने से शुद्धता और निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है।

नोट - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय से जो मुक्तिमार्ग का स्वरूप बतलाया है, ऐसा स्वरूप श्री प्रवचनसार की गाथा २४२ तथा उसकी टीका में भी बतलाया है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थ का प्रयोजन

(वसंततिलका)

तत्त्वार्थसारमिति यः समधिर्विदित्वा,
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह-
श्चैतन्यरूपममलं शिवतत्त्वमेति॥२२॥

अर्थ - बुद्धिमान और संसार से उपेक्षित हुए जो जीव इस ग्रन्थ को अथवा तत्त्वार्थ के सार को ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझकर, निश्चलतापूर्वक मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होगा, वह जीव मोह का नाश कर संसार-बन्धन को दूर करके निश्चयचैतन्यस्वरूपी मोक्षतत्त्व को (शिवतत्त्व को) प्राप्त कर सकता है।

इस ग्रन्थ के कर्त्ता पुद्गल हैं, आचार्य नहीं -

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम्॥२३॥

अर्थ - वर्ण (अर्थात् अनादिसिद्ध अक्षरों का समूह) इन पदों के कर्त्ता हैं, पदावलि वाक्यों की कर्त्ता है और वाक्यों ने यह शास्त्र बनाया है। कोई यह न समझे कि यह शास्त्र मैंने (आचार्य ने) बनाया है। *(देखो, तत्त्वार्थसार, पृष्ठ ४२१ से ४२८)*

नोट - (१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं हो सकता - यह सिद्धान्त सिद्ध करके यहाँ आचार्य भगवान ने स्पष्टरूप से बतलाया है कि जीव, जड़ शास्त्र को नहीं बना सकता।

(२) श्री समयसार की टीका, श्री प्रवचनसार की टीका, श्री पञ्चास्तिकाय की टीका और श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्र के कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी आचार्य भगवान श्री अमृतचन्द्रजी सूरि ने बतलाया है कि इस शास्त्र का अथवा टीका का कर्ता पुद्गलद्रव्य है, मैं (आचार्य) नहीं। यह बात तत्त्वजिज्ञासुओं को विशेष ध्यान में रखने की आवश्यकता है, अत: आचार्य भगवान ने तत्त्वार्थसार पूर्ण करने पर भी यह स्पष्टरूप से बतलाया है। इसलिए पहले भेदविज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। यह निश्चय करने पर जीव का स्व की ओर ही झुकाव रहता है। अब स्व की ओर झुकाने में दो पहलू हैं। उनमें एक त्रिकाली चैतन्यस्वभावभाव जो परमपारिणामिकभाव कहा जाता है – वह है, और दूसरा स्व की वर्तमान पर्याय। पर्याय पर लक्ष्य करने से विकल्प (राग) दूर नहीं होता, इसलिए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की तरफ झुकने के लिये सर्व वीतरागी शास्त्रों की और श्रीगुरुओं की आज्ञा है। अत: उसकी तरफ झुकना और अपनी शुद्धदशा प्रगट करना, यही जीव का कर्त्तव्य है; इसलिए तदनुसार ही सर्व जीवों को पुरुषार्थ करना चाहिए। इस शुद्धदशा को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष का अर्थ निज-शुद्धता की पूर्णता अथवा सर्व समाधान है और वही अविनाशी और शाश्वत-सच्चा सुख है। जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति भी करता है, किन्तु उसे मोक्ष के सच्चे उपाय की खबर नहीं है, इसलिए दु:ख (बन्धन) के उपाय को सुख का (मोक्ष का) उपाय मानता है। अत: विपरीत उपाय प्रति-समय किया करता है। इस विपरीत उपाय से पीछे हटकर सच्चे उपाय की ओर पात्र जीव झुकें और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करें, यह इस शास्त्र का हेतु है। ●●

परिशिष्ट - २

प्रत्येक द्रव्य और उसकी प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता की घोषणा

१- प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी त्रिकाली पर्याय का पिण्ड है, इसलिए वह तीनों काल की पर्यायों के योग्य है और पर्याय प्रति-समय की है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में उस-उस समय की पर्याय के योग्य है और उस-उस समय की पर्याय उस-उस समय में होने योग्य है; अत: होती है; किसी द्रव्य की पर्याय आगे या पीछे होती ही नहीं।

२- मिट्टी द्रव्य (मिट्टी के परमाणु) अपने तीनों काल की पर्यायों के योग्य हैं, तथापि यदि ऐसा माना जाये कि उसमें तीनों काल में एक घड़ा होने की योग्यता है तो मिट्टी द्रव्य एक पर्याय जितना ही हो जायेगा और उसके द्रव्यत्व का भी नाश हो जायेगा।

३- जो यों कहा जाता है कि मिट्टी द्रव्य तीन काल में घड़ा होने के योग्य है तो परद्रव्य से मिट्टी को भिन्न बतलाकर यह बतलाया जाता है कि मिट्टी के अतिरिक्त अन्य द्रव्य किसी काल में मिट्टी का घड़ा होने के योग्य नहीं है, परन्तु जिस समय मिट्टी द्रव्य का तथा उसकी पर्याय की योग्यता का निर्णय करना हों, तब यों मानना मिथ्या है कि मिट्टी द्रव्य तीनों काल में घड़ा होने के योग्य है; क्योंकि ऐसा मानने से, मिट्टी द्रव्य की अन्य जो-जो पर्यायें होती हैं, उन पर्यायों के होने के योग्य मिट्टी द्रव्य की योग्यता नहीं है, तथापि होती है - ऐसा मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असत् है। इसलिए मिट्टी मात्र घटरूप होने योग्य है - यह मानना मिथ्या है।

४- उपरोक्त कारणों को लेकर यह मानना कि 'मिट्टी द्रव्य तीनों काल में घड़ा होने के योग्य है और जहाँ तक कुम्हार न आये वहाँ तक घड़ा नहीं होता' - यह मानना मिथ्या है; किन्तु मिट्टी द्रव्य की पर्याय जिस समय घड़ेरूप होने के योग्य है, वह एक समय की ही योग्यता है। अत: उसी समय घड़ेरूप पर्याय होती है, आगे-पीछे नहीं होती और उस समय कुम्हार आदि निमित्त स्वयं स्वत: होते ही हैं।

५- प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्याय का स्वामी है, अत: उसकी पर्याय उस-उस समय की योग्यता के अनुसार स्वयं स्वत: हुआ ही करती है; इस तरह प्रत्येक द्रव्य की

अपनी पर्याय प्रत्येक समय उस-उस द्रव्य के ही आधीन है; किसी दूसरे द्रव्य की आधीन वह पर्याय नहीं है।

६- जीव द्रव्य त्रिकाल पर्यायों का पिण्ड है; इसलिए वह त्रिकाल वर्तमान पर्यायों के योग्य है और प्रगट पर्याय एक समय की है; अत: उस-उस पर्याय के स्वयं योग्य है।

७- यदि ऐसा न माना जावे तो एक पर्यायमात्र ही द्रव्य हो जायेगा। प्रत्येक अपनी पर्याय का स्वामी है। अत: उसकी वर्तमान में होनेवाली एक-एक समय की पर्याय है, वह उस द्रव्य के आधीन है।

८- जीव को पराधीन कहते हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि परद्रव्य उसे आधीन करता है अथवा परद्रव्य उसे अपना खिलौना बनाता है, किन्तु उस-उस समय की पर्याय जीव स्वयं परद्रव्य की पर्याय के आधीन होकर करता है। यह मान्यता मिथ्या है कि परद्रव्य या उसकी कोई पर्याय जीव को कभी भी आश्रय दे सकती है, उसे रमा सकती है, हैरान कर सकती है या सुखी-दु:खी कर सकती है।

९- प्रत्येक द्रव्य सत् है अत: वह द्रव्य से, गुण से और पर्याय से भी सत् है और इसीलिए वह हमेशा स्वतन्त्र है। जीव पराधीन होता है, वह भी स्वतन्त्ररूप से पराधीन होता है। कोई परद्रव्य या उसकी पर्याय उसे पराधीन या परतन्त्र नहीं बनाते।

१०- इस तरह श्री वीतरागदेव ने सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की है। ●●

परिशिष्ट - ३

साधकजीव की दृष्टि को मापने की रीति

अध्यात्म-शास्त्रों में ऐसा नही कहा कि 'जो निश्चय है, सो मुख्य है।' यदि निश्चय का ऐसा अर्थ करें कि जो निश्चयनय है, सो मुख्य है, तो किसी समय निश्चयनय मुख्य हो और किसी समय व्यवहारनय मुख्य हों अर्थात् किसी समय 'द्रव्य' मुख्य हो और किसी समय 'गुण-पर्याय के भेद' मुख्य हों, लेकिन द्रव्य के साथ अभेद हुई पर्याय को भी निश्चय कहा जाता है। इसलिए निश्चय, सो मुख्य न मानकर मुख्य, सो निश्चय मानना चाहिए और आगम-शास्त्रों में किसी समय व्यवहारनय को मुख्य और निश्चयनय को गौण करके कथन किया जाता है। अध्यात्म-शास्त्रों में तो हमेशा 'जो मुख्य है, सो निश्चयनय' है और उसी के आश्रय से धर्म होता है - ऐसा समझाया जाता है और उसमें सदा निश्चयनय मुख्य ही रहता है। पुरुषार्थ के द्वारा स्व में शुद्ध पर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय दूर करने के लिये हमेशा निश्चयनय ही आदरणीय है। उस समय दोनों नयों का ज्ञान होता है किन्तु धर्म प्रगट करने के लिये दोनों नय कभी आदरणीय नहीं। व्यवहारनय के आश्रय से कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता, परन्तु उसके आश्रय से तो राग-द्वेष के विकल्प ही उठते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये किसी समय निश्चयनय की मुख्यता और व्यवहारनय की गौणता रखकर कथन किया जाता है और किसी समय व्यवहारनय को मुख्य करके तथा निश्चयनय को गौण करके कथन किया जाता है; स्वयं विचार करने में भी किसी समय निश्चयनय की मुख्यता और किसी समय व्यवहारनय की मुख्यता की जाती है। अध्यात्म-शास्त्र में भी जीव विकारी पर्याय स्वयं करता है इसलिए होती है और वह जीव के अनन्य परिणाम हैं - ऐसा व्यवहार द्वारा कहा और समझाया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक समय में निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है - ऐसा ज्ञानियों का कथन है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और किसी समय व्यवहारनय आदरणीय है, सो भूल है। तीनों काल अकेले निश्चयनय के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है - ऐसा समझना।

प्रश्न – क्या साधक जीव के नय होते ही नहीं?

उत्तर – साधकदशा में ही नय होते हैं। क्योंकि केवली के तो प्रमाण है, अत: उनके नय नहीं होते। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि व्यवहारनय के आश्रय से धर्म होता है, इसलिए उनको तो व्यवहारनय ही निश्चयनय हो गया, इसलिए अज्ञानी के सच्चे नय नहीं होते। इस तरह साधक जीव के ही उनके श्रुतज्ञान में नय होते हैं। निर्विकल्पदशा से अतिरिक्त काल में जब उनके नयरूप से श्रुतज्ञान का भेदरूप उपयोग होता है, तब और संसार के शुभाशुभभावों में हों या स्वाध्याय, व्रत, नियमादि कार्यों में हों, तब जो विकल्प उठते हैं, वह सब व्यवहारनय के विषय हैं, परन्तु उस समय भी उनके ज्ञान में एक निश्चयनय ही आदरणीय (अत: उस समय व्यवहारनय है, तथापि वह आदरणीय नहीं होने से) उनकी शुद्धता बढ़ती है। इस तरह सविकल्पदशा में भी निश्चयनय आदरणीय है और जब व्यवहारनय उपयोगरूप हो, तब भी ज्ञान में उसी समय हेयरूप से है; इस तरह निश्चय और व्यवहारनय – ये दोनों साधक जीवों के एक ही समय में होते हैं।

इसलिए यह मान्यता ठीक नहीं है कि साधक जीवों के नय होते ही नहीं, किन्तु साधक जीवों के ही निश्चय और व्यवहार दोनों नय एक ही साथ होते हैं। निश्चयनय के आश्रय के बिना सच्चा व्यवहारनय होता ही नहीं। जिसके अभिप्राय में व्यवहारनय का आश्रय हो, उसके तो निश्चयनय रहा ही नहीं, क्योंकि उसके तो व्यवहारनय ही निश्चयनय हो गया।

चारों अनुयोगों में किसी समय व्यवहारनय की मुख्यता से कथन किया जाता है और किसी समय निश्चयनय को मुख्य करके कथन किया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक अनुयोग में कथन का सार एक ही है और वह यह है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों जाननेयोग्य हैं, किन्तु शुद्धता के लिये आश्रय करनेयोग्य एक निश्चयनय ही है और व्यवहारनय कभी भी आश्रय करनेयोग्य नहीं है, वह हमेशा हेय ही है – ऐसा समझना।

व्यवहारनय के ज्ञान का फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चयनय का आश्रय करना है। यदि व्यवहारनय को उपादेय माना जाये तो वह व्यवहारनय के सच्चे ज्ञान का फल नहीं है, किन्तु व्यवहारनय के अज्ञान का अर्थात् मिथ्याज्ञान का फल है।

निश्चयनय का आश्रय करने का अर्थ यह है कि निश्चयनय के विषयभूत आत्मा के त्रिकाली चैतन्यस्वरूप का आश्रय करना और व्यवहारनय का आश्रय छोड़ना – उसे

हेय समझना। इसका यह अर्थ है कि व्यवहारनय के विषयरूप विकल्प, परद्रव्य या स्वद्रव्य की अपूर्ण अवस्था की ओर का आश्रय छोड़ना।

अध्यात्म का रहस्य

अध्यात्म में जो मुख्य है सो निश्चय और जो गौण है सो व्यवहार; यह माप है, अत: इसमें मुख्यता सदा निश्चयनय की ही है और व्यवहार सदा गौणरूप से ही है। साधक जीव का यह माप है। साधक जीव की दृष्टि को मापने की हमेशा यही रीति है।

साधक जीव प्रारम्भ से अन्त तक निश्चयनय की मुख्यता रखकर व्यवहार को गौण ही करता जाता है; इसलिए साधक को साधकदशा में निश्चय की मुख्यता के बल से शुद्धता की वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता हटती ही जाती है। इस तरह निश्चय की मुख्यता के बल से पूर्ण केवलज्ञान होता है, फिर वहाँ मुख्यता-गौणता नहीं होती और नय भी नहीं होते।

वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके!

वस्तु में द्रव्य और पर्याय, नित्यत्व और अनित्यत्व इत्यादि जो विरुद्ध धर्मस्वभाव है, वह कभी दूर नहीं होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं, उनमें एक के आश्रय से विकल्प टूटता है और दूसरे के आश्रय से राग होता है। अर्थात् द्रव्य के आश्रय से विकल्प टूटता है और पर्याय के आश्रय से राग होता है, इससे इन दो नयों में विरोध है। अब, द्रव्यस्वभाव की मुख्यता और अवस्था की—पर्याय की गौणता करके जब साधक जीव द्रव्यस्वभाव की तरफ झुक गया तब विकल्प दूर होकर स्वभाव में अभेद होने पर ज्ञान प्रमाण हो गया। अब यदि वह ज्ञान-पर्याय को जाने तो भी वहाँ मुख्यता तो सदा द्रव्यस्वभाव की ही रहती है। इस तरह जो निज-द्रव्यस्वभाव की मुख्यता करके स्व-सन्मुख होने पर ज्ञान प्रमाण हुआ वही द्रव्यस्वभाव की मुख्यता साधकदशा की पूर्णता तक निरन्तर रहा करती है और जहाँ द्रव्यस्वभाव की ही मुख्यता है, वहाँ सम्यग्दर्शन से पीछे हटना कभी होता ही नहीं; इसलिए साधक जीव के सतत् द्रव्यस्वभाव की मुख्यता के बल से शुद्धता बढ़ते-बढ़ते जब केवलज्ञान हो जाता है, तब वस्तु के परस्पर विरुद्ध दोनों धर्मों को (द्रव्य और पर्याय को) एक साथ जानता है, किन्तु वहाँ अब एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता करके झुकना नहीं रहा। वहाँ सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान हो जाने पर दोनों नयों का विरोध दूर हो गया (अर्थात् नय ही दूर हो गये) तथापि वस्तु में जो विरुद्ध धर्मस्वभाव हैं, वह तो दूर नहीं होते। ●●

परिशिष्ट - ४

शास्त्र का संक्षिप्त सार

१- इस जगत में जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल यह छह द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। इस संक्षेप में 'विश्व' कहते हैं। (अध्याय ५)

२- वे सत् हैं, अत: उनका कोई कर्ता नहीं या उनका कोई नियामक नहीं, किन्तु विश्व का प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वतन्त्ररूप से नित्य स्थिर रहकर प्रति-समय अपनी नवीन अवस्था प्रगट करता है और पुरानी अवस्था दूर करता है। (अध्याय ५ सूत्र ३०)

३- उन छह द्रव्यों में से जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्य जड़ हैं; उनमें ज्ञान, आनन्द गुण नहीं हैं; अत: वे सुखी-दु:खी नहीं हैं। जीवों में ज्ञान, आनन्द गुण हैं किन्तु वे अपनी भूल से अनादि से दु:खी हो रहे हैं। उनमें जो जीव मनसहित हैं, वे हित-अहित की परीक्षा करने की शक्ति रखते हैं; अत: ज्ञानियों ने, उन्हें दु:ख दूर कर अविनाशी सुख प्रगट करने का उपदेश दिया है।

४- अज्ञानी जीव मानते हैं कि शरीर की क्रिया, पर जीव की दया, दान, व्रत आदि सुख के उपाय हैं; परन्तु यह उपाय खोटे हैं, यह बतलाने के लिये इस शास्त्र में सबसे पहले ही यह बतलाया है कि सुख का मूलकारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद उस जीव के सम्यक्चारित्र प्रगट हुए बिना नहीं रहता।

५- जीव ज्ञाता-दृष्टा है और उसका व्यापार या जिसे उपयोग कहा जाता है, वह जीव का लक्षण है; राग, विकार, पुण्य, विकल्प, मन्दकषायरूप करुणा आदि जीव के लक्षण नहीं हैं, ये उसमें गर्भितरूप से कहे हैं। (अध्याय २, सूत्र ८)

६- दया, दान, अणुव्रत, महाव्रत, मैत्री आदि शुभभाव तथा मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इत्यादि अशुभभाव आस्रव के कारण हैं - ऐसा कहकर पुण्य-पाप दोनों को आस्रव के कारणरूप से वर्णन किया है। (अध्याय ६ तथा ७)

७- मिथ्यादर्शन संसार का मूल है, ऐसा अध्याय ८ सूत्र १ में बतलाया है तथा बन्ध के दूसरे कारण और बन्ध के भेदों का स्वरूप भी बतलाया है।

८- संसार का मूलकारण मिथ्यादर्शन है। वह सम्यग्दर्शन के द्वारा ही दूर हो सकता है। बिना सम्यग्दर्शन के उत्कृष्ट शुभभाव के द्वारा भी वह दूर नहीं हो सकता। संवर-निर्जरारूप धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद सम्यक्चारित्र में क्रमशः शुद्धि प्रगट होने पर श्रावकदशा तथा मुनिदशा कैसी होती है, यह भी बतलाया है। यह भी बतलाया है कि मुनि बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं। यदि किसी समय भी मुनि परीषहजय न करें तो उनके बन्ध होता है, इस विषय का समावेश आठवें बन्ध अधिकार में आ गया है और परीषहजय ही संवर-निर्जरारूप है, अतः यह विषय नववें अध्याय में बतलाया है।

९- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता की पूर्णता होने पर (अर्थात् संवर-निर्जरा की पूर्णता होने पर) अशुद्धता का सर्वथा नाश होकर जीव पूर्णतया जड़कर्म और शरीर से पृथक् होता है और पुनरागमनरहित अविचल सुखदशा प्राप्त करता है, यही मोक्षतत्त्व है। इसका वर्णन दसवें अध्याय में किया है।

इस प्रकार इस शास्त्र के विषयों का संक्षिप्त सार है।

॥ मोक्षशास्त्र गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥

लक्षण-संग्रह

शब्द	अध्याय	सूत्र
[अ]		
अकामनिर्जरा	६	१२
अक्षिप्र	१	१६
अगारी	७	२०
अगृहीत मिथ्यादर्शन	८	१
अघातिया	८	४
अङ्गोपाङ्ग	८	११
अचक्षुदर्शन	८	७
अचौर्याणुव्रत	७	२०
अजीव	१	४
अज्ञातभाव	६	६
अज्ञान	८	१
अज्ञान परीषहजय	९	९
अण्डज	२	३३
अणु	५	२५
अणुव्रत	७	२
अतिथिसंविभाग व्रत	५	२१
अतिचार	५	२३
अतिभार आरोपण	५	२५
अदर्शन परीषहजय	९	९
अधिगमज सम्यग्दर्शन	१	३
अधिकरण क्रिया	६	५
अधिकरण	६	६
अध्रुव	१	१६
अधोव्यतिक्रम	७	३०
अन्तर	१	८
अनि:सृत	१	१६
अनुक्त	१	१६
अनुगामी अवधिज्ञान	१	२२
अननुगामी अवधिज्ञान	१	२२
अनवस्थित अवधिज्ञान	१	१२
अनीक	४	४
अनर्पित	५	३२
अनाभोग	६	५
अनाकाँक्षा	६	५
अनुमत	६	८
अनाभोगनिक्षेपाधिकरण	६	९
अन्तराय	६	१०
अनुवीचिभाषण	७	५
अनृत-असत्य	७	१४
अनगारी	७	२०
अनर्थदण्डव्रत	७	२१
अन्यदृष्टिप्रशंसा	७	२३
अन्नपाननिरोध	७	२५
अनङ्ग क्रीड़ा	७	२८
अनादर	७	३३
अनादर	७	३४
अनुभागबन्ध	८	३
अन्तराय	८	४
अनुजीवीगुण	८	४
अनन्तानुबन्धी क्रोधादि	८	९
अन्तर्मुहूर्त	८	२०
अनुभव बन्ध	८	२१
अनुप्रेक्षा	९	२